सन्त-चरित्र

LIVES OF SAINTS

का हिन्दी अनुवाद

लेखक

श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती

अनुवादक
श्री स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती

प्रकाशक
द डिवाइन लाइफ सोसायटी
पत्रालय : शिवानन्दनगर- २४९१९२
जिला : टिहरी-गढ़वाल, उत्तराखण्ड (हिमालय), भारत
www.sivanandaonline.org, www.dlshq.org

प्रथम हिन्दी संस्करण : २०००

द्वितीय हिन्दी संस्करण : २०१०

तृतीय हिन्दी संस्करण ::२०१५

चतुर्थ हिन्दी संस्करण : २०२५

(१,००० प्रतियाँ)

© द डिवाइन लाइफ ट्रस्ट सोसायटी

ISBN 81-7052-157-2
HS 291

'द डिवाइन लाइफ सोसायटी, शिवानन्दनगर' के लिए
स्वामी अद्वैतानन्द द्वारा प्रकाशित तथा 'मेहुल प्रिन्ट सर्विस A - 31,
नरैना इन्डस्ट्रियल एरिया, फेज 1 नई दिल्ली' में मुद्रित ।
For online orders and catalogue visit: dlsbooks.org

प्रकाशकीय वक्तव्य

स्वामी शिवानन्द जी की अँगरेजी पुस्तक 'लाइव्ज़ ऑफ सेंट्स' (Lives of Saints) का प्रथम प्रकाशन सन् १९४१ में हुआ था। इसमें अनेक सन्तों की जीवन-कथाओं को प्रस्तुत किया गया था। इस पुस्तक के नवीनतम पंचम संस्करण में न केवल इसके पूर्व-संस्करणों में समाविष्ट सामग्री को स्थान दिया गया, वरन् इसे स्वामी शिवानन्द जी की अन्यान्य कृतियों से समृद्ध करने का भी प्रयास किया गया।

'सन्त-चरित्र' इसी नवीनतम संस्करण का अनुवाद है।

यहाँ दो बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पहली बात तो यह है कि यह पुस्तक पूर्णतः असाम्प्रदायिक तथा पूर्वाग्रह-मुक्त है। इस प्रकार इसमें सम्मिलित विषयों के श्रेष्ठतम सार-तत्त्व को पाठकों के सम्मुख सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया जा रहा है। दूसरी बात यह है कि ये शब्द-चित्र एक आध्यात्मिक महापुरुष की लेखनी से उद्भूत हैं जिसके फल-स्वरूप सन्तों के इन जीवन-चरित्रों को एक सुस्पष्ट तथा विशिष्ट आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया जा सका है।

हम इसे अपना सौभाग्य समझते हैं कि हम हिन्दी पाठकों के समक्ष इसे प्रस्तुत कर रहे हैं। इन सन्तों की दिव्य ज्योति पाठकों के पथ को प्रशस्त तथा प्रदीप्त करे और उनके समेत समस्त मानव-जाति के ऊपर इनका आशीष-वर्षण होता रहे !

- द डिवाइन लाइफ सोसायटी

प्रार्थना

हे कृपा-सिन्धु परमात्मा, काल-चक्र की गति अत्यधिक तीव्र है। इन्द्रियों का नियमन असम्भव हो रहा है। मन चंचल तथा माया द्वारा सम्मोहित है और मैं ताप-त्रय से सन्तप्त, पंच-क्लेशों से प्रताड़ित, मित्रों से विक्षुब्ध और रोगों से ग्रस्त हूँ। मैं ग्रीष्म के ताप से दग्ध हो रहा हूँ। मक्षिकाओं, मशकों, कृमि-कीटों तथा वृश्चिकों का उत्पात बढ़ता जा रहा है। संसार की मोहिनी माया मुझे प्रलोभित कर रही है और मेरे लिए शान्तचित एवं ध्यानस्थ हो पाना असम्भव सिद्ध हो रहा है। तुम्हारी कृपा के अभाव में मैं आध्यात्मिक पथ के अनुसरण में सर्वथा अक्षम हूँ। हे परमात्मा, तुम कृपा-सिन्धु हो। यदि उस समुद्र से मुझे एक बूँद मिल जाती है, तो क्या यह समुद्र वारि-विहीन हो जायेगा? मेरे ऊपर कृपा करो।

हे मेरे आराध्य ! लोग कहते हैं कि तुम दीन-बन्धु, दीनानाथ, कृपा-निधान, करुणा-सागर तथा अनाथ-रक्षक हो। तुमने अहल्या, द्रौपदी, प्रह्लाद, ध्रुव तथा गजेन्द्र की रक्षा की है; किन्तु मेरे सम्बन्ध में तुमने कुछ नहीं किया। घोर यन्त्रणाओं के दंश से पीड़ित मैं अब भी अन्धकार में भटक रहा हूँ। मैं तुम्हारी कृपा तथा सहायता के लिए आर्तनाद कर रहा हूँ। इस जगत् के हे अदृश्य स्वामी ! तुम कहाँ लुप्त हो गये हो ?

हे स्वयं-प्रकाश परमात्मन् ! जल के अभाव में मछली का, सूर्य के अभाव में सूर्यमुखी पुष्प का, पति के अभाव में पतिव्रता पत्नी का, प्राण के अभाव में मन का तथा स्नेह के अभाव में दीपक की ज्योति का अस्तित्व असम्भव है। इसी प्रकार तुम्हारे बिना मेरा भी अस्तित्व असम्भव है। हे भगवन्! तुम मेरे हृदय में अवस्थित हो जाओ। तुम मेरे प्राणों के प्राण तथा मेरे आत्मा के आत्मा हो।

तुम दिव्य प्रकाश तथा ज्ञान-ज्योति हो। तुम अन्धकार के विनाशक तथा सर्वोत्तम गुरु हो। तुम मन एवं वाणी से परे हो। तुम्हें किसी सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। तुम परम आत्मा हो; इस समग्र ब्रह्माण्ड के तुम आत्मा हो।

तुम स्वयं-प्रकाश, निरवयव, अकर्ता, अवयव-रहित, निष्कलंक, अज तथा अमर्त्य हो। तुम हमारे माता-पिता, बन्धु, सखा, गुरु, सम्बन्धी तथा एकमात्र आश्रय-स्थान हो। तुम शान्ति, आनन्द, ज्ञान, शक्ति, सामर्थ्य तथा सौन्दर्य के मूर्त रूप हो।

हे दयामय भगवन्! तुम्हारी कृपा से मैं परम सत्य का साक्षात्कार कर सकूँ ! मैं सदा उदात्त विचारों को प्रश्रय दे सकूँ! मैं दिव्य ज्योति के रूप में स्वयं का साक्षात्कार कर सकूँ! मैं आत्म-भाव से मानवता की सेवा कर सकूँ ! मैं लोभ, काम, अहंकार, ईर्ष्या तथा घृणा से मुक्त हो सकूँ ! मैं प्राणिमात्र में उस आत्मा का दर्शन कर सकूँ जो अक्षर तथा अविनाशी है! मैं विशुद्ध बोध से ब्रह्म-साक्षात्कार कर सकूँ !

ज्योतियों की वह ज्योति सर्वदा मेरा मार्ग निर्देशन करे ! वह मेरे मन को कल्मष-मुक्त कर दे! वह मेरे लिए प्रेरणाप्रद सिद्ध हो ! वह मुझे प्रतिभा, शक्ति, साहस तथा सामर्थ्य प्रदान करे ! वह मेरे मन को विक्षेप तथा आवरण से मुक्त करे ! वह मेरे आध्यात्मिक पथ की समस्त विघ्न-बाधाओं का निराकरण करे ! वह मेरे जीवन को आनन्दमय तथा हितकर बना दे ! हे देवाधिदेव, हे उपनिषदों के ब्रह्म, हे माया के अधिष्ठान, हे ईश्वर, मैं तुम्हारे समक्ष नतमस्तक हूँ।

प्रस्तावना

सन्त किसे कहते हैं? जो ईश्वर अथवा शाश्वत सत्ता में निवास करता है; जो अहंकार, राग-द्वेष, स्वार्थपरता, मिथ्याभिमान, अहं-भाव, काम, लोभतथा क्रोध से सर्वथा मुक्त है; जो समदृष्टि, मानसिक सन्तुलन, दया, सहिष्णुता, धर्म-परायणता तथा ब्रह्माण्डीय प्रेम से ओत-प्रोत है तथा जिसे दिव्य ज्ञान की सम्प्राप्ति हो चुकी है, उसी को सन्त कहते हैं।

संसार को साधु-सन्त वस्तुतः एक वरदान के रूप में प्राप्त हुए हैं। वे उच्चतर दिव्य ज्ञान, आध्यात्मिक शक्ति तथा अक्षय दैवी सम्पत्ति के अभिरक्षक हैं। उनके कमलवत् चरणों के समक्ष राजा-महाराजा भी नतमस्तक होते हैं। महाराजा जनक ने एक बार याज्ञवल्क्य से कहा था- "हे प्रणम्य सन्त, आपके उदात्त उपदेशों के माध्यम से मुझे उपनिषदों के प्राचीन ज्ञान की उपलब्धि हुई है। मैं इसके लिए आपका कृतज्ञ हूँ और आपके चरणों पर अपना सम्पूर्ण साम्राज्य अर्पित करता हूँ। अब मैं आपकी सेवा में आपके दास की भाँति उपस्थित रहूँगा।"

उदारचेता साधु-सन्तों का यही स्वभाव होता है। उनके अस्तित्व मात्र से अभिप्रेरित हो कर लोग उस आनन्दमय स्थिति की सम्प्राप्ति के प्रयत्न में संलग्न हो जाते हैं, जिस स्थिति को साधु-सन्त पहले ही प्राप्त कर चुके होते हैं। यदि ये लोग हमारे बीच विद्यमान नहीं रहते, तो हमारा आध्यात्मिक ऊर्ध्वारोहण तथा निर्वाण असम्भव हो जाता है। उनकी महिमा अवर्णनीय तथा उनका ज्ञान अगाध होता है। वे समुद्र की भाँति गहन, हिमालय पर्वत की भाँति अटल, उसके तुहिन की भाँति विशुद्ध एवं सूर्य की भाँति देदीप्यमान होते हैं। उनकी कृपा तथा उनके सत्संग से ही जन्म-मरण के इस भीषण भव-सागर का सन्तरण हो जाता है । उनका सान्निध्य सवोत्तम शिक्षण तथा उनके प्रति हमारी सवोच्च आनन्द है ।

सन्त गाँव-गाँव तथा द्वार-द्वार पर जा कर दिव्य ज्ञान का प्रसाद वितरित करते हैं। वे दूसरों से अत्यल्प ग्रहण करके मानवता को सर्वोच्च शिक्षण, संस्कृति तथा ज्ञान का प्रकाश प्रदान करते हैं। उनका समग्र जीवन ही अनुकरणीय होता है। वे भाषण दें या न दें, प्रवचन करें या न करें, यह महत्त्वपूर्ण बात नहीं है।

राजाओं के यथार्थ परामर्शदाता सन्त ही हो सकते हैं; क्योंकि वे स्वार्थपरता से मुक्त होते हैं और उनका ज्ञान सर्वोच्च होता है। लोगों की नैतिकता के विकास में साधु-सन्त ही समर्थ होते हैं। केवल वे ही अमरत्व तथा शाश्वत आनन्द की सम्प्राप्ति में हमारा आपका पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं। स्वामी रामदास शिवाजी के तथा महर्षि वसिष्ठ राजा दशरथ के परामर्शदाता थे।

सन्तों के जीवन का अध्ययन आपके लिए तत्काल ही प्रेरणाप्रद सिद्ध होगा। आप उनके उपदेशों का स्मरण करते रहिए। इससे आप उच्चतर आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त होंगे और आपको दुःख-दैन्य से मुक्ति प्राप्त हो जायेगी। अतः 'लाइव्ज़ आफ सेंट्स' नामक यह पुस्तक आपकी नित्य सहचरी सिद्ध होगी। यह आपकी जेब में तथा तकिये के नीचे निश्चित रूप से विद्यमान होनी चाहिए।

दोष-दर्शन के अपने स्वभाव तथा अपनी कुदृष्टि के कारण सन्तों पर दोषारोपण मत कीजिए। उनके गुण-दोष के सम्बन्ध में आपको निर्णय देने का कोई अधिकार नहीं है। विनम्र भाव से उनकी सेवा में आप सर्वतोभावेन संलग्न
दोष-दर्शन के अपने स्वभाव तथा अपनी कुदृष्टि के कारण सन्तों पर दोषारोपण मत कीजिए। उनके गुण-दोष के सम्बन्ध में आपको निर्णय देने का कोई अधिकार नहीं है। विनम्र भाव से उनकी सेवा में आप सर्वतोभावेन संलग्न
रहिए, उनको अपनी वाटिका में आमन्त्रित कर अपनी शंकाओं का समाधान कीजिए तथा उनके उपदेशामृत का पान कर उसे कार्यान्वित कीजिए। आप निश्चित रूप से कृतकृत्य होंगे।

प्रत्येक विद्यालय, प्रत्येक महाविद्यालय, प्रत्येक छात्रावास, प्रत्येक कारागार, प्रत्येक संस्था तथा प्रत्येक घर में मार्ग-दर्शन के लिए सन्त का होना आवश्यक है। सन्तों का अभाव नहीं है। बात केवल इतनी है कि आप स्वयं उनके पास जाना तथा उनकी सेवा करना नहीं चाहते। आपमें उच्चतर वस्तुओं की सम्प्राप्ति की इच्छा का अभाव है। आप काँच के टूटे-फूटे टुकड़ों से ही सन्तुष्ट हो गये हैं। आपमें उच्चतर दिव्य ज्ञान तथा आन्तरिक शान्ति की सम्प्राप्ति की आध्यात्मिक पिपासा का अभाव है।

सन्तों की कोई जाति नहीं होती। उनकी जाति की ओर ध्यान मत दीजिए। इससे आपको कोई लाभ नहीं होगा। आपके लिए उनके गुणों को आत्मसात् कर पाना असम्भव है। उच्चतर धर्म में जाति या धार्मिक रूढ़िवादिता के लिए कोई स्थान नहीं होता। मोचियों, जुलाहों तथा अन्त्यजों में भी अनेक महान् सन्त हुए हैं। ज्ञान तथा आत्मोपलब्धि पर ब्राह्मणों का एकाधिकार नहीं है। दक्षिण भारत के ब्राह्मण केवल दण्डी स्वामियों को ही भोजन देते हैं। यह भयंकर भूल है। कितनी दुःखद है यह स्थिति ! इसी कारण साधु-सन्त दक्षिण भारत का पर्यटन नहीं करते। पंजाब तथा गुजरात के लोगों में सभी सन्तों के प्रति आदर-भाव है। अतः इन राज्यों में सन्तों का आना-जाना लगा रहता है तथा वहाँ के लोग उनके आध्यात्मिक प्रवचनों से लाभान्वित होते रहते हैं।

सामान्यतः पाठकों तथा विशेषतः अध्यात्म-पथ के साधकों के समक्ष इस पुस्तक को प्रस्तुत करते समय सन्तों की महिमा के सम्बन्ध में कुछ पंक्तियाँ लिख देना समुचित प्रतीत होता है।

सन्त किसी भी देश के क्यों न हों, वे काल के सिकता-कणों पर अपने चरण-चिह्न छोड़ गये हैं जिससे सात्त्विक वृत्ति के लोग उनका अनुसरण कर शाश्वत सत्य के दर्शन कर सकें। उनके जीवन से हमें सतत प्रेरणा प्राप्त होती रही है और हम अभी तक उनकी महिमा का स्मरण करते आ रहे हैं। उनके उपदेशों का हमारे जीवन से अविच्छेद्य सम्बन्ध रहा है। वे हमें सतत अभिप्रेरित करते रहें! वे हमारा सदैव मार्ग-दर्शन करते रहें!

इस पुस्तक को तेरह भागों में वर्गीकृत किया गया है। सन्तों को किसी स्थान-विशेष अथवा देश से सम्बद्ध करके नहीं देखा-परखा जा सकता। उनके प्रभाव को भौगोलिक सीमाएँ अवरुद्ध नहीं कर सकतीं। वे समस्त संसार के होते हैं। हाँ, उनके प्रादेशिक आधार के परिप्रेक्ष्य में उन पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनमें से प्रत्येक से उद्‌भूत आध्यात्मिक धाराएँ कहाँ-कहाँ से निकलीं तथा किस प्रकार उन सब सन्तों के सम्मिलित आध्यात्मिक प्रभाव ने पूरे देश के आध्यात्मिक पुनरुत्थान में योगदान दिया।

मनुष्य स्वयं को निर्बल तथा असहाय समझ लेता है; किन्तु उसे सम्यक् मार्ग-दर्शन में अध्यवसाय द्वारा इस अशुभ प्रवृत्ति का उन्मूलन करना चाहिए। ऐसे लोगों के लिए सन्तों की जीवनियाँ पथ-प्रदर्शक का काम करती हैं। ये उनके जीवन, चरित्र तथा भविष्य का निर्माण सर्वथा नवीन विधि से कर देती हैं और उनकी मानसिकता को एक नयी दिशा प्रदान कर उन्हें उनके पथ प्रदर्शकों की आस्था तथा उनके उपदेशों के अनुरूप बना देती हैं। इतने सच्चे तथा विश्वस्त पथ-प्रदर्शक होते हैं सन्त - जो इस धरती पर आये और प्रयाण कर गये !

यह संसार अच्छे साधु-सन्तों से परिपूरित रहे ! आप सबको उनके सत्संग तथा परामर्श से जीवन के परम लक्ष्य की सम्प्राप्ति हो ! आप सबको इन सन्तों का आशीर्वाद प्राप्त होता रहे !

आनन्द कुटीर
८ जनवरी १९४७

- स्वामी शिवानन्द

विषय सूची

प्रकाशकीय वक्तव्य 3
प्रार्थना 4
प्रस्तावना 5
प्राचीन काल के सन्त 12
महर्षि व्यास 12
ऋषि याज्ञवल्क्य 13
योगी भुशुण्डि 16
दत्तात्रेय 16
योगी जैगीषव्य 21
तिरुमूल नायनार 21
पैगम्बर 23
जरथुश्त्र 23
पार्श्वनाथ 26
बुद्ध 28
महावीर 36
कन्फ्यूशियस 38
ईसामसीह 46
गुरु नानक 50
आचार्य 59
शंकर 59
रामानुज 66
मध्व 70
वल्लभ 71
निम्बार्क 72
रामानन्द 74
गौराङ्ग 74
सन्त अरुणगिरि 84
तमिल नाडु के शैव आचार्य 86
अप्पर या तिरुनावुक्करसर 86
तिरु ज्ञान सम्बन्धर 92
माणिक्कवासगर 95
दक्षिण भारत के आलवार या वैष्णव रहस्यवादी 98
पेरियालवार 100

नम्मालवार 103
कुलशेखर आलवार 105
तोन्डरडिप्पोडी आलवार 107
तिरुप्पन आलवार 110
तिरुमंगै आलवार 111
तिरुमलिसै आलवार 113
आण्डाल 115
सन्त आलवन्दार 118
महाराष्ट्र के सन्त 122
समर्थ रामदास 122
नामदेव 125
एकनाथ 131
तुकाराम 133
दामा जी 139
चोखामेला 141
अक्कलकोट स्वामी 142
गोरा कुम्हार 143
ज्ञानदेव 145
उत्तर भारत के सन्त 150
गोस्वामी तुलसीदास 150
कबीर 151
सन्त महाराजा पीपा 157
नरसी मेहता 159
दादू 161
अक्खा 162
तिब्बत के मिलारेपा 162
गोरखनाथ 163
सन्त हरिदास 164
दक्षिण भारत के सन्त 168
तिरुवल्लुवर 168
कनकदास 169
नीलकण्ठ दीक्षितार 170
पुरन्दरदास 172
तायुमानवर 174

योगी मुकुन्द राय 176
परमहंस तैलंग स्वामी 176
पट्टिणत्थु पिल्लैयार 177
त्यागराज 180
नन्दनार 182
भद्राचलम् रामदास 182
विल्वमंगल 185
योगी वेमन्ना 188
जयदेव 194
विद्यारण्य 202
अप्पय्य दीक्षितार 205
सदाशिव ब्रह्म 212
अप्पय्याचार्य 214
पोतना 215
महिला सन्त 217
मदालसा 217
मीराबाई 217
साकूबाई 221
मुक्ताबाई 224
रबिया 225
आवडयक्काल 228
सूफी सन्त 232
जलालुद्दीन रूमी 232
मन्सूर 233
शम्स तबरेज़ 234
बुल्लेशाह 234
ईसाई रहस्यवादी 237
सन्त आगस्टाइन 237
असीसी का सन्त फ्रान्सिस 240
सन्त फ्रान्सिस जेवियर 241
सिक्ख गुरु 245
गुरु नानक 245
गुरु अंगद 246
गुरु अमरदास 249

- गुरु रामदास 252
- गुरु अर्जुन सिंह 253
- गुरु हरगोविन्द 258
- गुरु हर राय 260
- गुरु हरकिशन 262
- गुरु तेगबहादुर 263
- गुरु गोविन्द सिंह 266

आधुनिक युग के सन्त 272

- राघवेन्द्र स्वामी 272
- रामलिंग स्वामी 274
- स्वामी दयानन्द सरस्वती 279
- सुन्दरेश स्वामी 282
- नारायण गुरु 284
- स्वामी रामकृष्ण परमहंस 285
- श्री अरविन्द घोष 287
- स्वामी स्वयंप्रकाश ब्रह्मेन्द्र जी 291
- स्वामी रामतीर्थ 293
- श्री रमण महर्षि 296
- सन्त गुदड़ी बाबा 299

बीस महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक नियम 303

प्राचीन काल के सन्त

महर्षि व्यास

हिन्दू-पञ्चाङ्ग में व्यास-पूर्णिमा को एक विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण दिन माना जाता है। इसके उत्तरवर्ती दिन को हमारे पूर्वज आर्यावर्त के ऋषि चार मास की तपस्या के लिए वन में चले जाया करते थे। इसी स्मरणीय दिवस को व्यास, जो स्वयं ईश्वर के अवतार थे, ने ब्रह्मसूत्र की रचना प्रारम्भ की थी। हमारे प्राचीन ऋषि गुफाओं तथा वनों में तपस्या किया करते थे। किन्तु काल की परिवर्तनशीलता के कारण आजकल ऐसी सुविधाएँ सर्व-सुलभ नहीं हैं। फिर भी अभी ऐसे गृहस्थों तथा राजाओं का अभाव नहीं है जो अपने सामर्थ्य के अनुसार चतुर्थ आश्रम के सदस्यों को स्वेच्छापूर्वक ऐसी सहायता तथा सुविधाएँ प्रदान करने में समर्थ हैं। अब वनों तथा गुफाओं का स्थान साधुओं के अपने गुरुद्वारों तथा मठों के कमरों ने ग्रहण कर लिया है। मनुष्य को आवश्यकता के अनुसार स्वयं को देश-काल से समायोजित करना पड़ता है; किन्तु काल तथा परिस्थिति के कारण हमारी मानसिक अभिवृत्तियों में कोई अन्तर नहीं आना चाहिए। चातुर्मास का प्रारम्भ व्यास-पूर्णिमा से होता है। शास्त्रों के अनुसार इस दिन हमसे व्यास तथा ब्रह्मविद्या के अन्यान्य गुरुओं की पूजा तथा ब्रह्मसूत्र एवं दिव्य ज्ञान के संवाहक अन्य पुरातन ग्रन्थों के अध्ययन को प्रारम्भ करने की आशा की जाती है।

हमारे पुराणों में कई व्यासों का उल्लेख है। कहा जाता है कि द्वापर युग के अन्त में कृष्ण-द्वैपायन व्यास का जन्म हुआ था और इसके पूर्व अट्ठाईस व्यास हो चुके थे। कृष्ण-द्वैपायन का जन्म पाराशर ऋषि तथा सत्यवती देवी के संयोग से कुछ विलक्षण तथा आश्चर्यप्रद परिस्थितियों में हुआ था। पाराशर एक महान् ज्ञानी तथा ज्योतिष-शास्त्र के आधिकारिक विद्वान् थे। उनका ग्रन्थ पाराशर-होरा आज भी ज्योतिष शास्त्र का एक पाठ्य-ग्रन्थ माना जाता है। उन्होंने एक स्मृति की भी रचना की थी जिसे पाराशर-स्मृति कहा जाता है। इस ग्रन्थ के प्रति लोगों के हृदय में श्रद्धा तथा सम्मान की इतनी प्रबल भावना है कि समाज-शास्त्र तथा नीति-शास्त्र के आधुनिक लेखक इसके उद्धरण प्रस्तुत किया करते हैं। पाराशर इस तथ्य से अवगत थे कि एक घटिका-विशेष में जन्म ग्रहण करने वाला शिशु युग का महानतम व्यक्ति होगा। वह स्वयं भगवान् विष्णु का एक अंश होगा। उस दिन पाराशर नौका-यात्रा कर रहे थे। उन्होंने केवट से उस आसन्न मांगलिक मुहूर्त की बात की। केवट की एक पुत्री थी जो पूर्ण वयस्क थी और जिसके विवाह की प्रतीक्षा की जा रही थी। वह ऋषि की महानता तथा पवित्रता से प्रभावित था। उसने अपनी पुत्री को उनके समक्ष पाणि-ग्रहण के लिए प्रस्तुत कर दिया। हमारे व्यास ने इसी वैवाहिक सम्बन्ध के फल-स्वरूप जन्म-ग्रहण किया। कहा जाता है कि उनका जन्म स्वयं भगवान् शिव की कृपा से हुआ था जिन्होंने एक सन्त तथा निम्नजातीय कुलोत्पन्न एक ज्ञानी कन्या के संयोग को अपना आशीर्वाद प्रदान किया था।

बाल्यावस्था में ही व्यास ने अपने माता-पिता के समक्ष अपने जीवन के रहस्य का उद्घाटन करते हुए कह दिया कि उन्हें अखण्ड तप के लिए वन-गमन करना होगा। पहले उनकी माता उनसे सहमत नहीं हुई; किन्तु तत्पश्चात् उन्होंने उन्हें इस शर्त पर अनुमति प्रदान कर दी कि उन्हें उनकी उपस्थिति की जब कभी भी कामना होगी, वे उनके समक्ष उपस्थित हो जायेंगे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके माता-पिता तथा स्वयं वे कितने अधिक दूरदर्शी थे। पुराणों के अनुसार उन्होंने अपने इक्कीसवें गुरु ऋषि वासुदेव से दीक्षा ग्रहण की और सनक, सनन्दन तथा अन्यान्य आचार्यों के चरणों में शरण ग्रहण कर शास्त्राध्ययन किया। उन्होंने लोक-कल्याण के लिए वेदों को व्यवस्थित किया तथा श्रुतियों के त्वरित तथा सरल अर्थ-ग्रहण के लिए ब्रह्मसूत्रों की रचना की। उन्होंने महाभारत की भी रचना की जिससे शूद्र, स्त्री तथा अल्पबुद्धि जन भी सर्वोच्च ज्ञान का अर्थ-ग्रहण सरलतम विधि से कर सकें। व्यास अष्टादश

पुराणों के भी प्रणेता थे। उन्होंने उपाख्यानों तथा प्रवचनों के माध्यम से इनकी प्रशिक्षण पद्धति का सूत्रपात किया। इस प्रकार उन्होंने कर्म, उपासना तथा ज्ञान, इन तीन मार्गों की व्यवस्था की। अपनी माता के सन्तति-प्रवाह को अक्षुण्ण रखने तथा धृतराष्ट्र, पाण्डु एवं विदुर के जन्म का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। ये उन्हीं की सन्तान थे। व्यास का अन्तिम ग्रन्थ भागवत था। इसके लेखन की प्रेरणा उन्हें देवर्षि नारद से प्राप्त हुई। देवर्षि ने उनको इसके प्रणयन का परामर्श दिया और कहा कि इसके अभाव में उन्हें अपने जीवन के लक्ष्य की सम्प्राप्ति नहीं हो सकेगी।

व्यास को समस्त हिन्दू चिरंजीवी मानते हैं। इनके अनुसार वे अभी भी जीवित हैं और अपने भक्तों के कल्याण के लिए विश्व-भ्रमण किया करते हैं। कहा जाता है कि वे निष्कपट तथा निष्ठावान् व्यक्तियों के समक्ष प्रकट भी हुआ करते हैं। शंकराचार्य ने मण्डन मिश्र के घर में उनका दर्शन किया था। कई और लोगों को भी उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि व्यास लोक-कल्याण के लिए अभी भी विद्यमान हैं। हमें अपने लिए तथा इसके साथ ही समस्त संसार के हितार्थ उनके आशीर्वाद के लिए प्रार्थना करनी चाहिए।

यह सर्वविदित है कि हमारे पूर्वजों द्वारा विकसित विचारों की छह शास्त्र-सम्मत तथा महत्त्वपूर्ण पद्धतियाँ हैं जिन्हें षड्-दर्शन कहा जाता है। ये षड्-दर्शन हैं-सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा अथवा वेदान्त। इन दर्शनों के भिन्न-भिन्न अभिमत हैं। कालान्तर में इन विचार-पद्धतियों का अर्थ-ग्रहण दुष्कर होता गया। अतः इनके नियमन के लिए सूत्रों की रचना की गयी। सीमित शब्दों में प्रणीत इन ग्रन्थों को संस्कृत में सूत्र कहा जाता है। इनका अभिप्राय स्मरण शक्ति को सम्यक् संकेत तथा प्रत्येक विषय पर शास्त्रार्थ में सहायता प्रदान करना है। पद्मपुराण में सूत्र को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि सूत्र संक्षिप्त, स्पष्ट तथा असन्दिग्ध होना चाहिए। किन्तु सूत्रों को इस सीमा तक संक्षिप्त कर दिया गया है कि सूत्र विशेषतः ब्रह्मसूत्र दुरूह हो गये हैं। आज हम एक ही सूत्र को विभिन्न रूपों में व्याख्यायित होते देखते हैं। व्यास या बादरायण (व्यास को एक अतिरिक्त नाम बादरायण से भी अभिहित किया गया है) द्वारा रचित ब्रह्मसूत्रों को वेदान्त-सूत्र भी कहते हैं; क्योंकि इनमें वेदान्त की ही विवेचना की गयी है। इन सूत्रों को चार अध्यायों में और पुनः इन चार अध्यायों में से प्रत्येक अध्याय को चार अनुभागों में विभाजित किया गया है। यह एक रोचक तथ्य है कि सूत्रों का प्रारम्भ तथा अन्त उन सूत्रों से होता है कि जिनका अर्थ है कि ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप के विचार के फल-स्वरूप प्रत्यावर्तन नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि सूत्रों के निहितार्थ के अनुरूप जीवन-यापन से मनुष्य अमरत्व को प्राप्त होता है और संसार में उसका प्रत्यावर्तन नहीं होता। परम्परा के अनुसार व्यास को इन सूत्रों का प्रणेता माना जाता है। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में गीता तथा महाभारत को व्यास-प्रणीत एवं ब्रह्मसूत्रों को बादरायण-प्रणीत बताया है। उनके अनुयायी वाचस्पति, आनन्दगिरि तथा अन्य लोग इन दोनों को एक ही व्यक्ति मानते हैं। रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क तथा कुछ अन्य लोग इन तीनों ग्रन्थों का प्रणेता व्यास को ही मानते हैं। शांकर-भाष्य सूत्रों का प्राचीनतम भाष्य है। इसके पश्चात् रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क तथा कुछ अन्य आचार्यों ने भी इन सूत्रों पर अपने भाष्यों की रचना की। इन्होंने अपने भाष्यों के माध्यम से अपने-अपने मतों का प्रतिपादन किया। ब्रह्म इस जगत् का कारण है तथा ब्रह्मज्ञान से आत्यन्तिक मुक्ति की सम्प्राप्ति होती है, इन दो बातों पर इन पाँचों आचार्यों का अधिकांशतः मतैक्य है; किन्तु ब्रह्म के स्वरूप, व्यष्टि आत्मा तथा सर्वोच्च आत्मा के पारस्परिक सम्बन्ध तथा मुक्तावस्था में जीव की दशा के सम्बन्ध में इनमें मत-वैभिन्य है। इनमें से कुछ के अनुसार मुक्ति-प्राप्ति का मुख्य साधन शंकर द्वारा अनुमोदित ज्ञान न हो कर भक्ति है।ऋषि याज्ञवल्क्य व्यास का जीवन ज्ञान के प्रचार-प्रसार के निमित्त जन्म-ग्रहण करने वाले व्यक्ति का अप्रतिम उदाहरण है। हमारी कामना है कि हम उनकी रचनाओं की अर्थवत्ता के अनुरूप जीवन-यापन करें !

ऋषि याज्ञवल्क्य

श्रुतियों तथा स्मृतियों में मिथिला के याज्ञवल्क्य का नाम एक लब्ध-प्रतिष्ठ तथा प्रख्यात व्यक्ति के रूप में अंकित है। याज्ञवल्क्य को विशेषतः उनके अप्रतिम आध्यात्मिक ज्ञान तथा शक्ति के कारण जाना जाता है। भगवान् सूर्य की कृपा से वे एक वेद-संहिता के द्रष्टा थे और उन्होंने जनक, मैत्रेयी तथा कुछ अन्य व्यक्तियों को ब्रह्मज्ञान प्रदान किया था। पूतात्मा ऋषियों में उनका नाम शीर्षस्थ है। भगवान् सूर्य से उन्हें जिस शुक्ल यजुर्वेद-संहिता की प्राप्ति हुई थी, उससे निम्नांकित आख्यान जुड़ा हुआ है :

याज्ञवल्क्य तैत्तिरीय शाखा के वेदाचार्य महामुनि वैशम्पायन की बहन के पुत्र थे। वे वैशम्पायन के शिष्य थे और उनके निर्देशन में तैत्तिरीय-संहिता का अध्ययन करते थे। वैशम्पायन के अनेक शिष्य थे और ये सभी तैत्तिरीय-शाखा के विद्यार्थी थे।

एक बार सभी ऋषियों ने मेरु-पर्वत के निकट एक संघ के संगठन का निर्णय किया और यह नियम पारित किया कि जो ऋषि निर्धारित समय पर उपस्थित नहीं होंगे, वे सात दिनों तक ब्रह्म-हत्या (ब्राह्मण-हत्या) के पाप के भागी होंगे। उस निश्चित दिन को वैशम्पायन के पिता का श्राद्ध-अनुष्ठान था। वैशम्पायन ने सोचा- 'मुझे किसी भी तरह इस अनुष्ठान को सम्पन्न करना होगा। यदि मैं ब्रह्म-हत्या के पाप का भागी होता हूँ, तो मेरे शिष्य पाप-शोधन के लिए प्रायश्चित्त कर लेंगे।' अतः वैशम्पायन ऋषियों के उस सम्मेलन में नहीं गये जिसके फल-स्वरूप उन्हें ब्रह्म-हत्या के पाप का भागी होना पड़ा।

तब वैशम्पायन ने अपने शिष्यों से कहा- "मुझे अब ब्रह्म-हत्या के महापाप के लिए प्रायश्चित्त करना है। अतः मेरे लिए स्वयं तुम लोगों को सात दिनों तक प्रायश्चित्त करना होगा।"

याज्ञवल्क्य ने तत्क्षण कहा- "हे गुरुदेव, ये सभी दुर्बलचित्त युवा विद्यार्थी हैं। यह कठिन तप इनके लिए असह्य होगा। अतः इन सबके स्थान पर मैं स्वयं इसे इस विधि से सम्पन्न करूँगा जो किसी भी अन्य व्यक्ति के लिए दुष्कर होगी।" किन्तु वैशम्पायन ने उन्हें इसकी अनुमति नहीं दी। फिर भी याज्ञवल्क्य अपने आग्रह पर अडिग रहे। गुरु उनके इस उद्धत व्यवहार के कारण उनसे अप्रसन्न हो गये। उन्होंने कहा- "हे अहंकारी, तुम बहुत अहम्मन्य हो। तुम मुझसे दूर चले जाओ। तुमने प्रज्ञाशील ब्राह्मणों के प्रति अपनी घृणा का प्रदर्शन कर अपने स्वभाव को अनावृत कर दिया है। तुमने मुझसे जितना भी ज्ञान अर्जित किया है, वह सब मुझे शीघ्र लौटा दो।"

गुरु के इस आदेश पर देवरात-पुत्र याज्ञवल्क्य ने यजुस् के सर्वांश का अन्न-रूप में वमन कर दिया। अन्य शिष्यों ने तित्तिरि पक्षी के रूप में उस अन्न का भक्षण कर लिया। ये लोग उसकी सम्प्राप्ति के लिए पहले से ही उत्सुक थे। इस प्रकार उन्हें उस यजुर्वेद संहिता का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त हो गया। तित्तिरि पक्षियों ने इस वेद का भक्षण किया था; अतः तब से इसे तैत्तिरीय यजुर्वेद की संज्ञा प्रदान कर दी गयी। वमन किया हुआ होने के कारण इसे कृष्ण यजुर्वेद भी कहते हैं।

तब याज्ञवल्क्य ने दृढ़ निश्चय कर लिया कि इसके पश्चात् अब वे किसी भी मनुष्य को गुरु के रूप में स्वीकार नहीं करेंगे। वे भगवान् सूर्य को प्रसन्न करने का प्रयत्न करने लगे। वे अपने गुरु वैशम्पायन के लिए अज्ञात अभिनव वेदांश के ज्ञान की प्राप्ति के लिये वेदों में निष्णात सूर्य के पूजन तथा गुणानुवाद में संलग्न हो गये।

याज्ञवल्क्य ने इन शब्दों में सूर्य की अभ्यर्थना की- "मैं सभी प्राणियों में आत्मवत् विद्यमान दीप्तिमान आदित्य को साष्टांग दण्डवत् करता हूँ। मैं उनके सम्मुख अवनत-शिर होता हूँ जो आकाश की भाँति सबको आवृत किये हुए हैं, जो अद्वितीय हैं एवं जो प्रतिबन्धक उपाधियों से खण्डित नहीं हैं। हे महान् देव, मैं उस उद्दीप्त ग्रह का ध्यान करता हूँ जो समस्त संसार को प्रकाश तथा ऊष्मा प्रदान करता है, जो निषिद्ध कर्मों से उत्पन्न सभी दुःखों को नष्ट करता है

और जो कर्म-बीज अज्ञान को दग्ध कर देता है। हे भगवन्! मैं लोक-त्रय के अधिपतियों द्वारा पूजित एवं स्तुत्य आपके चरण कमलों का पूजन करता हूँ। मुझे आप वेद के वे अंश प्रदान करें जो अन्य लोगों के लिए अज्ञात हैं।"

याज्ञवल्क्य की तपस्या से प्रसन्न हो कर भगवान् सूर्य अर्थात् महिमामय हरि ने अश्व का रूप धारण कर उनको यजुर्वेद के उन अभिनव अंशों का ज्ञान प्रदान किया जो अन्य लोगों के लिए अज्ञात था। यजुर्वेद के इस अंश को शुक्ल यजुर्वेद कहा जाता है। इसे वाजसनेय-यजुर्वेद की भी संज्ञा प्रदान की गयी है; क्योंकि सूर्य ने अश्व का रूप ग्रहण कर इसका प्रस्तुतिकरण द्रुत गति से किया था। याज्ञवल्क्य ने इस वाजसनेय-यजुर्वेद को पुनः पन्दरह शाखाओं में विभाजित किया। इन शाखाओं में प्रत्येक में एक सौ यजुस् मन्त्र थे। खाण्डव, माध्यन्दिन तथा अन्य लोगों ने उन शाखाओं का अध्ययन किया।

मैत्रेयी तथा कात्यायनी, याज्ञवल्क्य की ये दो पत्नियाँ थीं। इन दोनों में मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी। जब याज्ञवल्क्य ने जीवन के चतुर्थ आश्रम में प्रवेश के लिए प्रस्थान करते समय अपनी दोनों पत्नियों के बीच सम्पत्ति के विभाजन की इच्छा प्रकट की, तब मैत्रेयी ने उनसे पूछा- "क्या धन से मुझे अमरत्व की प्राप्ति हो सकेगी?" याज्ञवल्क्य ने कहा कि 'धन से अमृतत्व की प्राप्ति नहीं होती। इससे केवल इतना ही होगा कि वह भी संसार के अन्य लोगों की भाँति सुखमय जीवन व्यतीत कर सकेगी।' इसे सुन कर मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से चरम ज्ञान प्रदान करने की प्रार्थना की। तब याज्ञवल्क्य ने उसके समक्ष निरपेक्ष आत्मा की आत्यन्तिक महानता, इसकी सत्ता के स्वरूप एवं असीम ज्ञान तथा अमरत्व की प्राप्ति के मार्ग का विस्तारपूर्वक वर्णन किया। याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी का यह अमर परिसंवाद बृहदारण्यकोपनिषद में अंकित है। इस परिसंवाद का केन्द्रीय विषय निम्नांकित है :

"समस्त वस्तुएँ अपने (वस्तुओं के) प्रयोजन के लिए प्रिय न हो कर आत्मा के प्रयोजन के लिए प्रिय होती हैं। यह आत्मा ही सर्वत्र विद्यमान है। इसका ज्ञान किसी को नहीं हो सकता; क्योंकि यह स्वयं विज्ञाता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यह निश्चित रूप से ऐसा ही है। यह 'नेति-नेति' के अन्तहीन कथन से ही जाना जा सकता है। आत्मा स्वयंप्रकाश, अनश्वर तथा अचिन्त्य है।"

दूसरी पत्नी भरद्वाज-पुत्री कात्यायनी सामान्य बुद्धि की स्त्री थी और उसके चन्द्रकान्त, महामेघ तथा विजय नामक तीन पुत्र थे।

याज्ञवल्क्य महान् ब्रह्मवादी होने के साथ-साथ महान् कर्मकाण्डी भी थे। यजमानों से उन्होंने कई यज्ञानुष्ठान करवाये और उन महान् यज्ञों के वे स्वयं आचार्य भी बने। वे एक प्रख्यात् श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु थे। एक बार मिथिला के विदेह जनक ने जानना चाहा कि किस ब्रह्मनिष्ठ गुरु से ब्रह्म-विद्या प्राप्त की जाये। यथार्थ ब्रह्मनिष्ठ की खोज के लिए उन्होंने एक विराट् बहुदक्षिणा यज्ञ का अनुष्ठान किया जिसमें दूर-दूर के ऋषियों को आमन्त्रित किया गया। उन्होंने स्वर्ण-जड़ित खुरों तथा शृंगों वाली एक सहस्र गौओं के दान का प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुए एकत्र लोगों से कहा- "आप लोगों में जो सर्वोत्तम ब्राह्मण है, वह इन गौओं को अपने घर ले जा सकता है।" किन्तु गौओं को ले जाने का साहस किसी को नहीं हुआ; क्योंकि सबको एक-दूसरे से अपनी निन्दा का भय था। किन्तु याज्ञवल्क्य ने उठ कर अपने शिष्य सामश्रवा को गौओं को घर ले जाने को कह दिया।

इस पर अन्य ब्राह्मण क्रुद्ध हो गये और एक-दूसरे से कहने लगे- "वह स्वयं को हम लोगों से श्रेष्ठ क्यों कहता है?" इसके पश्चात् अनेक ऋषियों ने याज्ञवल्क्य को चुनौती देते हुए उनसे लोकोत्तर विषयों के सम्बन्ध में कई प्रश्न किये जिसके उत्तर याज्ञवल्क्य ने तत्काल दे दिये। वहाँ एक बृहद् शास्त्रार्थ हुआ जिसमें याज्ञवल्क्य ने अन्य लोगों को पराजित कर दिया। जनक को यह स्वीकार करना पड़ा कि याज्ञवल्क्य सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ हैं। उन्होंने उन्हीं से ब्रह्म-विद्या प्राप्त की।

याज्ञवल्क्य के महान् आध्यात्मिक उपदेश बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय तथा चतुर्थ अध्याय में विपुल मात्रा में उपलब्ध हैं। याज्ञवल्क्य सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य-संहिता के भी प्रणेता हैं। याज्ञवल्क्य-शाखा, प्रतिज्ञा-सूत्र, सतपथ-ब्राह्मण तथा योग-याज्ञवल्क्य उनकी अन्य कृतियाँ हैं।

जनक के यज्ञ के समय याज्ञवल्क्य तथा वैशम्पायन के बीच कुछ शब्दों का आदान-प्रदान हुआ; किन्तु यह सुन कर कि याज्ञवल्क्य ने भगवान् सूर्य से एक अभिनव वेद प्राप्त कर लिया है, वैशम्पायन को बहुत प्रसन्नता हुई। उन्होंने याज्ञवल्क्य से अपने शिष्यों को भी इस वेद के प्रशिक्षण का अनुरोध किया। याज्ञवल्क्य ने उनके इस अनुरोध को स्वीकार कर उनके शिष्यों को उस वेद-विद्या में प्रशिक्षित किया।

अन्त में याज्ञवल्क्य विद्वत्संन्यास ग्रहण कर वन में चले गये।

याज्ञवल्क्य सर्वकालीन सर्वश्रेष्ठ ऋषियों में थे। उन्होंने जनक की राजसभा में शास्त्रार्थ में अपने गुरु उद्दालक को भी पराजित किया था। उपनिषदों में अन्तर्विष्ट उनके उपदेश ब्रह्म-विद्या के उच्चतम प्रशिक्षण के चूड़ामणि के रूप में प्रख्यात हैं।

योगी भुशुण्डि

चिरंजीवी योगियों में योगी भुशुण्डि का भी नाम आता है। प्राणायाम-विज्ञान में वे निष्णात थे। कहा जाता है कि महामेरु के उत्तरी शिखर पर स्थित कल्पवृक्ष की दक्षिणी शाखा पर उन्होंने एक पर्वताकार बृहद् नीड़ का निर्माण किया था । भुशुण्डि उसी नीड़ में रहा करते थे । वे त्रिकाल ज्ञानी थे । वे कितनी ही दीर्घ अवधि तक समाधिस्थ रह सकत थे । वे निराकांक्षी थे । उन्हें उच्चतम शान्ति तथा ज्ञान की प्राप्ती हो गयी थी । वे यहां आत्मानन्द में निमग्न रहते थे और चिरंजीवी होने के कारण आज भी हैं ।
भुशुझडि को पंच-धारणओं का पूर्ण ज्ञान था । धारण की पंच-विधाओं के अभ्यास से उन्होंने स्वयं को पंच-तत्वों के आघात-प्रत्याघात से अमेघ बना दिया था ।
कहा जाता है कि जब द्वादश आदित्य अपनी प्रज्वलित किरणों से संसार को भस्म करने लगते हैं, तब योगी भुशुण्डि अपनी अपस्-धारणा के बल पर आकाश तक चले जाते हैं, जब चट्टानों को सर्वथा विच्छिन करने वाले प्रबल तथा दुर्निवार अन्तरालों का प्रादुर्भाव होने लगता है तब वे आकाश में स्थत हो जाते हैं और जब महामेरु के साथ-साथ सारा संसार जलमग्न हो जाता है तब वे वायु-धारणा के बल पर जल पर सन्तरण करने लगते हैं ।

दत्तात्रेय

पातिव्रत की प्रतिमूर्ति के रूप में सामान्यत: अनसूया का दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है । वह महर्षि अत्रि की पत्नी थी जो सप्तर्षयों में एक हैं । वह पातिव्रत धर्म में पूर्णत: स्थित थी और अपनेपति की सेवा अत्यन्त निष्ठापूर्व करती थी । उसने ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के समकक्ष पुत्रों के प्रजनन के लिये दीर्घ काल तक कठिन तप किया ।

एक दिन नारद चने के आकार का एक लघु लौह-पिण्ड ले कर सरस्वती के पास गये । उन्होंने उनसे कहा - 'हे सरस्वती देवी, इस लौह-पिण्ड को भून दीजिये । मेरी यात्रा में यही खद्य-पदार्थ होगा ।' सरस्वती नीे हँसते हुए कहा -'हे ऋषि नारद, इस लौह-पिण्ड को कैसे भूना जा सकता है? इसका भक्षण भी कैसे सम्भव हैं?' तत्पश्चात नारद महालक्ष्मी और पार्वती के यहां गये और उन्होंने उनसे उस लौह-पिण्ड को भूनने की प्रार्थना की। वे भी नारद पर हँसने लगीं। तब नारद ने कहा- "हे देवियो, देख लेना, मैं इसे महर्षि अत्रि की पत्नी अनसूया से भुनवा लूँगा। वे महान् पतिव्रता हैं और भू-लोक में रहती हैं।"

इसके पश्चात् नारद अनसूया के पास आये। उन्होंने उससे उस लौह-पिण्ड को भूनने की प्रार्थना की। अनसूया ने उस लौह-पिण्ड को कड़ाही में डाल कर अपने पति के स्वरूप का ध्यान किया और जिस जल का उपयोग वह अपने पति के पद-प्रक्षालन के लिए किया करती थी, उसकी कुछ बूँदें उस लौह-पिण्ड पर डाल दीं। इस प्रकार वह लौह-पिण्ड तत्काल भून दिया गया। नारद शीघ्र ही सरस्वती, लक्ष्मी तथा पार्वती के पास गये और उनके सम्मुख उस लौह-पिण्ड का भोजन किया और उसका कुछ अंश उन तीनों को भी दिया। उन्होंने अनसूया के पातिव्रत तथा उसकी महिमा की अत्यधिक प्रशंसा की। इसके पश्चात् उन्होंने अनसूया की ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के समकक्ष पुत्रों के प्रजनन की कामना की पूर्ति का निश्चय किया।

नारद ने सरस्वती, लक्ष्मी तथा पार्वती से कहा- "यदि आप लोगों ने निष्ठा, विश्वास तथा श्रद्धा के साथ अपने पतियों की सेवा की होती, तो उस लौह-पिण्ड को आप लोग भी भून देतीं। कृपया आप लोग अपने पतियों से अनसूया के पातिव्रत-धर्म की परीक्षा लेने का अनुरोध करें।"

तब सरस्वती, लक्ष्मी तथा पार्वती ने अपने पतियों से अत्रि महर्षि की पत्नी अनसूया के पातिव्रत-धर्म की परीक्षा लेने की प्रार्थना की। उन्होंने उनसे कहा कि वे उससे निर्वाण भिक्षा देने को कहें। निर्वाण भिक्षा नग्न हो कर दी जाती है।

यह त्रिमूर्ति ज्ञान-दृष्टि के बल पर नारद की इस लीला एवं अनसूया की तपस्या तथा कामना से अवगत हो गयी। वे सहमत हो गये। वे तीनों संन्यासियों का वेश धारण कर अनसूया के पास गये और उन्होंने उससे निर्वाण-भिक्षा की माँग की। अनसूया बहुत बड़ी द्विविधा में पड़ गयी। वह भिक्षुओं की याचना को अस्वीकार नहीं कर सकती थी; किन्तु उसे अपने पातिव्रत-धर्म की भी रक्षा करनी थी। उसने अपने पति के स्वरूप का ध्यान किया और उनके चरणों में शरण-ग्रहण कर तीनों संन्यासियों के ऊपर पति के पद-प्रक्षालन के लिए प्रयुक्त जल की कुछ बूँदें छिड़क दीं। इस चरणामृत की महिमा से उन तीनों संन्यासियों ने तीन शिशुओं का रूप ग्रहण कर लिया। उसी समय अनसूया के स्तनों में दूध उतर आया। उसने उन्हें अपने पुत्र मान कर उनको नग्नावस्था में दूध पिलाया और पालने में लिटा दिया। उसके पति स्नान के लिए गये थे और वह उत्सुकतापूर्वक उनकी प्रतीक्षा कर रही थी।

अत्रि ऋषि जैसे ही घर पहुँचे, अनसूया ने उनकी अनुपस्थिति में हुई सम्पूर्ण घटना से उन्हें अवगत करा दिया। तत्पश्चात् उसने उन शिशुओं को उनके चरणों पर रख कर अपने पति का पूजन किया। किन्तु अत्रि अपनी दिव्य दृष्टि से सब-कुछ समझ गये थे। उन्होंने उन तीनों शिशुओं को गले लगाया। उन तीनों शिशुओं ने दो पैर, एक धड़, तीन शिर तथा छह भुजाओं वाले एक ही व्यक्ति का आकार ग्रहण कर लिया। अत्रि ऋषि ने अपनी पत्नी को आशीर्वाद देते हुए सूचित किया कि उसकी इच्छा पूर्ति के लिए ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव ने स्वयं उन तीनों शिशुओं का रूप ग्रहण किया था।

नारद ने ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ तथा कैलास जा कर सरस्वती, लक्ष्मी तथा पार्वती को सूचित किया कि जब उनके पतियों ने अनसूया से निर्वाण-भिक्षा की माँग की, तब उसके पातिव्रत-धर्म के प्रताप से उन तीनों ने शिशुओं का रूप ग्रहण कर लिया। उन्होंने उनसे यह भी कहा कि जब तक वे अत्रि से भर्तृ-भिक्षा (पति की भिक्षा) नहीं माँगतीं, तब तक उनका लौटना असम्भव है। सरस्वती, लक्ष्मी तथा पार्वती ने साधारण स्त्रियों के वेश में अत्रि के पास जा कर पति-भिक्षा की माँग की और कहा- "हे ऋषि, कृपया हमारे पतियों को हमें लौटा दीजिए।" अत्रि ऋषि ने तीनों महिलाओं का विधिवत् आदर-सत्कार किया और उनसे करबद्ध प्रार्थना करते हुए कहा कि उनकी तथा अनसूया की इच्छाओं की पूर्ति होनी चाहिए। तब ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव ने अत्रि के सम्मुख अपने-अपने यथार्थ स्वरूप में प्रकट हो कर कहा- "यह शिशु आपके कथनानुसार एक महान् ऋषि तथा अनसूया की इच्छानुसार हम लोगों के समकक्ष होगा। इस शिशु का नाम दत्तात्रेय होगा।" इसके पश्चात् वे अन्तर्धान हो गये।

दत्तात्रेय ने शारीरिक प्रौढ़ता प्राप्त की। सभी ऋषि-मुनि उनकी पूजा करते थे; क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की ज्योति उनमें अन्तर्भूत हो चुकी थी और वे एक महान् ज्ञानी थे। वे भद्र, शान्त तथा सौम्य प्रकृति के थे। लोग बड़ी संख्या में उनका अनुगमन करते रहते थे। दत्तात्रेय ने उनसे पीछा छुड़ाने का प्रयत्न किया; लेकिन उनका प्रयत्न व्यर्थ हुआ। एक बार जब वे बहुत लोगों से घिरे हुए थे, वे स्नान करने के लिए नदी में प्रविष्ट हो गये और तीन दिनों तक बाहर नहीं निकले। तीसरे दिन जब वे बाहर निकले तब उन्होंने देखा कि नदी के तट पर लोग उनके बाहर आने की अभी तक प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस विधि से वे लोगों से अपना पीछा छुड़ाने में सफल नहीं हुए।

अतः दत्तात्रेय ने एक दूसरी योजना बनायी। उन्होंने अपनी योग-शक्ति से एक कन्या तथा मदिरा से भरे एक पात्र की सृष्टि की। वे एक हाथ में कन्या तथा दूसरे हाथ में मदिरा-पात्र को ले कर पानी से बाहर निकले। यह समझ कर कि वे योग-भ्रष्ट हो चुके हैं, लोग उनका परित्याग कर चले गये।

दत्तात्रेय ने अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति का परित्याग कर दिया। यहाँ तक कि उनके पास अपर्याप्त मात्रा में जो वस्त्र थे, उनका भी परित्याग कर वे अवधूत हो गये। वे प्रवचन तथा प्रशिक्षण के माध्यम से लोगों को वेदान्त के सत्य से अवगत कराने लगे। दत्तात्रेय ने भगवान् सुब्रह्मण्यम् को अपनी गीता, अवधूत-गीता का प्रशिक्षण दिया। यह सर्वाधिक मूल्यवान् ग्रन्थ है जिसमें वेदान्त के सत्य तथा रहस्य एवं आत्म-साक्षात्कार की अपरोक्षानुभूतियाँ निहित हैं।

एक बार जब आनन्द में मग्न दत्तात्रेय वन में भ्रमण कर रहे थे, उनकी मेर राजा यद से हो गयी। राजा ने उन्हें अत्यन्त प्रमुन्दित देख कर उनके आनन्द का कारण तथा उनके गुरु का नाम पूछा। दत्तात्रेय ने कहा कि आत्मा ही उनका गुरु है। फिर भी उन्होंने चौबीस गुरुओं से ज्ञान प्राप्त किया है। अतः वे भी उनके गुरु हैं।

इसके पश्चात् दत्तात्रेय ने अपने चौबीस गुरुओं के नामों का उल्लेख करते हुए यह भी बताया कि उन्हें उनमें से प्रत्येक से किस ज्ञान की प्राप्ति हुई है।

दत्तात्रेय ने अपने जिन चौबीस गुरुओं के नामों का उल्लेख किया, वे निम्नांकित हैं :

१. धरती, २. जल, ३. वायु, ४. अग्नि, ५. आकाश, ६. चन्द्रमा, ७. सूर्य, ८. कपोत, ९. अजगर, १०. समुद्र, ११. शलभ, १२. मधुमक्खी, १३. मधुसंग्राहक, १४. हाथी, १५. हरिण, १६. मछली, १७. नर्तकी पिंगला, १८. काग, १९. बच्चा, २०. कुमारी, २१. सर्प, २२. बाण बनाने वाला, २३. मकड़ा, और २४. भृंगी।

१. मैंने धैर्य तथा परोपकार की शिक्षा धरती से ग्रहण की है। लोगों से इसे आहत होना पड़ता है; किन्तु इस अपकृत्य को वह सहन कर लेती है। इतना ही नहीं, वह उन्हें अन्न तथा वृक्षों के उत्पादन से उपकृत भी करती है।

२. जल से मैंने निर्मलता का गुण ग्रहण किया है। निर्मल जल दूसरों को उसी प्रकार स्वच्छ करता है जिस प्रकार स्वार्थ, काम, अहंकार, क्रोध, लोभआदि दुर्गुणों से रहित विशुद्ध-चित्त सन्त अपने सम्पर्क में आने वालों को निर्मल करता है।

३. सर्वदा गतिमान वायु के सम्पर्क में सभी पदार्थ रहते हैं; किन्तु वह इनमें से किसी भी पदार्थ के प्रति आसक्त नहीं होता। मैं संसार में अनेक लोगों के सम्पर्क में आता हूँ; किन्तु मैंने वायु से अनासक्ति की शिक्षा ग्रहण की है।

४. जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि दीप्तिमान रहती है, उसी प्रकार सन्त को भी ज्ञान तथा तप की दीप्ति से तेजोमय होना चाहिए।

५. वायु, नक्षत्र, मेघ आदि आकाश में स्थित हैं; किन्तु आकाश इनमें से किसी के भी सम्पर्क में नहीं आता। मैंने आकाश से यह शिक्षा ग्रहण की है कि आत्मा विभु होते हुए भी किसी पदार्थ के सम्पर्क में नहीं आता।

६. चन्द्रमा स्वयं में पूर्ण है; किन्तु इसके ऊपर पृथ्वी के विभिन्न प्रतिबिम्बों के कारण वह क्षय तथा वृद्धि को प्राप्त होता दिखायी देता है। मैंने चन्द्रमा से यह शिक्षा ग्रहण की है कि आत्मा पूर्ण तथा निर्विकार है और उपाधियाँ उस पर अपने प्रतिबिम्बों को आरोपित किया करती हैं।

७. जिस प्रकार विभिन्न जल-पात्रों में प्रतिबिम्बित सूर्य अनेक प्रतिबिम्बों में अवभासित होता है, उसी प्रकार ब्रह्म मन के माध्यम से प्रतिबिम्बप्रसूत उपाधियों (शरीरों) के कारण अनेक रूपों में अवभासित होता है। यह शिक्षा मैंने सूर्य से ग्रहण की है।

८. एक बार मैंने कपोत-युगल को अपनी अल्पवयस्क सन्तानों के साथ देखा। एक व्याध ने जाल फैला कर उन अल्पवयस्क पक्षियों को पकड़ लिया। माता कपोती अपनी सन्तानों के प्रति अत्यधिक आसक्त थी। वह अपने प्राण की चिन्ता न कर जाल में आ गयी जिसके परिणाम स्वरूप वह पकड़ ली गयी। इससे मुझे यह शिक्षा प्राप्त हुई कि आसक्ति बन्धन का कारण है।

९. अजगर अपने आहार के लिए कहीं हिलता-डुलता नहीं है। जो-कुछ भी उसे प्राप्त हो जाता है, वह उसी से सन्तुष्ट रहता है और एक स्थान पर पड़ा रहता है। मैंने इससे आहार के प्रति उदासीनता का पाठ पढ़ा है। मुझे जो-कुछ भी भोजनार्थ मिल जाता है, मैं उसी से सन्तुष्ट हो जाता हूँ।

१०. समुद्र में सैकड़ों नदियाँ गिरती हैं; किन्तु वह शान्त रहता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष को सभी प्रकार के प्रलोभनों, कठिनाइयों तथा कष्टों में अविचलित रहना चाहिए। समुद्र से मैंने यही पाठ पढ़ा है।

११. जिस प्रकार शलभ अग्नि की दीप्ति के प्रति अपनी आसक्ति के कारण उसमें गिर कर जल जाता है, उसी प्रकार किसी सुन्दर कन्या के प्रेम-पाश में आबद्ध कामुक व्यक्ति दुःख को प्राप्त होता है।

१२. जिस प्रकार काली मधुमक्खी किसी एक फूल का मधु-पान न कर भिन्न-भिन्न फूलों का मधु-पान करती है, उसी प्रकार मैं कभी एक के घर से और कभी दूसरे के घर से अन्न-ग्रहण करके (मधुकरी-वृत्ति अथवा मधुकरी-भिक्षा से) अपनी क्षुधा-तृप्ति करता हूँ। मैं गृहस्थों पर भार नहीं होता।

१३. मधुमक्खी के लिए मधु-संग्रह एक कष्ट-साध्य कृत्य है; किन्तु कोई शिकारी सरलतापूर्वक उस मधु को ले कर चला जाता है। लोग अत्यन्त कठिनाई से धन तथा अन्य वस्तुओं का संचय करते हैं; किन्तु जब मृत्यु का देवता यम उन्हें अपने पाश में आबद्ध करता है, तब उन्हें उनका परित्याग कर उनसे विदा लेनी पड़ती है। इससे मैंने यह सीखा है कि वस्तुओं का संचय निष्प्रयोजन है।

१४. नर हाथी कागज से बनी मादा हथिनी को देख कर घास-फूस से ढके गर्त में गिर जाता है। तब यह पकड़ा जाता है, उसे जंजीरों में जकड़ा जाता है और उसे अंकुश की यातना सहनी पड़ती है। फिर भी कामुक लोग स्त्रियों के पाश में आबद्ध हो कर दुःख भोगते हैं। अतः मनुष्य को कामुकता को नष्ट कर देना चाहिए। हाथी से मैंने यही पाठ पढ़ा है।

१५. अपने संगीत-प्रेम के कारण हरिण शिकारियों के पाश में आबद्ध हो जाता है। फिर भी मनुष्य दुश्चरित्र स्त्रियों के संगीत के प्रति आकर्षित हो कर विनाश को प्राप्त होता है। मनुष्य को कामोत्तेजक गीत नहीं सुनना चाहिए। हरिण से मैंने यही शिक्षा ग्रहण की है।

१६. जिस प्रकार कोई आहार-लोलुप मछली चारे का शिकार हो जाती है, उसी प्रकार भोजन के लिए लालायित तथा रसनेन्द्रिय से पराभूत व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता को तिलांजलि दे कर विनाश को प्राप्त हो जाता है। अतः आहार के प्रति लोलुपता को नष्ट कर देना चाहिए। मछली से मैंने यही शिक्षा ग्रहण की है।

१७. विदेह नगर में पिंगला नामक एक नर्तकी रहती थी। एक रात वह अपने ग्राहकों की राह देखते-देखते थक गयी। वह निराश हो गयी। तब उसने उसके पास जो कुछ था, उसी से सन्तुष्ट होने का निर्णय कर लिया। मैंने उस पतित स्त्री से यह शिक्षा ग्रहण की कि आशा के परित्याग से सन्तोष की प्राप्ति होती है।

१८. एक काग को मांस का एक टुकड़ा मिल गया। उसका पीछा दूसरे पक्षियों ने किया और वे उसे चोंच मारने लगे। तब उसने मांस के टुकड़े को नीचे गिरा दिया। इससे वह शान्त तथा अश्रान्त हो गया। इससे मैंने यह शिक्षा ग्रहण की कि जब मनुष्य ऐन्द्रिय सुखों का अनुगमन करता है, तब उसे सभी प्रकार के कष्ट तथा दुःख भोगने पड़ते हैं। इसके विपरीत जब वह ऐन्द्रिय सुखों का परित्याग कर देता है, तब वह उस पक्षी की भाँति सुखी हो जाता है।

१९. माता के स्तन से दुग्धपान करने वाला शिशु सभी प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त रहता है। मैंने शिशु से ही प्रफुल्लता का गुण ग्रहण किया है।

२०. एक कन्या के माता-पिता उसके लिए उपयुक्त वर की खोज में गये हुए थे। कन्या घर में अकेली थी। उसके माता-पिता की अनुपस्थिति में कुछ लोग उसे देखने के लिए उसके घर आ गये। वे लोग भी वैसे ही अभियान पर निकले थे। कन्या को स्वयं उनका स्वागत सत्कार करना पड़ा। वह धान कूटने के लिए घर के भीतर चली गयी। जब वह धान कूटने लगी, तब उसकी काँच की चूड़ियों से खनखनाहट की तेज आवाज निकलने लगी। बुद्धिमती कन्या ने सोचा- "बाहर बैठे लोग चूड़ियों की इस आवाज से समझ जायेंगे कि मैं स्वयं धान कूट रही हूँ और मेरा परिवार इतना निर्धन है कि इस काम पर दूसरों को नहीं लगा सकता। मुझे हाथों की एक-एक चूड़ियों के अतिरिक्त सभी चूड़ियों को तोड़ देना चाहिए।" इस प्रकार उसने दो चूड़ियों के अतिरिक्त सारी चूड़ियों को तोड़ दिया। किन्तु इन दो चूड़ियों से भी बहुत आवाज आ रही थी। उसने उन दोनों को भी तोड़ डाला। इसके बाद धान कूटते हुए उसके हाथों से कोई आवाज नहीं आयी। मैंने उस कन्या के अनुभव से यह सीखा कि अनेक लोगों के बीच रहने से मतभेद, विघ्न, विवाद तथा कलह की सृष्टि होती है। यहाँ तक कि दो व्यक्तियों के बीच रहने पर भी विवाद और संघर्ष के अवसर आ सकते हैं। तपस्वी या संन्यासी को एकान्त में एकाकी रहना चाहिए।

२१. सर्प अपना घर नहीं बनाता। वह दूसरों के बनाये हुए बिलों में रहता है। इसी प्रकार तपस्वी या संन्यासी को भी अपने लिए घर नहीं बनाना चाहिए। उसे अन्य लोगों द्वारा निर्मित गुफाओं तथा मन्दिरों में रहना चाहिए। मैंने सर्प से यही सीखा है।

२२. एक बाण-निर्माता का मस्तिष्क एक बाण को सीधा तथा तीक्ष्ण बनाने में पूर्णतः तल्लीन था। उसकी व्यस्तता के इन्हीं क्षणों में एक राजा उसकी दुकान के सामने से सदल-बल निकल गया। कुछ देर बाद उससे एक व्यक्ति ने पूछा- "क्या तुम्हारी दुकान के सामने से राजा निकला है?" बाण-निर्माता ने कहा कि उसने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया था। वास्तविकता यही थी कि उसका मस्तिष्क अपने काम में इतना तन्मय था कि वह अपनी दुकान के सामने से हो कर जाते हुए राजा को नहीं देख सका। मैंने उस बाण-निर्माता से मस्तिष्क के आत्यन्तिक ध्यान के गुण की शिक्षा ग्रहण की है।

२३. मकड़ा अपने मुँह से लम्बे-लम्बे धागे निकाल कर उनसे जाला बनाता है। किन्तु वह स्व-निर्मित जाले में ही आबद्ध हो जाता है। फिर भी मनुष्य अपने विचारों का एक जाल बुन कर उसमें आबद्ध हो जाता है। अतः ज्ञानी व्यक्ति को सांसारिक विचारों का परित्याग कर केवल ब्रह्म का ही चिन्तन करना चाहिए। मैंने मकड़े से यही सीखा है ।

२४. भृंगी एक कीड़े को पकड़ कर अपने आवास में डाल देता है और फिर उसे डंक मारता है। असहाय कीड़ा सर्वदा उस भृंगी के आगमन तथा उसके डंक के विषय में सोचा करता है। अपने इस अनवरत चिन्तन के कारण वह स्वयं भृंगी बन जाता है। मनुष्य जिस रूप का चिन्तन करता है, उसे समय आने पर उसी रूप की प्राप्ति हो जाती है। वह जैसा सोचता है, वैसा ही हो जाता है। मैंने उस भृंगी तथा कीड़े से आत्मा के अनवरत चिन्तन द्वारा अपने स्वरूप में स्थिति, शरीराध्यास का परित्याग तथा मुक्ति-प्राप्ति की शिक्षा ग्रहण की है।

राजा यदु दत्तात्रेय के इस उपदेश से अत्यन्त प्रभावित हुए। वे संसार का परित्याग कर आत्मा पर अनवरत ध्यान का अभ्यास करने लगे।

दत्तात्रेय किसी भी प्रकार की असहिष्णुता तथा पक्षपात से पूर्णतः मुक्त थे। कहीं से भी प्राप्त किसी भी स्रोत से वे ज्ञान प्राप्त कर लेते थे। ज्ञान के जिज्ञासुओं को दत्तात्रेय के उदाहरण का अनुकरण करना चाहिए।

योगी जैगीषव्य

जैगीषव्य नामक एक महान् योगी थे। उन्हें निरन्तर दश महाप्रलयों की अवधि में हुए अपने पूर्व-जन्मों का पूर्ण ज्ञान था। एक दिन ऋषि अवात्य ने उनसे कहा- "आपने नरक में, पशु-योनि में तथा गर्भ में अनेक क्लेशों का अनुभव किया है। मनुष्य तथा देवता के रूप में आपने बार-बार जन्म ग्रहण किया है। नरक में प्राप्त दुःखों तथा स्वर्ग में प्राप्त सुखों के विषय में आपके क्या अनुभव हैं? मानव-योनि में सर्वाधिक सुख अथवा दुःख कौन-सा है?"

योगी जैगीषव्य ने कहा- "दश महाकल्पों में समाहित अपने जीवन में मैंने नरक तथा पशु-योनि के कष्टों का अनुभव किया है। मनुष्य तथा देवता के रूप में मैंने अनेक बार जन्म-ग्रहण किया है। संसार हो या स्वर्ग-कहीं किसी वस्तु में अल्प मात्रा में भी सुख नहीं है। मैंने जो कुछ अनुभव किया है, उसे मैं मात्र दुःख के नाम से ही अभिहित करता हूँ।"

अवात्य ने पुनः पूछा- "हे योगी, क्या प्रकृति-लय की अवस्था में प्राप्त आनन्द तथा सन्तोष भी दुःख की ही कोटि में आते हैं?"

योगी जैगीषव्य ने उत्तर दिया- "निस्सन्देह प्रकृति-लय की स्थिति में प्राप्त आनन्द विषयों से प्राप्त ऐन्द्रिय सुख से श्रेष्ठतर है; किन्तु निरपेक्ष स्वातन्त्र्य अथवा कैवल्य के विशुद्ध आनन्द की तुलना में यह दुःख ही है। प्रकृति-लय मात्र गुण-परिणाम है। उसमें अभी भी तृष्णा-तन्तु विद्यमान है। जब योगी पूर्णतः अनपेक्ष हो जाता है तभी उसे विशुद्ध, अमिश्रित, असीम तथा शाश्वत आनन्द की प्राप्ति होती है।"

तिरुमूल नायनार

कैलास के तिरुमूल नायनार एक महान् योगी थे। भगवान् शिव के वाहन नन्दी की कृपा से उन्हें समस्त महत्तर अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त थीं। वे अगस्त्य मुनि के मित्र थे। वे कैलास से आ कर काशी में रहने लगे। इसके पश्चात् वे चिदम्बरम्, तिरुवाडुतुरै तथा चेन्नई (मद्रास) के निकटस्थ अन्य स्थानों पर गये। वे तिरुवाडुतुरै के एक मन्दिर में भगवान् शिव की पूजा करने लगे। कुछ समय तक वे वहीं रहे।

एक बार तिरुमूल नायनार कावेरी के तट पर स्थित एक उद्यान में गये। वहाँ उन्होंने एक ग्वाले का मृत शरीर देखा। उनका ध्यान शव के चतुर्दिक् उच्च स्वर में रँभाती हुई गौओं की ओर आकृष्ट हुआ। इससे वे मर्माहत तथा गौओं के प्रति दयार्द्र हो उठे। एक स्थान पर अपना शरीर छोड़ कर वे ग्वाले के मृत शरीर में प्रविष्ट हो गये। वे दिन-भर गौओं की देख-रेख करते रहे और उसके पश्चात् उन्होंने उन्हें अपने-अपने घर भेज दिया। ग्वाले की पत्नी अपने पति की मृत्यु से अवगत नहीं थी। उसने अपने पति का शरीर धारण किये हुए तिरुमूल नायनार को आमन्त्रित किया; किन्तु उन्होंने उसके आमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया। अब उनकी इच्छा अपने शरीर में प्रविष्ट होने की हुई। उन्होंने उसकी खोज की; किन्तु उस स्थान विशेष पर उनका शरीर नहीं मिला। उन्होंने सोचा कि यह सब भगवान् की कृपा से ही हो रहा है। ग्वाले के शरीर में ही वे आडुतुरै पहुँचे और मन्दिर के पश्चिम में पीपल के एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। वहाँ उन्होंने तमिल में 'तिरुमन्तिरम्' नामक एक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में तीन सौ पद हैं जिनमें वेदों का सार-तत्त्व सन्निहित है।

पैगम्बर

जरथुश्त्र

जरथुश्त्र के जीवन-काल के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कुछ लोगों ने इनका समय ६००० ई.पू. तथा कुछ अन्य लोगों ने ई.पू. सातवीं शताब्दी माना है।

प्राचीन ईरानियों में जरथुश्त्र सर्वाधिक महान् पैगम्बर थे। उन्होंने ब्रह्माण्ड के अधिपति अहुरमज़दा की उपासना के प्रतिष्ठापन तथा दैवी लक्ष्य की पूर्ति के लिए जन्म ग्रहण किया था। आवेस्तन भाषा में उनकी स्वयं रचित अमूल्य रचना-गाथा इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि वे ईश्वर-प्रेमाविष्ट व्यक्ति थे।

आदरणीय पुरुशास्पो (Porushaspo) उनके पिता थे और उनकी माता का नाम दुखदहवो (Dughdhvo) था। जरथुश्त्र का जन्म ईरान के पश्चिमी अंचल तख्त-ए-सुलेमान में अजरबैजान जनपद में हुआ था। ईरान के प्राचीन सम्राट् मनुशसिहार (Manushcihar) के राजकीय परिवार से उनका प्रत्यक्ष वंशगत सम्बन्ध था।

ईरान के पैगम्बर के अनुयायियों ने उन्हें जरथुश्त्र (पीले तथा वृद्ध ऊँटों का स्वामी) के नाम से अभिहित किया था। उश्त्र का अर्थ ऊँट होता है।

ईरान के पैगम्बर के जन्म पर प्रकृति उल्लसित हो उठी। वृक्षों, नदियों तथा फूलों ने आनन्द तथा हर्ष व्यक्त किया; किन्तु दुष्टात्माएँ भयभीत हो गयीं। अपने जन्म-ग्रहण के समय पैगम्बर ने सामान्य नश्वर शिशुओं की भाँति रुदन नहीं किया। इसके विपरीत उनके मुख से अट्टहास के स्वर निःसृत हुए।

उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिए वहाँ अनेक देवदूत तथा इनसे उच्चतर महान् देवदूत आये।

जरथुश्त्र का पारिवारिक नाम स्पितमा था जिसका अर्थ श्वेत है। उनके दो बड़े भाई तथा दो छोटे भाई थे। जरथुश्त्र का जन्म एक चमत्कार था। स्वर्ग से अहुरमज़दा की महिमा का अवतरण हुआ जो पैगम्बर की भावी माता के घर में प्रविष्ट हो गयी। जब वे गर्भवती हुईं, तब उनके यहाँ स्वर्ग के महान् देवदूत आये और उन लोगों ने गर्भस्थ शिशु की उपासना-अभ्यर्थना की।

जरथुश्त्र ने तीन विवाह किये और कई सन्तानों के पिता बने। उनकी पहली पत्नी से एक पुत्र तथा तीन पुत्रियाँ हुईं। सबसे छोटी पुत्री पोरुसिस्ता (Pourucista) का विवाह जमस्पा से हुआ जो जरथुश्त्र की तीसरी पत्नी का चाचा था। जरथुश्त्र की दूसरी पत्नी से दो पुत्र हुए।

जरथुश्त्र के प्रारम्भिक जीवन से हम बहुत कम परिचित हैं। बाल्यावस्था से ही वे अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने लगे थे। ज्ञानियों के साथ वे वार्तालाप में सम्मिलित होते और विधर्मियों की निन्दा करते।

प्रेतात्माओं ने उनकी हत्या के प्रयत्न किये। तुरानियन सम्राट् दुरास्रोबो ने भी बालक की हत्या के प्रयत्न किये; किन्तु दयालु ईश्वर ने चमत्कारिक विधि से पैगम्बर की प्राण-रक्षा की।

सोलह वर्ष की आयु से ही जरथुश्त्र में वैराग्य-भाव विकसित होने लगा। सांसारिक विषय अपने प्रति उन्हें आकर्षित नहीं कर सके। वे समस्त लौकिक सुखों को हेय समझते थे। वस्तुतः वे ऐन्द्रिय लालसाओं से ऊपर उठ चुके थे। प्राणिमात्र के प्रति उनमें गहन प्रेम तथा करुणा की भावना थी।

जरथुश्त्र बीस वर्ष की आयु में गृह-त्याग कर इतस्ततः परिभ्रमण करने लगे। वे पवित्रता तथा धर्म-परायणता का जीवन व्यतीत करते थे। वे वनों में घूमते तथा गुफाओं और पर्वत-शिखरों पर एकाकी रहा करते थे। वाणी पर उनका नियन्त्रण था और अन्य इन्द्रियों को भी उन्होंने विजित कर लिया था। वे मिताहारी थे और अपना समय शान्त-चित्त हो कर ध्यान में व्यतीत करते थे।

जरथुश्त्र को सबाताम (Sabatam) पर्वत के शिखर पर समाधि अर्थात् ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च अधिपति अहुरमज़दा से तादात्म्य की अनुभूति हुई। उन्हें धर्म-गुरु-सुलभ दिव्य अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति हुई। उन्होंने अहुरमज़दा से प्रत्यक्ष वार्तालाप किया, जिन्होंने उन्हें ज्ञान-दान से उपकृत किया। अहुरमज़दा की कृपा से उन्होंने सप्त-विध ज्ञान का साक्षात्कार किया। तीस वर्ष की आयु में उन्हें पैगम्बर कहा जाने लगा। अन्तर्दृष्टि के दिव्य प्रकाश की सम्प्राप्ति के पश्चात् वे अहुरमज़दा के प्रख्यात सन्देशवाहक हो गये।

आध्यात्मिक पथ पर जरथुश्त्र की सहायता अनेक महान् देवदूतों ने की। महान् देवदूत उच्चतम कोटि के दिव्य सन्देशवाहक हैं। वे अहुरमज़दा के अनुवर्ती होते हैं। वे भगवान् शिव के गणों तथा भगवान् विष्णु के अनुवर्ती जय, विजय और सुनन्द के अनुरूप हैं। वे संसार के लोक-पाल हैं। जरथुश्त्र इन महान् देवदूतों से प्रत्यक्ष वार्तालाप करते थे।

वोहुमानाह (Vohumanah) विशुद्ध विचार का महान् देवदूत है। वह घरेलू पशुओं का अधिष्ठातृ देवता है। उसने जरथुश्त्र के समक्ष प्रकट हो कर शारीरिक आवरण के परित्याग में उनको सहयोग प्रदान किया और उनकी आत्मा को अहुरमज़दा के सर्वोच्च धाम की ओर दिशा-निर्देश दिया। स्वयं अहुरमज़दा ने पैगम्बर को उपदेशों के माध्यम से दिव्य ज्ञान प्रदान किया। जरथुश्त्र ने उनके अनुदेशों का पालन किया।

जब जरथुश्त्र अहुरमज़दा के दिव्य धाम से नीचे आ रहे थे, तब आसुरी शक्ति के प्रतीक अहमान (Ahriman) ने उन पर भयंकर आक्रमण किया। वह जरथुश्त्र की हत्या कर देना चाहता था; किन्तु अपनी आध्यात्मिक शक्तियों के कारण वे सुरक्षित रहे। अहमान पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् वे सभी दुष्टात्माओं के स्वामी हो गये। उन्होंने पुनः उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया।

जरथुश्त्र को द्वितीय दिव्य अन्तर्दर्शन का अनुभव हुआ। उसी महान् देवदूत ने पैगम्बर से पशुओं की समुचित देख-भाल तथा सुरक्षा का अनुरोध किया।

अपने तृतीय दिव्य अन्तर्दर्शन में जरथुश्त्र ने पवित्र अग्नि के अधिष्ठातृ देवता तथा धर्मपरायणता के महान् देवदूत अश वहिश्त (Asha Vahishat) से वार्तालाप किया। महान् देवदूत ने जरथुश्त्र को पवित्र अग्नि के साथ-साथ सभी अग्नियों की सुरक्षा का आदेश दिया।

जरथुश्त्र ने धातुओं के अधिष्ठातृ देवता महान् देवदूत खेहाथ्र वैर्य (Khehathra Vairya) से वार्तालाप किया जिसने पैगम्बर को धातुओं की समुचित देख-भाल का आदेश दिया। इसके पश्चात् जरथुश्त्र ने पृथ्वी के अधिष्ठातृ देवता तथा शालीनता के महान् देवदूत स्पेन्ता अरमैथ (Spenta Armaith) से वार्तालाप किया। पुनः उन्होंने अपस् के अधिष्ठातृ देवता तथा स्वास्थ्य के महान् देवदूत हउरावतात (Hauravatat) से वार्तालाप किया तथा अन्ततः उनका वार्तालाप वनस्पतियों के अधिष्ठातृ देवता तथा अमरत्व के महान् देवदूत अमेरेतात (Ameretat) से हुआ।

जरथुश्त्र को इन दिव्य साक्षात्कारों के कारण देवताओं के दिव्य क्रम-सोपान का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया। जेन्द अवेस्ता (Zend Avesta) पारसियों के लिए बाइबिल तथा गीता है जिसमें ईश्वरीय ज्ञान सन्निहित है। पैगम्बर ने इसे सर्वोच्च प्रभु अहुरमज़दा से प्राप्त किया था।

जरथुश्त्र के दिव्य अनुभवों तथा छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित सत्यकाम जाबाल के अनुभवों में सादृश्य के दर्शन होते हैं। वायु देवता, अग्नि देवता तथा अपस् के अधिष्ठातृ देवता वरुण ने सत्यकाम को दिव्य ज्ञान प्रदान किया था। महान् देवदूत वहिश्ता (Vahishta) तथा हउरावतात हिन्दुओं के क्रमशः अग्निदेवता एवं वरुण देवता हैं।

जरथुश्त्र कवीस (Kavis) तथा करपान्स (Karpans) को हेय दृष्टि से देखते थे। ये प्रेतात्माओं के पूजक थे। करपानों में विशुद्ध धार्मिक अनुष्ठानों के प्रति श्रद्धा के भाव नहीं थे। अपने धार्मिक अनुष्ठानों में वे मादक पेय होम (Home) का सेवन किया करते थे। यह उनका व्यसन बन चुका था। पैगम्बर ने सभी प्रेत-पूजक दुष्ट स्त्री-पुरुषों तथा उनके नायक कवीस तथा करपान को अपने धर्म में दीक्षित करने का प्रयत्न किया; किन्तु ये अपने सम्प्रदाय के पुरोहित थे और सभी रूढ़िवादी पुरोहित स्वभावतः व्यापक सुधारों के विरोधी होते हैं। अतः जरथुश्त्र अपने प्रयत्न में असफल हो गये।

जरथुश्त्र इतस्ततः भ्रमण करते रहे। वे भारत तथा चीन तक गये; किन्तु प्रारम्भ में किसी ने भी उनका सन्देश ग्रहण नहीं किया। उन्होंने सर्वप्रथम अपने चचेरे भाई मयध्योवी-मनहा (Maidhyoi-Madnha) को अपने धर्म में दीक्षित किया। उनका यह शिष्य उनके प्रति आजीवन निष्ठावान् बना रहा।

राज-सभा के विद्वान् पुरोहित कवीस तथा करपान ने पैगम्बर के विरुद्ध ईरान-सम्राट् विशतास्प (Vishtasp) के कान भर दिये। उन्होंने पैगम्बर के विरुद्ध षड्यन्त्र करते हुए सम्राट् के सम्मुख उन पर जादूगर होने का आरोप लगाया। सम्राट् उनकी इस बात से सहमत हो गया कि पैगम्बर को कारागार में डाल दिया जाये जिससे वे क्षुधा से पीड़ित हो कर प्राण त्याग दें। जरथुश्त्र को कुछ दिनों तक कारागार में रहना पड़ा जहाँ ईश्वर ने उनकी प्राण-रक्षा की।

एक बार सम्राट् का स्नेह-पात्र काला घोड़ा अस्वस्थ हो गया। उसके चारों पैर उसके पेट की ओर चले गये थे। जरथुश्त्र ने सम्राट् को सूचित किया कि वे उसे रोग-मुक्त कर देंगे। उन्होंने सम्राट् के समक्ष चार शर्तें रखीं जिन्हें उसने सहज ही स्वीकार कर लिया। विशतास्प नये मत को स्वीकार कर लेगा, उसे इस बात के प्रति सहमति प्रदान करनी होगी कि उसका पुत्र इस्फेन्दिआर (Isfendiar) इस नये मत की रक्षा करेगा, जरथुश्त्र को साम्राज्ञी हुताओसा (Hutaosa) को दीक्षित करने की अनुमति प्रदान की जायेगी और सम्राट् को जरथुश्त्र के विरुद्ध षड्यन्त्र करने वालों के नाम प्रकट कर उन्हें दण्डित करना होगा। वे चार शर्तें यही थीं।

इसके बदले में सम्राट् ने भी अपनी चार शर्तें प्रस्तुत करते हुए उनसे माँग की कि उसे अपनी अन्तिम नियति तथा स्वर्ग में अपने स्थान के विषय में जानकारी प्राप्त हो जाये, उसका शरीर अभेद्य हो जाये, उसे सार्वभौम ज्ञान की प्राप्ति हो और पुनरुत्थान तक उसकी आत्मा उसके शरीर से विलग न हो। उसी समय सम्राट् तथा साम्राज्ञी के समक्ष तीन महान् देवदूत प्रकट हुए और उन दोनों की आँखें चौंधिया गयीं। उन्हें देखते ही वे काँपने लगे। उन्होंने प्रकाश से निःसृत होने वाले शब्द सुने जिनका तात्पर्य यह था कि वे (महान् देवदूत) ईश्वर के आज्ञानुसार उनको जरथुश्त्र के धर्म की महिमा को प्रदर्शित करने के लिए प्रकट हुए हैं।

सम्राट् विशतास्प को विश्वास हो गया और वह पैगम्बर की अलौकिक शक्ति का कायल हो गया। वह उनके चरणों पर गिर पड़ा, उसने उनके मत को स्वीकार कर लिया तथा ईरान का पैगम्बर मान कर उनकी पूजा की। उसे स्वर्ग की एक झलक का अनुभव हुआ। महान् देवदूत अश वहिश्त ने उसे पीने के लिए अमृत दिया। साम्राज्ञी तथा अन्य

नायकों के अतिरिक्त सम्राट् के भाई तथा जरथुश्त्र के श्वसुर फ्राशाओशत्र (Frashaoshtra) भी जरथुश्त्र द्वारा प्रतिपादित मत के निष्ठावान् अनुयायी हो गये। राजकीय संरक्षण के कारण इस नये मत का प्रचार-प्रसार दूर-दूर तक हो गया। इस नये मत को जन-साधारण ने भी अपनी स्वीकृति प्रदान की और जरथुश्त्र द्वारा प्रतिपादित यह मत ईरान का राजधर्म हो गया।

इस नये धर्म की सफलता ईरान तथा तूरान के बीच दो कटुतापूर्ण युद्धों का कारण बन गयी; किन्तु सम्राट् विशतास्प के भाई जरीर तथा स्वयं सम्राट् ने शत्रुओं को पराजित कर दिया। इस युद्ध में जरीर का योगदान आश्चर्यजनक था। वह एक दुर्जेय योद्धा सिद्ध हुआ। उसका शौर्य अवर्णनीय था; किन्तु विश्वासघाती विद्रास्फश (Vidrasfsh) ने पीछे से छलपूर्वक एक विषाक्त बरछी से उसकी हत्या कर दी। तूरान के सम्राट् अर्यास्प (Aryasp) ने इस भयंकर अपकर्म के पुरस्कार-स्वरूप उससे अपनी पुत्री के विवाह का वचन दे दिया।

जरीर का युवा पुत्र बस्तवार (Bastwar) एक शक्तिशाली योद्धा था। उसको महारथी कहा जा सकता था। शक्ति में वह भीष्म के समकक्ष था। उसने विद्रास्फश की हत्या कर अर्यास्प को पराजित कर दिया।

अपनी पराजय के अठारह वर्षों के पश्चात् सम्राट् अर्यास्प ने ईरान पर पुनः आक्रमण किया। उसने मन्दिरों को ध्वस्त कर दिया, पुरोहितों की हत्या कर दी और जेन्द अवेस्ता को जला डाला। इस द्वितीय युद्ध में सम्राट् विशतास्प का पुत्र इस्फेन्दियार महान् नायक सिद्ध हुआ। उसने अर्यास्प को ईरान से बाहर निकाल कर उसकी हत्या कर दी।

ईरान के पैगम्बर नुश-अदर (Nush-Adar) के मन्दिर में हाथ में माला लिये वेदी के समक्ष प्रार्थना कर रहे थे। उसी समय ब्रात्रोक-रेश (Bratrok-Resh) नामक एक तूरानी ने तलवार से उनकी हत्या कर दी।

जरथुश्त्र ने ब्रात्रोक-रेश के ऊपर अपनी माला फेंक दी। माला से आग की लपट उठी जिसमें वह भस्म हो गया। सतहत्तर वर्ष की आयु में जरथुश्त्र का देहान्त हुआ और इस प्रकार ईरान का महिमामय पैगम्बर, अहुरमज़दा के महान् सन्देश वाहक तथा जरथुश्त्रवाद अर्थात् मज़द-उपासना के संस्थापक का अन्त हो गया।

जरथुश्त्र ने अनेक चमत्कार किये। उन्होंने देवदूतों के आदेश का पालन किया, अग्नियों तथा पशुओं की रक्षा की, रोगियों को रोग-मुक्त किया और नेत्रहीनों को उनकी नेत्र-ज्योति पुनः प्रदान की। एक विद्वान् तथा चिकित्सक के रूप में उन्होंने महान् ख्याति अर्जित की। उन्होंने अग्नि-देवता के अनेक मन्दिरों की स्थापना की और अपने मत का प्रचार-प्रसार देश के कोने-कोने में किया। उन्होंने प्रेत-पूजा, जादू-टोना तथा अभिचार के प्रचलन का उन्मूलन किया। उन्होंने महामारी, राष्ट्रीय आपदाओं तथा घोर विपत्तियों का निराकरण, रोगियों को रोगमुक्त, हानिकर जीवों को प्रभावशून्य तथा पृथ्वी को प्रचुर मात्रा में जल प्रदान किया।

जरथुश्त्र धर्मनिष्ठ, कुलीन तथा दयालु थे। उनका सन्देश नैतिक जीवन का उदात्त सन्देश था जो अमरत्व, शाश्वत आनन्द तथा ईश्वर अथवा अहुरमज़दा के सिद्धान्तों की सम्प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। "जो धर्मपरायण हैं, उनसे प्रेम करो; दुःखी जनों के प्रति अपने हृदय में करुणा को स्थान दो", इन्हीं में जरथुश्त्र की नीतिशास्त्रीय शिक्षा निहित है।

पार्श्वनाथ

पार्श्वनाथ को इन्द्र का अवतार माना जाता है। वे काशी-नरेश इक्ष्वाकुवंशीय महाराजा विश्वसेन के पुत्र थे। उनकी माता का नाम वामादेवी था जो महाराजा महिपाल की पुत्री थीं। वे तेईसवें तीर्थंकर थे। उनका जन्म ८७२ ई.पू. में पौष मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी को हुआ था। सीध

पार्श्वनाथ ने आठ वर्ष की आयु से ही गृहस्थाश्रम के द्वादश व्रतों का अनुपालन प्रारम्भ कर दिया था। फागन काल-रस है सा

पार्श्वनाथ सोलह वर्ष की आयु में सिंहासनारूढ़ हो चुके थे। एक दिन उनके पिता विश्वसेन ने उनसे कहा- "हे पुत्र, अपने यशस्वी राजवंश की सन्तति-परम्परा को अविच्छिन्न रखने के लिए तुम्हारा विवाह अत्यावश्यक है। राजा नाभि के इच्छानुसार ऋषभ को भी विवाह करना पड़ा था।" तया

अपने पिता के इन शब्दों से पार्श्वनाथ अत्यन्त भयभीत हो उठे। उन्होंने कहा- "मैं ऋषभ की भाँति दीर्घजीवी नहीं हो सकूँगा। मुझे कुछ ही वर्षों तक जीवित रहना है। मैंने अपने जीवन के सोलह वर्ष बाल-सुलभ क्रीड़ाओं में व्यर्थ ही गँवा दिये। तीस वर्ष की आयु में मेरा दीक्षा ग्रहण अनिवार्य है। तब क्या मैं अपूर्ण, अनित्य तथा मायिक सुखों के प्राप्त्यर्थ अल्पावधि के लिए विवाह कर लूँ?"

पार्श्वनाथ के हृदय में वैराग्य जाग्रत हो उठा। उन्होंने मन-ही-मन विचार किया- "मैंने दीर्घ काल तक इन्द्र के पद का उपभोग किया है, फिर भी सुख के प्रति मेरी तृष्णा का क्षय नहीं हो पाया। जिस प्रकार ईंधन के आधिक्य से अग्नि की ज्वाला का शमन नहीं होता, उसी प्रकार सुखोपभोग से सुख की तृष्णा में वृद्धि ही होती है। उपभोग के समय सुख रुचिकर प्रतीत होते हैं; किन्त उनके परिणाम निश्चित रूप से अनर्थकारी होते हैं।

"सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति के कारण यह जीव अनादि काल से जन्म, जरा आदि के दुःखों का अनुभव करता आ रहा है। इन्द्रिय-लोलुपता की सन्तुष्टि के लिए वह दुःख के संसार में भ्रमण करता रहता है। वैषयिक तुष्टि के लिए वह नैतिक विधि-निषेध की ओर ध्यान नहीं देता और इस प्रकार जघन्य पापों में लिप्त हो जाता है। ऐन्द्रिय सुखों की प्राप्ति के लिए वह पशु-हत्या करता है। चोरी, लोभ, पर-स्त्री-गमन तथा सभी प्रकार के पापों और अपराधों के मूल में तृष्णा ही विद्यमान है।

"पाप-कर्म के परिणाम-स्वरूप जीव जन्म-मरण के चक्र में आबद्ध हो जाता है। इसके फल-स्वरूप उसे निम्नतर पशु-योनि में अवतरित होना तथा नरक की यातना का भोग करना पड़ता है। सुख की इस तृष्णा का निर्मम उच्छेद अत्यावश्यक है। मैंने अब तक अपना जीवन व्यर्थ ही गँवाया; किन्तु अब मैं सुखों की अर्थहीन खोज में और अधिक संलग्न न रह कर गम्भीरतापूर्वक सम्यक् आचरण का अभ्यास करूँगा।"

राजकुमार पार्श्वनाथ अनुप्रेक्षा की द्वादश विधाओं से परिचित थे। उन्होंने संसार-त्याग का निश्चय कर लिया। अपने माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर वे घर से निकल पड़े। गृह-त्याग के पश्चात् वे वन में चले गये। वहाँ वे पूर्णतः निर्वस्त्र हो गये। उत्तर की ओर जा कर उन्होंने मुक्ति-प्राप्त महान् सिद्धों को नमन किया और शिर के केश के पाँच गुच्छों को लुंचित कर वे मुनि या जिन बन गये।

पार्श्वनाथ ने उपवास का अभ्यास किया। उन्होंने अवधान तथा निष्ठा के साथ अर्हत संघ के अट्ठाईस प्रारम्भिक तथा चौरानवे माध्यमिक व्रतों का अनुपालन किया। ध्यानावस्था में वे आत्म-विस्मृत हो जाते थे। वे विशुद्ध सर्वज्ञता की स्थिति को प्राप्त हो चुके थे। उन्हें सामेदा की पहाड़ी पर आत्यन्तिक मुक्ति की प्राप्ति हुई। आजकल इस पहाड़ी को पार्श्वनाथ की पहाड़ी कहते हैं।

पार्श्वनाथ ने काशी, कोसी, कोशल, पांचाल, महाराष्ट्र, मगध, अवन्ती, मालवा, अंग तथा वंग में उपदेश दिये। अनेक व्यक्ति जैन धर्म में दीक्षित हो गये। पार्श्वनाथ ने अपने जीवन के सत्तर वर्ष उपदेश देने में व्यतीत किये।

महावीर ने पार्श्वनाथ की शिक्षाओं को संशोधित-संवर्धित किया। उनके उपदेशों में ऐसा कुछ भी न था जिसे सर्वथा नवीन कहा जा सके।

पार्श्वनाथ एक सौ वर्ष तक जीवित रहे। ८४२ ई.पू. में तीस वर्ष की आयु में उन्होंने गृह-त्याग किया और ७७२ ई.पू. में उन्हें निर्वाण की प्राप्ति हुई।

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ महिमान्वित हों !

बुद्ध

ईसापूर्व छठी शताब्दी में भारत में धर्म विस्मृति के गर्भ में विलीन हो चुका था। वेदों के उदात्त आदेशोपदेश पृष्ठभूमि में डाल दिये गये थे। सर्वत्र पुरोहित-तन्त्र का वर्चस्व था। कुटिल-कपटी पुरोहितों ने धर्म को व्यवसाय बना लिया था। लोगों को विभिन्न विधियों से प्रवंचित कर उन्होंने अपने लिए अकूत धन-राशि संचित कर ली थी। वे नितान्त अधार्मिक थे और धर्म के नाम पर इन हृदयहीन पुरोहितों का पदानुसरण करता हुआ जन-समुदाय अर्थहीन कर्मकाण्डों के अनुष्ठान में संलग्न था। लोग निर्दोष तथा मूक पशुओं की हत्या कर भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञानुष्ठान किया करते थे। देश को बुद्ध की कोटि के किसी सुधारक की आवश्यकता की तीव्रतर अनुभूति हो रही थी।

जन्म

शाक्याधिपति शुद्धोधन बुद्ध के पिता थे और उनकी माता का नाम माया था। बुद्ध का जन्म ५६० ई.पू. तथा उनकी मृत्यु ४८० ई.पू. में हुई थी। मृत्यु के समय उनकी आयु अस्सी वर्ष थी। उनका जन्म नेपाल के हिमालय क्षेत्र के अन्तर्गत पाल्यापर्वत की उपत्यका में स्थित कपिलवस्तु नगरी के निकटस्थ लुम्बिनी नामक वन में हुआ था। कपिलवस्तु नामक यह नगरी वाराणसी से लगभग सौ मील दूर रोहिणी नामक एक छोटी नदी के तट पर स्थित है। जब बुद्ध के इस धरा-धाम पर अवतीर्ण होने का समय आया, तब स्वयं देवताओं ने उनके मार्ग में दिव्य तथा मांगलिक प्रतीकों एवं शकुनात्मक लक्षणों की संरचना कर दी। ऋतु के स्वभाव के प्रतिकूल उपवन पुष्पित हो चले और वर्षा की सुखद-मन्द फुहारें पड़ने लगीं। वातावरण में स्वर्गिक संगीत गूंज उठा तथा सुरभित वायु बहने लगी। नवजात शिशु के शरीर पर बत्तीस मांगलिक चिह्न (महाव्यंजन) थे जो उसकी भावी महानता के द्योतक थे। इनके अतिरिक्त उसके शरीर पर अनेक आनुषंगिक चिह्न (अणुव्यंजन) भी थे। पुत्र-जन्म के सात दिनों के पश्चात् ही माया का देहान्त हो गया। शिशु का पालन-पोषण उसकी बहन महाप्रजापति द्वारा हुआ जिसने उसकी प्रतिपालिका माता का उत्तरदायित्व वहन किया।

ज्योतिषियों की भविष्यवाणी

शिशु सिद्धार्थ के जन्म के अवसर पर ज्योतिषियों ने उसके पिता के समक्ष यह भविष्यवाणी की: "युवावस्था को प्राप्त होने पर यह बालक या तो एक चक्रवर्ती सम्राट् होगा या गृह-त्याग के पश्चात् साधु-वेष धारण कर मानव-जाति की मुक्ति के लिए ज्योतिष्मती प्रज्ञा से सम्पन्न बुद्ध हो जायेगा।" तब राजा ने पूछा : "मेरा पुत्र किन वस्तुओं को देख कर संसार से विरक्त होगा?" ज्योतिषियों ने उत्तर दिया "चार लक्षणों को देख कर।" राजा ने पूछा : "ये चार लक्षण क्या

हैं?" ज्योतिषियों ने कहा : "एक जर्जरकाय वृद्ध, एक रोगी, एक शव तथा एक साधु को देख कर राजकुमार संसार के प्रति विरक्त हो जायेगा।"

शुद्धोधन की सतर्कता

यह सोच कर कि कहीं वह अपने बहुमूल्य पुत्र से वंचित न हो जाये, शुद्धोधन उसे सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्त करने के अथक प्रयास में संलग्न हो गये। ऐन्द्रिय सुखोपभोग के प्रति उसकी आसक्ति तथा एकान्त एवं निर्धनता के व्रत-ग्रहण के प्रति उसकी विरक्ति के लिए उन्होंने उसके चतुर्दिक् विलास तथा सम्मोहन के समस्त उपकरणों की व्यवस्था कर दी। उन्होंने उसका विवाह कर उसे एक ऐसे स्थान पर रख दिया जो उन प्राचीरों से आवेष्टित था जिनके अन्तर्गत उद्यान, राजप्रासाद, संगीत तथा नृत्य आदि सभी कुछ उपलब्ध थे। उसको प्रमुदित तथा प्रफुल्ल रखने के लिए अगणित सौन्दर्यमयी युवतियाँ उसकी सेवा में संलग्न रहती थीं। शुद्धोधन विशेष रूप से उसको उन चार लक्षणों से विलग रखना चाहते थे जिनके कारण उन्हें उसके तपस्वी हो जाने का भय था। राजा ने कहा- "इसी क्षण से इन लक्षणों से युक्त किसी भी व्यक्ति को उसके निकट मत आने दो। इस प्रकार वह बुद्ध नहीं हो पायेगा। मेरी कामना है कि मेरा पुत्र चारों महाद्वीपों तथा दो सहस्र सहवर्ती द्वीपों पर अपनी प्रभुसत्ता तथा अपने अधिकार का उपभोग करे और छत्तीस योजन की विस्तृत परिधि वाले स्वर्ग लोकों में उसका अबाध विचरण होता रहे।" इतना कह कर उन्होंने चारों दिशाओं में एक-एक योजन पर चार-चार प्रहरी नियुक्त कर दिये जिससे उक्त चार प्रकार के व्यक्तियों पर उनके पुत्र की दृष्टि न पड़ सके।

प्रव्रज्या

बुद्ध का प्रारम्भिक नाम सिद्धार्थ था। इस शब्द का अभिप्राय उस व्यक्ति से है जिसकी लक्ष्य-पूर्ति हो चुकी हो। सिद्धार्थ का पारिवारिक नाम गौतम था। उनको संसार में बुद्ध के नाम से जाना जाता है। लोग उनको शाक्यमुनि भी कहते थे जिसका अर्थ है शाक्यवंशीय मुनि।

सिद्धार्थ की बाल्यावस्था कपिलवस्तु के परिसर में व्यतीत हुई। सोलह वर्ष की आयु में उनका विवाह हुआ। उनकी पत्नी का नाम यशोधरा था और उनके राहुल नामक एक पुत्र था। उनतीस वर्ष की आयु में आध्यात्मिक खोज तथा योग-साधना के प्रति स्वयं को पूर्णतः समर्पित कर देने के लिए उन्होंने एक दिन अकस्मात् ही गृह-त्याग कर दिया। एक घटना मात्र से उत्प्रेरित हो कर वे प्रव्रज्या के मार्ग की ओर उन्मुख हो गये। एक दिन उन्हें किसी प्रकार अपने प्राचीर-परिवेष्टित निवास स्थान से बहिर्गमन का अवसर प्राप्त हो गया और वे अपने भृत्य चन्ना के साथ लोगों के जीवन-यापन की विधि से परिचित होने के लिए नगर में इतस्ततः घूमने लगे। वहाँ एक जर्जरकाय वृद्ध, एक रोग-ग्रस्त व्यक्ति, एक शव तथा एक साधु को देख कर अन्ततः उन्होंने संसार-त्याग का निश्चय कर लिया। उनको इस तथ्य का अनुभव होने लगा कि एक दिन उनको भी जरा, रोग तथा मृत्यु से ग्रस्त होना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त उस साधु के सौम्य तथा गत्यात्मक व्यक्तित्व ने भी उन्हें अपनी ओर आकर्षित किया। उन्होंने मन-ही-मन सोचा- 'मुझे इस दुःखमय संसार का परित्याग कर साधु-वृत्ति ग्रहण कर लेनी चाहिए। सुखोपभोग तथा विलास से ओत-प्रोत यह ऐहिक जीवन नितान्त अर्थहीन है। मेरा क्षय भी अनिवार्य है और मैं भी वृद्धावस्था के परिणाम से मुक्त नहीं हूँ। सांसारिक सुख क्षणिक हैं।'

गौतम ने गृह, धन, राज्य, सत्ता, माता, पत्नी तथा अपने एकमात्र पुत्र का सर्वदा के लिए परित्याग कर दिया। मुण्डित-शीश हो कर उन्होंने पीत वस्त्र धारण कर लिया। तत्पश्चात् उन्होंने मगध साम्राज्य की राजधानी राजगृह की ओर प्रस्थान किया। वहाँ आस-पास की पहाड़ियों में अनेक गुफाएँ थीं जिनमें अनेक वैखानस रहा करते थे। सिद्धार्थ ने अपने प्रथम आचार्य के रूप में अलाम कलाम नामक वैखानस का चयन किया; किन्तु वे उनके उपदेशों से सन्तुष्ट नहीं हो सके। उनका परित्याग कर उन्होंने उद्दक रामपुत्त नामक एक अन्य यति से आध्यात्मिक उपदेश की याचना

की। अन्ततः उन्होंने योग-साधना का संकल्प किया। वे उरुविला के वन में चले गये जिसे आजकल बोधगया कहते हैं। वहाँ उन्होंने छह वर्षों तक कठोर तप तथा प्राणायाम की साधना की। उन्होंने आत्म-निग्रह के माध्यम से सर्वोच्च शान्ति की सम्प्राप्ति का निश्चय किया। वे लगभग पूर्णतः निराहार रहने लगे; किन्तु इस विधि से भी उनको किसी प्रकार की प्रगति का अनुभव नहीं हो सका। वे कंकाल मात्र एवं क्षीण-शक्ति हो कर रह गये।

उसी समय कुछ नर्तकियाँ उस मार्ग से वीणा की धुन पर सोल्लास गाती हुई जा रही थीं। बुद्ध को उनके गीतों से वास्तविक आश्वासन प्राप्त हुआ। उन नर्तकियों के लिए उनके गीतों में कोई गहन अर्थवत्ता नहीं निहित थी; किन्तु बुद्ध के लिए यह एक गूढ़ आध्यात्मिक सन्देश था जिसने उन्हें उनके नैराश्य से मुक्त कर उनको शक्ति तथा साहस से अनुप्राणित कर दिया।

इस गीत का अर्थ था :

"सितार के सुर-ताल का अनुगमन करने वाला नृत्य सुखद होता है। हम सितार के तारों को न अधिक ऊर्ध्वस्तरीय करें, न अधिक निम्नस्तरीय। इसी स्थिति में हम दर्शकों के हृदय को तृप्त कर सकेंगी। अधिक कसा तार खण्डित हो कर संगीत को निष्प्राण कर देता है। अधिक ढीला तार भी मूक हो कर मृतप्राय हो जाता है। हम अपने सितार को न अधिक मन्द स्वर प्रदान करें, न अधिक तीव्र।"

सम्बोधि

एक बार बुद्ध योग-साधना में विफल रहने के कारण विषण्ण मनःस्थिति में थे। वे पूर्णतः किंकर्तव्यविमूढ़ हो चुके थे। एक ग्रामीण बाला उनके अवसादग्रस्त मुख-मण्डल को देख कर उनके समीप गयी और बोली- “श्रद्धेय महोदय, क्या मैं आपके लिए कुछ भोजन का प्रबन्ध करूँ ? ऐसा प्रतीत होता है कि आप बहुत अधिक भूखे हैं।" गौतम ने उसे देख कर कहा- "मेरी प्रिय बहन, तुम्हारा नाम क्या है?" बाला ने उत्तर दिया - "आदरणीय महोदय, मेरा नाम सुजाता है।" गौतम ने कहा- "सुजाता, मैं बहुत भूखा हूँ। क्या तुम वास्तव में मेरी क्षुधा को शान्त कर सकती हो?"

अबोध सुजाता गौतम के मन्तव्य को नहीं समझ सकी। उनकी क्षुधा आध्यात्मिक थी। उनके अन्तर में सर्वोच्च शान्ति तथा आत्म-साक्षात्कार की पिपासा जाग्रत थी। वे आध्यात्मिक आहार की खोज में थे। सुजाता ने उनके समक्ष भोजन रख कर उनसे उसे ग्रहण करने का आग्रह किया। गौतम ने मुस्कराते हुए कहा- "प्रिय सुजाता, मैं तुम्हारे दयालु तथा सद्भावपूर्ण स्वभाव से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। क्या इस भोजन से मेरी क्षुधा शान्त हो सकेगी?" सुजाता ने उत्तर दिया- "हाँ महोदय, इससे आपकी क्षुधा शान्त हो जायेगी। कृपया, अब आप इसे ग्रहण कीजिए।" गौतम एक विशाल अश्वत्थ वृक्ष के नीचे भोजन करने लगे। तबसे लोग उस वृक्ष को 'बोधि वृक्ष' कहने लगे। गौतम ब्राह्ममुहूर्त से सान्ध्य प्रहर तक उग्र निश्चय तथा दृढ़ संकल्प के साथ ध्यान-मुद्रा में बैठे रहे। "भले ही मैं मृत्यु को प्राप्त हो जाऊँ, भले ही मेरा शरीर नष्ट हो जाये और भले ही मेरा शरीर शुष्क चर्म हो जाये, जब तक मुझे सम्बोधि की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक मैं इस आसन का परित्याग नहीं करूँगा।" रात्रि में वे उस वृक्ष के नीचे समाधि में प्रविष्ट हो गये। माया अर्थात् मार ने उन्हें कई प्रकार के प्रलोभन दिये; किन्तु उनसे वे अप्रभावित रहे। उनके समक्ष वे अजेय बने रहे। उन्हें दीप्तिमयी विजयश्री प्राप्त हुई। उन्होंने निर्वाण प्राप्त कर लिया। उनका मुख-मण्डल दिव्य ज्योति से दीप्तिमान् हो उठा और वे आसन से उठ कर उस बोधि वृक्ष के नीचे आनन्द के उन्मेष में निरन्तर सात दिनों तक नृत्य करते रहे। इसके पश्चात् ही उनकी चेतना सामान्य हो सकी। उनका हृदय दया और करुणा से आप्लावित हो उठा। उन्होंने अपनी उपलब्धियों में सबको भागीदार बनाना चाहा। उन्होंने सम्पूर्ण देश की यात्रा की और स्थान-स्थान पर लोगों को अपने सिद्धान्तों तथा अपनी धार्मिक मान्यताओं का उपदेश दिया। वे एक परित्राता, मुक्तिदाता तथा उद्धारक हो गये।

बुद्ध अपने समाधिजन्य अनुभवों का विवरण इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं- "इस प्रकार मैं देखता हूँ कि मेरा मन जागतिक सत्ता, ऐन्द्रिय सुखों, अपसिद्धान्तों तथा अज्ञान के कालुष्य से मुक्त हो गया है।"

मुक्तावस्था में उन्हें यह ज्ञान हुआ- "मैं मुक्त हूँ, पुनर्जन्म के दीप का निर्वाण हो चुका है, धार्मिक परिभ्रमण की परिसमाप्ति हो गयी है, जो कुछ करणीय था उसे किया जा चुका है और अब यह वर्तमान अस्तित्व अनावश्यक हो गया है। मैंने सभी शत्रुओं को विजित कर लिया है; मैं सर्वज्ञ हूँ; मैं पूर्णतः निष्कलंक हूँ; मैं प्रत्येक वस्तु का परित्याग कर चुका हूँ और तृष्णा के निरसन के माध्यम से मुझे निर्वाण प्राप्त हो चुका है। जब मैं स्वयं ज्ञानी हूँ तब अपना आचार्य किसे कहूँ? मेरा आचार्य कोई नहीं है। मेरे समकक्ष कोई नहीं है। इस संसार में मैं पूतात्मा तथा सर्वश्रेष्ठ आचार्य हूँ। एकमात्र मैं ही बुद्ध हूँ। वासनाओं के परिशमन के फल-स्वरूप मुझे शान्ति तथा निर्वाण की सम्प्राप्ति हो चुकी है। धर्म के साम्राज्य की स्थापना के लिए मैं वाराणसी जा रहा हूँ। इस संसार के अन्धकार में मैं अमरत्व की दुन्दुभि बजाऊँगा।"

इसके पश्चात् भगवान् बुद्ध वाराणसी चले गये। एक दिन सन्ध्या-काल में वे मृगदाव में प्रविष्ट हुए। उन्होंने वहाँ प्रवचन किया और अपने सिद्धान्तों की शिक्षा दी। उन्होंने स्त्री-पुरुष, उच्च निम्न, अज्ञ-विज्ञ- इन सभी को बिना किसी भेद-भाव के अपने उपदेशामृत से उपकृत किया। उनके प्रथम शिष्यों में सभी सामान्य वर्ग के थे जिनमें दो स्त्रियाँ भी थीं। अपने पूर्व-धर्म का परित्याग कर उनके धर्म में दीक्षित होने वाला प्रथम व्यक्ति यश नामक समृद्ध युवक था। उसके अतिरिक्त उसके माता-पिता तथा उसकी पत्नी ने भी उनसे दीक्षा ग्रहण की। ये सभी उनके सामान्य शिष्य थे।

बुद्ध ने अपने उन पूर्व-शिष्यों से शास्त्रार्थ किया और उनके समक्ष अपने तर्क प्रस्तुत किये जिन्होंने उरुविला के वन में उनका परित्याग कर दिया था। उन्होंने अपनी प्रभावोत्पादक युक्तियों एवं अन्वेषी बुद्धि से उन्हें अपने निकटस्थ कर लिया। उन्होंने सर्वप्रथम कोन्दान्नो (Kondanno) नामक एक वृद्ध यति को दीक्षित किया। अन्य लोगों ने भी भगवान् बुद्ध के सिद्धान्तों को स्वीकार किया। बुद्ध ने इस प्रकार साठ शिष्यों को दीक्षित-प्रशिक्षित कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करने के लिए विभिन्न दिशाओं में भेज दिया।

सिद्धान्त का सार

बुद्ध के अनुयायियों की संख्या में क्रमशः वृद्धि होती गयी। सामन्त, ब्राह्मण और अनेक समृद्ध व्यक्ति उनके शिष्य हो गये। बुद्ध ने जाति-पाँति की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। निर्धन तथा जाति-बहिष्कृत व्यक्ति भी उनके संघ में सम्मिलित कर लिये गये। जो लोग उनके संघ के पूर्ण सदस्य बनना चाहते थे, उन्हें भिक्षु बनना और कठोर आचारशास्त्रीय नियमों का पालन करना पड़ता था। सामान्य जन भी उनके शिष्य थे जिन्हें भिक्षुओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती थी।

उरुविला के वन में तीन भाई रहते थे जो प्रख्यात सन्त तथा दार्शनिक थे। उनके अनेक शिष्य थे जो अत्यन्त विद्वान् थे। राजा-महाराजा उनका आदर करते थे। बुद्ध उरुविला जा कर इन तीनों सन्तों के समीप रहे। उन्होंने इन तीनों सन्तों को अपने मत में दीक्षित कर लिया। इस घटना से समस्त देश चमत्कृत रह गया।

भगवान् बुद्ध अपने शिष्यों के साथ मगध की राजधानी राजगृह गये। वहाँ सम्राट् विम्बसार एक लाख बीस हजार ब्राह्मणों तथा गृहस्थों के साथ बुद्ध तथा उनके अनुयायियों से श्रद्धापूर्वक मिले। उन्होंने भगवान् बुद्ध का प्रवचन सुना और वे तत्क्षण उनके शिष्य हो गये। ब्राह्मणों तथा गृहस्थों में एक लाख दश हजार भगवान् बुद्ध के संघ के पूर्णकालिक सदस्य बन गये। शेष दश हजार सामान्य अनुयायी बने। बुद्ध के अनुयायी जब दैनिक भिक्षाटन के लिए जाते थे, तब उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। विम्बसार ने अपना वेणुवन बुद्ध को उपहार स्वरूप दे दिया। यह

वेणुवन राजधानी के निकटस्थ राजकीय क्रीड़ा-उद्यान था। भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों के साथ वहाँ वर्षा की अनेक ऋतुएँ व्यतीत की थीं।

प्रत्येक बौद्ध भिक्षु को पीत वस्त्र धारण करते समय हिंसा से विरत रहने का व्रत-ग्रहण करना पड़ता था। अतः उसके लिए वर्षा ऋतु में किसी एक ही स्थान पर रहना आवश्यक हो जाता था। आज भी शांकर सम्प्रदाय के परमहंस संन्यासी वर्षा ऋतु में किसी एक ही स्थान पर चातुर्मास व्यतीत करते हैं। इन दिनों सूर्य की उष्णता तथा ऋतु की आर्द्रता के संयुक्त योग-दान के कारण असंख्य कृमि-कीट उत्पन्न हो जाते हैं जिनकी हत्या किये बिना परिभ्रमण असम्भव हो जाता है।

भगवान् बुद्ध को अपने पिता का एक सन्देश प्राप्त हुआ जिसमें उनसे अपने जन्म-स्थान में आगमन का अनुरोध किया गया था जिससे उनके पिता अपनी मृत्यु के पूर्व उन्हें एक बार देख लें। बुद्ध उनके अनुरोध को सहर्ष स्वीकार कर कपिलवस्तु की ओर चल पड़े और नगर के बाहर वन में रुके। उनके पिता तथा सम्बन्धी उनको देखने आये; किन्तु वे भिक्षु गौतम को देख कर प्रसन्न नहीं हुए और कुछ ही क्षणों के पश्चात् वहाँ से लौट गये। उन्होंने उनकी तथा उनके अनुयायियों की भिक्षा की भी कोई व्यवस्था नहीं की। वे लोग सांसारिक प्राणी थे। बुद्ध ने नगर में द्वार-द्वार पर भिक्षाटन किया। यह समाचार उनके पिता तक पहुँचा। उन्होंने गौतम को भिक्षाटन से विरत करने का प्रयास किया; किन्तु गौतम ने कहा- "महाराज, मैं भिक्षु हूँ। द्वार-द्वार पर जा कर भिक्षा-ग्रहण करना मेरा कर्तव्य है। संघ के लिए यही करणीय है। इसमें आप बाधक क्यों बनते हैं? भिक्षान्न अत्यन्त पवित्र होता है।" उनके पिता ने गौतम की बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया। उनके हाथों से भिक्षा पात्र छीन कर वे उन्हें राजप्रासाद में ले गये। वहाँ उनके प्रति सभी ने अपनी श्रद्धा व्यक्त की; किन्तु उनकी पत्नी यशोधरा वहाँ नहीं गयी। उसने कहा- "यदि उनके लिए मेरा कुछ भी महत्त्व है, तो वे स्वयं मेरे पास आयेंगे।" वह विवेक, वैराग्य एवं अन्य सद्गुणों से सम्पन्न एक पतिव्रता नारी थी। जिस दिन वह पति-परित्यक्ता हुई थी, उसी दिन से उसने प्रसाधन तथा विलास के सभी साधनों का परित्याग कर दिया था। वह दिन में केवल एक बार ही सामान्य अन्न ग्रहण करती और चटाई पर सोती थी। वह एक कठोर तपोमय जीवन व्यतीत कर रही थी। गौतम यह सब सुन कर विचलित हो उठे। वे तत्काल उसे देखने चल पड़े। उसने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। वह उनके चरणों पर गिर कर रोने लगी। बुद्ध ने भिक्षुणियों के संघ की भी स्थापना की थी जिसकी प्रथम भिक्षुणी यशोधरा बनी।

यशोधरा ने वहाँ से जाते हुए बुद्ध की ओर वातायन से संकेत करके अपने पुत्र से कहा- "ओ राहुल, वह भिक्षु तुम्हारे पिता हैं। तुम उनके पास जा कर अपने जन्म-सिद्ध अधिकार की माँग करो। तुम उनसे निर्भीकतापूर्वक कहो कि तुम उनके पुत्र हो और वे तुम्हें तुम्हारी पैतृक सम्पत्ति प्रदान करें।" राहुल ने तत्क्षण उनके निकट जा कर कहा- "पिता जी, मुझे मेरी पैतृक सम्पत्ति दीजिए।" बुद्ध उस समय भोजन कर रहे थे। उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। पुत्र पिता से बार-बार पैतृक सम्पत्ति की माँग करता रहा। बुद्ध ने अपने एक शिष्य से कहा - "बोधि वृक्ष के नीचे मुझे जिस अमूल्य सम्पत्ति की प्राप्ति हुई थी, मैं इस बालक को उसका उत्तराधिकारी नियुक्त करता हूँ।" राहुल को भिक्षुओं के संघ में सम्मिलित कर लिया गया। जब बुद्ध के पिता को इसकी सूचना प्राप्त हुई, तब उन्हें घोर दुःख हुआ; क्योंकि पुत्र से वंचित होने के पश्चात् अब वे अपने पौत्र से भी वंचित हो गये थे।

बुद्ध के जीवन के साथ कुछ चमत्कार भी जुड़े थे। एक बार मायिक शक्ति से सम्पन्न एक हिंस्र सर्प बुद्ध के ऊपर अग्नि-वर्षा करने लगा। बुद्ध भी स्वयं को अग्नि-रूप में परिवर्तित कर उस सर्प पर अग्नि-वर्षा करने लगे। बुद्ध एक बार एक सरोवर से बाहर निकलना चाहते थे। उस अवसर पर एक वृक्ष ने अपनी एक शाखा को झुका कर उनकी सहायता की। एक बार उनके आदेश पर ईंधन के लिए प्रयुक्त पाँच सौ लकड़ियाँ स्वयं विखण्डित हो गयीं। उन्होंने पाँच सौ ऐसे पात्रों की संरचना कर दी जिनमें आग जल रही थी। ऐसा उन्होंने शीत से कम्पित जटिलों के लिए किया था। एक बार नदी में जब बाढ़ आयी थी, तब वे नदी के जल को निम्न स्तर पर ला कर उसे पार कर गये थे।

आनन्द जो बुद्ध के चचेरे भाई थे, उनके प्रारम्भिक शिष्यों में प्रमुख थे। वे बुद्ध के सर्वाधिक निष्ठावान् मित्र तथा शिष्य थे। बुद्ध के प्रति उनकी निष्ठा एक बाल-सुलभ विशिष्ट उत्साह से आप्लावित थी। वे उनके वैयक्तिक अनुवर्ती के रूप में मृत्युपर्यन्त उनकी सेवा में संलग्न रहे। वे एक लोकप्रिय व्यक्ति थे और उनका स्वभाव अत्यन्त मधुर था। बौद्धिक दृष्टि से उनकी सम्प्राप्ति नगण्य-सी थी; किन्तु उनका निष्कपट स्वभाव स्नेह से ओत-प्रोत था। देवदत्त आनन्द का भाई था। वह भी संघ का सदस्य था। वह बुद्ध का सर्वाधिक विरोधी था और उसने उन्हें अपदस्थ कर उनके उच्चासन को स्वयं ग्रहण करने के लिए अथक प्रयास किये थे। उपालि नामक एक नाई तथा अनिरुद्ध नामक एक ग्रामीण भी संघ के सदस्य थे। उपालि संघ का एक प्रख्यात तथा अग्रणी भिक्षु हो गया और अनिरुद्ध एक ऐसे दार्शनिक के रूप में प्रख्यात हुआ जिसका पाण्डित्य अगाध था।

अन्त

बुद्ध कोशल की राजधानी श्रावस्ती गये जहाँ एक समृद्ध श्रेष्ठी ने उनके आवास के लिए एक सुविस्तृत तथा मनोरम उपवन की व्यवस्था कर दी। बुद्ध ने अपनी अनेक वर्षा ऋतुएँ वहीं व्यतीत कीं और वहाँ कई महत्त्वपूर्ण प्रवचन किये। इस प्रकार बुद्ध पैंतालीस से भी अधिक वर्षों तक परिभ्रमण करते हुए अपने सिद्धान्तों का उपदेश देते रहे।

भोजन में कुछ दोष से उत्पन्न एक रोग के कारण बुद्ध की मृत्यु हो गयी। वे कुन्दो (Cundo) नामक एक निष्ठावान् महिला द्वारा प्रदत्त शूकरमद्व के भक्षण से अस्वस्थ हो गये। भाष्यकार इस शब्द का निर्वचन शूकर के मांस के रूप में करते हैं; किन्तु सुभद्र इसे वह खाद्य पदार्थ समझते हैं जो शूकर के लिए रुचिकर होता है। वे इसे कवक (Trufle) की कोटि का कोई पदार्थ मानते हैं। डा. होय के अनुसार यह शूकर-मांस न हो कर शकरकन्द है जो अधिकतर वन में पाया जाता है और जो अत्यधिक सुस्वादु तथा रुचिकर होता है। हिन्दू इसे फलाहार मानते हैं। इसे व्रत के दिन ग्रहण किया जाता है।

बुद्ध ने आनन्द से कहा- "आनन्द ! जाओ और मेरे लिए शाल के दो वृक्षों के बीच एक ऐसी शय्या की व्यवस्था करो जिस पर मेरा शिरोभाग उत्तर की ओर रहे। मैं श्रान्त-क्लान्त हूँ और अब मैं सोना चाहूँगा।" इसके पश्चात् एक आश्चर्यजनक दृश्य उपस्थित हो गया। दोनों शालवृक्ष पूर्णतः कुसुमित हो उठे जब कि ऋतु इसके अनुकूल नहीं थी। सुमन-राशि बुद्ध के शरीर पर झरने लगी। यह उनके प्रति उनकी श्रद्धा का प्रतीक था। बुद्ध के शरीर पर दिव्य पारिजात वृक्ष के सुमनों तथा चन्दन-चूर्ण का वर्षण होने लगा। यह उनके प्रति उनके सम्मान का प्रतीक था।

भगवान् बुद्ध ने कहा- "प्रिय भिक्षुओ, मेरे समीप आओ। जो संयोजित है, उसका विघटन अनिवार्य है। परिश्रम के माध्यम से तुम लोग समृद्धि को प्राप्त करो और अपने निर्वाण के लिए प्रयत्नशील रहो!"

कुछ घटनाएँ

गौतम में बाल्यावस्था से ही अहिंसा की प्रवृत्ति विद्यमान थी। एक दिन उनके भाई देवदत्त ने एक पक्षी को शर-विद्ध कर दिया और आहत पक्षी धरती पर आ गिरा। गौतम ने दौड़ कर उसे उठा लिया और उसे अपने चचेरे भाई देवदत्त को देना अस्वीकार कर दिया। इस विवाद को राजगुरु के समक्ष प्रस्तुत किया गया जिन्होंने अन्ततः अपना निर्णय गौतम के पक्ष में दिया। देवदत्त इस निर्णय से अत्यधिक अपमानित हुआ।

अपने परिभ्रमण के समय एक दिन गौतम ने भेड़-बकरियों के एक यूथ को एक संकीर्ण उपत्यका से हो कर जाते हुए देखा। यूथ के पशुओं को पथ-भ्रान्त न होने देने के लिए चरवाहा प्रायः उनके आगे-पीछे चिल्लाते हुए दौड़ा करता था। पशुओं के उस बृहद् समूह में एक आहत मेमना भी था जो सबसे पीछे सायास मन्द गति से चला जा रहा था। चरवाहे के दण्ड प्रहार से वह पंगु हो गया था। उसे देख कर गौतम का हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने उसे बाँहों

में भर लिया और उसे ले चलते हुए कहा- "ओलिम्पस की किसी शिला या किसी एकान्त गुहा में बैठ कर मानवता के क्लेश पर चिन्तन करने से किसी निरीह प्राणी का कष्ट निवारण श्रेयस्कर है।" इसके पश्चात् उन्होंने चरवाहे से पूछा- "मित्र, तुम पशुओं के इस यूथ को लिये हुए इतनी शीघ्रता के साथ कहाँ जा रहे हो?" चरवाहे ने कहा- "मैं राजप्रासाद जा रहा हूँ। आज की रात महाराजा देवताओं के अनुग्रह की प्राप्ति के लिए एक यज्ञानुष्ठान का प्रारम्भ करने वाले हैं। मुझे उस यज्ञ में बलि के लिए भेड़-बकरियाँ लाने के लिए भेजा गया है।" यह सुन कर उस मेमने को लिये हुए गौतम ने चरवाहे का अनुगमन किया। जब वे नगर में पहुँचे, तब सर्वसाधारण इस बात से अवगत हो गया कि एक यति राजा के आदेशानुसार यज्ञ के लिए बलि-पशु ला रहा है। उन्हें देखने के लिए लोग पथ पर एकत्र हो गये। उन्होंने पीत वस्त्र धारण किया था तथा उनकी आकृति भव्य तथा सौम्य थी। उनकी अभिजातीय देह-यष्टि तथा सम्मोहक मुख-मुद्रा से सभी आश्चर्य चकित रह गये। यज्ञ में उस पूतात्मा के आगमन की सूचना राजा को दे दी गयी। जब यज्ञानुष्ठान का प्रारम्भ हुआ, तब राजा की उपस्थिति में देवताओं को बलि प्रदान करने के लिए एक बकरा लाया गया। बकरे के पैर बँधे हुए थे और राजपुरोहित हाथ में एक लम्बी छुरी लिये हुए उस मूक पशु के वध के लिए कटिबद्ध खड़ा था। उस निर्मम एवं दुःखान्त क्षण में जब उस निरीह पशु का प्राणान्त लगभग निश्चित था, गौतम ने आगे बढ़ कर कहा- "हे राजा, इस क्रूर कर्म को रोक दीजिए।" इतना कहने के पश्चात् उन्होंने आगे बढ़ कर उस बलि-पशु को मुक्त कर दिया। उन्होंने कहा- "जिस प्रकार मनुष्य-जाति अपने जीवन की सुरक्षा चाहती है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी को अपना जीवन प्रिय है।" तब पश्चात्ताप की भावना से अनुतप्त पापी की भाँति पुरोहित ने छुरी फेंक दी और दूसरे दिन राजा ने एक राजाज्ञा द्वारा देश-भर में इस आशय का आदेश पारित कर दिया कि अब भविष्य में यज्ञ नहीं होंगे एवं लोगों को पशु-पक्षियों के प्रति दया का व्यवहार करना होगा।

* * * *

युवा नारी किसा गौतमी (Kisagotami) का विवाह एक सम्पन्न व्यक्ति के इकलौते पुत्र के साथ हुआ था और उनके एक पुत्र था। दो वर्ष की अल्यापु में इस पुत्र का देहान्त हो गया। अपने पुत्र के प्रति किसा गौतमी की उत्कट अनुरक्ति थी। उसने उसे अपने वक्षस्थल से लगा लिया और उसको स्वयं से विलग करना अस्वीकार कर दिया। वह अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों के द्वार-द्वार पर जा कर उस औषधि की याचना करती रही जिससे उसका पुत्र पुनर्जीवित हो सके। एक बौद्ध भिक्षु ने उससे कहा- "मेरे पास ऐसी कोई औषधि नहीं है; किन्तु तुम भगवान् बुद्ध के पास जाओ। वे तुम्हें कोई रामबाण औषधि अवश्य प्रदान करेंगे। वे प्रेम तथा दया के सागर हैं। तुम्हारा पुत्र पुनर्जीवित हो उठेगा। दुःखी होने की आवश्यकता नहीं।" वह शीघ्र ही बुद्ध के पास जा कर बोली- "हे भन्ते, क्या आप इस बालक को कोई औषधि दे सकते हैं?" बुद्ध ने कहा- "हाँ, मैं तुम्हें एक अत्यन्त उपयोगी औषधि दूँगा। तुम किसी ऐसे घर से सरसों के बीज ले आओ जिसमें किसी बालक-बालिका, किसी पति, किसी पत्नी, किसी पिता, किसी माता या किसी भृत्य की मृत्यु न हुई हो।" उसने कहा - "बहुत अच्छा, महोदय ! मैं इसे शीघ्र ही ला दूँगी।"

अपने पुत्र को वक्षस्थल में लगाये उसने द्वार-द्वार पर जा कर सरसों के बीज की याचना की। घर के लोगों ने कहा- "लो, यह रहे सरसों के बीज।" किसा गौतमी ने पूछा- "क्या आपके घर में किसी पुत्र, किसी पति, किसी पत्नी, किसी पिता, किसी माता या किसी भृत्य की मृत्यु हुई है?" उन्होंने उत्तर दिया- "हे देवी, तुम एक विचित्र प्रश्न पूछ रही हो। हमारे घर में कई लोगों की मृत्यु हो चुकी है।" किसा गौतमी ने एक दूसरे घर में जा कर ऐसे ही प्रश्न किये। गृहपति ने कहा- "इस घर में मेरे ज्येष्ठ पुत्र तथा मेरी पत्नी की मृत्यु हुई थी।" वह तीसरे घर में गयी। वहाँ के लोगों ने उससे कहा- "इस घर में हमारे माता-पिता की मृत्यु हो चुकी है।" तब वह एक अन्य घर में गयी। वहाँ गृह-स्वामिनी ने कहा- "गत वर्ष मेरे पति की मृत्यु हो गयी।" अन्ततः किसा गौतमी कोई भी ऐसा घर नहीं पा सकी जहाँ किसी की भी मृत्यु न हुई हो। अब उसके मन में विवेक तथा वैराग्य जाग्रत हो गये। अपने पुत्र का अन्तिम संस्कार कर वह इस संसार में जीवन और मृत्यु की समस्या पर गम्भीरतापूर्वक मनन करने लगी।

तत्पश्चात् किसा गौतमी ने बुद्ध के निकट जा कर उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। बुद्ध ने उससे कहा- "हे प्रिय बालिके, क्या तुम सरसों के बीज ले आयी हो?" किसा गौतमी ने कहा- "मुझे ऐसा कोई घर नहीं मिला जहाँ किसी की मृत्यु न हुई हो।" बुद्ध ने कहा- "संसार के सभी पदार्थ नश्वर तथा क्षणिक हैं। यह संसार दुःख, अशान्ति तथा क्लेश से पूर्ण है। मनुष्य जन्म, मृत्यु, रोग, जरा तथा क्लेश से अशान्त रहता है। हमें अनुभव से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। हमें उन वस्तुओं की सम्प्राप्ति की आशा नहीं करनी चाहिए जिनका कहीं कोई अस्तित्व ही नहीं है। इस तृष्णा से हमें अनावश्यक दुःख तथा कष्ट होते हैं। मनुष्य को निर्वाण प्राप्त करना चाहिए। इसी से हमारे दुःखों का अन्त सम्भव है और तभी हमें अमरत्व तथा शाश्वत शान्ति की सम्प्राप्ति हो सकेगी।" इसके पश्चात् किसा गौतमी संघ में प्रविष्ट हो कर भिक्षुणी हो गयी।

* * * *

एक बार बुद्ध हाथ में भिक्षा पात्र लिये एक समृद्ध ब्राह्मण के घर गये। ब्राह्मण अत्यन्त क्रोधित हो कर बोला- "हे भिक्षु, तुम एक परिव्राजक का अकर्मण्य जीवन व्यतीत करते हुए भिक्षाटन क्यों कर रहे हो? क्या यह कर्म अकीर्तिकर नहीं है? तुम्हारा शरीर सुगठित है। तुम कोई व्यवसाय कर सकते हो। मैं कृषि-कर्म में संलग्न हूँ और अपना पसीना बहा कर जीविकोपार्जन करता हूँ। मेरा जीवन एक श्रमिक का जीवन है। तुम्हारे लिए यह श्रेयस्कर होगा कि तुम भी हल चला कर और खेत में बीज-वपन कर कृषि-कर्म में संलग्न हो जाओ। उदर-पोषण के लिए इससे तुम्हें प्रचुर मात्रा में अन्न प्राप्त होगा।" बुद्ध ने कहा- "हे ब्राह्मण, मैं भी हल चला कर और खेत में बीज-वपन कर अन्नोत्पादन करता हूँ।" ब्राह्मण ने कहा- "तुम स्वयं को कृषक कहते हो; किन्तु मैं तुममें कृषक का कोई लक्षण नहीं देख रहा हूँ।" तब बुद्ध ने कहा- "हे ब्राह्मण, मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनो। मैं श्रद्धा के बीज बोता हूँ। मेरे शुभ कर्म वर्षा है जिससे खेत का अभिसिंचन होता है। विवेक तथा वैराग्य मेरे हल के अंग, धर्म-परायणता इसकी मूठ, ध्यान अंकुश तथा शम-दम- मानसिक शान्ति एवं इन्द्रिय-निग्रह- बैल हैं। इस प्रकार मैं अपनी मनोभूमि पर हल चला कर विचिकित्सा, भ्रम, भय, जन्म तथा मृत्यु की अनावश्यक तृण-राशि का निरसन करता हूँ। इससे जिस शस्य की मुझे सम्प्राप्ति होती है, वह है निर्वाण का अमर फल। इस प्रकार के कृषि-कर्म से सभी दुःखों का अन्त हो जाता है।" बुद्ध के इस उपदेश के परिणाम-स्वरूप उस समृद्ध उद्धत ब्राह्मण को ज्ञान हो गया और वह उनके चरणों पर विनत हो कर उनका सामान्य अनुयायी बन गया।

बुद्ध के उपदेश

भगवान् बुद्ध अपने उपदेश में कहा करते थे- "हमें दुःख के कारण तथा दुःख-निरोध-मार्ग की खोज करनी चाहिए। विषयोपभोग के प्रति तृष्णा तथा सांसारिकता के प्रति आसक्ति दुःख का कारण है। यदि हम तृष्णा का उन्मूलन कर दें, तो दुःखों का अन्त हो जायेगा और हमें शाश्वत शान्ति तथा निर्वाण में निहित आनन्द की सम्प्राप्ति हो जायेगी। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्ति, सम्यक् आजीवन, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि - इस अष्टांगिक मार्ग के अनुसरण से हम दुःखों से मुक्त हो जायेंगे। हे भिक्षुओ, यही है वह मध्यम मार्ग जिसका बोध तथागत को पूर्णरूपेण हो चुका है। इससे अन्तर्दृष्टि तथा ज्ञान की उत्पत्ति होती है जिससे हम शान्ति, लोकोत्तर ज्ञान, पूर्ण सम्बोधि तथा निर्वाण की ओर उन्मुख होते हैं।

"हे भिक्षुओ, दुःख का आर्य सत्य वस्तुतः यही है। जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, अप्रिय पदार्थों से वियोग दुःखमय है। इच्छित पदार्थों से वियोग दुःखमय है। इच्छित पदार्थों की अनुपलब्धि भी दुःखमय है। संक्षेप में जागतिक सत्ता के प्रति आसक्ति के पाँचों स्कन्ध दुःखमय हैं। रूप, संज्ञा, वेदना, संस्कार तथा विज्ञान यही पंच-स्कन्ध हैं।

"हे भिक्षुओ, दुःख के कारण का सत्य यही है। यह वह तृष्णा है जो मनुष्य को ऐहिक सुख तथा व्यसनों से लिप्त सांसारिकता की ओर पुनः-पुनः उत्प्रेरित किया करती है। यह उसे वैषयिक सुख तथा जीवन के प्रति सहज आसक्ति से ग्रस्त कर इतस्ततः सुख की खोज किया करती है। हे भिक्षुओ, यह दुःख-निरोध का आर्य सत्य है जो तृष्णा के पूर्ण विराम, इसके परित्याग, इसके आत्म-समर्पण, इसके प्रति अनासक्ति तथा इससे मुक्ति का पर्याय है। यह आर्य सत्य हमें दुःखों के प्रहाण की ओर अभिप्रेरित करता है। दुःख-निरोध नामक यह आर्य सत्य निश्चित रूप से अष्टांगिक मार्ग है जिसमें सम्यक् परामर्श आदि निहित हैं।"

महावीर

महावीर का जन्म ५९९ ई.पू. में हुआ था। वे बहत्तर वर्षों तक जीवित रहे। ५६९ ई.पू. में उन्होंने गृह-त्याग किया। उन्होंने ५५७ ई.पू. में सर्वज्ञता प्राप्त की तथा ५२७ ई.पू. में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। वे अन्तिम तीर्थंकर थे।

महावीर का जीवन सत्यवादिता, आर्जव तथा पवित्रता से ओत-प्रोत था। उनमें ये गुण आत्यन्तिक रूप में विद्यमान थे। वे आजीवन अकिंचन बन कर रहे।

महारानी त्रिशला तथा कुण्डलपुर के महाराजा सिद्धार्थ उनके माता-पिता थे। त्रिशला को प्रियकर्णी के नाम से भी जाना जाता है। 'महा' का अर्थ महान् तथा 'वीर' का अर्थ उदात्त नायक होता है। तीर्थ का शाब्दिक अर्थ होता है घाट जो पार उतरने का साधन है। इस शब्द में निहित लाक्षणिकता के अनुसार इसका तात्पर्य पथ-प्रदर्शक या उस दर्शन से है जो किसी को जन्म-मरण के आवर्तन के महोदधि को पार करने की क्षमता प्रदान करता है। 'कर' का अर्थ कर्ता होता है। 'तीर्थ' तथा 'कर' इन दोनों शब्दों का समवेत अर्थ पवित्र जैन अर्हत होता है।

महावीर जैन-धर्म के संस्थापक नहीं थे। उन्होंने जैन सिद्धान्तों को कुछ संशोधनों के साथ व्यवस्थित-भर किया था। वे इस धर्म के संस्थापक होने की अपेक्षा सुधारक अधिक थे। जैन-तत्त्व-शास्त्र के अनुसार काल चक्रों में विभाजित है। यह आधिकारिक रूप से कहा जाता है कि प्रत्येक अर्ध चक्र में दीर्घ अन्तरालों के पश्चात् चौबीस तीर्थंकर जैन-सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए एक नवीन दृष्टिकोण का प्रयोग करते हैं। महावीर चौबीसवें तीर्थंकर थे और अन्य तीर्थंकरों की भाँति वे भी सर्वज्ञ थे।

महावीर को वर्द्धमान (निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होने वाला) तथा सन्मति के नामों से भी अभिहित किया जाता था। आठ वर्ष की अल्पायु से ही वे अहिंसादि द्वादश व्रतों का पालन करने लगे थे। वे अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन करते हुए उनकी सेवा श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक किया करते थे। वे एक कुशल राजनयिक थे। वे आजीवन अविवाहित रहे।

आत्म-चिन्तन में निमग्न महावीर इस सत्य से परिचित हो गये थे कि सांसारिक सुख क्षणिक हैं और इनसे कर्म का बन्धन सुदृढ़ होता है। वे जानते थे कि संन्यास ही शाश्वत आनन्द की सम्प्राप्ति का साधन है।

अल्पायु में ही महावीर के स्वभाव में सद्गुणों तथा सदाचार का समावेश हो चुका था जिसे देख कर लोग आश्चर्य चकित रह जाते थे। ध्यान में उनकी अत्यधिक रुचि थी और वे संगीत तथा साहित्य से भी सुपरिचित थे। उनके जीवन के तीस वर्ष इसी प्रकार व्यतीत हुए।

वर्द्धमान ने अतीन्द्रिय दृष्टि से देखा कि वे असंख्य जन्म ग्रहण कर चुके हैं। उन्होंने सोचा - 'कितने जन्म व्यर्थ ही बीत गये। मैं स्पष्टतः देख रहा हूँ कि आत्मा कर्म से मूलतः पृथक् है। मैंने अपने जीवन के तीस वर्ष व्यर्थ ही नष्ट कर दिये। सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के लिए मैंने संसार का परित्याग और तप नहीं किया। सभी दुःखों के मूल में विद्यमान आसक्ति का भी निराकरण अभी तक नहीं हो पाया है।'

राजकुमार वर्द्धमान पश्चात्ताप की अग्नि में जलने लगे। उन्होंने सांसारिकता के परित्याग का निश्चय कर लिया। वे अपने माता-पिता, मित्रों तथा सम्बन्धियों के प्रति आसक्ति से विरत हो गये। उन्होंने द्वादश अनुप्रेक्षाओं अर्थात् जैन-धर्म-ग्रन्थों में उल्लिखित गहन रूप से विचारणीय पदार्थों का चिन्तन किया :

१. समस्त सांसारिक वस्तुएँ अस्थायी हैं।

२. एकमात्र आत्मा ही अनन्य आश्रय है।

३. संसार अनादि तथा कुटिल है।

४. आत्मा का एकमात्र परिरक्षक स्वयं आत्मा ही है।

५. शरीर, मन इत्यादि मूलतः आत्मा से पृथक् हैं।

६. तत्त्वतः आत्मा शुद्ध तथा शरीरादि अशुद्ध हैं।

७. आत्मा के बन्धन की सृष्टि इसमें कर्मास्रव के प्रवेश से होती है।

८. प्रत्येक व्यक्ति के लिए इस आस्रव का प्रहाण आवश्यक है।

९. कर्म के नितान्त क्षय के उपरान्त ही कैवल्य की प्राप्ति होती है।

१०. केवली आकाश के शीर्ष स्थान पर निवास करते हैं।

११. संसार में मनुष्य-योनि में जन्म-ग्रहण एवं आत्मा के स्वरूप का ध्यान महानतम सौभाग्य है।

१२. सर्वज्ञ द्वारा वर्णित त्रिरत्न ही एकमात्र नैतिकता है।

महावीर ने इन द्वादश अनुपेक्षाओं पर विचार करने के पश्चात् अन्ततोगत्वा गृह-त्याग का दृढ़ निश्चय कर लिया।

महावीर की माता ने कहा- "प्रिय पुत्र, तपस्वी-जीवन की कठोरता तुम्हारे लिए असहनीय होगी। अभी उसके लिए बहुत समय है। राज्य के प्रशासन में तुम्हें अपने पिता को सहयोग प्रदान करना चाहिए। कुछ वर्षों के बाद भी तुम अर्हत हो सकते हो।"

महावीर ने कहा- "श्रद्धेय माता, संसार के समस्त पदार्थ पानी के

बुलबुले की भाँति क्षणभंगुर हैं। जो रोग, दुःख, क्लेश तथा मृत्यु का आश्रय-स्थान है, उस संसार में किसी के लिए सुख की सम्प्राप्ति कैसे सम्भव है? मुझे इस संसार का परित्याग करना ही होगा।"

महावीर ने अपनी सारी सम्पत्ति स्वयं अपने ही हाथों से निर्धनों में वितरित कर दी। वे वन में चले गये और जो वस्त्र उन्होंने धारण किये थे, उनका भी परित्याग कर वे पूर्णतः दिगम्बर हो गये। उत्तराभिमुख हो कर उन्होंने कहा- "मैं सिद्धों को प्रणाम करता हूँ।" अपने शिर से केश के पाँच गुच्छों को स्वयं विलग कर वे अर्हत हो गये।

महावीर ने कठोर तप किया। उन्होंने बहुत दिनों तक उपवास किया। वे आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का ध्यान करते रहे।

दिव्य शक्तियों ने महावीर की परीक्षा ली। एक बार रमणीय स्त्री-समुदाय ने उन्हें घेर लिया; किन्तु वे अडिग अविचलित बने रहे। उन्हें सर्वज्ञता की सिद्धि प्राप्त हुई। सर्वज्ञ होने के पश्चात् वे तीस वर्षों तक शान्ति के सन्देश का प्रचार-प्रसार करते रहे। उन्होंने मगध, मिथिला आदि राज्यों का भ्रमण किया जहाँ अनेक राजा उनके शिष्य हो गये।

कन्फ्यूशियस

कन्फ्यूशियस का जन्म ५५१ ई.पू. में लू नामक एक सामन्ती राज्य में हुआ था जो आजकल चीन के उत्तर-पूर्वी समुद्रतटीय प्रान्त शाण्टुंग का एक भाग है। चीनी भाषा में कन्फ्यूशियस का नाम कुंग फू-त्जू है जिसका अर्थ है राजनेता-दार्शनिक कुंग। चीन में सर्वप्रथम प्रविष्ट होने वाले यूरोपीय विद्वानों को इस नाम का उच्चारण श्रम-साध्य प्रतीत हुआ; अतः वे इसे लैटिन स्वरूप प्रदान कर कन्फ्यूशियस कहने लगे।

कन्फ्यूशियसवाद, ताओवाद एवं बौद्ध - चीन में ये तीन धर्म प्रचलित हैं। कन्फ्यूशियस तथा ताओ-धर्म के प्रवर्तक लाओत्से समकालीन थे। वे मनीषी तथा दार्शनिक थे। उनको उद्धारक या मुक्तिदाता नहीं समझा जाता। लाओत्से कन्फ्यूशियस से तिरपन वर्ष बड़े थे। उनके प्रथम पारस्परिक साक्षात्कार के समय लाओत्से की आयु तिरासी वर्ष थी जो कन्फ्यूशियस की आयु के दोगुने से भी अधिक थी। उनकी आयु के साथ-साथ उनके विचारों तथा उनकी आस्थाओं में भी बहुत अन्तर था। चीनी इतिहासकारों की कृपा से उन दोनों के वार्तालाप का सारांश हम लोगों को आज तक उपलब्ध होता आया है। सुकरात और बुद्ध भी कन्फ्यूशियस के समकालीन थे।

प्रचलित अभिप्राय के अनुसार कन्फ्यूशियस के मत को धर्म शब्द से अभिहित नहीं किया जा सकता। इसमें न किसी प्रकार के पौरोहित्य के दर्शन होते हैं और न किसी मठ-विशेष से सम्बन्धित आचार-शास्त्रीय विधि-विधान के। यह मत चीन में कन्फ्यूशियस के समय से बहुत पहले भी प्रचलित था। अपने एक लिपिबद्ध प्रवचन में अपने विषय में कन्फ्यूशियस ने संसार को कोई नया धर्म या कोई नयी आचार संहिता नहीं प्रदान की थी। उन्होंने पुरातन मत को ही एक नवीन संशोधित-संवर्धित संस्करण में लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया। उन्होंने संसार को जो कुछ भी दिया, वह मूलभूत मानवीय नैतिकता या आचार-शास्त्र का ओजपूर्ण पुनर्कथन मात्र था। उन्होंने नैतिक संहिता को जो कलेवर प्रदान किया, वह अत्यन्त स्तुत्य था।

कुछ लोगों के अनुसार कन्फ्यूशियस द्वारा प्रतिपादित मत को वस्तुतः धर्म शब्द से अभिहित नहीं किया जा सकता; क्योंकि वे धर्म-गुरु या किसी धर्म के प्रचारक न हो कर दार्शनिक, नैतिकता के प्रति आस्थावान्, राजनयिक एवं शिक्षाविद् थे। इन लोगों के अनुसार कन्फ्यूशियस के विचारों तथा उपदेशों में धर्म से सम्बद्ध किसी दर्शन के स्थान पर आचार-शास्त्रीय एवं राजनैतिक तथा शिक्षा-शास्त्रीय सिद्धान्तों के ही दर्शन होते हैं।

कन्फ्यूशियस का जीवन-चरित्र

कन्फ्यूशियस का जन्म कुंग वंश में हुआ था। उनके पिता राज्य के एक उच्चाधिकारी थे। उनकी देह-यष्टि असामान्य थी और वे असाधारण शक्ति तथा वीरत्व के स्वामी थे।

कन्फ्यूशियस ने जब अपनी आयु के तृतीय वर्ष में प्रवेश किया, तब उनके पिता का देहान्त हो गया; किन्तु उनकी माता के स्नेहपूर्ण संरक्षण में उनके शरीर तथा उनकी बुद्धि का समुचित विकास होता गया। राष्ट्र का इतिहास, कविता, दर्शन तथा संगीत- उन दिनों प्रचलित शिक्षा के ये जितने भी सर्वोत्तम प्रारूप थे, वे सब उनकी माता की कृपा से उन्हें प्राप्त हुए।

कन्फ्यूशियस लोगांग गये जहाँ उन्होंने पुरातत्त्व-विज्ञान, संगीत, धर्म-विधि तथा धर्मानुष्ठान का अध्ययन किया। वहाँ वे लाओत्से से मिले। जब वे राजधानी से लू लौटे, तब वे राज्य के एक अग्रणी विद्वान् के रूप में प्रख्यात हो चुके थे।

कन्फ्यूशियस ने सुंग राज्य की एक लड़की से विवाह किया। उनके एक पुत्र तथा दो पुत्रियाँ थीं। उन्होंने अपने पुत्र का नाम पो यू रखा। हम कन्फ्यूशियस के दार्शनिक उपदेशों के सर्वाधिक पूर्ण परिकलन के लिए पो यू के पुत्र के ऋणी हैं।

सत्रहवर्षीय कन्फ्यूशियस की शिक्षा का समापन एक सामान्य ग्रामीण विद्यालय में हुआ। इसके पश्चात् लू राज्य में ची परिवार के धान्यागार के लेखा-संकलन के उत्तरदायित्व वहन के रूप में उन्हें जीविकोपार्जन का प्रथम साधन उपलब्ध हुआ। वे कठोर परिश्रमी तथा निष्कपट थे। वे अपना अतिरिक्त समय अध्ययन तथा गोचर भूमि के निकट खेलने के लिए एकत्र बालकों के प्रशिक्षण में व्यतीत करते थे। इस प्रकार उनके शिष्यों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी जो उनके निष्ठावान् अनुयायी बन गये और जिन्होंने उनके उपदेशों को लिपिबद्ध रूप में सुरक्षित रख कर उनकी ख्याति को अमर बना दिया। उनके मन में अधिकार तथा अनुशासन के प्रति प्रचुर उत्साह तथा अतीत के प्रति आत्यन्तिक श्रद्धा थी। इस प्रकार उनका प्रबोधन धार्मिक न हो कर आचारगत हुआ करता था।

कन्फ्यूशियस दीर्घकाय थे। उनके कार्य व्यवस्थित रूप से सम्पन्न होते थे। उन्होंने जो कुछ भी किया, देश-काल के अनुरूप समुचित विधि से सम्पन्न किया।

कन्फ्यूशियस आचार-शास्त्र के शिक्षक थे; किन्तु उनका लक्ष्य राजनीतिक था। प्राचीन काल के नैतिक सिद्धान्तों के माध्यम से राज्य का सुधार करना उनका महान् उद्देश्य था।

'द एनालेक्ट्स' (The Analects) नामक पुस्तक में उनके उपदेशों का संकलन है। इस पुस्तक में वे स्वयं को अपने जीवन के विभिन्न चरणों में विभिन्न रूपों में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं- "पन्दरह वर्ष की आयु में मैं अध्ययन की ओर आकृष्ट था। तीस वर्ष की आयु में मैं दृढ़ निश्चयी तथा चालीस वर्ष की आयु में संशय तथा भ्रम से मुक्त हो गया। पचास वर्ष की आयु में मैं ईश्वरेच्छा से परिचित हुआ एवं मुझे स्वर्ग के आदेश का ज्ञान प्राप्त हुआ। जब मैं साठ वर्ष का हुआ, तब मेरे कान सत्य के प्रति ग्रहणशील हो गये। सत्तर वर्ष की आयु में मैं धर्म की सीमाओं का अतिक्रमण किये बिना अपने हृदय के अनुबोधन का अनुसरण कर सकता था।"

कन्फ्यूशियस को उनके राज्य में मन्त्री तथा मुख्य न्यायाधीश के उच्च पदों पर नियुक्त किया गया। ५०१ ई.पू. में, जब वे पचास वर्ष के थे, उनकी नियुक्ति तू जनपद के राज्यपाल के पद पर कर दी गयी। उनका प्रशासन अत्यन्त सफल रहा। पचास वर्ष की आयु में वे प्रधान मन्त्री हो गये।

प्रशासन में उन्होंने जो परिवर्तन किये, वे सर्वदा के लिए चमत्कारपूर्ण सिद्ध हुए। सड़कों पर गिरी किसी भी वस्तु को कोई नहीं उठाता था। लोगों में श्रद्धा तथा भक्ति थी और स्त्रियाँ पवित्र जीवन व्यतीत करती थीं।

कन्फ्यूशियस चीन की समस्त नैतिक आकांक्षाओं के जन-नायक एवं लोगों के लिए पूजनीय रहे।

कन्फ्यूशियस की आश्चर्यजनक उपलब्धियों के कारण उनके पड़ोसी ची के मार्विस के हृदय में भय तथा ईर्ष्या की भावना जाग्रत हो उठी। इसके परिणाम-स्वरूप उन्हें लू को छोड़ कर अन्यत्र जाना पड़ा। वे एक परिव्राजक के रूप में एक राज्य से दूसरे राज्य में घूमने लगे। उन्होंने सोचा कि उनके पूर्व-परिचित राजकुमारों में कोई उन्हें उनके राजनयिक सिद्धान्तों को व्यवहार में परिणत करने का अवसर प्रदान कर देगा; किन्तु उन्हें अपने कुछ निष्ठावान् अनुयायियों के साथ तेरह वर्षों के लिए बलपूर्वक निर्वासित कर दिया गया। इस अवधि में वे शिक्षण कार्य में संलग्न रहे। क्रमिक रूप से अनेक शिष्य उनके प्रति आकर्षित होते गये।

कन्फ्यूशियस को उनके अपने राज्य में प्रत्यागमन के लिए निमन्त्रित किया गया; किन्तु इसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया। तिहत्तर वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया।

कन्फ्यूशियस ने अपने देश के साहित्य तथा इतिहास का गहन अध्ययन किया था। इस तथ्य के प्रति उनकी दृढ़ आस्था थी कि केवल न्याय-प्रिय तथा धर्म-परायण प्रशासक ही राज्य की रक्षा करने और लोगों को सदाचारी बनाने में समर्थ हो सकते हैं। उनका आदर्श राजा जनक की भाँति प्रज्ञाशील प्रशासकों की प्रजाति की सृष्टि करना था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे सुयोग्य प्रशासक की खोज में एक राज्य से दूसरे राज्य में परिव्रजन करते रहे।

कन्फ्यूशियस के शिष्य उनको पूर्व-निश्चित निष्कर्षों, निरंकुश संकल्पों, हठधर्मिता तथा अहंभाव से सर्वथा मुक्त समझते थे। शिष्यों के साथ अपने वार्तालाप में वे असाधारण वस्तुओं, शक्ति के चमत्कार, विद्रोहात्मक अव्यवस्था एवं आध्यात्मिक लोगों का उल्लेख नहीं करते थे। वे उनके साथ प्रायः कविता, इतिहास एवं औचित्य तथा मर्यादा के विधान की पुस्तकों के सम्बन्ध में बात किया करते थे। वे उनसे कहा करते थे कि यज्ञ के प्रारम्भिक चरण के रूप में उपवास, युद्ध में सम्मिलित होना और रोग का उपचार-इन तीन बातों के प्रति अधिकतम सतर्कता की आवश्यकता है। वे सदाचार, स्वामिभक्ति तथा सत्यवादिता की सम्प्राप्ति पर बहुत बल दिया करते थे। लाभ, पूर्णता तथा स्वर्ग के आदेशों पर उन्होंने शायद ही कभी विचार किया हो।

कन्फ्यूशियस अधिकतर ऐसी वस्तुओं के अध्ययन में व्यस्त रहते थे जिनका सम्बन्ध मानव, मानवता तथा वास्तविक जीवन से रहता था। वे स्वर्ग, प्राकृतिक दृश्य-प्रपंच तथा देवताओं के विषय में कभी भी बात नहीं करते थे। एक बार ची-लू नामक उनके एक शिष्य ने उनसे पूछा - "आदरणीय आचार्य, मैं देवताओं की सेवा किस प्रकार कर सकता हूँ?" कन्फ्यूशियस ने उत्तर दिया - "जब तुम मनुष्य की सेवा करना नहीं जानते, तब तुम देवताओं की सेवा के सम्बन्ध में क्यों प्रश्न करते हो?" शिष्य ने पुनः प्रश्न किया -"पूजनीय आचार्य, कृपया मृत्यु के सम्बन्ध में आप मुझे पूर्ण ज्ञान प्रदान कीजिए।" कन्फ्यूशियस ने उत्तर दिया- "प्रिय ची-लू, जब तुम्हें जीवन का ही पर्याप्त ज्ञान नहीं है, तब तुम मृत्यु-सम्बन्धी ज्ञान की आशा कैसे कर सकते हो?" किन्तु, कन्फ्यूशियस ने स्वर्ग या देवताओं की सत्ता को कभी अस्वीकार नहीं किया।

कन्फ्यूशियस ने स्वयं को समाज के उत्थान के प्रति समर्पित कर दिया था। वे सर्वदा समाज-कल्याण की बात सोचा करते थे। सामाजिक कल्याण के लिए वे अपने अधिकाधिक योगदान के लिए सतत प्रयत्नशील रहते थे। कन्फ्यूशियस के प्रवचनों के संकलन 'द एनालेक्ट्स' में मुख्यतः सामाजिक कल्याण, मानवीय शान्ति तथा सामाजिक समस्वरता पर ही विचार व्यक्त किये गये हैं।

अत्यधिक श्रम-साध्य होते हुए भी कन्फ्यूशियस ने लोगों को नैतिक प्रशिक्षण देने का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया। आचार-शास्त्रीय सद्गुणों की सम्प्राप्ति पर उन्होंने अत्यधिक बल दिया। समाज को विसंगत एवं अशान्त तत्त्वों से

मुक्त करने के लिए वे सर्वदा प्रयत्नशील रहे। इस तथ्य के प्रति उनकी दृढ़ आस्था थी कि यदि ज्येष्ठ तथा वरिष्ठ जनों का चरित्र निर्मल है, तो अन्य लोग भी उनका अनुसरण करेंगे और तब समस्त संसार प्रेम तथा सार्वभौम शान्ति से आप्लावित हो उठेगा। उन्हें देवताओं तथा मरणोत्तर जीवन पर तर्क-वितर्क करने का अवकाश ही नहीं प्राप्त होता था; क्योंकि उनका मन सर्वदा सामाजिक विचारों में तल्लीन रहा करता था। इसका एक कारण यह भी था कि इन विषयों पर विचार करना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा।

पुस्तकें

'द एनालेक्ट्स' में कन्फ्यूशियस के संवादों का संकलन है। इसमें शिष्यों तथा अन्वेषी जनों के साथ उनके वार्तालाप संग्रहीत हैं। इसके अनेक भाष्यकार हुए हैं जिन्होंने इसको अपने-अपने मतों के अनुरूप व्याख्यायित किया है। कन्फ्यूशियस निम्नांकित चार पुस्तकों के प्रणेता थे :

१. 'तू सुयेह' में वयस्कों के लिए उनके विद्वत्तापूर्ण विचारों का संकलन है।

२. 'चुंग युंग' में मीन (Mean) के सिद्धान्त का वर्णन है।

३. 'लून यू' नामक बीस ग्रन्थों में कन्फ्यूशियस की उक्तियों का संग्रह है।

४. 'मेंग त्से' मेनसियस (Mencius) के दर्शन का संकलन है जो कन्फ्यूशियस द्वारा प्रतिपादित मतों से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है।

'टा सुयेह' (Ta Hsueh) एक राजनैतिक और आचारशास्त्रीय ग्रन्थ है। कन्फ्यूशियस के पौत्र कुंग-ची 'चुंग युंग' नामक ग्रन्थ के प्रणेता थे। यह एक विशुद्ध दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें उन सामान्य सिद्धान्तों का वर्णन है जिनका सम्बन्ध मनुष्य की प्रकृति तथा सम्यक् आचार से है। 'लून यू' में कन्फ्यूशियस की उक्तियाँ संग्रहीत हैं। इसमें गुरु-शिष्य के वार्तालापों का वर्णन है। 'मेंग त्से' में मेनसियस के दर्शन का वर्णन है। इसका लेखक कन्फ्यूशियस के मत का प्रबल प्रतिपादक था। इसमें उनके शिष्यों द्वारा पूछे गये प्रश्नों की व्याख्या की गयी है। यह सामन्ती राज्यों को दिये गये परामर्शों का संकलन है। इसमें दर्शन, राजनैतिक सिद्धान्तों तथा अर्थशास्त्र का वर्णन है।

कन्फ्यूशियस की सूक्तियाँ

कन्फ्यूशियस की अनेक सूक्तियाँ अपनी अर्थवत्ता तथा दूरदर्शिता के लिए स्तुत्य हैं। इनसे अधिक ज्ञान-प्रद और क्या हो सकता है-

"विचार के अभाव में विद्वत्ता श्रम का अपव्यय तथा विद्वत्ता के अभाव में विचार संकटप्रद है।"

"जो वास्तव में सदाचारी है, वही किसी से प्रेम या घृणा करने का अधिकारी है।"

"बिना प्रतिवाद के निर्धन होना कठिन तथा अहंकार के बिना समृद्ध होना सरल है।"

कन्फ्यूशियस की कुछ सूक्तियाँ किसी प्रहेलिका से कम नहीं हैं। उदाहरण के लिए ये सूक्तियाँ प्रस्तुत हैं- "लोगों को किसी भद्र व्यक्ति से सात वर्षों तक शिक्षा ग्रहण करने दो। इसके पश्चात् इसी प्रकार उन्हें युद्ध में भी नियोजित किया जा सकता है।"

एक अन्य उदाहरण है-"युद्ध में अप्रशिक्षित लोगों के नेतृत्व का अर्थ है उनको सर्वदा के लिए खो देना।"

"श्रेष्ठ जन जिस वस्तु के अन्वेषी होते हैं, वह उन्हीं में विद्यमान रहती है; किन्तु सामान्य जन जिस वस्तु की खोज करते हैं, वह अन्य लोगों में विद्यमान रहती है।"

"एक आन्तरिक प्रतिबन्ध से सद्गुण के प्रति प्रेम सौन्दर्य के प्रति प्रेम के समकक्ष ही होना चाहिए।"

"अपनी तुलना में अन्य लोगों के मूल्यांकन के समय पर्याप्त आत्म-नियन्त्रण की आवश्यकता है। तुम अन्य लोगों के प्रति जो आचरण करते हो, उन लोगों द्वारा अपने प्रति उसी आचरण की आशा में भी इस आत्म-नियन्त्रण की आवश्यकता पड़ती है। इसी को मानवता का सिद्धान्त कहते हैं जिसके परे अन्य कुछ भी नहीं है।"

"श्रेष्ठता की सम्प्राप्ति का मार्ग न्यायोचित बातों एवं ज्ञान तथा सद्गुणों की उपलब्धि के साधन विद्वत्ता के प्रति प्रेम है। इसकी तुलना किसी भी वस्तु से नहीं की जा सकती। जब सद्गुणों का अनुसरण निष्कपट भाव तथा आत्म-प्रवंचना से मुक्त मन से किया जाता है, तब हृदय परिशुद्ध हो जाता है। इस चरण तक व्यक्ति केवल आत्म-विकास में ही व्यस्त रहा है; किन्तु परिष्कृत-हृदय व्यक्ति पहले अपने निकटस्थ लोगों तथा अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण साम्राज्य को प्रभावित करने लगता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं अपने वचन तथा आचरण के प्रति सतर्क रहना चाहिए। उसे कलुषित तथा अशान्त स्थान का परित्याग कर देना चाहिए। परोपकार उसका निवास-स्थान, धर्म-परायणता उसका मार्ग, मर्यादा उसका आभूषण, प्रज्ञा उसका दीपक तथा निष्ठा उसका सौन्दर्य होना चाहिए। किसी परिष्कृत व्यक्तित्व की संरचन में गरिमा, श्रद्धा, स्वामिभक्ति तथा निष्ठा-जैसे गुणों का पर्याप्त योगदान होता है। गरिमा के कारण सामान्य जन से उसकी पृथकता का बोध होता है, श्रद्धा के कारण वह सबका प्रिय होता है, स्वामिभक्ति से उसमें विनय का प्रादुर्भाव होता है और निष्ठा के कारण वह लोगों का विश्वासपात्र बन जाता है।"

कन्फ्यूशियस की विभिन्न सूक्तियों में श्रेष्ठ जनों के गुणों को रेखांकित किया गया है। कन्फ्यूशियस अपने शिष्यों को वरिष्ठ जनों के समादर तथा उनके अनुकरण का आदेश देते थे। वे कहा करते थे कि प्रत्येक व्यक्ति वरिष्ठ-उत्कृष्ट होना चाहता है। वह अपने मित्रों तथा सहकर्मियों की अपेक्षा उच्च स्थिति का आकांक्षी होता है। वह अपनी पूर्व तथा वर्तमान, दोनों स्थितियों से उच्चतर स्थिति प्राप्त करना चाहता है।

कन्फ्यूशियस द्वारा प्रतिपादित वरिष्ठ व्यक्ति के कुछ गुणों का उल्लेख निम्नांकित पंक्तियों में किया जा रहा है-

प्रयोजन : "वरिष्ठ व्यक्ति की शिक्षा-प्राप्ति का उद्देश्य अपने सिद्धान्तों का अधिकाधिक क्रियान्वयन है।"

सन्तुलन : "वरिष्ठ व्यक्ति विचारतः अपनी स्थिति से च्युत नहीं होता।"

आत्म-निर्भरता : "वरिष्ठ व्यक्ति जिस वस्तु की खोज करता है, वह उसी में विद्यमान है; जब कि सामान्य व्यक्ति उस वस्तु की खोज करता है जो अन्य लोगों में विद्यमान है।"

गाम्भीर्य : "वरिष्ठ व्यक्ति के प्रत्येक अभियान में उसके अध्यवसाय की आत्यन्तिकता निहित रहती है।"

पूर्णता : "वरिष्ठ व्यक्ति अपने अवधान को उस लक्ष्य की ओर उन्मुख किये रहता है जो मूलभूत है। इसकी प्राप्ति के पश्चात् सभी पथ अनायास ही प्रशस्त हो जाते हैं।"

निष्कपटता : "इसके कारण वरिष्ठ व्यक्ति अन्य लोगों से पृथक् प्रतीत होने लगता है।"

सत्यवादिता : "वरिष्ठ व्यक्ति को जिस वस्तु की अपेक्षा है, वह यह है कि उसके वचन पूर्णतः परिशुद्ध हों।"

वचन तथा कर्म की विशुद्धि : "वरिष्ठ व्यक्ति को एकान्त में अपने प्रति सतर्क रहना चाहिए।"

सत्य-प्रेम : "वरिष्ठ व्यक्ति सत्य की सम्प्राप्ति के लिए उत्सुक रहता है। वह निर्धनता से भयभीत नहीं होता।"

आर्जव : "वरिष्ठ व्यक्ति सद्‌गुणों के विषय में सोचता है, जब कि सामान्य व्यक्ति अपनी सुख-सुविधा के विषय में सोचता है।"

विवेक : "वरिष्ठ व्यक्ति सम्भाषण के समय शब्दों के सम्बन्ध में मितव्ययी और आचरण में गम्भीर होता है।"

आत्म-संयम : "वरिष्ठ व्यक्ति को अभावग्रस्त होना पड़ सकता है; किन्तु सामान्य व्यक्ति अभावग्रस्त होने के पश्चात् अत्यधिक स्वेच्छाचारी हो जाता है।"

निर्भीकता : "वरिष्ठ व्यक्ति उत्सुकता तथा भय से मुक्त होता है।"

सहजता तथा गरिमा : "वरिष्ठ व्यक्ति में अहंकार-शून्य गरिमामयी

सहजता होती है, जब कि सामान्य व्यक्ति में गरिमामयी सहजता से रहित अहंकार होता है।"

दृढ़ता : "दूर से देखने पर वरिष्ठ व्यक्ति कठोर और निकट से देखने पर सौम्य-सदय प्रतीत होता है; किन्तु उसकी वाणी में दृढ़ता तथा निश्चयात्मकता के दर्शन होते हैं।"

सामर्थ्य : "साधारण बातों से वरिष्ठ व्यक्ति के सम्बन्ध में किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता; किन्तु महत्त्वपूर्ण विषयों में उसका विश्वास किया जा सकता है।"

स्पष्टता : "वरिष्ठ व्यक्ति के दोष सूर्य और चन्द्रमा की भाँति होते हैं। उसमें जो दोष होते हैं, उन्हें सब लोग देख लेते हैं; किन्तु वह व्यक्ति परिवर्तित हो जाता है और इस परिवर्तन को भी सब लोग देखते हैं।"

परोपकार : "वरिष्ठ व्यक्ति स्वयं में स्तुत्य मानवोचित गुणों के विकास के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह स्वयं में मनुष्य के दुर्गुणों का समावेश नहीं चाहता। सामान्य व्यक्ति का आचरण इसके विपरीत होता है।"

उन्मुक्त मानसिकता : "वरिष्ठ व्यक्ति मेधा तथा सद्‌गुणों का सम्मान करता है। वह श्रेष्ठ व्यक्तियों की प्रशंसा करता तथा असमर्थ व्यक्तियों के प्रति दया तथा सहानुभूति प्रकट करता है।"

नियमन : "वरिष्ठ व्यक्ति मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है।"

सुरक्षित शक्ति : "जिस बात में किसी वरिष्ठ व्यक्ति को किसी के समकक्ष नहीं रखा जा सकता, वह यह है कि लोग उसके मूल्य से परिचित नहीं हो पाते।"

कन्फ्यूशियस वरिष्ठ या आदर्श व्यक्ति के सम्बन्ध में कहते हैं-

"वरिष्ठ व्यक्ति पुरातन धर्म के प्रति आस्थावान् होते हुए भी धर्मान्ध नहीं होता। वह वही आचरण करता है जो उसकी पद-प्रतिष्ठा के अनुरूप तथा औचित्यपूर्ण होता है। वह सीमोल्लंघन करना नहीं चाहता। वह जिस पद के योग्य नहीं होता, उसकी प्राप्ति का प्रयास नहीं करता।"

"जो विज्ञ होता है, उसके लिए निष्कपटता एवं विश्वास वस्त्र तथा शिरस्त्राण एवं औचित्य तथा धर्मपरायणता ढाल होती है। वह परोपकार में रत रहता है। प्रशासन उस पर जघन्य अत्याचार कर सकता है; किन्तु उसके मार्ग में कोई परिवर्तन नहीं होता। उसका जीवन-यापन इसी विधि से होता है।"

शिक्षा

कन्फ्यूशियस ने शिक्षा, ज्ञान तथा सम्यक् आचरण के विधान के अध्ययन पर सर्वाधिक बल दिया जिससे इनको व्यवहार-रूप में परिणत किया जा सके। उनके उपदेशों के अनुसार मनुष्य का मुख्य लक्ष्य स्वयं को जानना तथा समाज के एक सदस्य के रूप में स्वयं को समाज के लिए उपयोगी बनाना है। उन्होंने अपने शिष्यों तथा सर्व साधारण को भद्र जीवन तथा सामाजिक समस्वरता के सिद्धान्तों की शिक्षा दी।

कन्फ्यूशियस का प्रशिक्षण अधिकांशतः स्वच्छ प्रशासन की समस्याओं से सम्बन्धित था। वे कहते थे-"प्रशासक को स्वयं सदाचारी, न्यायी, निष्कपट तथा कर्तव्यपरायण होना चाहिए। सदाचारी प्रशासक को ध्रुव तारे की भाँति होना चाहिए जो अपने स्थान पर स्थिर रहते हुए अन्य नक्षत्रों को अपनी परिक्रमा के लिए विवश करता है। 'जैसा राजा वैसी प्रजा'।"

सद्गुण के सम्बन्ध में कन्फ्यूशियस का क्या विचार था ? उनके इस शब्द (सद्गुण) का पर्याय 'जेन' है। उनके नैतिक सिद्धान्त का समुचित बोध मुख्यतः 'जेन' के निहितार्थ पर निर्भर करता है। अँगरेजी में 'जेन' के लिए कोई ऐसा समानार्थक शब्द नहीं मिलता जिससे हम इस शब्द की अर्थवत्ता से पूर्णतः अवगत हो सकें। कन्फ्यूशियस की सम्पूर्ण शिक्षाओं के सार-तत्त्व के दर्शन इस एक शब्द 'जेन' में ही किये जा सकते हैं। इस कठिन शब्द का निकटतम समानार्थक शब्द 'सामाजिक सदाचार' (Social Virtue) है। यह परोपकारिता, दानशीलता, उदारता, निष्कपटता, श्रद्धा, परहितवाद, अध्यवसाय, प्रेमपूर्ण सहृदयता तथा साधुवृत्ति-जैसे उन समस्त सद्गुणों का संयोजन है जो सामाजिक समस्वरता तथा शान्ति के लिए पुष्टिप्रद हैं।

कन्फ्यूशियस से एक शिष्य ने पूछा- "आदरणीय गुरुदेव, सामाजिक सद्गुण का संघटक तत्त्व क्या है?" कन्फ्यूशियस ने उत्तर दिया- "यह दूसरों के प्रति प्रेम है।" एक अन्य शिष्य ने पूछा- "गुरुदेव, क्या ऐसा कोई सिद्धान्त-वाक्य है जिसका अनुसरण हम आजीवन करते रहें?" कन्फ्यूशियस ने उत्तर दिया- "अपने प्रति अन्य लोगों के जिस व्यवहार को तुम अवांछित समझते हो, वह व्यवहार अन्य लोगों के प्रति मत करो।"

कन्फ्यूशियस का एक मुख्य शिष्य कहता है- "स्वयं के प्रति निष्ठा और अपने पड़ोसियों के प्रति दानशीलता - यह एकमात्र सिद्धान्त ही मेरे गुरु की शिक्षाओं का सार-तत्त्व है।"

कन्फ्यूशियस कहते हैं- "स्वर्ग के आदेश, महान् पुरुषों तथा सन्तों की सूक्तियों के प्रति श्रद्धायुक्त विस्मय सद्गुण-सम्पन्न व्यक्ति में विद्यमान रहते हैं। ईश्वर की पूजा के समय तुम्हें यह प्रतीत होना चाहिए कि वह तुम्हारे सम्मुख साक्षात् विद्यमान है।"

कन्फ्यूशियस की शिक्षा के अनुसार समस्त संसार तथा प्रत्येक व्यक्ति में सतत परिवर्तन हो रहा है एवं मानव जीवन का सर्वाधिक मूलभूत पक्ष विद्यमान यथार्थ है।

पति-पत्नी, माता-पिता तथा पुत्र, अग्रज-अनुज या मुख्यतः ज्येष्ठ-कनिष्ठ, शासक-शासित तथा मित्र-मित्र-कन्फ्यूशियस के अनुसार इन पाँच पारस्परिक सम्बन्धों की आधारशिला पर ही समाज का निर्माण हुआ था। किसी देश में स्वच्छ प्रशासन तभी सम्भव है, जब सभी दल इन सम्बन्धों की सम्पुष्टि के लिए अपना सम्यक् योगदान दें। "ताओ अर्थात् उपयुक्त तथा न्यायोचित मार्ग की सम्प्राप्ति तभी सम्भव है, जब पिता, पुत्र, प्रशासक तथा मन्त्री यथार्थ रूप में पिता, पुत्र, प्रशासक तथा मन्त्री हों।"

कन्फ्यूशियस चरित्र-निर्माण एवं मन तथा आचरण की शुद्धि पर अत्यधिक बल देते थे। वे लोगों को सर्वप्रथम सच्चरित्रता के विकास के लिए उत्प्रेरित करते थे जो एक अमूल्य रत्न तथा सर्वोत्तम गुण है।

कन्फ्यूशियस के अनुसार मानव-प्रकृति मूलतः शुद्ध है या शुद्धता की ओर उन्मुख है। विशुद्धि की पूर्णता के दर्शन मात्र साधु-सन्तों में ही सम्भव हैं। प्रत्येक मनुष्य को पवित्र जीवन, भव्य चरित्र एवं निस्स्वार्थ, निष्कपट तथा सत्यनिष्ठ कर्म के माध्यम से इस आदर्श की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। जो उत्तम चरित्र तथा दिव्य गुणों से अलंकृत है, वह चुन-जू (Cphun-Tzu) अर्थात् राजकुमार की कोटि का मनुष्य है। राजसी स्वभाव का व्यक्ति सद्‌गुणों के प्रति समर्पित होता है, जब कि निकृष्ट व्यक्ति भौतिक सुख-सुविधा के प्रति आकृष्ट होता है। राजसी स्वभाव वाले व्यक्ति के कार्य-कलाप न्याय-संगत होते हैं; किन्तु निकृष्ट व्यक्ति पुरस्कार तथा अनुग्रह की आशा करता है। राजसी स्वभाव का व्यक्ति गरिमायुक्त, श्रेष्ठ, उदार तथा विनम्र होता है, जब कि निकृष्ट व्यक्ति नीच, अहंकारी, कुटिल तथा उद्धत होता है।

'ग्रेट लर्निंग' नामक ग्रन्थ में कन्फ्यूशियस इस सोपानवत् प्रक्रिया को प्रस्तुत करते हैं जिसके माध्यम से आत्म-विकास की सम्प्राप्ति होती है और जिससे उत्प्रेरित हो कर यह सर्वसाधारण के जीवन में भी प्रवाहित होने लगता है। यह राज्य की सेवा तथा मनुष्य को कृतार्थ करता है। इस क्रम को कन्फ्यूशियस ने इस विधि से प्रस्तुत किया है-

१. प्राकृतिक दृश्य-प्रपंच का अनुसन्धान, २. पाण्डित्य, ३. निष्कपटता, ४. प्रयोजन की पवित्रता, ५. आत्म-विकास, ६. पारिवारिक अनुशासन, ७. स्वायत्त शासन तथा ८. सार्वभौम स्वायत्त शासन।

कन्फ्यूशियस कहते हैं- "प्राचीन मनीषियों ने समस्त साम्राज्य में प्रख्यात सद्‌गुणों के दृष्टान्त की प्रस्तुति के लिए सर्वप्रथम अपने राज्यों के हित-रक्षण पर बल दिया, अपने राज्यों के हित-रक्षण के लिए उन्होंने सर्वप्रथम अपने परिवारों का नियमन किया, अपने परिवारों के नियमन के लिए उन्होंने सर्वप्रथम स्वयं को परिष्कृत किया, आत्म-परिष्कार के लिए सर्वप्रथम उन्होंने अपने प्रयोजन को विशुद्ध किया, अपने प्रयोजन की विशुद्धि के लिए सर्वप्रथम उन्होंने निष्कपट चिन्तन किया और निष्कपट चिन्तन के लिए उन्होंने अपनी विद्वत्ता का आत्यन्तिक संवर्धन किया। ऐसा वे वस्तुओं के अनुसन्धान के माध्यम से ही कर सके।

"वस्तुओं के अनुसन्धान से उनका ज्ञान विस्तृत होता गया; उनके ज्ञान-विस्तार से उनके विचार निष्कपट हुए, उनके विचार की निष्कपटता से उनके प्रयोजन में आर्जव का समावेश हुआ, प्रयोजन में आर्जव के समावेश से उन्होंने स्वयं को परिष्कृत किया, आत्म-परिष्कार से उनके परिवारों का नियमन हुआ, इस पारिवारिक नियमन से उनके राज्यों को स्वच्छ प्रशासन मिला और राज्यों के स्वच्छ प्रशासन से समस्त साम्राज्य शान्त तथा समृद्ध हो गया।

"जीवन के विहित कर्मों के निष्पादन में सम्पूर्ण जीवन व्यतीत हो जाता है। एक भी स्खलन सम्पूर्ण कर्म के मार्ग में व्यतिरेक की सृष्टि कर देता है। साधु-वृत्ति केवल पवित्रता में निहित नहीं रहती। वस्तुतः यह समग्रता एवं सुनियोजित तथा निर्दोष जीवन-यापन की कला में निहित रहती है। इस विधि से वृद्धावस्था को प्राप्त व्यक्ति का जीवन सौन्दर्यमय हो जाता है।"

निष्कर्ष

कन्फ्यूशियस ने ई.पू. छठी शताब्दी को अमरत्व प्रदान कर दिया। वे एक जन्मजात जन-नेता थे। यदि परिस्थितियाँ अनुकूल रही होतीं, तो उनकी गणना संसार के महानतम शासकों में होती। उनका नैतिक बोध पूर्णरूपेण विकसित था और उनमें मानव जीवन में नैतिक गुणों के सर्वोच्च महत्त्व की गहन अनुभूति थी। उनकी महानता को अनेक शताब्दियों तक सार्वत्रिक मान्यता प्राप्त होती रही। विश्व के कोटि-कोटि लोग आज भी उनके प्रति अपना हार्दिक सम्मान प्रकट करते हैं।

कन्फ्यूशियस एक महान् चीनी उपदेशक तथा समाज-सुधारक थे। उनका युग अव्यवस्था, अशान्ति, असामंजस्य, मतभेद तथा सामन्ती युद्धों का युग था। उन्हें चीनी संस्कृति का जनक कहा जाता है। चीन के इतिहास को दिशा प्रदान करने में उनका योगदान स्तुत्य रहा है। उस देश के व्यष्टिगत या समष्टिगत जीवन में उनका प्रभाव आज भी एक मुख्य घटक के रूप में विद्यमान है।

पुराकालीनता के एक परिश्रमी विद्यार्थी के रूप में वे अप्रतिम थे। उन्होंने अपने विषय में कहा है कि उनका जन्म एक अज्ञानी के रूप में हुआ था। उन्हें ज्ञान की प्राप्ति अतीत के दिव्य सम्पर्क के कारण हुई।

कन्फ्यूशियस एक प्रभावशाली तथा प्रीतिकर व्यक्तित्व के स्वामी थे। वे चौबीस सौ वर्षों तक अपने राष्ट्र के विद्वानों तथा चिन्तकों के लिए एक प्रतिमान तथा प्रेरणा बने रहे। उनकी वेदिका पर प्रायः इन शब्दों के दर्शन होते हैं- "एक सहस्र पीढ़ियों के शिक्षक।" निःसन्देह वे इस प्रशस्ति के वास्तविक अधिकारी हैं।

कन्फ्यूशियस के सम्बन्ध में लिखे गये एक लोकप्रिय इतिहास के अन्त में निम्नांकित पंक्तियाँ उल्लिखित हैं-

कन्फ्यूशियस ! कन्फ्यूशियस ! कितना महान् था कन्फ्यूशियस !
उसके समक्ष कोई कन्फ्यूशियस नहीं था।
उसके पश्चात् किसी कन्फ्यूशियस का आविर्भाव नहीं हुआ।
कन्फ्यूशियस ! कन्फ्यूशियस ! कितना महान् था कन्फ्यूशियस !

कन्फ्यूशियस का स्मरण आज भी कोटि-कोटि जन श्रद्धा तथा सम्मान के साथ करते हैं। चीन के लोगों का अधिकांश आज भी कन्फ्यूशियस के मत के प्रति आस्थावान् है।

उस महान् नैतिकतावादी, राजनयिक तथा समाज-सुधारक कन्फ्यूशियस की महिमा स्तुत्य है।

ईसामसीह

ईसामसीह (Jesus) एक फिलस्तीनी यहूदी थे। उनका जन्म बेतलहम (Bethlehem) में हुआ था और वे मरियम (Mary) तथा यूसुफ (Joseph) के पुत्र थे। एक निष्पाप तथा निष्कलंक अवधारणा से प्रसूत ईसामसीह के जन्म-ग्रहण के लिए उनकी माता मरियम को गर्भ धारण नहीं करना पड़ा था। वे अत्यन्त विनम्र थे। वे आजीवन एक बालक की भाँति अबोध तथा निष्कपट बने रहे। वे सहिष्णु तथा दयालु थे। उन्होंने अपने उपदेशों से फिलस्तीन को उपकृत किया; किन्तु वस्तुतः वे पूर्व के योगी थे।

ईसामसीह ने पापियों, तिरस्कृत व्यक्तियों तथा वेश्याओं तक का स्वागत किया और अपने प्रेम-पाश में आबद्ध कर उन्हें विशुद्ध कर दिया। उन्होंने उन्हें सान्त्वना तथा शान्ति प्रदान की, पतित जनों को ऊपर उठाया तथा जो लोग भग्न-हृदय थे, उनके दुःखों को उपशमित किया।

ईसामसीह कहते थे- "जब तक तुम एक बालक की भाँति अबोध तथा

निश्छल नहीं हो जाते, तब तक ईश्वर के राज्य में तुम्हारा प्रवेश वर्जित रहेगा।" उनके अनुसार ईश्वर वात्सल्यपूर्ण पिता है। 'ईश्वर तथा पड़ोसी के प्रति प्रेम' ईसामसीह का आदर्श वाक्य था।

"ईश्वर के प्रति आस्थावान् बनो। ईश्वर हमारा प्रभु है। तुम अपने सम्पूर्ण हृदय, अपने सम्पूर्ण मन, अपनी सम्पूर्ण आत्मा तथा अपनी सम्पूर्ण शक्ति से ईश्वर से अनन्य प्रेम करो। तुम अपने समीपवर्ती व्यक्तियों से आत्मवत् प्रेम करो। ईश्वर के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति मनुष्य के प्रति प्रेम में होती है।" यह ईसामसीह की केन्द्रीय शिक्षा है।

ईसामसीह एक जगद्गुरु, पैगम्बर तथा मसीहा थे। उनका 'शैलोपदेश' (Sermon on the Mount) सदाचार या सम्यक् आचार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यह राजयोग के यम-नियम एवं भगवान् बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग के अनुरूप है।

ईसामसीह ने अन्तिम रात्रि-भोज (Last Supper) के समय अपने शिष्यों का चरण-प्रक्षालन किया। कितने विनम्र थे वे ! वे कहते हैं- "वे धन्य हैं जो विनम्र हैं; क्योंकि उन्हें पृथ्वी का उत्तराधिकार प्राप्त होगा।

महाराजा युधिष्ठिर द्वारा अनुष्ठित राजसूय यज्ञ में भगवान् कृष्ण ने भी अतिथियों का पद-प्रक्षालन किया था। ऐसे कर्म अवतारों या शक्तिमान् आत्माओं द्वारा ही निष्पादित हुआ करते हैं। क्या उन महान् व्यक्तियों से आपको शिक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिए? महाबली त्रिलोकाधिपति भगवान् कृष्ण को अतिथियों के चरण-प्रक्षालन से आनन्द प्राप्त हुआ था। क्या आपको विनम्र नहीं होना चाहिए? आप लोगों का हृदय दम्भ तथा अहंकार से किस सीमा तक दूषित हो गया है! जब आपको किंचित् धन, एक कार या नगण्य भू-सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है, तब आप दर्प या अभिमान से मदोन्मत्त हो उठते हैं। इस स्थिति में आप स्वयं को एक शक्तिशाली सम्राट् समझने लगते हैं, आपके पद-प्रक्षेपण में औद्धत्य के दर्शन होने लगते हैं और लोगों के प्रति आपके व्यवहार में तिरस्कार तथा अवज्ञा का समावेश हो जाता है। आप अपने व्यक्तित्व तथा अपनी अवस्थिति को आवश्यकता से अधिक महत्त्वपूर्ण समझने लगते हैं। वस्तुतः आपके पदाधिकार ने आपके अन्दर दास-मनोवृत्ति की सृष्टि कर दी है और आप अपनी पद-च्युति की आशंका के कारण सर्वदा भयग्रस्त रहते हैं।

ईसामसीह यह सन्देश सर्वदा देते रहे- "अपने पड़ोसियों को आत्मवत् प्यार करो।" उन्होंने कहा- "स्वर्ग का राज्य तुम्हारे अन्दर ही है। जिस प्रकार परमेश्वर की इच्छाओं की पूर्ति स्वर्ग में होती है, उसी प्रकार इनकी पूर्ति धरती पर भी हो। चिन्ता मत करो। सर्वप्रथम तुम उसके राज्य की खोज करो। इसके पश्चात् तुमको सब-कुछ प्राप्त हो जायेगा।" लोगों के अनुगमन के लिए वे सन्मार्ग, सत्य तथा प्रकाश थे।

ईसामसीह ने ईश्वर के राज्य में प्रवेश के लिए ईश्वर तथा पड़ोसियों के प्रति प्रेम तथा पश्चात्ताप की आवश्यकता या हृदय-परिवर्तन पर अधिक बल दिया। उन्होंने लोगों को भूखों को भोजन तथा वस्त्रहीनों को वस्त्र देने के लिए अनुदेशित किया। उन्होंने कहा कि ईश्वर की क्षमा-प्राप्ति के लिए पश्चात्तापपूर्ण हृदय आवश्यक है।

"ईश्वर का राज्य तुम्हारे अन्दर है। उसकी खोज करो। वह तुम्हें अवश्य प्राप्त होगा। उसके द्वार को खटखटाओ, तो वह तुम्हारे लिए खोला जायेगा।" इसी आधार-शिला पर ईसामसीह की आचार संहिता अवस्थित है।

इस राज्य की सम्प्राप्ति के लिए ईसामसीह ने माध्यम के रूप में प्रार्थना की संस्तुति की। उन्होंने कहा- "जब तुम बुरे हो कर अपने बच्चों को अच्छी वस्तुएँ देना जानते हो, तो तुम्हारा स्वर्गीय पिता अपने माँगने वालों को अच्छी वस्तुएँ क्यों नहीं देगा?"

ईसामसीह ने कहा- "तुमने प्राचीन मनीषियों की यह बात सुनी है, 'तुम किसी की हत्या न करना और जो कोई भी हत्या करेगा, उसे दैवी न्याय का कोप-भाजन होना पड़ेगा'; किन्तु मैं कहता हूँ कि जो कोई अपने भाई पर क्रोध करेगा, उसे दैवी न्याय का कोप-भाजन होना पड़ेगा।"

'शैलोपदेश' में उन्होंने कहा- "धन्य हैं वे जो धर्म के लिए क्षुधा तथा तृषा सहन करते हैं, क्योंकि वे तृप्त किये जायेंगे। जो लोग ईश्वर के राज्य की खोज अपने अन्तर में करते हैं, वे ईश्वर को प्राप्त कर लेंगे और इस प्रकार उन्हें अन्य सभी वस्तुएँ भी प्राप्त हो जायेंगी।"

"शुभ से अशुभ को पराजित करो।" ईसामसीह ने अपने शिष्यों तथा संसार के अन्य लोगों के समक्ष इस महान् व्रत या विधान को प्रस्तुत किया। यह एकमात्र अहिंसा की साधना है जिससे हृदय पवित्र तथा कोमल होता है। अहिंसा सत्य का रूपान्तरण मात्र है।

बपतिस्मा-ग्रहण के पश्चात् ईसामसीह मृत सागर के पार के अरण्य की ओर चले गये। वे तेरह वर्ष की आयु में अन्तर्धान हुए थे और उनका पुनः आगमन उस समय हुआ जब उनकी आयु इकतीस वर्ष की हो चुकी थी। इस अवधि में उन्होंने भारत में योग-साधन की। इसके पश्चात् उन्होंने दो-तीन वर्षों तक उपदेश दिया और सर्वातीत परम सत्ता में विलीन हो गये।

ईसामसीह यरूसलेम (Jerusalem) के परित्याग के पश्चात् श्रेष्ठियों के एक सार्थ में सम्मिलित हो कर सिन्ध नदी के तट पर पहुँचे। उन्होंने वाराणसी, राजगृह तथा भारत के अन्य नगरों की यात्राएँ कीं। हिन्दुस्तान में उन्होंने अनेक वर्ष व्यतीत किये। ईसामसीह यहाँ एक हिन्दू या बौद्ध भिक्षु की भाँति रहे। इस अवधि में उनका जीवन ज्वलन्त त्याग तथा अनासक्ति से आप्लावित रहा। उन्होंने हिन्दू-धर्म के आदर्शों, अनुदेशों तथा सिद्धान्तों को एकीकृत किया। ईसाइयत मात्र संशोधित हिन्दुत्व है जो ईसामसीह के समकालीन जन-समुदाय के अनुकूल था। ईसामसीह वस्तुतः भारतभूमि की ही उपज थे। इसी कारण उनके उपदेशों और हिन्दू-धर्म तथा बौद्ध-धर्म के उपदेशों में इतना अधिक सादृश्य है।

ईसामसीह ने इस धरती पर दिव्य तथा पूर्ण प्रेम का उपदेश दिया। वे दानशीलता तथा उदारता के प्रशस्ति-गायन में सहस्रमुख हो जाते थे। वे कहा करते थे- "ग्रहण की अपेक्षा दान अधिक स्तुत्य एवं पुण्यप्रद है। अपने हृदय के सर्वोत्तम कोष को अर्पित कर दो। निर्मल प्रकृति से शिक्षा ग्रहण करो। अपना प्रेम दे कर प्रत्युत्तर में किसी भी वस्तु की माँग मत करो। प्रति-उपकार की आशा मत करो। अपने सीमित भण्डार से तुम जितना अधिक व्यय करोगे, उतना ही अधिक तुम्हें प्रभु से प्राप्त होगा। वह तुम्हें दूनी राशि प्रदान करेगा।"

ईसामसीह कहते थे- "स्वर्ग का राज्य किसी खेत में छिपे हुए धन की भाँति है जिसे किसी व्यक्ति ने पा कर छिपा दिया है। उसने अपना सब-कुछ बेच कर उस खेत को मोल ले लिया।"

ईसामसीह को सलीब पर टाँग कर उनके शरीर में कीलें ठोंक दी गयीं और इस प्रकार उनका देहान्त हो गया; किन्तु वे अभी भी जीवित हैं। उन्होंने अपने नाम को अमर कर दिया है। उनके स्वरों को प्रतिबन्धित नहीं किया जा सकता। वे शताब्दियों से मुखर होते आ रहे हैं। उनका कहना था- "अपना सर्वस्व बेच कर तथा उसे निर्धनों में

वितरित कर के स्वर्ग के राज्य में प्रविष्ट हो जाओ।" लोग उनके सन्देश के अनुरूप आचरण में असमर्थ रहे; किन्तु उनके स्वरों से धरती-आकाश आज भी गूंजित हैं।

ईसामसीह एक पूर्ण योगी थे। उन्होंने अनेक चमत्कारों का प्रदर्शन किया। उन्होंने समुद्र की तरंगों की गति अवरुद्ध कर दी। उन्होंने अन्धों को नेत्र दान दिया, कुष्ठग्रस्त रोगियों को स्पर्शमात्र से रोगमुक्त कर दिया और रोटी के एक टुकड़े मात्र से बड़ी भीड़ की क्षुधा को शान्त कर दिया।

भगवान् ईसामसीह को सलीब पर लटका दिया गया और उन्होंने मृत्यु को इसलिए आनन्दपूर्वक स्वीकार कर लिया कि अन्य लोग जीवित रह सकें। कितने महान् तथा उदारचेता थे वे ! अपने बच्चों के लिए उन्होंने मृत्यु का सहर्ष आलिंगन करना सीख लिया था। उनके अन्तिम शब्द विश्व के लिए एक दृष्टान्त बन गये हैं। उन्होंने कहा- "हे प्रभो! जो लोग मुझे यन्त्रणा दे कर मृत्यु-दण्ड दे रहे हैं, उन्हें क्षमा कर देना; क्योंकि उन्हें यह ज्ञात नहीं है कि वे क्या कर रहे हैं।" कितने भव्य, कितने उदात्त थे उनके ये अन्तिम शब्द ! उनके हाथों को सलीब से बाँध दिया गया था और उनमें कीलें ठोंक दी गयी थीं। इस स्थिति में भी उन्होंने उन लोगों के लिए ईश्वर से प्रार्थना की जो उनको उत्पीड़ित कर रहे थे। उनका हृदय कितना विशाल तथा क्षमाशील था! ईसामसीह क्षमाशीलता की प्रतिमूर्ति थे। यही कारण है कि वे आज भी हमारे हृदय में विद्यमान हैं और कोटि-कोटि लोग उनकी उपासना करते हैं।

शुभ से अशुभ की विजय के लिए उन्होंने लोगों के समक्ष एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया। ईसामसीह का सलीब उनके इस सिद्धान्त के सर्वोच्च दृष्टान्त के रूप में सर्वदा अमर रहेगा कि 'अशुभ के प्रत्युत्तर में शुभ दो।' ईसामसीह ने स्वयं को ईश्वर को पूर्णतः समर्पित कर दिया था। वे इस सत्य से परिचित थे कि ईश्वर सदाचारी व्यक्तियों के दुःख-भोग के माध्यम से दुराचारी व्यक्तियों का हृदय-परिवर्तन कर देता है।

सलीब पर हुई मृत्यु के पश्चात् वे पुनर्जीवित हो गये। ईसामसीह के अनुसार पुनरुत्थान या मृतक का पुनर्जीवित हो जाना वह अनिर्वचनीय स्थिति है जिसमें समस्त दैहिक सीमाओं का अतिक्रमण हो जाता है। यह ईश्वर के सम्मुख अनन्त काल तक उपस्थिति की दशा है। ईसामसीह एक सिद्ध योगी और सन्त थे। भौतिक शरीर से उनका तादात्म्य नहीं था। उन्होंने स्वयं को परमात्मा के साथ एकात्म कर लिया था। उनका कहना था- "मैं तथा मेरे पिता एक हैं।"

क्रिसमस (ईसा-जयन्ती) की वास्तविक अर्थवत्ता

क्रिसमस का नामकरण ईसामसीह के नाम के आधार पर हुआ था। यह भगवान् ईसामसीह का जन्म-दिवस है जो पूर्व के योगी तथा मानवता के मुक्तिदाता थे। उनका जन्म बेतलहम के एक अस्तबल में मरियम तथा यूसुफ नामक एक नगण्य काष्ठकार दम्पति की सन्तान के रूप में हुआ था। मरियम तथा यूसुफ ने उस अस्तबल को शान्ति के राजकुमार ईसामसीह का निवास-स्थान बना दिया। ईसामसीह का जन्म-दिन पवित्र क्रिसमस के रूप में समस्त संसार में मनाया जाता है।

भगवान् ईसामसीह दया, प्रेम तथा विनम्रता की प्रतिमूर्ति थे। वे अहिंसा एवं शान्ति के सन्देश-वाहक थे। उन्हें सलीब पर मृत्यु दण्ड दे दिया गया था; किन्तु उनकी वाणी शताब्दियों से मुखर होती आ रही है।

क्रिसमस का सन्देश वैश्व प्रेम का सन्देश है। यह सन्देश दैवी महिमा तथा गौरवमयी दीप्ति का सन्देश है। क्रिसमस का सन्देश सभी राष्ट्रों के बीच शान्ति तथा सद्भावना का सन्देश है।

क्रिसमस हर्ष तथा आनन्दोत्सव के अतिरिक्त एक अन्य दृष्टिकोण से भी महत्त्वपूर्ण है। यह ईसामसीह की संचेतना या वैश्व चेतना के अधिगम का दिन है। यह भगवान् ईसामसीह के उदात्त कर्मों तथा पुरातन शुचिता से ओत-प्रोत

उनके पवित्र जीवन के स्मरण का दिन है। क्रिसमस आता-जाता रहता है; किन्तु क्रिसमस की अर्थवत्ता आप सब लोगों में सदैव विद्यमान रहनी चाहिए।

क्रिसमस किसी भी दृष्टि से आमोद-प्रमोद नहीं है। घण्टे बजाने, गीत गाने, उपहारों के आदान-प्रदान, क्रिसमस-पत्रों, व्यंजन-बोझिल भोजों तथा केक-भक्षण में क्रिसमस की सार्थकता निहित नहीं है।

क्रिसमस आध्यात्मिक जागरण की मनः स्थिति है। अपने अन्तर में स्वर्ग के राज्य की विद्यमानता की अनुभूति, अपने हृदय-कक्ष में प्रभु का सामीप्य, अपने विलुप्त देवत्व की पुनः सम्प्राप्ति, ईसा की संचेतना अर्थात् वैश्व चेतना की उपलब्धि, सबके प्रति प्रेम तथा सब लोगों का अपने प्रेम-पाश में आलिंगन ही यथार्थ क्रिसमस है।

ईसामसीह की दिव्य मनीषा का पूर्णरूपेण अनुभव कीजिए। ईसामसीह के पद-चिह्नों का अनुसरण कीजिए। ईसामसीह के हृदय की अगाध गहराई में प्रवेश कीजिए। अपने दैनिक जीवन में प्रेम, आनन्द तथा शान्ति की अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्नशील रहिए। ईसामसीह के प्रेम तथा बलिदान को हृदयंगम कीजिए। अपने अन्तर में गुप्त, ईसामसीह को अभिव्यक्त कीजिए। 'शैलोपदेश' में निहित सन्देश का अनुसरण कीजिए। स्वयं को ईश्वरीय चेतना से सम्बद्ध कीजिए। ईसामसीह के उपदेशों में निहित मन्तव्यों का अनुसरण कीजिए। तुच्छ दर्प में लिप्त अपने व्यक्तित्व का विध्वंस कीजिए एवं स्वयं को ईसामसीह अर्थात् वैश्व आत्मा में समाहित कर दीजिए। यही यथार्थ क्रिसमस है।

ईश्वर के राज्य में प्रवेश के लिए सभी इच्छुक हैं; किन्तु आपमें से कितने लोगों के पास ईसामसीह की चेतना है? आप लोगों में कितने लोग विशुद्ध क्रिश्चियन हैं? आप लोगों में कितने लोग ऐसे हैं जो ईसामसीह के उपदेशों, निर्देशों तथा सिद्धान्तों का अनुगमन करते हैं? आप लोगों में उन लोगों की संख्या कितनी है जो अपने पड़ोसियों से आत्मवत् प्रेम करते हैं? जो लोग आन्तरिक शुचिता, विनम्रता, वैश्व प्रेम, उदारता तथा उदात्तता से समृद्ध हैं, वही लोग ईश्वर के राज्य अर्थात् सर्वोच्च शान्ति तथा अमरत्व के अधिकारी हैं।

हम लोगों में से अधिकांश में ईसामसीह की आन्तरिक चेतना का सर्वथा अभाव है। ईसामसीह के प्रेम की अपरिहार्य आवश्यकता है। प्रेम, दया तथा शुचिता के अभाव में क्रिसमस की उपयोगिता ही क्या है? प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ोसी का शोषण करना चाहता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के विनाश के लिए लालायित है। क्या यही क्रिसमस है? क्या यही ईसामसीह की शिक्षा है?

यथार्थ क्रिसमस में आवागमन की प्रक्रिया नहीं है। यह शाश्वत है। क्रिसमस के अभिप्राय से केवल एक दिन परिचित न हो कर वर्ष-भर परिचित रहिए। ईसामसीह के वास्तविक अनुयायी तथा आग्रहशील आकांक्षी के लिए प्रत्येक दिन क्रिसमस है।

गुरु नानक

जन्म

जब पृथ्वी पर कोई घोर विपत्ति आती है, जब धर्म का क्षय होने लगता है, जब धरती अत्याचार तथा दुर्व्यवस्था से ग्रस्त हो जाती है और जब ईश्वर के प्रति लोगों की आस्था में ह्रास होने लगता है, तब पवित्र ग्रन्थों के प्रणयन, धर्म की रक्षा, अधर्म के विनाश तथा लोगों के मन में ईश्वर के प्रति श्रद्धा के पुनर्जागरण के लिए समय-समय पर महान् पुरुष अवतरित हुआ करते हैं। भारत अधोगति को प्राप्त हो चुका था। बाबर ने भारत पर आक्रमण कर दिया था और

उसकी सेनाओं ने अनेक नगरों को लूट लिया था। बन्दी साधु-सन्तों को कठोर परिश्रम करने के लिए विवश किया जाता था। प्रत्येक स्थान पर अन्धाधुन्ध हत्याएँ हो रही थीं। राजा रक्त-पिपासु, निर्दयी तथा अत्याचारी हो गये थे। यथार्थ धर्म कहीं नहीं था। धार्मिक उत्पीड़न अबाध गति से चल रहा था। कर्मकाण्ड ने धर्म के यथार्थ स्वरूप को विकृत कर दिया था। लोगों के हृदय में असत्, कुटिलता, स्वार्थ तथा लोभ का समावेश हो चुका था। ऐसे समय में संसार में गुरु नानक का आगमन शान्ति, एकता, प्रेम तथा ईश्वर-भक्ति के सन्देश-वाहक के रूप में हुआ। उनका आगमन उस समय हुआ जब हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे के विरुद्ध संघर्षरत थे और वास्तविक धर्म का स्थान अर्थहीन अनुष्ठानों तथा मिथ्याडम्बरों ने ग्रहण कर लिया था। ऐसी परिस्थिति में उनका आगमन शान्ति, भ्रातृत्व अर्थात् मानवता की एकता, प्रेम तथा बलिदान के उपदेशों का प्रचार-प्रसार करने के लिए हुआ।

खत्री रहस्यवादी, कवि तथा सिख धर्म के संस्थापक नानक का जन्म सन् १४६९ में पंजाब के लाहौर जनपद में रावी-तट पर स्थित तलवन्डी ग्राम में हुआ। जिस घर में नानक का जन्म हुआ था, उसके एक पार्श्व में आज वह वेदिका अवस्थित है जिसे ननकाना साहब के नाम से जाना जाता है। नानक पंजाब तथा सिन्ध के धर्मगुरु के रूप में प्रसिद्ध हैं। नानक के पिता मेहता कालूचन्द थे जिन्हें लोग कालू कहा करते थे और जो गाँव के लेखपाल थे। वे कृषक भी थे। तृप्ता उनकी माता थीं। बाल्यावस्था से ही नानक रहस्यवादी मनोवृत्ति के थे और साधु-सन्तों से ईश्वर के सम्बन्ध में बातें किया करते थे। उनका मस्तिष्क मननशील और स्वभाव धर्मपरायण था। वे अपना समय ध्यान तथा आध्यात्मिक साधनाओं में व्यतीत करते थे। वे स्वभावतः एक गम्भीर प्रकृति के व्यक्ति थे। वे बहुत कम मात्रा में भोजन ग्रहण किया करते थे।

नानक की शिक्षा

सात वर्ष की आयु में उन्हें गोपाल पान्धा के पास हिन्दी पढ़ने के लिए भेजा गया। उनके शिक्षक ने उनसे एक पुस्तक पढ़ने के लिए कहा। नानक ने कहा- "ईश्वरीय ज्ञान के अभाव में इन सारी वस्तुओं की ज्ञान-प्राप्ति से क्या लाभ है?" तब शिक्षक ने उनके लिए एक काष्ठ-पट्टिका पर हिन्दी की वर्णमाला लिख दी। नानक ने शिक्षक से कहा- "महोदय, मुझे आप यह बताने की कृपा करें कि आपने कितनी पुस्तकों का अध्ययन किया है? आपके ज्ञान का विस्तार किस सीमा तक हो पाया है?" गोपाल पान्धा ने उत्तर दिया- "मुझे गणित तथा दुकानदारी के लिए आवश्यक हिसाब-किताब का ज्ञान है।" नानक ने कहा- "यह ज्ञान आपकी मुक्ति-प्राप्ति में किसी भी रूप में सहायक सिद्ध नहीं होगा।" बालक के इन शब्दों से शिक्षक आश्चर्यचकित रह गया। उसने उनसे कहा- "नानक, मुझे कोई ऐसा उपाय बताओ जो मुक्ति-प्राप्ति में मेरे लिए सहायक हो सके।" नानक ने कहा- "गुरुदेव, सांसारिक प्रेम को विदग्ध कर इसकी भस्म को मसि तथा अपनी बुद्धि को उत्तम लेखन-पत्र में परिणत कर लीजिए। इसके पश्चात् ईश्वर-प्रेम को अपनी लेखनी तथा अपने हृदय को लेखक का रूप प्रदान कर अपने गुरु के अनुदेशन में लेखन तथा ध्यान किया कीजिए। ईश्वर के नाम तथा उसकी प्रशस्ति को लिपिबद्ध कीजिए। यह भी लिखिए, 'वह किसी भी पार्श्व से सीमित नहीं है।' गुरुदेव, आप अपने लेखन-कर्म में इन्हीं सब बातों को स्थान दीजिए।" उनकी इन बातों से शिक्षक स्तब्ध रह गया।

इसके पश्चात् कालू ने अपने पुत्र को पण्डित बृजनाथ के पास संस्कृत पढ़ने के लिए भेजा। पण्डित ने उनके समक्ष लिखा- 'ॐ'। नानक ने उनसे 'ॐ' शब्द का अर्थ पूछा। शिक्षक ने उत्तर दिया- "तुम्हें अभी 'ॐ' शब्द के अर्थ से परिचित होने की आवश्यकता नहीं है। मैं तुम्हारे समक्ष इसके अर्थ की व्याख्या में असमर्थ हूँ।" नानक ने कहा- "गुरुदेव, बिना अर्थज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता ही क्या है? मैं 'ॐ' के अर्थ को स्पष्ट करूँगा।" इसके पश्चात् नानक ने 'ॐ' के महत्त्व की विस्तृत व्याख्या की। शिक्षक इसे सुन कर आश्चर्य चकित रह गया।

नानक का व्यवसाय

कालू ने नानक को सांसारिकता की ओर अभिमुख करने के लिए अथक प्रयास किये। उन्होंने नानक को कृषि-कर्म में प्रयुक्त किया; किन्तु नानक का ध्यान इस दिशा में अल्प मात्रा में भी आकर्षित न हो सका। खेतों में भी वे ध्यान-मग्न हो जाया करते थे। वे पशुओं को गोचर भूमि में ले जाते थे; किन्तु उनका मन भगवद्भक्ति पर ही केन्द्रित रहता था। एक बार उनके पशु एक पड़ोसी के खेत में प्रविष्ट हो गये। कालू ने उनके इस आलस्य के लिए उनकी भर्त्सना की। नानक ने कहा- "मैं आलसी नहीं हूँ। मैं अपने निजी खेतों की रखवाली कर रहा हूँ।" कालू ने उनसे पूछा- "तुम्हारे खेत कहाँ हैं?" नानक ने उत्तर दिया- "मेरा शरीर खेत, मन हलवाहा, सम्यक् आचरण कृषि-कर्म, विनय सिंचाई का जल, हरि-नाम बीज, सन्तोष पटेला तथा विनम्रता इस खेत के परिरक्षणार्थ निर्मित बाड़ है। प्रेम तथा निष्ठा के माध्यम से इस खेत में बीज से प्रचुर मात्रा में उत्पादन होगा। धन्य है वह घर, जिसमें इस प्रकार के उत्पाद का संग्रहण होता है। महोदय, धन-सम्पत्ति परलोक में हमारे साथ नहीं जा सकेंगे। इसने समस्त संसार को सम्मोहित कर दिया है; किन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इसके प्रवंचक स्वरूप से भली विधि परिचित हैं।"

इसके पश्चात् कालू ने उन्हें दुकानदारी का कार्य-भार सौंप दिया। नानक ने उस दुकान के सारे सामान को साधुओं तथा निर्धनों में वितरित कर दिया। उनके पिता के घर या दुकान में उन्हें जो भी वस्तु प्राप्त होती, वे उसका दान कर देते। वे कहते थे- "मेरी दुकान देश-काल से निर्मित है जिसमें सत्य तथा आत्मानुशासन की सामग्री संग्रहीत है। मेरा व्यापारिक व्यवहार अपने ग्राहक साधु-महात्माओं से ही होता है जो निस्सन्देह अत्यन्त लाभप्रद है।"

जब नानक पन्दरह वर्ष के थे, तब उनके पिता ने उनको बीस रुपये देते हुए कहा- "नानक, बाजार में जा कर कुछ लाभप्रद वस्तुएँ खरीद लाओ।" कालू ने नानक के साथ अपने नौकर बाला को भी भेज दिया। नानक और बाला तलवन्डी से लगभग बीस मील दूर स्थित चूहड़ काना नामक गाँव में पहुँचे। वहाँ नानक की भेंट फकीरों के एक दल से हो गयी। उन्होंने मन-ही-मन सोचा- 'इस समय मुझे इन फकीरों को भोजन कराना चाहिए। मेरे लिए यह सर्वाधिक लाभप्रद सौदा होगा।' उन्होंने शीघ्र ही भोज्य पदार्थो का प्रबन्ध कर उनको विधिवत् भोजन कराया। इसके पश्चात् वे घर लौट आये। नौकर ने अपने स्वामी को उनके पुत्र के इस सौदे की सूचना दे दी। इससे क्षुब्ध हो कर कालू ने नानक के मुँह पर एक चपत लगा दी।

पिता ने सोचा कि नानक की रुचि गृह-कार्य में नहीं है। अतः उन्होंने नानक से कहा- "मेरे प्रिय पुत्र, अब तुम घोड़े पर सवार हो कर पर्यटन करते हुए कोई व्यवसाय करो। यह तुम्हारे स्वभाव के सर्वथा अनुरूप होगा।" नानक ने कहा- "पूज्य पिता जी, दिव्य ज्ञान ही मेरा व्यवसाय तथा मेरे शुभ कार्यों का प्राचुर्य ही मेरा लाभ है। इससे निश्चित रूप में ईश्वर-धाम में मेरा प्रवेश हो जायेगा।"

तब कालूचन्द ने नानक से कहा- "यदि व्यापार-व्यवसाय में तुम्हारी रुचि नहीं है, तो तुम किसी कार्यालय में काम करो।" नानक ने कहा- "मैं पहले से ही ईश्वर का दास हूँ। अपने प्रभु की सेवा में मैं निष्कपट भाव एवं पूर्ण मनोयोग से अपने कर्तव्य पालन के लिए सचेष्ट रहता हूँ। मैं उसके आदेश का पालन परोक्ष रूप से करता हूँ। मैं प्रभु की अथक तथा अविरत सेवा के पुरस्कार-स्वरूप उसके दैवी अनुग्रह का आकांक्षी हूँ।" यह सुन कर उनके पिता मौन हो गये और वहाँ से चले गये।

नानक का विवाह

गुरु नानक के केवल एक बहन थी जिसका नाम नानकी था। उसका विवाह जयराम से हुआ था जो नवाब दौलत खाँ लोधी का दीवान था। दौलत खाँ लोधी दिल्ली के तत्कालीन सम्राट् सुलतान बहलोल का सम्बन्धी था। कपूरथला के निकट सुलतानपुर में नवाब की सुविस्तृत जागीर थी। नानक की बहन के विवाह के पश्चात् शीघ्र ही नानक का भी विवाह हो गया। उनकी पत्नी का नाम सुलक्षणी था जो जनपद गुरदासपुर-स्थित बटाला के मुला नामक व्यक्ति की

पुत्री थी। विवाह तथा दो पुत्रों के जन्म के कारण नानक की आध्यात्मिक खोज के मार्ग में कोई भी व्यतिरेक उपस्थित नहीं हो सका। उस समय भी वे वनों में तथा एकान्त स्थानों पर जा कर ध्यान करते थे।

नानक नानकी तथा जयराम के लिए अत्यधिक प्रेम तथा सम्मान के पात्र थे। तलवन्डी का जमींदार राय बुलर भी उनका बहुत अधिक आदर करता था। राय बुलर तथा जयराम ने सोचा कि नानक को सुलतानपुर में किसी व्यवसाय में लगा देना चाहिए। जयराम नानक को नवाब के पास ले गये जिसने उन्हें अपने भण्डार-गृह का प्रभारी बना दिया। नानक ने अपने कर्तव्य का निर्वाह सन्तोषजनक रूप में किया। उनके कार्य से लोगों को अत्यन्त प्रसन्नता होती थी। उन दिनों वेतन मुद्रा के रूप में न मिल कर वस्तुओं के रूप में मिला करता था। इस प्रकार नानक को भी खाद्य-पदार्थ तथा अन्य वस्तुएँ मिला करती थीं। इनका अल्पांश अपने भरण-पोषण के लिए रख कर वे शेषांश को निर्धनों में वितरित कर दिया करते थे।

नानक के दो पुत्र (१४९४ ई. में जन्म-ग्रहण करने वाले श्रीचन्द तथा १४९७ ई. में जन्म-ग्रहण करने वाले लक्ष्मीचन्द) थे। श्रीचन्द ने संसार का परित्याग कर साधुओं के एक सम्प्रदाय की स्थापना की जिसे उदासी-सम्प्रदाय कहा जाता है। उनकी दाढ़ी तथा उनके शिर के केश लम्बे होते थे। उनके शरीर के किसी भी अंग पर उस्तरे का प्रयोग कठोरतापूर्वक वर्जित था। लक्ष्मीचन्द सांसारिक व्यक्ति थे जिनके दो पुत्र थे।

सेवा-मुक्त हो कर नानक ने अपनी सारी वस्तुएँ निर्धनों में वितरित कर दर्दी। फकीर का वेश धारण कर वे वन-वासी हो गये। उन्होंने कठोर तपस्या तथा गहन ध्यान की साधना की। ये समस्त विवरण सिखों की पवित्र पुस्तक आदि ग्रन्थ में संग्रहीत तथा परिरक्षित हैं।

उन्हीं दिनों मरदाना नामक एक चारण तलवन्डी से उनके पास आया और उनका भृत्य तथा निष्ठावान् भक्त हो गया। जब भी नानक अपने भजनों का सस्वर पाठ करते, वह उनके पास रहता। वह एक कुशल संगीतज्ञ था। वह नानक के साथ उनके भजनों की आवृत्ति किया करता था। चौंतीस वर्ष की आयु में नानक एक सर्वविदित उपदेशक हो गये। उनके उपदेश उनके आध्यात्मिक लक्ष्य से सम्बद्ध हुआ करते थे। सर्वसाधारण के मन पर उनके उपदेशों का गहन प्रभाव पड़ा। सुलतानपुर का परित्याग कर वे उत्तर भारत का भ्रमण करने लगे।

तलवन्डी का जमींदार राय बुलर अत्यधिक वृद्ध हो गया था। वह नानक का दर्शन करना चाहता था। अतः उसने नानक के पास अपना एक सन्देश-वाहक भेजा। नानक शीघ्र ही तलवन्डी पहुँचे, जहाँ वे राय बुलर के अतिरिक्त अपने माता-पिता तथा सम्बन्धियों से भी मिले। नानक के सभी सम्बन्धियों ने उनके साथ अपने सम्बन्धों की दुहाई दे कर उन्हें उनके लक्ष्य से विरत करने का प्रयास करते हुए उनसे सुखमय पारिवारिक जीवन व्यतीत करने का आग्रह किया। नानक ने कहा- "क्षमाशीलता मेरी माता, सन्तोष मेरा पिता, सत्य मेरा चाचा, प्रेम मेरा भाई, अनुराग मेरा चचेरा भाई, धृति मेरी पुत्री, शान्ति मेरी महिला सहचारिणी एवं बुद्धि मेरी सेविका है। मेरे परिवार का निर्माण इसी विधि से हुआ है जिसके सदस्य मेरे निष्ठावान् सहचर हैं। अखिल ब्रह्माण्ड का स्रष्टा अद्वितीय ईश्वर मेरा पति है। उसका परित्याग करने वाले को जन्म-मरण के चक्र में आबद्ध हो कर विविध रूपों में कष्ट भोगना होगा।"

बाबर गुरु नानक से अत्यन्त प्रभावित था। वह उनका बहुत अधिक आदर करता था। उसने उन्हें बहुमूल्य उपहार दिये। नानक ने इन्हें अस्वीकार कर उससे कहा कि वह एमिनाबाद के बन्दियों को मुक्त कर उन्हें उनकी सम्पत्ति लौटा दे। बाबर ने शीघ्र ही उनकी इच्छाओं की पूर्ति कर उनसे धार्मिक अनुदेशन की याचना की। गुरु नानक ने उससे कहा- "ईश्वर की उपासना करो, उसका नाम-जप करो, मद्य-पान तथा द्यूत-क्रीड़ा का परित्याग करो, सदाचारी बनो, साधु-सन्तों तथा धर्म-परायण व्यक्तियों का आदर-सत्कार करो, सबके प्रति दया का व्यवहार करो और विजित व्यक्तियों के प्रति सदय रहो।"

गुरु नानक का तप तथा ध्यान

ईश्वर के बोध की सम्यक् उपलब्धि के लिए नानक ने ध्यान की कठोर साधना की। वे सर्वदा गहन ध्यान की मनःस्थिति में रहते थे। उनमें शरीराध्यास नहीं रह गया था। उनके माता-पिता ने सोचा कि वे किसी रोग से गम्भीर रूप से ग्रस्त हो गये हैं। अतः उन्होंने उनके पास एक चिकित्सक को भेजा। नानक ने उससे कहा- "आप मेरे रोग के निदान तथा उसकी औषधि बताने के लिए आये हैं। आप मेरी नाड़ी देखिए। आप एक अबोध चिकित्सक हैं और आपको यह ज्ञात नहीं है कि रोग का सम्बन्ध मेरे मन से है। आप अपने घर जाइए। मैं ईश्वरोन्माद से ग्रस्त हूँ। मेरे रोग से कुछ ही लोग परिचित हैं। जिस भगवान् ने मुझे यह दुःख दिया है, वही इसका उपशमन भी करेगा। मुझे ईश्वर का पार्थक्य-दुःख है। मुझे मृत्यु-प्रदत्त कष्ट का अनुभव हो रहा है। हे अबोध चिकित्सक, आप मुझे कोई औषधि मत दीजिए। मुझे इस बात से दुःख की प्रतीति हो रही है कि मेरा शरीरान्त रोग से होगा। ईश्वर को विस्मृत कर मैं ऐन्द्रिय सुखों में लिप्त रहा। तभी मुझे यह कष्ट भोगना पड़ा। दुष्ट-हृदय को दण्ड दिया जाता है। यदि कोई व्यक्ति ईश्वर के नाम के एक अंश की भी आवृत्ति कर लेता है, तो उसका शरीर स्वर्ण-सदृश तथा उसकी आत्मा विशुद्ध हो जाती है। उसके सभी रोग-कष्ट विनष्ट हो जाते हैं। प्रभु के नाम स्मरण से नानक की भी रक्षा हो जायेगी। चिकित्सक महोदय, आप अब अपने घर जाइए। मेरे शाप के अधिकारी मत बनिए और मुझे अकेला छोड़ दीजिए।"

नानक ने कुछ दिनों तक के लिए अन्न-जल का परित्याग कर दिया। वे दिव्य मनन तथा ध्यान में पूर्णतः तल्लीन हो गये। उन्होंने पूर्णरूपेण मौन-व्रत धारण कर लिया। वे कई दिनों तक अरण्य-वास करते रहे।

नानक संसार में सत्तर वर्षों तक जीवित रहे। वे एक स्थान से दूसरे स्थान का भ्रमण करते रहे। वे पहले गुजराँवाला जनपद-स्थित सैयदपुर में गये और तत्पश्चात् उन्होंने कुरुक्षेत्र, हरिद्वार, वृन्दावन, वाराणसी, आगरा, कानपुर,अयोध्या, प्रयाग, पटना, राजगीर, गया तथा पूरी की यात्रा की। उनकी चार यात्राएँ बृहद् थीं। उन्होंने श्रीलंका, मयमार, मक्का तथा मदीना की भी यात्रा की। वे बंगाल, दक्षिण भारत, श्रीलंका, तुकी, अरब, बगदाद, काबुल, कन्धार तथा स्याम तक गये। उन्होंने पण्डितों तथा मुल्लाओं से वाद-विवाद किया। गया, हरिद्वार तथा अन्यान्य तीर्थ-स्थानों के पण्डों से शास्त्रार्थ किया। उन्होंने अनेक लोगों के अज्ञान तथा भ्रम का निराकरण किया। उन्होंने सब लोगों को धार्मिक जीवन-यापन, भ्रातृ-प्रेम तथा आतिथ्य-धर्म का उपदेश दिया। अपने उपदेश में उन्होंने कहा- "हरि-नाम-स्मरण करो। ईश्वर से प्रेम करो और उसके प्रति निष्ठावान् रहो। अपने पड़ोसियों की सेवा करो। ईश्वर ही हमारा सर्वस्व है। सर्वदा उसकी प्रार्थना करो और उससे तादात्म्य-जनित आनन्द प्राप्त करो।" लोगों के हृदय-परिवर्तन, उनके श्रद्धा-विश्वास की प्राप्ति एवं उनको सम्यक् आचार तथा भक्ति के मार्ग की ओर अभिमुख करने में नानक ने विशिष्ट सफलता अर्जित की। उन्होंने हिन्दू-मुसलिम एकता के लिए अत्यधिक प्रयत्न किया।

गुरु नानक मुलतान की ओर बढ़े। वे एक नदी के तट पर रुके। मुलतान सर्वदा से फकीरों का नगर रहा है। प्रह्लाद का जन्म मुलतान में ही हुआ था और शम्स तबरेज़ तथा मन्सूर की कर्म-भूमि भी यही नगर था। पीरों को गुरु नानक के मुलतान आगमन की सूचना प्राप्त हो गयी। उन्होंने उनके लिए दूध से लबालब भरा एक पात्र भेजा। गुरु नानक ने उस दुग्ध-पात्र में कुछ बताशे तथा उनके ऊपर एक फूल रख कर उसे लौटा दिया। मरदाना ने अपने स्वामी (नानक) से कहा कि दूध-जैसी वस्तु को न लौटा कर उसे ग्रहण कर लेना ही उचित होता है। गुरु नानक ने कहा- "देखो मरदाना, तुम बुद्ध हो। पीरों ने एक चाल चली थी। उन्होंने दूध मेरे पीने के लिए नहीं भेजा था। इसके अन्तर्गत एक गहन दर्शन निहित है जिसकी अर्थवत्ता अत्यन्त गम्भीर है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस तरह यह पात्र दूध से लबालब भरा है, उसी प्रकार मुलतान भी पीरों और फकीरों से भरा हुआ है और अब यहाँ अन्य किसी धर्मोपदेशक के लिए कोई स्थान नहीं है। मैंने प्रत्युत्तर में उन्हीं का अनुसरण किया है। मैंने उनसे कहा है कि जैसे दूध में बताशा घुल-मिल जाता है, वैसे ही मैं उनमें घुल-मिल जाऊँगा और दुग्ध-पात्र में रखे गये फूल की तरह उनके ऊपर आधिपत्य प्राप्त कर लूँगा।" तब पीर तथा फकीर गुरु नानक को देखने आये। नानक ने एक भजन गाया जिसे सुन

कर उन दम्भी तथा उद्धत पीरों को ज्ञान हुआ। उन्होंने विनम्र शब्दों में गुरु नानक से कहा - "आदरणीय गुरु, आप हम लोगों को क्षमा कीजिए। हम आत्माभिमान से ग्रस्त थे। कृपया हमें आध्यात्मिक उपदेश तथा आशीर्वाद दीजिए।" गुरु नानक ने उन्हें उपदेश तथा आशीर्वाद दिया।

दो चमत्कार

गुरु नानक की मक्का-यात्रा से दो विशिष्ट घटनाएँ जुड़ी हुई हैं। एक रात मक्का में जब नानक सो रहे थे, तब उनके पैर काबा की ओर हो गये थे। मुसलमान अपनी प्रार्थना के समय काबा की दिशा में नमन करते हैं। काजी रुकनुद्दीन ने नानक को इस स्थिति में देख कर उनसे क्रुद्ध स्वर में पूछा- "अरे विधर्मी, तुमने अपने पैर ईश्वर की दिशा में कर के उनका अनादर करने का दुस्साहस कैसे किया?" उसने नानक पर पदाघात भी कर दिया। नानक ने संयत हो कर कहा- "मैं थका हुआ हूँ। मेरे पैरों को आप स्वयं उस दिशा में मोड़ दीजिए जिधर ईश्वर का वास स्थान नहीं है।" काजी रुकनुद्दीन ने क्रोधित हो कर उनके पैरों को विपरित दिशा में मोड़ दिया। मसजिद में भी गति का संचार होने लगा। यह देख कर काजी स्तब्ध रह गया। तत्पश्चात् वह गुरु नानक की महिमा से परिचित हो गया।

१५२० ई. में गुरु नानक उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश के अटक जनपद-स्थित हसन अबदल गये। वहाँ वे एक पहाड़ी के अधोभाग में एक पीपल के वृक्ष की छाया में बैठ गये। पहाड़ी के ऊपर बली कन्धारी नामक एक मुसलिम सन्त रहता था। उन दिनों पहाड़ी के ऊपर एक निर्झर था जहाँ से मरदान पानी लाया करता था। गुरु नानक वहाँ अल्प अवधि में ही अत्यधिक जनप्रिय हो गये। उस मुसलिम सन्त के हृदय में नानक के प्रति ईर्ष्या जाग्रत हो ने उस मुसलिम सन्त के इस आचरण की सूचना गुरु नानक को दे दी। गुरु गयी। उसने मरदाना पर वहाँ से पानी ले जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। मरदाना नानक ने मरदाना से कहा- "मरदाना, तुम्हें भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर हम लोगों के लिए नीचे ही पानी भेज देगा।" पहाड़ी के ऊपर जो निर्झर था, वह शीघ्र ही सूख गया और पहाड़ी के जिस अधोभाग में नानक ठहरे थे, वहाँ एक निर्झर फूट निकला। इस पर सन्त क्रोधित हो गया। उसने पहाड़ी के ऊपर से नानक पर एक बड़ी चट्टान फेंकी जिसे नानक ने अपने खुले हाथ से रोक लिया। उस चट्टान पर आज भी उनके हाथ का चिह्न अंकित है। तत्पश्चात् वह सन्त गुरु नानक के पास आ कर उनके चरणों पर गिर पड़ा और उसने उनसे क्षमा-याचना की। गुरु नानक ने मुस्करा कर उस उद्धत सन्त को क्षमा प्रदान कर दी। वहाँ उस निर्झर के पार्श्व में अब एक सुन्दर गुरुद्वारा है जिसे पंजा साहब कहा जाता है।

गुरु नानक के उपदेश

गुरु नानक को इस सत्य की अनुभूति हो गयी थी कि हरि-नाम-स्मरण का स्थगन अनुचित है। इसे प्रत्येक साँस के साथ चलना चाहिए; क्योंकि किसी को यह ज्ञात नहीं है कि जो साँस भीतर गयी है, उसका प्रत्यावर्तन होगा कि नहीं होगा। नानक कहते हैं- "हम एक साँस के व्यक्ति हैं। मैं इससे दीर्घ कालावधि से परिचित नहीं हूँ।" गुरु नानक केवल उसी को यथार्थ सन्त कहते हैं जो प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ हरि-नाम-स्मरण करता है। यह आदर्श व्यवहार्य तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव है। वे लोगों से कहते हैं कि समय नष्ट न करके शीघ्रातिशीघ्र इसको (हरि-नाम-स्मरण को) प्रारम्भ कर देना चाहिए। उनका यह भी कहना है कि लक्ष्य प्राप्ति में व्यवधान उपस्थित करने वाले प्रजाति, वर्ण, जाति, मत या वर्ग नामक तत्त्व इस मार्ग में किसी अवरोध की सृष्टि नहीं करते। उन्होंने धर्मों के भ्रातृत्व के महान् सत्य का अनुभव कर लिया था। उन्होंने लोगों को मानव के सार्वभौमिक भ्रातृत्व तथा ईश्वर के पितृत्व का उपदेश दिया।

गुरु नानक एक सुधारक थे। उन्होंने सामाजिक भ्रष्टाचार की भर्त्सना की। उन्होंने रूढ़िवाद और कर्मकाण्ड का घोर विरोध तथा शान्ति और मानव-मानव के पारस्परिक प्रेम के सन्देश का प्रचार-प्रसार किया। उनका दृष्टिकोण

अत्यन्त उदार था। वे जातिगत नियमों का पालन नहीं करते थे। लोगों के अन्ध-विश्वास के निराकरण के लिए उन्होंने अधिकाधिक प्रयत्न किये। उन्होंने शुचिता, न्याय, भद्रता तथा ईश्वर के प्रति प्रेम के उपदेश दिये। उन्होंने नैतिक प्रदूषण के विनाश, ईश्वरोपासना में यथार्थ तत्त्व के सन्निवेश तथा धर्म और ईश्वर के प्रति वास्तविक श्रद्धा की सृष्टि के लिए अथक प्रयास किये। परमात्मा से आत्मा के तादात्म्य के माध्यम के रूप में हरि-नाम-संकीर्तन के समय उन्होंने गायन में संगीत के प्रचलन का प्रारम्भकिया। वे जहाँ-जहाँ जाते थे, मरदाना को साथ ले जाते थे जिससे वह उनके गायन के समय रेबेक (सारंगीनुमा वाद्य) बजा सके। वे कहते थे- "ईश्वर तथा मानवता की सेवा करो। केवल मानवता की सेवा से स्वर्ग में हमारा स्थान सुरक्षित हो जायेगा।" महिलाओं के प्रति गुरु नानक के हृदय में अत्यधिक आदर का भाव था। उन्होंने उनको सभी धार्मिक सभाओं तथा सम्मेलनों में सम्मिलित होने और ईश्वर के संकीर्तन की अनुमति प्रदान कर दी थी। धार्मिक समारोहों में उनको उनकी पूरी भागीदारी प्राप्त थी।

गुरु नानक स्पष्ट कहते हैं- "ईश्वर-धाम का मार्ग दीर्घ तथा श्रम-साध्य है। समृद्ध लोगों के लिए इसको लघु नहीं बनाया जा सकता। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को अनुशासन का पालन करना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति को मानवता की सेवा तथा नाम-स्मरण के माध्यम से अपने मन का शुद्धिकरण करना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी प्रतिवाद के ईश्वरेच्छा के अनुरूप जीवन व्यतीत करना चाहिए। ईश्वर की सम्प्राप्ति का मार्ग क्या है? इसका एक ही मार्ग है और वह यह है कि तुम अपनी इच्छा को उसकी इच्छा लिया था। उन्होंने लोगों को मानव के सार्वभौमिक भ्रातृत्व तथा ईश्वर के पितृत्व का उपदेश दिया।

गुरु नानक एक सुधारक थे। उन्होंने सामाजिक भ्रष्टाचार की भर्त्सना की। उन्होंने रूढ़िवाद और कर्मकाण्ड का घोर विरोध तथा शान्ति और मानव-मानव के पारस्परिक प्रेम के सन्देश का प्रचार-प्रसार किया। उनका दृष्टिकोण अत्यन्त उदार था। वे जातिगत नियमों का पालन नहीं करते थे। लोगों के अन्ध-विश्वास के निराकरण के लिए उन्होंने अधिकाधिक प्रयत्न किये। उन्होंने शुचिता, न्याय, भद्रता तथा ईश्वर के प्रति प्रेम के उपदेश दिये। उन्होंने नैतिक प्रदूषण के विनाश, ईश्वरोपासना में यथार्थ तत्त्व के सन्निवेश तथा धर्म और ईश्वर के प्रति वास्तविक श्रद्धा की सृष्टि के लिए अथक प्रयास किये। परमात्मा से आत्मा के तादात्म्य के माध्यम के रूप में हरि-नाम-संकीर्तन के समय उन्होंने गायन में संगीत के प्रचलन का प्रारम्भकिया। वे जहाँ-जहाँ जाते थे, मरदाना को साथ ले जाते थे जिससे वह उनके गायन के समय रेबेक (सारंगीनुमा वाद्य) बजा सके। वे कहते थे- "ईश्वर तथा मानवता की सेवा करो। केवल मानवता की सेवा से स्वर्ग में हमारा स्थान सुरक्षित हो जायेगा।" महिलाओं के प्रति गुरु नानक के हृदय में अत्यधिक आदर का भाव था। उन्होंने उनको सभी धार्मिक सभाओं तथा सम्मेलनों में सम्मिलित होने और ईश्वर के संकीर्तन की अनुमति प्रदान कर दी थी। धार्मिक समारोहों में उनको उनकी पूरी भागीदारी प्राप्त थी।

गुरु नानक स्पष्ट कहते हैं- "ईश्वर-धाम का मार्ग दीर्घ तथा श्रम-साध्य है। समृद्ध लोगों के लिए इसको लघु नहीं बनाया जा सकता। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को अनुशासन का पालन करना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति को मानवता की सेवा तथा नाम-स्मरण के माध्यम से अपने मन का शुद्धिकरण करना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी प्रतिवाद के ईश्वरेच्छा के अनुरूप जीवन व्यतीत करना चाहिए। ईश्वर की सम्प्राप्ति का मार्ग क्या है? इसका एक ही मार्ग है और वह यह है कि तुम अपनी इच्छा को उसकी इच्छा में परिणत कर उसके साथ सामंजस्य स्थापित कर लो। इसके लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है।" दैवी इच्छा को अपनी इच्छा में परिणत करने के प्रथम चरण की सम्प्राप्ति दैवी कृपा के लिए प्रार्थना- गुरु-प्रसाद के लिए अरदास के माध्यम से होती है। गुरु नानक प्रार्थना को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। वे कहते हैं कि दैवी कृपा के अभाव में मनुष्य द्वारा कुछ भी नहीं प्राप्त किया जा सकता। वे कहते हैं- "ईश्वर के समक्ष विनम्र हो कर जाओ। स्वयं को उसकी दया पर छोड़ दो। दम्भ, आत्म-प्रदर्शन तथा अहंकार का परित्याग करो। उसकी दयालुता तथा कृपा की भिक्षा की याचना करो। अपनी क्षमता, मनीषा तथा अपने सामर्थ्य के सम्बन्ध में कुछ भी मत सोचो। उसके प्रेम तथा उससे तादात्म्य की खोज में मृत्यु के लिए भी उद्यत रहो। जिस प्रकार

कोई स्त्री अपने पति से प्रेम करती है, उसी प्रकार तुम ईश्वर से प्रेम करो। उसके प्रति स्वयं को निस्संकोच भाव से पूर्णरूपेण अर्पित कर दो। तुम्हें दैवी कृपा तथा प्रेम की सम्प्राप्ति हो सकती है।"

नानक की रहस्यवादी कविताएँ 'जपुजी' में संकलित हैं। ब्राह्ममुहूर्त में इसे सभी सिख गाते हैं। 'सोहिला' सान्ध्य-प्रार्थनाओं का संकलन है। शाश्वत आनन्द के परम धाम में पहुँचने के लिए मनुष्य को जिन चरणों को पार करना पड़ता है, उनका 'जपुजी' में नानक ने संक्षिप्त और जीवन्त वर्णन किया है। इन चरणों अर्थात् खण्डों की संख्या पाँच है। प्रथम खण्ड को धर्म खण्ड (कर्तव्य का परिमण्डल) कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्य का पालन समुचित रीति से करना चाहिए। उसे धर्म-परायणता के मार्ग का अनुगमन करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्मानुसार न्याय प्राप्त होगा।

द्वितीय चरण ज्ञान खण्ड या ज्ञान का परिमण्डल है जहाँ दिव्य ज्ञान-तत्त्व का आधिपत्य है। यहाँ साधक को आत्यन्तिक श्रद्धा तथा निष्कपट भाव से अपना कर्तव्य-पालन करना होता है। उसे इस सत्य का बोध हो जाता है कि केवल समुचित विधि से कर्तव्य-पालन के माध्यम से ही शाश्वत आनन्द के धाम अर्थात् जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है।

तृतीय खण्ड को 'शरम खण्ड' अर्थात् आनन्दातिरेक का परिमण्डल कहते हैं। यहाँ आध्यात्मिक हर्षोल्लास तथा सौन्दर्य है। यहाँ धर्म मानव-प्रकृति में घुल-मिल कर उसका एक अंग हो जाता है। यह उसके स्वभाव का एक संघटक तत्त्व हो जाता है। यह मात्र कर्तव्य या ज्ञान में निहित कोई तत्त्व नहीं रह जाता।

चतुर्थ खण्ड 'कर्म खण्ड' या शक्ति का परिमण्डल है। इस परिमण्डल का शासक शक्ति का ईश्वर है। इसमें साधक को शक्ति की सम्प्राप्ति होती है। वह एक शक्तिशाली नायक तथा अजेय व्यक्ति हो जाता है। इस स्थिति में मृत्यु का भय समाप्त हो चुका होता है।

पंचम खण्ड 'सच खण्ड' या सत्य का परिमण्डल है जहाँ निराकार का आधिपत्य है। यहाँ साधक का ईश्वर से तादात्म्य-स्थापन और उसे ईश्वरत्व की उपलब्धि हो जाती है। दिव्यता में रूपान्तरित इस व्यक्ति को अपने जीवन के लक्ष्य की सम्प्राप्ति हो जाती है। अब वह अपने अन्तिम विश्राम स्थल की खोज में सफल हो जाता है। इस प्रकार आत्मा की इस श्रमसाध्य यात्रा का अन्त हो जाता है।

गुरु नानक पुनः-पुनः इन बातों पर बल देते हैं- "सबसे अपने ऐक्य भाव का अनुभव करो, ईश्वर से प्रेम करो, मनुष्य में स्थित ईश्वर से प्रेम करो, ईश्वर-प्रेम का संकीर्तन करो तथा ईश्वर के नाम की आवृत्ति करते रहो। उसकी महिमा का गुणगान करो। ईश्वर से उसी प्रकार प्रेम करो जिस प्रकार कमल जल से, चातक बादल से तथा कोई स्त्री अपने पति से करती है। अपने दिव्य प्रेम को लेखनी तथा अपने हृदय को लेखक के रूप में परिणत कर दो। यदि तुम हरि-नाम की आवृत्ति करते हो, तो तुम्हें जीवन का वरदान प्राप्त होगा; किन्तु यदि तुम इसे विस्मृत करते हो, तो मृत्यु से तुम्हारी रक्षा असम्भव है। ईश्वर के समक्ष अपने हृदय द्वार को उन्मुक्त कर दो। उसका सान्निध्य प्राप्त करो। उसकी बाँहों में आबद्ध हो कर दिव्यालिंगन का अनुभव प्राप्त करो।”

अपनी एक भजनावली में नानक ने अपने उपदेशों के भावार्थ को निम्नांकित शब्दों में व्यक्त किया है :

"सन्त किसी भी मत के क्यों न हों, उनसे प्रेम करो। अहंकार का परित्याग करो। स्मरण रखो-धर्म का तत्त्व है विनम्रता और सहानुभूति; सांसारिक प्रलोभनों के बीच रहते हुए अच्छा और पवित्र जीवन-यापन। उत्तम वस्त्र, योगियों के वस्त्र, भस्म, मुण्डित शिर, दीर्घ प्रार्थनाएँ, मन्त्रोच्चारण, तप द्वारा शरीर का उत्पीड़न, तपस्वी-जैसा जीवन-यापन-ये धर्म के तत्त्व नहीं हैं।

गुरु नानक के अनुयायियों के लिए '**वाहे गुरु**' गुरु-मन्त्र है। जप के लिए दूसरा महत्त्वपूर्ण मन्त्र है **: "एक ओंकार सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं गुरु प्रसादि**" अर्थात् ईश्वर एक है। उसका नाम सत्य है। वह स्रष्टा तथा समस्त संसार में परिव्याप्त है। वह भयमुक्त तथा अजातशत्रु है। वह अमर्त्य, अनादि, स्वयं-जन्मा तथा स्वयं-स्थित है। वह अज्ञान के अन्धकार को विनष्ट करने वाला तथा दयामय है। ईश्वर नित्य, अनादि तथा अनन्त है।

ग्रन्थ साहिब

गुरु नानक ने संस्कृत भाषा के स्वरूप का सरलीकरण कर इसके गुरुमुखी स्वरूप की खोज की। सिक्खों का यह धर्मग्रन्थ गुरुमुखी में है। सिक्खों तथा सिन्धियों द्वारा इसका पूजन होता है। ग्रन्थ साहिब प्रत्येक गुरुद्वारे में है। आदि ग्रन्थ के नाम से अभिहित इस ग्रन्थ में प्रथम पाँच गुरुओं के भजनों का संकलन है। उनको पंचम गुरु द्वारा एकत्र तथा सुव्यवस्थित कर एक ग्रन्थ का आकार दे दिया गया जिसे गुरु ग्रन्थ साहिब कहते हैं। इसमें कबीर तथा समकालीन वैष्णव सन्तों द्वारा रचित कुछ भजन भी हैं। बाद में इस पवित्र ग्रन्थ में दशवें गुरु द्वारा नौवें गुरु के भजनों को भी संकलित कर दिया गया है। गुरु नानक की रचनाएँ अत्यन्त विस्तृत हैं।

'ग्रन्थ साहिब' का प्रारम्भ निम्नांकित शब्दों में होता है : "ईश्वर केवल एक है जिसका नाम सत् अर्थात् स्रष्टा है।" इस ग्रन्थ में उच्चतम नैतिकता के विधान निहित हैं। निष्कलुष जीवन, गुरु-भक्ति, दया, दानशीलता, संयम, न्याय, ऋजुता, सत्य, त्याग, सेवा, प्रेम तथा मांसाहार का परित्याग- इन गुणों की गणना उन गुणों में की जाती है जिन पर पर्याप्त बल दिया गया है। इसके विपरीत काम, क्रोध, अहंकार, घृणा, अहमन्यता, लोभ, स्वार्थ, निर्दयता, पैशुन्य तथा कपटपूर्ण आचरण की कठोर शब्दों में भर्त्सना की गयी है।

गुरु नानक के अन्तिम दिन

अपने जीवन के अन्तिम चरण में गुरु नानक करतारपुर में आ बसे थे। वहाँ उनके परिवार के समस्त सदस्यों को पहली बार उनके सान्निध्य की प्राप्ति हुई। वहाँ एक धर्मशाला का भी निर्माण किया गया। मरदाना भी अपने गुरु के साथ रहता था। वहाँ प्रतिदिन प्रातःकाल तथा सन्ध्या काल में गुरु नानक द्वारा रचित 'जपुजी साहिब' तथा 'सोहिला' का पाठ उनकी उपस्थिति में हुआ करता था। १५३८ ई. में उनहत्तर वर्ष की आयु में गुरु नानक का देहान्त हुआ। गुरु अंगद ने गुरु नानक का उत्तराधिकार ग्रहण किया। गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुनदेव, गुरु हरगोविन्द, गुरु हर राय, गुरु हर कृष्ण, गुरु तेगबहादुर तथा गुरु गोविन्दसिंह अन्य गुरुओं के नाम हैं।

गुरु नानक की कृपा से आप सभी कृतार्थ हों !

आचार्य

शंकर

धर्म तथा दर्शन के सम्बन्ध में समस्त भारत में अव्यवस्था व्याप्त थी। चार्वाक, लोकायत, कापालिक, शाक्त, सांख्य, बौद्ध तथा माध्यमिक-जैसे कई एक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव तथा बहत्तर धर्मों का अभ्युदय हो चुका था जो परस्पर संघर्षरत थे। शान्ति-जैसी कोई वस्तु नहीं रह गयी थी और सब-कुछ अस्त-व्यस्त हो चला था। लोग अन्धविश्वास से ग्रस्त थे। ऋषियों, सन्तों तथा योगियों की जो धरती कभी सुख-समृद्धि से पूर्ण थी, उसमें अब अन्धकार व्याप्त हो गया था। आर्यों की महिमामयी भूमि की अवस्था दयनीय हो गयी थी। शंकराचार्य के अवतार-ग्रहण के पूर्व देश की यही दशा थी।

यदि भारत में वैदिक धर्म आज भी जीवित है, तो इसका श्रेय शंकर को ही है। वैदिक धर्म की विरोधी शक्तियाँ आज से भी अधिक बहुसंख्यक तथा बलवती थीं; किन्तु शंकर ने अल्पावधि में ही उन्हें अकेले ही पराभूत कर वैदिक धर्म एवं अद्वैत वेदान्त को उनकी पूर्व-महिमा में पुनः प्रतिष्ठित कर दिया। अपने इस अभियान में उन्होंने केवल विशुद्ध ज्ञान तथा आध्यात्मिकता के आयुध का ही उपयोग किया था। राम तथा कृष्ण-जैसे शंकर-पूर्व अवतारों को धर्म-विरोधी शक्तियों की पराजय के लिए शारीरिक शक्ति का प्रयोग इसलिए करना पड़ा था कि उन दिनों इन आसुरी शक्तियों का अभ्युदय दैहिक अवरोध तथा उत्पीड़न के माध्यम से ही हुआ था। कलियुग में धर्म के समक्ष जो संकट उपस्थित हो गया था, उसका प्रारूप बाह्य से अधिक आन्तरिक तथा शारीरिक से अधिक मानसिक था। उस समय प्रायः प्रत्येक व्यक्ति के मन में अधर्म के बीज अंकुरित हो रहे थे। अतः अशुभ के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए एकमात्र ज्ञान तथा आत्मशुद्धि के शस्त्र की ही आवश्यकता थी। इस शस्त्र को तीक्ष्णता तथा क्षमता प्रदान करने के लिए शंकर ने ब्राह्मण-परिवार में जन्म-ग्रहण कर जीवन के पूर्वाह्न में ही संन्यास ग्रहण कर लिया। राम तथा कृष्ण-जैसे पूर्वकालिक अवतारों ने क्षत्रिय-वर्ण में जन्म लिया था। इसका कारण यह था कि उनके युग में धर्म के पुनरुद्धार के लिए सैन्य बल की आवश्यकता थी।

भारतीय दर्शन में शंकराचार्य को जो विशिष्ट स्थान प्राप्त है, उससे निस्सन्देह सभी लोग परिचित हैं। बिना किसी प्रतिवाद के इस तथ्य की पुष्टि की जा सकती है कि यदि शंकर का जीवन-यापन उनके आदर्शों के अनुरूप नहीं हुआ होता और यदि उन्होंने अपने उपदेशामृत से इस देश को कृतकृत्य नहीं किया होता, तो अनेक शताब्दी पूर्व ही भारतवर्ष अपने यथार्थ स्वरूप से वंचित हो चुका होता तथा यहाँ उत्तरोत्तर आने वाले आक्रमणकारियों के कृपाणों, उनकी विध्वंसात्मक गतिविधियों एवं धार्मिक असहिष्णुता के विरुद्ध संघर्ष में वह नितान्त असमर्थ सिद्ध हो जाता। उनके वे उपदेश आज भी प्रत्येक निष्कपट जिज्ञासु तथा प्रत्येक सच्चे हिन्दू की रक्त-शिराओं को स्पन्दित कर रहे हैं।

जन्म

शंकर का जन्म सन् ७८८ ई. में आलवाइ से छह मील पूर्व कालडि नामक ग्राम के एक निर्धन परिवार में हुआ था। कालडि कोची-शोरानूर रेल-मार्ग पर अंगमालि रेलवे स्टेशन के निकट है। शंकर नम्बूदरी ब्राह्मण थे। राजशेखर नामक एक भूस्वामी ने कालडि में एक शिव-मन्दिर की स्थापना कर उसमें कार्यरत ब्राह्मणों के लिए एक अग्रहार का निर्माण कर दिया था। विद्याधिराज उस मन्दिर में पूजा किया करते थे। उनके शिवगुरु नामक एक पुत्र था जिसने शास्त्राध्ययन के पश्चात् उपयुक्त आयु में विवाह किया था। शिवगुरु निस्सन्तान थे। उन्होंने अपनी पत्नी

आर्यम्बा के साथ सन्तान के लिए भगवान् शिव से प्रार्थना की। वसन्त ऋतु के आर्द्रा नक्षत्र के मांगलिक अभिजित महत में उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई। यह पुत्र शंकर थे।

जब शंकर सात वर्ष के थे, तब उनके पिता का देहान्त हो गया। इस स्थिति में शंकर के पठन-पाठन की देख-भाल करने वाला कोई नहीं रहा। उनकी माता एक असाधारण गृहिणी थीं। उन्होंने शंकर के सर्वशास्त्राध्ययन पर विशेष ध्यान दिया। पिता के देहान्त के पश्चात् सात वर्ष की आयु में उनका यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ। शंकर ने अल्पायु में ही असामान्य बुद्धि का प्रदर्शन किया। सोलह वर्ष की आयु में ही वे सभी दर्शनों तथा धर्म-विज्ञान के आचार्य हो गये। उन्होंने इसी आयु में गीता, उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्र के भाष्यों की रचना कर दी।

शंकर की माता अपने पुत्र के विवाह के लिए ज्योतिषियों से किसी कन्या की जन्म कुण्डली के विषय में परामर्श कर रही थीं; किन्तु शंकर ने संसार-त्याग तथा संन्यास ग्रहण का दृढ़ निश्चय कर लिया था। उनकी माता को इस बात से अत्यन्त दुःख हुआ कि उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके अन्तिम संस्कार के लिए कोई नहीं रह जायेगा; किन्तु शंकर ने उनको पूर्ण आश्वासन दिया कि वे मृत्युशय्या पर उनकी सेवा में सतत उद्यत रहेंगे और उनका दाह-संस्कार विधिवत् कर देंगे। किन्तु उनकी माता इससे आश्वस्त न हो सकीं।

एक दिन शंकर अपनी माता के साथ नदी में स्नान करने गये। शंकर नदी में कूद गये। वहाँ उनको ऐसा प्रतीत हुआ कि कोई मगर उनको खींचे चला जा रहा है। उन्होंने तीव्र स्वर में अपनी माता को पुकारते हुए कहा- "मेरी प्रिय माता, मुझे एक मगर पानी में लिये जा रहा है। अब मेरा अन्त समीप है। मुझे एक संन्यासी के रूप में मृत्यु को प्राप्त होने दो। मैं एक संन्यासी के रूप में शरीर-त्याग की सन्तुष्टि प्राप्त करना चाहता हूँ। मुझे तुम आतुर-संन्यास ग्रहण करने की अनुमति प्रदान करो।"

माता ने तत्काल ही उन्हें इसकी अनुमति प्रदान कर दी। तब शंकर ने शीघ्र ही आतुर-संन्यास ग्रहण कर लिया। मगर ने उन्हें निरापद जल से बाहर निकल जाने दिया। शंकर नाम मात्र के संन्यासी के रूप में नदी के बाहर आ गये। उन्होंने अपनी माता के समक्ष अपने वचन की पुनः पुष्टि की और उनको अपने सम्बन्धियों के संरक्षण में छोड़ कर अपनी सम्पत्ति उन लोगों को दे दी। तत्पश्चात् संन्यास की पावन दीक्षा के विधिवत् ग्रहण के लिए वे किसी आचार्य की खोज में निकल पड़े।

शंकर हिमालय-स्थित बदरिकाश्रम के एक पर्ण-कुटीर में गोविन्दाचार्य से मिले और उन्होंने उनको साष्टांग प्रणाम किया। गोविन्द ने शंकर से पूछा कि वे कौन हैं? शंकर ने उत्तर दिया- "हे पूज्य गुरुदेव, मैं न अग्नि हूँ, न आकाश; न जल हूँ, न पृथ्वी। मैं इनमें से कुछ भी न हो कर वह अमर्त्य आत्मा हूँ जो समस्त नाम-रूपों में अन्तर्भूत है।" अन्त में उन्होंने यह भी कहा- "मैं केरल के शिवगुरु नामक एक ब्राह्मण का पुत्र हूँ। मेरी बाल्यावस्था में ही मेरे पिता का देहान्त हो गया। मेरी माता ने ही मेरा पालन-पोषण किया। एक आचार्य के चरणों में बैठ कर मैंने वेदों तथा शास्त्रों का अध्ययन किया। एक दिन नदी में स्नान करते समय जब एक मगर ने मेरा पैर पकड़ लिया, तब मैंने आतुर-संन्यास ग्रहण कर लिया। कृपया अब मुझे पावन संन्यास की विधिवत् दीक्षा दीजिए।"

स्वामी गोविन्द शंकर द्वारा प्रस्तुत इस यथार्थ वृत्तान्त से अत्यधिक प्रसन्न हुए। उनको संन्यास-दीक्षा देने के पश्चात् उन्होंने उन्हें संन्यासी के लिए उपयुक्त वस्त्र प्रदान किये। इसके उपरान्त स्वामी गोविन्द ने उन्हें अद्वैत वेदान्त की शिक्षा दी जिसे उन्होंने स्वयं अपने गुरु गौड़पादाचार्य से ग्रहण किया था। अपने गुरु गोविन्दपाद की कृपा से शंकर समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों तथा मतों से पूर्णरूपेण परिचित हो गये। गोविन्द ने उन्हें काशी जाने को कहा। काशी पहुँच कर शंकर ने ब्रह्मसूत्रों, उपनिषदों तथा गीता पर भाष्य लिखे। वहाँ उनकी कृतियों की जो आलोचना हुई, उसका उन्होंने सफलतापूर्वक प्रतिवाद किया।

तत्पश्चात् उन्होंने अपने दार्शनिक मत के प्रचार-प्रसार के अभियान का प्रारम्भकिया। शंकर के मन में अपने गुरु गोविन्दपाद तथा परम गुरु (गुरु के गुरु) गौड़पाद के प्रति अत्यधिक श्रद्धा थी।

शंकर का दिग्विजय-अभियान

शंकर का दार्शनिक विजय-अभियान संसार में अद्वितीय है। अपनी विजय-पताका उन्होंने सम्पूर्ण भारत पर फहरा दी। वे विभिन्न मतावलम्बी सम्प्रदायों के पीठाधीश्वरों से मिले। उन लोगों को उनकी युक्तियों के समक्ष विवश हो कर उनकी दार्शनिक अवधारणाओं के प्रति सहमत होना पड़ा और इस प्रकार उन्होंने अपने भाष्यों में प्रतिपादित धर्म के सत्य तथा वर्चस्व को प्रमाणित कर दिखाया। वे समस्त प्रख्यात ज्ञान केन्द्रों में गये। उन्होंने वहाँ के पण्डितों को शास्त्रार्थ की चुनौती दी और उनके समक्ष अपने तर्क प्रस्तुत कर उनकी आस्था को अपने मत तथा दृष्टिकोण के प्रति सुदृढ़ कर दिया। उन्होंने भट्ट भास्कर को पराजित कर उनके वेदान्त-सूत्र-भाष्य की भर्त्सना की और दण्डी तथा मयूर को अपने दर्शन की शिक्षा दी। तत्पश्चात् उन्होंने शास्त्रार्थ में 'खण्डन खण्ड खाद्य' के प्रणेता हर्ष, अभिनवगुप्त, मुरारी मिश्र, उदयनाचार्य, धर्मगुप्त, कुमारिल तथा प्रभाकर को पराजित किया।

इसके पश्चात् शंकर माहिष्मती गये। मण्डन मिश्र माहिष्मती की राजसभा के मुख्य पण्डित थे। मण्डन मिश्र को कर्ममीमांसा के मत में प्रशिक्षित किया गया था; अतः उनके मन में संन्यासियों के प्रति तीव्र घृणा के भाव थे। शंकर एक दिन उस स्थान पर पहुँचे जहाँ वे किसी के श्राद्ध-संस्कार में संलग्न थे। उन्हें देखते ही मण्डन मिश्र क्रोधोन्मत्त हो उठे। वार्तालाप अशोभन हो गया; किन्तु श्राद्ध-भोजन के लिए निमन्त्रित ब्राह्मणों ने हस्तक्षेप कर मण्डन मिश्र को शान्त कर दिया। इसके पश्चात् शंकर ने मण्डन मिश्र को धार्मिक वाद-विवाद की चुनौती दी जिसे मण्डन मिश्र ने स्वीकार कर लिया। भारती, जो मण्डन मिश्र की पत्नी तथा विपुल ज्ञान-राशि की स्वामिनी थी, को निर्णायिका मनोनीत किया गया। यह पहले ही निश्चित कर लिया गया कि यदि शंकर की पराजय हुई, तो वे गृहस्थ हो कर वैवाहिक जीवन व्यतीत करेंगे और यदि मण्डन मिश्र पराजित हुए, तो उनको संन्यास-ग्रहण कर स्वयं अपनी पत्नी से ही संन्यासी का वस्त्र ग्रहण करना होगा। वाद-विवाद विधिवत् प्रारम्भ हुआ और कई दिनों तक बिना किसी विघ्न-बाधा के चलता रहा। भारती ने इस वाद-विवाद को स्वयं नहीं सुना। उसने वाद-विवाद-रत दोनों व्यक्तियों के कन्धे पर एक-एक माला फेंक कर कहा- "जिसकी माला सर्वप्रथम मुरझाने लगेगी, उसे स्वयं को पराजित समझ लेना होगा।" इतना कह कर वह गृह-कार्य में संलग्न हो गयी। वाद-विवाद सत्तरह दिनों तक चलता रहा। तत्पश्चात् मण्डन मिश्र की माला मुरझाने लगी। इसके परिणाम स्वरूप उन्होंने स्वयं को पराजित मान कर संन्यास-ग्रहण करना तथा शंकर का अनुयायी बनना स्वीकार कर लिया।

भारती विद्या की देवी सरस्वती का अवतार थी। एक बार एक बृहद् सभा में ब्रह्मा तथा सरस्वती के समक्ष वेद-पाठ करते हुए ऋषि दुर्वासा से किंचित् त्रुटि हो गयी जिससे सरस्वती को हँसी आ गयी। इस पर दुर्वासा ने क्रुद्ध हो कर उन्हें भू-लोक में जन्म-ग्रहण का शाप दे दिया जिसके परिणाम-स्वरूप उन्हें भारती के रूप में जन्म लेना पड़ा।

भारती ने हस्तक्षेप करते हुए कहा- "मैं मण्डन की अर्धांगिनी हूँ। आपने उनके एक अर्धांश को ही पराजित किया है; अतः आप मुझसे भी वाद-विवाद कीजिए।" शंकर ने एक स्त्री से वाद-विवादों के विरोध में अपना प्रतिवाद व्यक्त किया; किन्तु भारती ने उनके समक्ष ऐसे उद्धरण प्रस्तुत किये जिनसे स्त्री-पुरुष के बीच हुए पूर्व-वाद-विवादों की पुष्टि हो जाती थी। अब शंकर भारती के प्रस्ताव से सहमत हो गये और वाद-विवाद प्रारम्भ हुआ जो अनवरत रूप से सत्तरह दिनों तक चलता रहा। भारती विभिन्न शास्त्रों से उद्धरण प्रस्तुत करती रही, किन्तु अन्ततः उसे अपनी पराजय का पूर्वाभास होने लगा; अतः उसने उन्हें काम-शास्त्र-सम्बन्धी वाद-विवाद के माध्यम से परास्त करने का निश्चय किया।

शंकर ने काम-सम्बन्धी वाद-विवाद के लिए भारती से एक मास के अवकाश की माँग की जिसे उसने स्वीकार कर लिया। शंकर ने काशी जा कर अपनी योग-शक्ति से अपने सूक्ष्म शरीर को अपने भौतिक शरीर से पृथक् लिया और अपने भौतिक शरीर को एक विशाल वृक्ष के छिद्र में रख दिया। अपने शिष्यों को अपने भौतिक शरीर की सुरक्षा का भार सौंप कर वे राजा अमरुक के मृत शरीर में प्रविष्ट हो गये जिसका शीघ्र ही दाह-संस्कार होने वाला था। राजा उठ खड़ा हुआ और वहाँ उपस्थित सभी लोग इस आश्चर्यप्रद घटना से हर्षोन्मत्त हो उठे।

मन्त्रियों तथा रानियों को शीघ्र ही उस पुनर्जीवित राजा में भिन्न गुणों तथा विचारों से युक्त किसी पृथक् व्यक्ति के दर्शन होने लगे। उनको अनुभव होने लगा कि उनके राजा के शरीर में किसी महात्मा की आत्मा का प्रवेश हो गया है; अतः उन्होंने दूतों को किसी विजन वन या किसी गुहा में गुप्त रूप से संरक्षित किसी मानव-शरीर की खोज तथा उसकी प्राप्ति के पश्चात् उसे जला देने के लिए भेज दिया। उन्होंने सोचा कि ऐसा करने से उन्हें राजा का दीर्घकालिक सम्पर्क प्राप्त हो जायेगा।

शंकर को रानियों के प्रेम के सारे अनुभव प्राप्त हो रहे थे। माया अत्यधिक शक्तिशालिनी है। शंकर ने अपने शिष्यों को उनके पास पुनः आगमन का वचन दिया था; किन्तु रानियों के सान्निध्य में रहते-रहते उनको अपना यह वचन पूर्णतः विस्मृत हो चुका था। शिष्य उनकी खोज करने लगे। उन्होंने राजा अमरुक के पुनर्जीवन की चमत्कारपूर्ण घटना की बात सुनी। इसके पश्चात् शीघ्र ही उन्होंने नगर में जा कर राजा से बात की। उन्होंने उनके समक्ष कुछ दार्शनिक गीत गाये जिसके फल-स्वरूप उनकी स्मृति पुनः जाग्रत हो गयी। शिष्य शीघ्र ही उस स्थान पर पहुँचे जहाँ शंकर का मृत शरीर छिपा कर रखा गया था; किन्तु उस समय तक दूतों को वह मृत शरीर प्राप्त हो चुका था और वे उसे जलाने जा रहे थे। उसी समय शंकर की आत्मा उनके शरीर में प्रविष्ट हो गयी। शंकर ने भगवान् हरि से सहायता की याचना की। इसके फल-स्वरूप शीघ्र ही वृष्टि होने लगी जिससे अग्नि की ज्वाला का शमन हो गया।

इसके पश्चात् शंकर मण्डन मिश्र के घर गये। वहाँ पूर्व-वाद-विवाद पुनः आरम्भ हुआ जिसमें उन्होंने भारती के सभी प्रश्नों के उत्तर सन्तोषजनक रूप से दे दिये। तत्पश्चात् मण्डन मिश्र ने अपनी सारी सम्पत्ति भेंट-स्वरूप शंकर को दे दी दे दी जिसे निर्धनों तथा दान-ग्रहण के लिए उपयुक्त पात्रों में वितरित कर दिया गया। मण्डन मिश्र शंकर के शिष्य हो गये। शंकर ने संन्यास के पावन आश्रम में दीक्षित कर उन्हें सुरेश्वराचार्य के नाम से अभिहित किया। सुरेश्वराचार्य प्रथम संन्यासी थे जिन्होंने श्रृंगेरी मठ का प्रभार ग्रहण किया। भारती भी शंकर के साथ श्रृंगेरी चली गयी जहाँ आज भी उसकी पूजा होती है। भारत के प्रत्येक अंचल से वैदिक विद्वानों को आमन्त्रित कर और उनके अनेक प्रश्नों के उत्तर दे कर शंकर सर्वज्ञता की उच्च पीठिका पर आसीन हो गये। इसके अतिरिक्त अपने युग के समस्त धार्मिक प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त तथा वैदिक धर्म की श्रेष्ठता स्थापित कर वे जगद्गुरु हो गये। उनके इन प्रतिद्वन्द्वियों में भिन्न-भिन्न बहत्तर मतों के प्रति आस्थावान् अनुयायी थे।

अन्य धार्मिक सम्प्रदायों पर शंकर की विजय सर्वांगतः पूर्ण थी; अतः भारत-भूमि पर उनको चुनौती देने का साहस किसी सम्प्रदाय में नहीं रह गया। इनमें से कई सम्प्रदाय तो विलुप्त ही हो गये। शंकर के युग के पश्चात् भी कई एक आचार्यों का आविर्भाव हुआ; किन्तु शंकर ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों को जिस अदम्य उत्साह तथा शक्ति से परास्त कर अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित किया था, उसका उनमें सर्वथा अभाव था।

माता का दाह-संस्कार

अपनी माता के गम्भीर रोग से पीड़ित होने की सूचना प्राप्त होने पर शंकर अपने शिष्यों को छोड़ कर अकेले ही कालडि की ओर चल पड़े। तब उनकी माता रोग-शय्या पर थीं। उन्होंने श्रद्धा-स्वरूप उनके चरणों का स्पर्श किया और भगवान् हरि से स्तुति की, जिसके फल-स्वरूप स्वर्ग-दूतों का आगमन हुआ और वे अपने भौतिक शरीर का परित्याग कर उनके साथ गो-लोक में चली गयीं।

अपनी माता के दाह-संस्कार के समय शंकर को गम्भीर विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ा। गृहस्थों के लिए विहित आचार संहिता का पालन संन्यासियों के लिए वर्जित है। सभी नम्बूदरी ब्राह्मण शंकर के विरोधी थे। शंकर को अपने सम्बन्धियों का सहयोग भी नहीं प्राप्त हो सका। यहाँ तक कि चिता को अग्नि को समर्पित करने के लिए उन्होंने उन्हें अग्नि भी नहीं दी। अन्ततः उन्होंने अकेले ही दाह-संस्कार का निश्चय किया, किन्तु वे अकेले ही शव को उठा पाने में असमर्थ थे; अतः उन्होंने शव को खण्ड-खण्ड कर घर के पृष्ठ भाग तक पहुँचा दिया जहाँ उन्होंने कदली-स्तम्भ से चिता का निर्माण कर उसे अपनी योग-शक्ति से प्रज्वलित कर दिया। शंकर नम्बूदरियों को एक पाठ पढ़ाना चाहते थे। उन्होंने अन्तिम संस्कार-सम्बन्धी स्थानीय लोकाचार को इस प्रथा में परिणत कर दिया जिसके अनुसार नम्बूदरी ब्राह्मणों के परिवार के किसी भी व्यक्ति के शव दाह के लिए प्रत्येक घर में एक पृथक् स्थान की व्यवस्था तथा दाह-संस्कार के पूर्व शव को खण्डित करना अनिवार्य हो गया।

इसके पश्चात् शंकर श्रृंगेरी लौट गये। वहाँ से वे बहुसंख्य अनुयायियों के साथ पूर्वी समुद्र-तट होते हुए पर्यटन के लिए निकल पड़े। वे जहाँ भी गये, वहाँ उन्होंने अद्वैत वेदान्त का उपदेश दिया। पुरी में उन्होंने गोवर्धन-मठ की स्थापना की। कांचीपुरम् में उन्होंने शाक्तों की भर्त्सना की और मन्दिरों का विशुद्धिकरण किया। चोल तथा पाण्ड्य राज्यों के शासकों को उन्होंने अपना पक्ष-समर्थक बना लिया। उज्जैन पहुँचे कर उन्होंने मानव-रक्त-पात में संलग्न भैरवों की नृशंसता का अन्त किया। वहाँ से वे द्वारका गये, जहाँ उन्होंने एक मठ की स्थापना की। तत्पश्चात् उन्होंने गंगा-तट पर स्थित कई स्थानों पर महान् व्यक्तियों से धार्मिक वाद-विवाद किये।

शंकर का अन्त

कामरूप अर्थात् आधुनिक गोहाटी पहुँच कर उन्होंने शाक्त भाष्यकार अभिनव गुप्त को वाद-विवाद में पराजित कर दिया। अभिनव को अपनी पराजय की अनुभूति अत्यन्त तीव्र रूप में हुई। उन्होंने अपने अभिचार-कौशल से शंकर को अर्श रोग से पीड़ित कर दिया; किन्तु पद्मपाद ने इस अभिचार-कौशल का उन्मूलन कर उन्हें रोग-मुक्त कर दिया। इसके पश्चात् वे हिमालय के पर्वतीय अंचलों में गये। जोशी में उन्होंने एक मठ तथा बदरी में एक मन्दिर की स्थापना की। वहाँ से वे उच्चतर पर्वतीय अंचल में स्थित केदारनाथ पहुँचे। वहाँ बत्तीस वर्ष की आयु में ८२० ई. में उन्होंने लिंग के साथ तद्रूपता प्राप्त कर ली।

श्रृंगेरी-मठ

कर्नाटक राज्य के उत्तरपूर्व पश्चिमी घाट के मनोरम पाद-गिरि में अक्षत वनों से आच्छादित श्रृंगेरी ग्राम स्थित है। शंकर ने अपने प्रथम मठ की स्थापना यहीं की। तुंगभद्रा नदी की एक शाखा तुंगा नदी इस उपत्यका से हो कर मन्दिर के प्राचीरों का स्पर्श करती हुई बहती है। इसका विशुद्ध तथा निर्मल जल पान के लिए उतना ही विख्यात है जितना गंगा का जल स्नान के लिए (गंगा स्नानम्, तुंगा पानम्)। श्रृंगेरी की भूमि अति-पवित्र तथा इसकी सुन्दरता मुग्धकारी है। मठ की व्यवस्था आज भी समुचित विधि से हो रही है। विद्यारण्य-जैसे इस मठ के अधीश्वरों की महानता के साथ-साथ इस मठ के संस्थापक की ख्याति के कारण भी साधक तथा भक्त जन इस मठ के प्रति अकृत्रिम हृदय से अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

यहाँ इस बात का उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा कि संस्कृत के सुविदित प्राध्यापक मैक्समूलर को ऋग्वेद पर विद्यारण्य, जो सायण के नाम से भी प्रसिद्ध हैं, के भाष्य के अनुवाद में तीस वर्ष लगे। विद्वान् प्राध्यापक अपने अनुवाद की भूमिका में कहते हैं कि इस अनुवाद-कर्म में तीस वर्षों के अन्तर्गत उन्हें किसी भी दिन दश मिनट से कम श्रम नहीं करना पड़ा। इस सम्बन्ध में एक रोचक घटना का भी उल्लेख मिलता है। जब पाण्डुलिपि के कुछ

स्थल अपाठ्य-अस्पष्ट प्रतीत होते थे, तब मैसूर के तत्कालीन महाराजा के प्रभाव के कारण उन्हें श्रृंगेरी मठ में अभी तक सुरक्षित इसकी प्रथम मौलिक कृति की आधिकारिक प्रतिलिपि प्राप्त हो जाती थी।

श्री शारदा की वेदिका भी भक्तों को समानरूपेण आकर्षित करती है। भारत में ऐसे मठों तथा विहारों का बाहुल्य है जहाँ भारत के प्रत्येक अंचल से हिन्दू एकत्र होते हैं; किन्तु महानता तथा ख्याति में इनमें से कोई भी आदि शंकराचार्य के मूल-पीठ श्रृंगेरी के समकक्ष नहीं है। श्रृंगेरी मठ संसार के प्राचीनतन मठों में है जो बारह शताब्दियों से भी अधिक समय से निरन्तर आध्यात्मिक समृद्धि प्राप्त करता आ रहा है। शंकराचार्य द्वारा स्थापित चार विद्यापीठों में यह प्रथम है। शेष तीन के नाम पुरी, द्वारका तथा जोशी हैं जिनमें से प्रत्येक हिन्दुओं के चार वेदों में से किसी एक वेद का प्रतिनिधित्व करता है।

शंकर ने अपने चार शीर्षस्थ शिष्यों (सुरेश्वराचार्य, पद्मपाद, हस्तामलक तथा तोटकाचार्य) को क्रमशः श्रृंगेरी मठ, जगन्नाथ-मठ, द्वारका-मठ तथा जोशी-मठ का प्रभारी बनाया। गुरु-परम्परा में वेदों के भाष्यकार तथा विजयनगर की वंश-परम्परा के आदि पुरुष विद्यारण्य निर्विवाद रूप से सर्वाधिक प्रसिद्ध संन्यासी थे। वे विजयनगर के दीवान थे। १३३१ ई. में उन्होंने संन्यास-ग्रहण कर लिया। विद्यारण्य के पूर्व के ग्यारह संन्यासियों के नाम हैं-शंकराचार्य, विश्वरूप, नित्यबोधघन, ज्ञानघन, ज्ञानोत्तम, ज्ञान गिरि, सिंह गिरीश्वर, ईश्वर तीर्थ, नरसिंह तीर्थ, विद्याशंकर तीर्थ तथा भारती कृष्ण तीर्थ।

श्रृंगेरी-मठ के ऐतिहासिक तथा पावन धर्माध्यक्षीय सिंहासन को व्याख्यान-मठ अर्थात् विद्यापीठ कहा जाता है। पारम्परिक रूप से प्रचलित एक जन-श्रुति के अनुसार शंकर के अगाध पाण्डित्य से प्रभावित हो कर सरस्वती ने इस विद्यापीठ को उन्हें प्रदान किया था। वर्तमान पीठाधीश्वर के पूर्व इस धर्माध्यक्षीय सिंहासन पर पैंतीस आचार्य आनुक्रमिक, नियमित तथा अव्यहित रूप से आसीन होते रहे हैं।

दशनामी संन्यासी

शंकर ने संन्यासियों को दश निश्चित अखाड़ों या संघों में संघटित किया जिन्हें सम्मिलित रूप से दशनामी कहते हैं। इन संन्यासियों के नाम के अग्रांश से निम्नांकित दश प्रत्ययों में से कोई एक प्रत्यय अवश्य सम्बद्ध रहता है :

सरस्वती, भारती, पुरी (श्रृंगेरी मठ), तीर्थ, आश्रम (द्वारका-मठ), गिरि, पर्वत तथा सागर (जोशी-मठ), वन तथा अरण्य (गोवर्द्धन-मठ)।

उक्त वर्गों में परमहंस शीर्षस्थ है। वेदान्त के दीर्घकालिक अध्ययन, ध्यान तथा आत्म-साक्षात्कार से परमहंस-पद की सम्प्राप्ति सम्भव है। अतिवर्णाश्रमी जाति तथा आश्रमों के परे होते हैं। वे सभी वर्गों के लोगों के साथ भोजन कर लेते हैं। शंकरमतावलम्बी संन्यासी समस्त भारत में पाये जाते हैं।

कुछ घटनाएँ

एक दिन शंकर अपने शिष्यों के साथ गंगा-स्नान को जा रहे थे। मार्ग में उनको एक चाण्डाल मिला जो अपने कुत्ते के साथ उसी मार्ग से कहीं जा रहा था। उसे शंकर के पार्श्व के निकट देख कर शंकर के शिष्यों ने उच्च स्वर में उसे उस मार्ग से अलग हट जाने के लिए कहा। इस पर चाण्डाल ने शंकर से कहा- "हे पूजनीय गुरु, आप अद्वैत वेदान्त के उपदेशक हैं। फिर भी आप मनुष्य-मनुष्य में इस सीमा तक भेद-दर्शन करते हैं। इसे आपके अद्वैत-मत के उपदेशों के अनुरूप कैसे समझा जा सकता है? क्या अद्वैत-मत एक सिद्धान्त मात्र है?" शंकर चाण्डाल के इस बुद्धिमत्तापूर्ण प्रश्न से हतप्रभ रह गये। उन्होंने मन-ही-मन सोचा- 'भगवान् शिव ने मुझे एक पाठ पढ़ाने के लिए यह रूप धारण

किया है।' उन्होंने वहीं तत्काल पाँच श्लोकों की रचना कर दी जिसे मनीषा-पंचक कहते हैं। इनमें से प्रत्येक श्लोक का अन्त इस प्रकार होता है- "जो सर्वभूतों को अद्वैत के प्रकाश में देखने में अभ्यस्त है वही, चाहे वह चाण्डाल हो या ब्राह्मण, मेरा यथार्थ गुरु है।"

* *

काशी में एक विद्यार्थी संस्कृत-व्याकरण के कुछ सूत्र रटे जा रहा था। 'डुकृञ्करणे, डुकृञ्करणे', वह इसकी पुनः पुनः आवृत्ति कर रहा था। इसे सुन कर वे उस विद्यार्थी के अध्यवसाय से चकित रह गये। आत्मा की मुक्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार के अध्ययन की अर्थहीनता को अनावृत करने के लिए उन्होंने तत्काल अपना सुप्रसिद्ध संक्षिप्त गीत 'भज गोविन्दम्' गाया जिसका अर्थ है, "गोविन्द की उपासना करो, गोविन्द की उपासना करो, गोविन्द की उपासना करो। हे मूढ़मते, अन्त-काल में संस्कृत के इन सूत्रों की आवृत्ति से तुम्हारी रक्षा नहीं हो पायेगी।"

* *

एक बार दुष्ट प्रकृति के कुछ व्यक्तियों ने शंकर को मद्य-मांस की भेंट दी; किन्तु शंकर के दाहिने हाथ के स्पर्श मात्र से मांस सेब तथा मद्य दूध हो गया।

* *

एक कापालिक ने शंकर से भेंट स्वरूप उनके शिर की याचना की। शंकर ने उसकी याचना को स्वीकार करते हुए कहा कि जब वे किसी एकान्त स्थान में ध्यानस्थ हों, तब वह उनका शिर ले ले। कापालिक उनके शिर को लक्ष्य कर उन पर कृपाण चलाना ही चाहता था कि शंकर के निष्ठावान् शिष्य पद्मपाद ने उसे पकड़ कर छुरे से उसकी हत्या कर दी। पद्मपाद भगवान् नृसिंह के उपासक थे। वस्तुतः भगवान् नृसिंह ने ही पद्मपाद के शरीर में प्रविष्ट हो कर उस कापालिक का वध कर दिया था।

शंकर का दर्शन

शंकर ने ब्रह्मसूत्रों, उपनिषदों तथा गीता पर भाष्य लिखे। ब्रह्मसूत्र पर उनके भाष्य को शारीरक भाष्य कहते हैं। उन्होंने 'सनत्सुजातीय' तथा 'सहस्रनाम अध्याय' पर भी भाष्य लिखे। प्रायः ऐसा कहा जाता है कि तर्कशास्त्र तथा 'मीमांसा' के अध्ययन के लिए शंकर के भाष्यों तथा भक्ति को स्फुरित तथा सुदृढ़ करने वाले व्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए उनकी कृतियों 'विवेकचूड़ामणि', 'आत्मबोध', 'अपरोक्षानुभूति', 'आनन्द-लहरी', 'आत्म-अनात्म-विवेक', 'दृक्-दृश्य-विवेक' तथा 'उपदेश-साहस्री' का अध्ययन करना चाहिए। शंकर ने पद्य में भी अनेक मौलिक कृतियों का सृजन किया जो माधुर्य, स्वर-लालित्य तथा वैचारिकता में अद्वितीय हैं।

शंकर का परब्रह्म निर्गुण, निराकार, निर्विशेष तथा अकर्ता है। वह आप्तकाम है। शंकर कहते हैं- "यह आत्मा स्वयंप्रकाश है। आत्मा के अस्तित्व के प्रमाण द्वारा आत्मा की सिद्धि नहीं होती। आत्मा का निराकरण असम्भव है; क्योंकि जो उसका निराकरण कर रहा होता है, उसका वह सार-तत्त्व है। आत्मा सर्व ज्ञान का अधिष्ठान है। आत्मा आभ्यन्तर है, आत्मा बाह्य है; आत्मा पूर्व है, आत्मा पश्च है; आत्मा दक्षिण पार्श्व में है, आत्मा वाम पार्श्व में है; आत्मा ऊर्ध्व में है, आत्मा अधः में है।"

सत्यम्-ज्ञानम्-अनन्तम्-आनन्दम्- ये लक्षण एक-दूसरे से पृथक् नहीं हैं। ब्रह्म अवर्णनीय है; क्योंकि वर्णन में भेद अन्तर्निहित है। ब्रह्म की तुलना स्वयं ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु से नहीं की जा सकती।

नामरूपात्मक जगत् की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। एकमात्र आत्मा की ही यथार्थ सत्ता है। जगत् की सत्ता मात्र व्यावहारिक है।

शंकर केवलाद्वैत-दर्शन के प्रतिपादक थे। उनके उपदेशों का सार निम्नांकित शब्दों में सन्निहित है :

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मव नापरः एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव तथा ब्रह्म में तादात्म्य-सम्बन्ध है।"

शंकर ने विवर्तवाद का उपदेश दिया। जिस प्रकार रज्जु में सर्प का अध्यारोप किया जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् तथा शरीर का अध्यारोप किया जाता है। यदि आपको रज्जु का ज्ञान हो जाता है, तो सर्प का भ्रम विनष्ट हो जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति से शरीर तथा जगत् के भ्रम की निवृत्ति हो जाती है।

भारत माता ने जिन सपूतों को जन्म दिया है, उन कुशाग्रबुद्धि महान् आत्माओं में शंकर अग्रगण्य हैं। वे अद्वैत-दर्शन के प्रतिपादक थे। वे एक महान् तत्त्वमीमांसक, एक व्यावहारिक दार्शनिक, एक निर्भान्त तार्किक एवं गत्यात्मक व्यक्तित्व तथा एक नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति के स्वामी थे। जहाँ तक किसी विचार के ग्रहण तथा उसके स्पष्टीकरण का प्रश्न है, उनकी मेधा अपरिमित थी। वे एक सिद्ध योगी, ज्ञानी तथा भक्त थे। वे उच्च श्रेणी के कर्मयोगी भी थे। लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने में उनकी क्षमता अप्रतिम थी।

ज्ञान की ऐसी कोई भी विधा नहीं है जो उनकी गवेषणा से वंचित रह गयी हो। इन सभी को उनकी अधिमानवीय बुद्धि के संस्पर्श द्वारा परिष्कृत तथा पूर्ण होने का सुयोग प्राप्त हुआ। शंकर तथा उनकी कृतियों के प्रति हमारे मन में प्रगाढ़ श्रद्धा है। उनके मन की उदात्तता, सौम्यता तथा दृढ़ता, प्रश्नों के उत्तर के सम्बन्ध में उनकी निष्पक्षता, उनकी अभिव्यक्ति की स्पष्टता-ये सभी बातें उनके प्रति हमारी श्रद्धा को अधिकाधिक सुदृढ़ करती हैं। जब तक आकाश में सूर्य प्रकाशित होता रहेगा, तब तक संसार उनके उपदेशों से वंचित नहीं होगा।

आज भी शंकर की प्रगाढ़ विद्वत्ता और दुरूह दार्शनिक समस्याओं की स्पष्ट व्याख्या के कारण संसार के समस्त दार्शनिक मतों के अनुयायी उनको श्रद्धा तथा सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। वे प्रचण्ड मेधा के स्वामी, तत्त्वद्रष्टा दार्शनिक, सुयोग्य प्रचारक, अनन्य उपदेशक, प्रतिभासम्पन्न कवि तथा महान् समाज-सुधारक थे। सम्भवतः किसी भी साहित्य के इतिहास में उनकी कोटि के विस्मयजनक रचनाकार का आविर्भाव नहीं हुआ। आधुनिक युग के पाश्चात्य विद्वान् भी उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। समस्त प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना में शंकराचार्य के सिद्धान्त सर्वाधिक अनुकूल तथा सुगमतापूर्वक ग्रहणीय हैं।

रामानुज

चेन्नई (मद्रास) से लगभग पचीस मील पश्चिम की ओर श्रीपेरम्बुदूर ग्राम में १०१७ ई. में रामानुज का जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम केशव सोमयाजि तथा उनकी माता का नाम कान्तिमति था। कान्तिमति एक धर्मनिष्ठ तथा सद्गुण-सम्पन्न महिला थीं। रामानुज का तमिल नाम इलय पेरुमाल था। रामानुज के जीवन के प्रारम्भिक काल में ही उनके पिता का देहान्त हो गया। तत्पश्चात् वे अद्वैत-दर्शन के आचार्य यादवप्रकाश के यहाँ वेदाध्ययन के लिए कांचीपुरम् चले गये।

रामानुज अत्यन्त मेधावी छात्र थे। वैदिक ग्रन्थों की यादवप्रकाश की व्याख्या से वे सन्तुष्ट नहीं हो पाते थे। अपने आचार्य की व्याख्या की कई एक त्रुटियों की ओर वे संकेत किया करते थे। कभी-कभी वे स्वयं व्याख्या कर देते थे जो उनके सहपाठियों को रुचिकर तथा निर्भ्रान्त प्रतीत होती थी। इससे यादवप्रकाश के मन में रामानुज के प्रति ईर्ष्या के भाव जाग्रत होने लगे।

यादवप्रकाश ने रामानुज की हत्या की योजना बनायी। उन्होंने रामानुज तथा उसके चचेरे भाई एवं सहपाठी गोविन्द भट्ट की वाराणसी की तीर्थयात्रा की व्यवस्था की। गोविन्द भट्ट यादवप्रकाश के कृपापात्र विद्यार्थी थे। यात्रा करते समय वे यादवप्रकाश की योजना से अवगत हो गये। उन्होंने रामानुज को इस आसन्न संकट की सूचना दे दी। इतना ही नहीं, उन्होंने इससे उनकी मुक्ति का भी प्रबन्ध कर दिया। ईश्वर की कृपा से वे एक आखेटक तथा उसकी पत्नी, जो उनसे मार्ग में मिल गये थे, की सहायता से बच गये।

दशम शताब्दी के अन्त तक दक्षिण भारत में दर्शन की विशिष्टाद्वैत-पद्धति सम्यक् रूप से स्थापित हो चुकी थी। कांचीपुरम्, श्रीरंगम्, तिरुपति तथा अन्य महत्त्वपूर्ण स्थानों के वैष्णव-मन्दिरों पर इस मत के अनुयायियों का आधिपत्य हो चुका था। महान् सन्त तथा बहुश्रुत विद्वान् यामुनाचार्य वैष्णव-संस्थाओं के अध्यक्ष थे। वे श्रीरंगम्-मठ के भी प्रधान थे। कांचीपूर्ण नामक उनका एक शिष्य कांचीपुरम् के मन्दिर में सेवारत था। कांचीपूर्ण शूद्र था; किन्तु उसकी धर्मनिष्ठा तथा भद्रता के कारण स्थानीय लोगों में उसके प्रति आदर तथा सम्मान के भाव थे। कांचीपुरम् में एक मन्दिर है जहाँ कांचीपूर्ण की एक प्रतिमा अधिष्ठापित की गयी है और वहाँ वह एक सन्त के रूप में पूजित है।

कांचीपूर्ण से प्रभावित युवा रामानुज के मन में उसके प्रति इतनी अधिक श्रद्धा थी कि उन्होंने उसको अपने घर भोजन के लिए निमन्त्रित कर दिया। उनका अभिप्राय कांचीपूर्ण को अपने हाथों भोजन कराने के पश्चात् स्वयं भोजन करना था। दुर्भाग्य से कांचीपूर्ण रामानुज की अनुपस्थिति में उनके घर गया जहाँ उनकी पत्नी ने उसको भोजन कराया। लौटने पर रामानुज ने देखा कि गृह-प्रक्षालन हो रहा है और शूद्र को भोजन कराने के प्रायश्चित्त-स्वरूप उनकी पत्नी स्नान कर रही हैं। इससे वे अत्यन्त क्षुब्ध हुए। उनकी पत्नी एक भिन्न सामाजिक मान्यता की रूढ़िवादी महिला थीं जिनसे अब वे विमुख होने लगे थे। ऐसी ही कुछ अन्य घटनाओं के पश्चात् उन्होंने स्वयं को गृहस्थाश्रम से मुक्त कर संन्यास-ग्रहण कर लिया।

उस समय तक यामुनाचार्य अत्यन्त वृद्ध हो चुके थे और किसी ऐसे सुयोग्य तथा सच्चरित्र युवक की खोज में थे जो श्रीरंगम्-मठ के अधीश्वर के रूप में उनका स्थान ग्रहण कर सके। उनके शिष्य रामानुज के सम्बन्ध में उनको पहले ही सूचित कर चुके थे और उन्होंने उन्हें अपने स्थान पर अधिष्ठित करने का विचार कर लिया था। उन्होंने रामानुज को बुलवाया; किन्तु उनके वहाँ पहुँचने के पूर्व ही यामुनाचार्य का देहान्त हो चुका था। वहाँ आने पर रामानुज ने देखा कि यामुनाचार्य के अनुयायी उनके शव को अन्तिम संस्कार के लिए गाँव के बाहर ले जा रहे हैं। रामानुज श्मशान तक उन लोगों के साथ गये। वहाँ उनको सूचित किया गया कि मृत्यु के पूर्व यामुनाचार्य अपनी तीन इच्छाओं के सम्बन्ध में निर्देश छोड़ गये थे और इन इच्छाओं की पूर्ति का आग्रह रामानुज से किया गया था। अब तक विशिष्टाद्वैत-दर्शन के अनुयायी विद्यार्थियों को व्यास के ब्रह्मसूत्र का प्रशिक्षण मौखिक रूप से ही दिया जाता था। यामुनाचार्य की इच्छा थी कि ब्रह्मसूत्र पर विशिष्टाद्वैत-दर्शन का अनुमोदन करने वाला एक भाष्य लिखा जाये एवं विष्णुपुराण के प्रणेता पराशर तथा सन्त सद्गोप के नाम को अमर किया जाये। रामानुज इसे सुन कर द्रवीभूत हो गये और उन्होंने उस श्मशान में ही यामुनाचार्य के शव के सम्मुख यह प्रतिज्ञा की कि वे यामुनाचार्य की तीनों इच्छाओं की पूर्ति करेंगे। रामानुज एक सौ बीस वर्षों तक जीवित रहे। इस अवधि में उन्होंने यामुनाचार्य की तीनों इच्छाओं की पूर्ति कर अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया।

यामुनाचार्य की मृत्यु के पश्चात् श्रीरंगम् में या अन्यत्र रहने वाले उनके शिष्यों की इच्छा थी कि रामानुज श्रीरंगम् के मठाधीश्वर के रूप में यामुनाचार्य का स्थान ग्रहण करें। यामुनाचार्य ने भी यही इच्छा व्यक्त की थी। उनके

इच्छानुसार समस्त अनुवर्ती अनुष्ठानों तथा समारोहों के साथ उन्हें श्रीरंगम् के विशिष्टाद्वैत-मठ के अधीश्वर के रूप में अधिष्ठित कर दिया गया।

इसके पश्चात् रामानुज नम्बि से पवित्र अष्टाक्षर-मन्त्र 'ॐ नमो नारायणाय' की जप-दीक्षा लेने के लिए तिरुकोत्तियूर गये। कारण जो भी रहा हो, नम्बि की यह इच्छा नहीं थी कि रामानुज का दीक्षा-संस्कार सुगमतापूर्वक सम्पन्न हो सके। रामानुज को दीक्षित करने का निर्णय लेने के पूर्व नम्बि ने उन्हें श्रीरंगम् से मदुराई के बीच लगभग अठारह बार पद-यात्रा करने को विवश किया। इसके अतिरिक्त उनको गोपनीयता की पवित्र शपथ भी ग्रहण करनी पड़ी। इसके पश्चात् नम्बि ने उन्हें विधिवत् दीक्षा दी और कहा- "रामानुज, इस मन्त्र को गोपनीय रखना। यह मन्त्र अत्यन्त शक्तिशाली है। इसे किसी पूर्व-परीक्षित सुयोग्य शिष्य को ही प्रदान करना।" किन्तु, रामानुज एक विशाल-हृदय व्यक्ति थे। वे अत्यन्त दयालु थे तथा मानवता के प्रति उनका प्रेम असीम था। उनकी इच्छा थी कि भगवान् नारायण के शाश्वत आनन्द की प्राप्ति प्रत्येक व्यक्ति को हो। उनको मन्त्र की आत्यन्तिक शक्ति का स्पष्ट बोध हुआ। उन्होंने जाति तथा मत पर बिना विचार किये मन्दिर के निकट सभी लोगों को बुलाया और स्वयं मन्दिर के मुख्य द्वार के शिखर पर खड़े हो कर तीव्र स्वर में वह पवित्र मन्त्र सबको प्रदान कर दिया। उनके गुरु नम्बि यह सुन कर अत्यन्त क्रुद्ध हुए। रामानुज ने कहा- "हे गुरुदेव, आप मेरे इस दोषपूर्ण कृत्य के लिए किसी उपयुक्त दण्ड की व्यवस्था कीजिए। यदि मेरे मन्त्र-दान से लक्ष-लक्ष लोगों को मोक्ष प्राप्त होता है, तो मैं नारकीय यन्त्रणा को भी सहन कर लूँगा।" नम्बि रामानुज से अत्यन्त प्रसन्न हुए। उनके समक्ष रामानुज की विशाल-हृदयता तथा करुणा स्पष्टतः अनावृत हो उठी। उन्होंने उनको आलिंगित कर आशीर्वाद दिया और इस प्रकार आवश्यक अर्हता से सुसज्ज हो कर उन्होंने यामुनाचार्य का उत्तराधिकार ग्रहण किया।

इस समय तक रामानुज दूर-दूर तक प्रख्यात हो गये थे। वे वाद-विवाद में निष्णात थे। उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर अपना भाष्य लिखा जिसे 'श्रीभाष्य' कहते हैं। विशिष्टाद्वैत की पद्धति प्राचीन है। बोधायन ने ४०० ई.पू. में लिखित अपनी वृत्ति में इसका प्रतिपादन किया था। ब्रह्मसूत्र के बोधायन तथा रामानुज के प्रतिपादन में कोई अन्तर नहीं है। ब्रह्मसूत्र की जो व्याख्या बोधायन ने की थी, रामानुज ने उसी का अनुसरण किया। वैष्णवों के रामानुजीय सम्प्रदाय को 'श्री-सम्प्रदाय' कहते हैं। रामानुज ने 'वेदान्त-सार', 'वेदान्त-संग्रह' तथा 'वेदान्त-दीप' नामक तीन अन्य पुस्तकें भी लिखीं।

रामानुज ने भक्ति-मार्ग के प्रचार-प्रसार के लिए भारत का आद्योपान्त भ्रमण किया। उन्होंने इस देश के काशी, कश्मीर तथा बदरीनाथ-जैसे समस्त पवित्र स्थानों की यात्रा की। लौटते समय वे तिरुपति की पहाडियों में गये। वहाँ उन्होंने देखा की तिरुपति की पहाडियों में अधिष्ठित भगवान् के विग्रह के सम्बन्ध में शैवों तथा वैष्णवों में परस्पर अन्तर्कलह चल रहा है। एक दल इसका सम्बन्ध शैव-सम्प्रदाय से जोड रहा था और दूसरा वैष्णव-सम्प्रदाय से। रामानुज ने इन दोनों दलों के समक्ष यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि इस विवाद का निर्णय स्वयं भगवान् पर ही छोड़ दिया जाये। अतः उन लोगों ने प्रतीक-रूप में शिव तथा विष्णु के लिए कुछ वस्त्र रख दिये। इसके पश्चात् वे मन्दिर का द्वार बन्द कर वहाँ पहरा देने लगे। प्रातःकाल जब उन लोगों ने द्वार खोला, तब देखा कि भगवान् के विग्रह ने विष्णु का वस्त्र धारण कर लिया था और शिव का वस्त्र वहीं भगवान् के विग्रह के चरणों पर यथावत् पड़ा हुआ था। इस घटना से यह निश्चित हो गया कि मन्दिर वैष्णवों का था। तब से ले कर आज तक यह मन्दिर वैष्णव-मन्दिर ही है।

इसके पश्चात् रामानुज दक्षिण भारत के सभी वैष्णव-मन्दिरों में गये और अन्ततः श्रीरंगम् पहुँचे। वहाँ स्थायी रूप से रह कर उन्होंने स्वयं को विशिष्टाद्वैत-दर्शन के प्रवचन तथा ग्रन्थ-लेखन के श्रमसाध्य कर्म में नियोजित कर लिया। उनके प्रवचन को सुनने के लिए प्रतिदिन वहाँ सहस्रों श्रोता एकत्र होने लगे। उन्होंने मन्दिरों को स्वच्छ कर उनमें धार्मिक अनुष्ठानों के पालन की व्यवस्था की और समाज में प्रविष्ट कुरीतियों का निराकरण किया। उनके यहाँ सात सौ संन्यासी थे। इनके अतिरिक्त वहाँ मन्दिरों के विशेष कार्यों की समुचित व्यवस्था के लिए चौहत्तर अनुष्ठाता भी

थे। उस परिसर में सहस्रों पवित्र-हृदय स्त्री-पुरुष रहते थे जो उनको ईश्वर की भाँति श्रद्धेय तथा पूजनीय समझते थे। उन्होंने लाखों व्यक्तियों को भक्ति-मार्ग की ओर उन्मुख किया। उन्होंने धोबियों को भी दीक्षित किया था। उनकी आयु सत्तर वर्ष की हो चुकी थी; किन्तु उनके भाग्य-लेख के अनुसार उन्हें अभी कई वर्षों तक
जीवित रहना, कुछ और मठों की स्थापना करना, कई मन्दिरों का निर्माण करना तथा अनेक लोगों को अपने मत में दीक्षित करना था।

उस समय चोल राज्य का अधिपति कुलोतुंग प्रथम था जो एक पूर्णतः निष्ठावान् शैव था। उसने रामानुज को शैव-मत ग्रहण करने तथा शिव को सर्वोच्च भगवान् मानने का आदेश दिया। रामानुज के शिष्यों में से कुरेस तथा महापूर्ण नामक दो शिष्य संन्यासियों के काषाय वस्त्र धारण कर रामानुज के स्थान पर स्वयं कुलोतुंग प्रथम की राजसभा में जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने विष्णु की सर्वोच्चता के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किये; किन्तु चोलाधिपति ने उनकी बातों को अस्वीकृत कर उनकी आँखें निकलवा लीं।

वे दोनों भाग्यहीन व्यक्ति अपने पैतृक स्थान श्रीरंगम् की ओर चल पड़े। अत्यन्त वृद्ध महापूर्ण यात्रा का कष्ट सहन करने में असमर्थ थे; अतः मार्ग में ही उनका देहान्त हो गया। कुरेस अकेल ही श्रीरंगम् लौटे।

इस बीच रामानुज अपने कुछ अनुयायियों के साथ मैसूर से लगभग चालीस मील दूर पश्चिमी घाट की उपत्यका में पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपने निवास-स्थान की व्यवस्था करने के पश्चात् कुछ वर्ष उपदेश तथा लोगों को विशिष्टाद्वैत-मत में दीक्षित करने में व्यतीत किये।

उस स्थान का अधिपति होयसल वंशीय भट्टिदेव था। उसकी पुत्री प्रेताविष्ट थी और उसे अभी तक कोई भी व्यक्ति रोग-मुक्त नहीं कर पाया था। रामानुज उस प्रेत-बाधा के निराकरण में सफल हो गये और राजकुमारी अपने स्वास्थ्य की पूर्व-स्थिति को प्राप्त हो गयी। राजा रामानुज से अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने स्वेच्छापूर्वक उनका शिष्य बन कर उनसे वैष्णव-मत की दीक्षा ग्रहण कर ली। इसके पश्चात् रामानुज ने स्वयं को मैसूर-महाराजा के अधिकार-क्षेत्र में प्रतिष्ठित कर मेलकोट में एक मन्दिर का निर्माण कराया और वहाँ एक बृहद् वैष्णव-समुदाय की संरचना की। स्थानीय परया या दलित-वर्ग के लोग उनकी सेवा में सदैव तत्पर रहते थे। उन्होंने उन्हें कुछ निश्चित दिनों को तथा कुछ सीमित सुविधाओं के साथ स्व-निर्मित मेलकोट के मन्दिर में प्रवेश का अधिकार प्रदान कर दिया। यह सुविधा उन्हें आज भी प्राप्त है।

रामानुज ने मैसूर में तथा इसके आस-पास कुछ अन्य विष्णु-मन्दिरों का भी निर्माण कराया और एक सुदृढ़ वैष्णव-समुदाय की स्थापना कर राज्य-भर में अपने कार्य के नैरन्तर्य को अक्षुण्ण रखने तथा विशिष्टाद्वैत-दर्शन और विष्णु-पूजा के प्रचार-प्रसार के लिए अपने शिष्यों को इसका प्रभारी बना दिया। इस प्रकार वे लगभग बीस वर्षों तक इस श्रम-साध्य कार्य में अनवरत रूप से संलग्न रहे। उनके अनुयायियों की संख्या कई सहस्र हो गयी।

इस बीच रामानुज को उत्पीड़ित करने वाले कुलोतुंग चोल प्रथम की मृत्यु हो गयी। रामानुज के अनुयायियों ने तत्क्षण रामानुज को इसकी सूचना देते हुए उनसे श्रीरंगम् लौटने की प्रार्थना की। रामानुज स्वयं श्रीरंगम् में अपने अनुयायियों के पास जाने तथा वहाँ के मन्दिर में पूजा करने के इच्छुक थे; किन्तु मेलकोट तथा अन्य स्थानों के उनके नव-दीक्षित शिष्य तथा अनुयायी उनको वहाँ से जाने नहीं देना चाहते थे; अतः उन्होंने स्वयं अपने लिए एक मन्दिर का निर्माण कर उसमें अपनी एक प्रतिमा प्रतिष्ठित कर दी जिससे उनके शिष्य तथा अनुयायी उनकी पूजा कर सकें। इसके पश्चात् वे उस स्थान का परित्याग कर श्रीरंगम् चले गये। श्रीरंगम् में उनके मित्रों तथा शिष्यों ने उनका भव्य स्वागत किया। कुलोतुंग चोल प्रथम का उत्तराधिकारी वैष्णव-मत का पक्षधर था जिसके परिणाम-स्वरूप रामानुज की चर्या में कभी कोई व्याघात नहीं आया। रामानुज अपने श्रमसाध्य कर्म में अनवरत रूप से तीस वर्ष तक संलग्न रहे। एक सौ वर्ष की दीर्घायु की प्राप्ति के पश्चात् ही उनकी दीर्घकालिक साधना की इतिश्री हो सकी।

रामानुज विशिष्टाद्वैत-दर्शन अर्थात् सविशेष अद्वैत के प्रतिपादक थे। रामानुज का ब्रह्म सविशेष अर्थात् सबल ब्रह्म है। रामानुज के उपदेशानुसार नारायण अर्थात भगवान् सर्वोच्च तत्त्व है: वैयक्तिक आत्मा चित् तथा जड़ जगत् अचित् है। रामानुज के अनुसार गुण या लक्षण यथार्थ तथा स्थायी हैं, किन्तु इनका नियमन ब्रह्म द्वारा होता है। इन गुणों या लक्षणों को प्रकार कहते हैं। भगवान् नारायण ब्रह्माण्ड के नियन्ता तथा स्वामी हैं। जीव उनका दास तथा उपासक है। भगवान् के प्रति जीव का सर्वतोभावेन समर्पण होना चाहिए। ईश्वर के अद्वैत-स्वरूप तथा इसके गुणों अर्थात् इसकी शक्तियों के बीच किसी प्रकार की असंगति के दर्शन नहीं होते; क्योंकि शक्तियों को अपने अस्तित्व के लिए ईश्वराश्रित होना अनिवार्य है।

मध्व

मध्वाचार्य एक महान् दार्शनिक एवं ब्रह्मसूत्रों तथा दश उपनिषदों के शास्त्र-सम्मत भाष्यकार थे। उनका जन्म दक्षिण भारत में दक्षिण कनारा जनपद-स्थित उडुपि से कुछ मील दूर बेलाली में ११९९ ई. में हुआ था। जन्मतः वे तुलु ब्राह्मण थे। वे मध्य गेह तथा वेदवती के पुत्र थे। वेदवती एक सद्गुण-सम्पन्न महिला थीं। मध्व को वायु का अवतार माना जाता है। पिता ने उनको वासुदेव नाम से अभिहित किया था।

मध्व को व्यायाम तथा खेल-कूद की अन्य विधाओं में विशिष्टता प्राप्त थी। उनकी शारीरिक संरचना अद्‌भुत थी। उन्हें मल्लयुद्ध, दौड़, कूद-फाँद तथा तैराकी का भी ज्ञान था; अतः लोगों ने उन्हें 'भीम' का उपनाम दे दिया था। मध्व ने वेद-वेदांगों का अध्ययन किया और इनमें वे पूर्णतः पारंगत हो गये। अच्युतप्रकाशाचार्य से दीक्षा ग्रहण कर वे पचीस वर्ष की आयु में संन्यासी हो गये। तत्पश्चात् लोग उन्हें पूर्णप्रज्ञ के नाम से जानने लगे। अच्युतप्रकाशाचार्य ने देखा कि मध्व वेदान्त तथा अन्य शास्त्रों में सुदक्ष एवं एक मेधावी संन्यासी हैं। उन्होंने अपने स्थान पर स्वयं मध्व को अपने मठ का अधीश्वर बना दिया। अब मध्व ने आनन्द तीर्थ का नाम ग्रहण कर लिया। वे भक्ति के सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार के लिए उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत की एक दीर्घकालिक यात्रा पर चल पडे। उन्होंने कई लोगों को अपने मत में दीक्षित किया। वे बदरीनारायण गये और शीघ्र ही वहाँ से लौटने पर उन्होंने भगवद्गीता तथा वेदान्त-सूत्रों पर अपने भाष्य लिखे। मध्व-सम्प्रदाय के मुख्य केन्द्र उडुपि में उन्होंने कई मन्दिरों का निर्माण किया। मध्व के प्रति निष्ठावान् व्यक्तियों में से अधिकांश अपने जीवन में कम-से-कम एक बार उडुपि जाने का प्रयत्न अवश्य करते हैं।

मध्व अतिमानवीय शक्ति के स्वामी थे। उन्होंने अनेक चमत्कारों के प्रदर्शन किये। उन्होंने एक झंझावात-ग्रस्त नौका की रक्षा की। एक नौका, जिसमें भगवान् कृष्ण की प्रतिमा रखी थी, समुद्र में जल-मग्न हो गयी; किन्तु मध्व उस प्रतिमा को जल से बाहर निकाल लाये। उनकी यात्रा की अवधि में एक बार महाराष्ट्र के अधिपति ईश्वरदेव ने उन्हें एक बाँध के निर्माण कार्य में लगा दिया। मध्व का ध्यान इस बात की ओर गया कि वे अचेतनावस्था में प्रतिदिन राजा के लिए श्रम करते जा रहे हैं। एक बार जब वे स्नान करने गये, तब उन्होंने समुद्र की अशान्त लहरों को शान्त कर दिया।

मध्वाचार्य द्वैत-मत के महान् प्रतिपादक हैं। रामानुज के श्री वैष्णव-मत से पृथकता की सिद्धि के लिए उनके मत को सद्वैष्णव-मत कहा जाता है। उनके दर्शन के अनुसार विष्णु या नारायण सर्वोच्च तत्त्व हैं। माध्व-मत के प्रत्येक अनुयायी को पंच-भेद अर्थात् पाँच यथार्थ तथा नित्य-भेदों के प्रति दृढ़ आस्था व्यक्त करनी पड़ती है। ये पंच-भेद हैं- सर्वोच्च तथा वैयक्तिक आत्मा का पारस्परिक भेद, चेतन तथा जड़ तत्त्व का पारस्परिक भेद, एक जीव तथा अन्य जीव का पारस्परिक भेद, जीव तथा जड़ तत्त्व का पारस्परिक भेद एवं एक ही तत्त्व के एक अंश तथा अन्य अंश का

पारस्परिक भेद। नामरूपात्मक जगत् यथार्थ तथा नित्य है। अंकन अर्थात् विष्णु के प्रतीकों का शरीर पर चित्रांकन, नामकरण अर्थात् अपनी सन्तान को भगवान् के नामों से अभिहित करना तथा भजन अर्थात् उसका गुण-गान-ये तीन बातें विष्णु की पूजा के मुख्य अंग हैं। मध्व ने ईश्वर-स्मरण की अनवरत साधना पर अत्यधिक बल दिया। वे कहते हैं "ईश्वर-स्मरण को हमें अपने स्वभाव के एक आवश्यक अंग के रूप में ग्रहण करना चाहिए। ऐसा करने से आपके लिए मृत्यु के क्षणों में ईश्वर-स्मरण सहज तथा स्वाभाविक हो जायेगा।" मध्व इस तथ्य के प्रति संकेत करते हुए कहते हैं कि भगवान् अवतार-ग्रहण के समय प्राकृत शरीर या भौतिक देह धारण किये हुए नहीं थे। उन्होंने अपने अनुयायियों के लिए कठोर उपवास की व्यवस्था की थी।

वैराग्य, भक्ति तथा ध्यान के माध्यम से अपरोक्षानुभूति मुक्ति-प्राप्ति के साधन हैं। यदि साधक ईश्वर के दर्शन का इच्छुक है, तो उसे स्वयं को वेदाध्ययन, इन्द्रिय-निग्रह, अनासक्ति तथा पूर्ण आत्म-समर्पण के शस्त्र से सुसज्जित करना होगा। द्वैत-मत के प्रख्यात् प्रतिपादक मध्वाचार्य के उपदेशों के ये कुछ महत्त्वपूर्ण अंश हैं।

वल्लभ

राजस्थान तथा गुजरात के वल्लभ-सम्प्रदाय के संस्थापक वल्लभाचार्य का जन्म १४७९ ई. में मध्य प्रदेश में रायपुर-स्थित चम्पारण में हुआ था। लक्ष्मण भट्ट उनके पिता तथा इल्लम्मा उनकी माता थीं। चैतन्य महाप्रभु के समकालीन वल्लभाचार्य तेलुगु ब्राह्मण थे। उन्हें अग्नि का अवतार कहा जाता है।

जब वल्लभाचार्य की आयु ग्यारह वर्ष थी, तब उनके पिता का देहान्त हो गया। अपनी आयु के बारहवें वर्ष में उन्होंने वाराणसी में वेदों, षड्-दर्शनों तथा अष्टादश पुराणों का विधिवत् अध्ययन पूर्ण कर लिया था। वाराणसी से वे वृन्दावन चले गये और तत्पश्चात् उन्होंने भारत के समस्त पवित्र स्थानों की यात्रा की।

विजयनगर के राजा कृष्णदेव की राजसभा में जा कर उन्होंने वहाँ के सभी प्रख्यात पण्डितों को पराजित किया। वल्लभ की मेधा तथा पाण्डित्य से राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने उन्हें विपुल मात्रा में स्वर्णादि की भेंट दी। इसके अतिरिक्त उन्होंने उनको वैष्णवाचार्य की उपाधि से अलंकृत किया। वल्लभकी ख्याति तथा प्रभाव में निरन्तर वृद्धि होती गयी। विजयनगर से वल्लभ ने उज्जैन तथा अन्य स्थानों की यात्रा की।

वल्लभ का विवाह वाराणसी में हुआ। उनकी पत्नी का नाम महालक्ष्मी था। उनके दो पुत्र थे।

व्यास-सूत्र-भाष्य, जैमिनि-सूत्र-भाष्य, भागवत-टीका-सुबोधिनी, पुष्टि-प्रवाल-मर्यादा तथा सिद्धान्त-रहस्य उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। ये सभी ग्रन्थ संस्कृत में हैं। उन्होंने ब्रजभाषा में भी कई ग्रन्थों की रचना की।

वल्लभ के अनुयायियों ने चम्पारण में उनके जन्म-स्थान पर एक मन्दिर का निर्माण किया। यह मन्दिर अत्यन्त लोकप्रिय है। लोग इसे तीर्थ-स्थान मान कर यहाँ आते हैं।

वल्लभ ने अपने जीवन के अन्तिम दिन वाराणसी में व्यतीत किये। उन्होंने सोचा कि उनके जीवन के लक्ष्य की पूर्ति हो चुकी है। एक दिन वे हनुमान्-घाट पर गंगा-स्नान के लिए गये। वहाँ लोगों ने देखा कि एक प्रोज्ज्वल प्रकाश-पिण्ड धरती से आकाश की ओर ऊर्ध्वगमन करता जा रहा है, वहाँ दर्शकों के समूह की उपस्थिति में वे आकाश में गमन करते हुए अदृश्य हो गये। यह घटना उनकी बावन वर्ष की आयु में १५३१ ई. में हुई।

वल्लभाचार्य शुद्ध अद्वैत अर्थात् दर्शन की शुद्धाद्वैत-शाखा के प्रतिपादक थे। श्रीकृष्ण सर्वोच्च ब्रह्म हैं। उनकी देह में सच्चिदानन्द की संसक्ति हैं। उन्हें पुरुषोत्तम कहा जाता है।

वल्लभ के अनुयायी बाल-कृष्ण की उपासना करते हैं। वल्लभ पुष्टि तथा भक्ति पर अत्यधिक बल देते हैं। महापुष्टि उच्चतम अनुग्रह है। यह साधकों को ईश्वरत्व-प्राप्ति में सहयोग प्रदान करता है। अग्नि से चिन्गारी की भाँति जागतिक पदार्थों का प्रादुर्भाव अक्षर (सच्चिदानन्द) से होता है।

निम्बार्क

दक्षिण भारत में आन्ध्र प्रदेश-स्थित वैडूर्यपत्तनम् में गोदावरी-तट पर अरुणमुनि नामक एक महान् सन्त रहते थे। उनकी धर्मपरायणा सहधर्मिणी का नाम जयन्तीदेवी था। श्री निम्बार्क उन्हीं दोनों के पुत्र थे। उनके आध्यात्मिक अभियान का काल ग्यारहवीं शताब्दी था। नामकरण-संस्कार के अवसर पर ब्राह्मणों की विद्वत्-मण्डली ने उस बालक को नियमानन्दाचार्य के नाम से अभिहित किया। निम्बार्क को अरुण ऋषि तथा हरिप्रियाचार्य के नाम से भी जाना जाता था।

अरुणमुनि तथा जयन्तीदेवी ने अपने पुत्र के यज्ञोपवीत-संस्कार के समापन के पश्चात् उसे वेद-वेदांग तथा दर्शन आदि के अध्ययन के लिए ऋषिकुल भेजा। वहाँ नियमानन्दाचार्य अल्पावधि में ही सभी शास्त्रों में निष्णात हो गये। वे प्रचण्ड मेधा के स्वामी थे। विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न इस बालक के दर्शन के लिए लोग भारत के कोने-कोने से आने लगे।

एक बार नियमानन्दाचार्य की किशोरावस्था में सृष्टिकर्ता ब्रह्मा एक संन्यासी का वेश धारण कर अरुणमुनि के आश्रम में आये। सूर्यास्त होने वाला था और मुनि वहाँ नहीं थे। संन्यासी ने मुनि-पत्नी से भोजन की याचना की; किन्तु भोजन समाप्त हो चुका था। अतः उन्होंने मौन धारण कर लिया और संन्यासी वहाँ से जाने लगे।

नियमानन्दाचार्य ने अपनी माता से कहा- "हे माता, संन्यासी को बिना भोजन के नहीं लौटाना चाहिए। हम लोग अतिथि-धर्म के उल्लंघन के भागी होंगे।" माता ने कहा- "प्रिय पुत्र, तुम्हारे पिता बाहर गये हुए हैं और मेरे पास कन्द-मूल या फल, कुछ भी नहीं है। इसके अतिरिक्त मेरे पास भोजन बनाने का समय भी नहीं है। सूर्यास्त हो चुका है और संन्यासी सूर्यास्त के पश्चात् अन्न-ग्रहण नहीं करते।"

नियमानन्दाचार्य ने संन्यासी से कहा- "मैं आपके लिए वन से कन्द-मूल तथा फल शीघ्र ही ला दूँगा। मैं आपको इस बात के लिए आश्वस्त करता हूँ कि जब तक आप भोजन नहीं कर लेंगे, तब तक सूर्यास्त नहीं होगा।" इतना कह कर उन्होंने अपना सुदर्शन चक्र आश्रम में एक नीम के पेड़ पर रख दिया जहाँ वह सूर्य की भाँति दीप्तिमान हो गया। संन्यासी का वेश धारण किये हुए ब्रह्मा इसे देख कर आश्चर्यचकित हो उठे। कुछ ही क्षणों में निम्बार्क कन्द-मूल और फल ले कर लौट आये। उन्होंने यह सब अपनी माता को दे दिया जिन्होंने यह भोज्य-सामग्री उत्कट भक्ति-भाव से संन्यासी के समक्ष विधिवत् प्रस्तुत कर दी। संन्यासी के भोजन समाप्त करते ही निम्बार्क ने सुदर्शन-चक्र को नीम के पेड़ से हटा लिया और शीघ्र ही घोर अन्धकार व्याप्त हो गया। रात्रि का चतुर्थांश समाप्त हो चुका था। उसी समय संन्यासी-वेश-धारी ब्रह्मा ने बालक को निम्बार्क के नाम से अभिहित कर दिया। नीम का अर्थ है नीम का पेड़ और अर्क का अर्थ है सूर्य। उस दिन से उनको श्री निम्बार्काचार्य कहा जाने लगा। श्री निम्बार्काचार्य को भगवान् हरि के शस्त्र सुदर्शन चक्र का अवतार समझा जाता है।

अवतारों के चार प्रकार हैं : (१) पूर्ण-जैसे भगवान् कृष्ण तथा भगवान् राम; (२) कला (पूर्णतः पूर्ण नहीं) जैसे मत्स्य, वराह, हंस आदि; (३) अंश-जैसे जड़भरत, नर-नारायण आदि; (४) अंशांश-जैसे श्री शंकर, श्री रामानुज, श्री निम्बार्क आदि।

विष्णुयान में श्री निम्बार्काचार्य की आध्यात्मिक वंशावली का वर्णन निम्नांकित क्रमानुसार किया गया है : "श्री नारायण के मुख-कमल से अष्टादश अक्षरों वाले पवित्र गोपाल-मन्त्र का आविर्भाव हुआ। इसे हंस भगवान् को प्रदान किया गया। हंस भगवान् ने इस मन्त्र की दीक्षा कुमारों को दी जिसे कुमारों ने ऋषि नारद के समक्ष उद्‌घाटित किया। नारद ने यह मन्त्र अपने शिष्य श्री निम्बार्क को दिया और श्री निम्बार्क ने इस मन्त्र की दीक्षा अपने शिष्य श्रीनिवासाचार्य को दी।"

श्री निम्बार्काचार्य दया, धर्मनिष्ठा, प्रेम, अनुग्रह, उदारता तथा अन्य दिव्य गुणों की प्रतिमूर्ति थे। उन्होंने नीम ग्राम में कठोर तप किया जिसके फल-स्वरूप उन्हें वहाँ भगवान् कृष्ण के दर्शन हए। श्री निम्बार्क ने केवल उसी ग्राम में चमत्कार का प्रदर्शन किया था। उस समय संन्यासी-वेश-धारी ब्रह्मा वहाँ भिक्षा के लिए गये हुए थे। निम्बार्क-सम्प्रदाय का एक दूसरा पवित्र स्थल राजस्थान-स्थित सलेम्बाबाद है। यहाँ एक प्रभावशाली महन्त रहते हैं। यहाँ एक निम्बार्क-मन्दिर भी है।

वृन्दावन, नन्दग्राम, बरसाना, गोवर्धन तथा नीम ग्राम निम्बार्काचार्य के अनुयायियों के लिए मुख्य क्षेत्र या पावन भूमि हैं। १६८ मील में विस्तृत ब्रजभूमि की परिक्रमा इनका प्राथमिक कर्तव्य एवं विभिन्न अवसरों पर गोवर्धन से दो मील दूर नीम ग्राम-स्थित निम्बार्क-मन्दिर की यात्रा इनका साम्प्रदायिक कर्तव्य है।

निम्बार्क-सम्प्रदाय के लोग अधिकतर व्रजभूमि अर्थात् वृन्दावन, नन्दग्राम, बरसाना तथा गोवर्धन आदि में पाये जाते हैं। जयपुर, जोधपुर, भरतपुर, ग्वालियर, बर्दवान तथा ओकारा इसके मुख्य केन्द्र हैं। ये लोग मध्य भारत, बिहार, उत्कल तथा पश्चिम बंगाल में भी हैं।

द्वैताद्वैत-दर्शन

श्री निम्बार्काचार्य ने निम्नांकित ग्रन्थों की रचना की : वेदान्त पारिजात सौरभ, ब्रह्मसूत्र पर एक भाष्य; भगवद्गीता पर भाष्य; सदाचार प्रकाश, कर्मकाण्ड पर एक ग्रन्थ; रहस्य षोडशी, श्री गोपाल-मन्त्र की एक पद्यात्मक व्याख्या; प्रपंच कल्प वल्ली, श्री मुकुन्द-मन्त्र की एक पद्यात्मक व्याख्या; प्रपत्ति चिन्तामणि, सर्वोच्च शरण-स्थान के सम्बन्ध में एक ग्रन्थ; प्रातःस्मरण-स्तोत्रम्, एक भजनावली, दशश्लोकी अर्थात् कामधेनु, दश पद्यात्मक अमृत वाणियाँ तथा सविशेष-निर्विशेष श्रीकृष्ण स्तवम्।

श्री निम्बार्काचार्य दर्शन की द्वैताद्वैत शाखा के प्रतिपादक थे। इस सम्प्रदाय के अनुयायी राधा तथा कृष्ण की उपासना करते हैं। इनके लिए भागवत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धर्मग्रन्थ है। ब्रह्म से जीव तथा जगत् का भेद एवं अभेद दोनों है। इस मत के अनुयायी मथुरा तथा वृन्दावन में आज भी पाये जाते हैं।

शंकर केवलाद्वैत-दर्शन के, रामानुज विशिष्टाद्वैत-दर्शन के, मध्वाचार्य द्वैत-दर्शन के, वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैत-दर्शन के तथा निम्बार्काचार्य द्वैताद्वैत-दर्शन के प्रतिपादक थे। ये सभी महान् पुरुष थे। हम यह नहीं कह सकते कि शंकर रामानुज से या वल्लभ निम्बार्क से महान् थे। ये सभी अवतार-पुरुष थे। इनमें से प्रत्येक एक निश्चित लक्ष्य की पूर्ति तथा एक निश्चित सिद्धान्त के प्रचार-प्रसार के लिए इस धरा-धाम पर अवतरित हुआ था। एक विशेष कालावधि में रहने वाले तथा भक्ति के एक स्तर-विशेष पर पहुँचे हुए लोगों के आध्यात्मिक विकास के लिए उक्त सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार आवश्यक था। प्रत्येक दर्शन किसी व्यक्ति-विशेष के लिए ही उपयुक्त होता है।

वेदान्त-दर्शन के उच्चतम सिद्धान्त का सम्यक् बोध सभी लोगों के लिए शीघ्र ही सम्भव नहीं हो सकता। इसके पूर्व कि कोई व्यक्ति शंकर के अद्वैत-वेदान्त का तत्त्वार्थ-ग्रहण सम्यक्-रूपेण कर सके, उसको अपने मन का नियमन समुचित रूप से करना होगा जिससे वह इस अभियान में एक उपयुक्त माध्यम सिद्ध हो सके।

सभी आचार्यों को नमस्कार ! वे महिमान्वित हों! उनका आशीर्वाद हमें प्राप्त होता रहे !

रामानन्द

रामानन्द यामुनाचार्य के शिष्य तथा विशिष्टाद्वैत-दर्शन के प्रतिपादक थे। जहाँ तक धार्मिक मत-सम्बन्धी उत्तराधिकार का प्रश्न है, रामानुज की चार पीढ़ियों के पश्चात् रामानन्द का प्रादुर्भाव हुआ। इनका जन्म १२९९ ई. में प्रयाग अर्थात् आधुनिक इलाहाबाद में हुआ। इनके कान्यकुब्ज ब्राह्मण पिता का नाम पुण्यसदन तथा इनकी माता का नाम सुशीला था। सन् १४१० में इन्होंने महासमाधि ग्रहण की।

श्री रामानन्द एक महान् वैष्णव तथा भक्त थे। उनके अनुयायी राम की उपासना करते हैं। इन्हें रामानन्दी या रामावत कहा जाता है। इनमें जो गृह-त्याग कर भिक्षा-वृत्ति से जीवन-यापन करते हैं, उनको वैरागी कहा जाता है।

रामानन्द एक विशाल-हृदय व्यक्ति थे। उनके शिष्यों में प्रत्येक जाति के लोग थे। आयु की परिपक्वता के पूर्व ही उनका पाण्डित्य परिपक्व हो गया था। अध्ययन के लिए उनको वाराणसी भेजा गया। वहाँ उन्होंने रामानुजीय वैष्णव-मत के लब्धप्रतिष्ठ आचार्य श्री राघवानन्द का शिष्यत्व ग्रहण किया। राघवानन्द का सम्बन्ध शास्त्रानुमोदित वैष्णव-मत से था; किन्तु रामानन्द अत्यन्त सहिष्णु तथा उदार थे। उनका हृदय जातीय पूर्वाग्रह तथा ब्राह्मणों की वर्णगत वरिष्ठता की धारणा से सर्वथा मुक्त था। भगवान् हरि का प्रत्येक भक्त उनका प्रेमपात्र था। वे मानव जाति की एकता के प्रति आस्थावान् थे। उन्होंने प्रत्येक जाति, प्रत्येक मत तथा प्रत्येक वर्ण के लोगों के लिए स्वर्ग के द्वार को उन्मुक्त कर दिया था। वे प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक स्थान पर प्रशिक्षित कर लेते थे। रामानन्द में रूढ़िवादी वैष्णव-मत की संकीर्णता का अभाव था। एक बार उनके गुरु राघवानन्द से उनके वाद-विवाद में कटुता आ गयी जिसके फल-स्वरूप उन्हें उनका परित्याग करना पड़ा। रामानन्द ने कहा- "किसी को किसी से उसकी या उसके सहभोजी की जाति के सम्बन्ध में कुछ नहीं पूछना चाहिए। यदि किसी में भगवान् विष्णु के प्रति भक्ति-भाव है, तो वह विष्णु का कृपा-पात्र हो जाता है।"

गौराङ्ग

रामानन्द ने अपने सत्संग में उच्च तथा निम्न, सबको सम-भाव से देखा। उनके बारह शिष्यों में तीन ब्राह्मण, एक मुसलमान, एक जुलाहा, एक राजपूत, एक जाट, एक नाई, एक मोची तथा दो महिलाएँ थीं। ये बारह शिष्य थे-जुलाहा कबीर, मोची रैदास, राजपूत राजा पीपा, जाट धन्ना, नाई सेना, नरहरीयानन्द, सुरसुरानन्द, भवानन्द तथा अनन्तानन्द। महिला शिष्यों के नाम थे-पद्मावती तथा सुरसरि।

परा-भक्ति में परमात्मा के प्रति पूर्ण प्रेम सन्निहित रहता है और परमात्मा के सभी दास एक-दूसरे के बन्धु होते हैं-इन दो मूल सिद्धान्तों पर रामानन्द के शिष्य अत्यधिक बल देते हैं।

रामानन्द के शिष्यों में से कबीर, सेना तथा रैदास ने अपने मतों की अलग-अलग शाखाएँ स्थापित कर लीं।

रामानन्द ने श्री रामानुज के वैष्णव-मत को ग्रहण किया था; किन्तु उनकी भक्ति राम तथा सीता के प्रति थी जो जन-मानस को अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित करती थी।

इस सम्प्रदाय के दीक्षा नमः'। रामानन्दी तिलक रामानुज के अनुयायियों के तिलक-जैसा ही होता है। अन्तर केवल इतना है कि भाल पर लम्बायमान रामानन्दी तिलक की रक्तिम रेखा आकृति तथा लम्बाई में कुछ भिन्न एवं संकीर्ण होती है। मन्त्र हैं- 'श्री राम' तथा 'ॐ रां रामाय

भारत के गांगेय परिक्षेत्र में रामानन्द के बहुसंख्य अनुयायी हैं। गंगा-यमुना के समस्त तटीय प्रदेश में वे बसे हुए हैं।

जन्म तथा वंश

पश्चिम बंगाल में कलकत्ता से पचहत्तर मील उत्तर में गंगा-तट पर स्थित नवद्वीप नगर शास्त्रविद् लोगों का नगर था। पण्डित जगन्नाथ मिश्र, जिनका उपनाम पुरन्दर मिश्र था और जो वैदिक उप-जाति के एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे, सिलहट से प्रव्रजित हो कर नवद्वीप नगर में आ बसे थे। जगन्नाथ मिश्र की पत्नी शचीदेवी कृतविद्य नीलाम्बर चक्रवर्ती की पुत्री थीं। वे एक धर्मनिष्ठ महिला थीं। ४ फरवरी १४८६ ई. की पूर्णिमा की रात्रि में उनको एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई।

नवजात शिशु का नाम विश्वम्भर रखा गया। वह जगन्नाथ मिश्र तथा शची देवी की दशम सन्तान था। इसके पूर्व जन्म-ग्रहण करने वाली उनकी आठ कन्याओं का जन्म के पश्चात् तत्काल देहान्त हो गया था। नवम सन्तान विश्वरूप पुत्र था। सोलह वर्ष की आयु में जब उसे विवाह के लिए बाध्य किया जा रहा था, वह गृह त्याग कर दक्षिण भारत के एक मठ में प्रविष्ट हो गया। यह सोच कर कि शची की कई सन्तानें काल-कवलित हो गर्मी, स्त्रियों ने दुष्टात्माओं से त्राण के लिए विश्वम्भर को निमाई के नाम से अभिहित कर दिया (निमाई शब्द नीम से व्युत्पन्न है)। उसके चमत्कारिक सौन्दर्य के कारण प्रतिवेशी उसे 'गौर' या 'गौर हरि' या 'गौराङ्ग' कहा करते थे। 'गौर' का अर्थ है सुन्दर तथा 'अंग' का अर्थ है शरीर। वे लोग उसे 'गौर हरि' कहा करते थे; क्योंकि हरि-नाम उसे इतना प्रिय था कि शैशवावस्था में जब वह रोने लगता था, तब उसे शान्त करने के लिए हरि-नाम की ही आवृत्ति करनी पड़ती थी।

बाल्यावस्था तथा अध्ययन

न्यायशास्त्र के लब्ध-प्रतिष्ठ आचार्य वासुदेव सार्वभौम की पाठशाला में गौराङ्ग ने तर्कशास्त्र का अध्ययन किया। उनकी असाधारण मेधा ने उनकी ओर 'दीधिति' नामक तर्कशास्त्र के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ के प्रणेता रघुनाथ का ध्यान आकर्षित किया। रघुनाथ ने मन-ही-मन सोचा कि वे (गौराङ्ग) संसार के सर्वाधिक प्रतिभा-सम्पन्न युवक और स्वयं अपने आचार्य सार्वभौम से भी अधिक मेधावी हैं। रघुनाथ की महत्त्वाकांक्षा थी कि समस्त संसार में वे विद्वत्ता में एक अग्रणी व्यक्ति के रूप में प्रख्यात हों; किन्तु जब उन्होंने देखा कि आयु में कनिष्ठ होते हुए भी गौराङ्ग उनसे अधिक मेधावी एवं विद्वान् हैं, तब उनकी आशा क्षीण होने लगी। वे भयभीत हो उठे। गौराङ्ग उन दिनों न्यायशास्त्र पर एक भाष्य की रचना कर रहे थे। इससे रघुनाथ और अधिक अधीर तथा उत्तेजित हो उठे। रघुनाथ को गौराङ्ग के भाष्य को देखने की इच्छा हुई; किन्तु इसके लिए गौराङ्ग की अनुमति के प्रति वे आश्वस्त नहीं थे। फिर भी, उन्होंने गौराङ्ग से न्यायशास्त्र पर अपना भाष्य दिखाने की प्रार्थना की। गौराङ्ग ने उनके समक्ष अपने भाष्य के पाठ के सम्बन्ध में अपनी सहमति व्यक्त कर दी। नौका द्वारा नदी पार करते समय गौराङ्ग ने रघुनाथ के समक्ष अपने भाष्य का पाठ किया और तब रघुनाथ इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि गौराङ्ग का भाष्य एक पाण्डित्यपूर्ण मौलिक विवरण था। संसार में न्याय के आचार्य के शीर्षस्थ पद के ग्रहण के सम्बन्ध में उनकी जो आशाएँ थीं, वे ध्वस्त हो गयीं। वे फूट-फूट कर रोने लगे। गौराङ्ग ने पूछा- "क्या बात हो गयी, बन्धु रघुनाथ ? आप रोते क्यों हैं? मैं आपको आश्वस्ति प्रदान करूँगा।"

रघुनाथ ने निष्कपट भाव से कहा- "बन्धु गौराङ्ग! मेरी यह प्रबल महत्त्वाकांक्षा है कि मैं समस्त संसार में न्याय के आचार्य के रूप में प्रथम स्थान प्राप्त करूँ। इसी आशा में मैंने न्याय पर यह सोच कर एक ग्रन्थ लिखा है कि इसके समक्ष प्रचलित ग्रन्थ निष्प्रभ हो जायेंगे; किन्तु अब मेरी आशाओं का दुर्ग ध्वस्त हो गया, क्योंकि तुम्हारी कृति मेरी कृति से श्रेष्ठतर है। यह संक्षिप्त, सुस्पष्ट तथा मौलिक है। निस्सन्देह यह एक विद्वत्तापूर्ण कृति है। मेरे रोने का यही कारण था।"

गौराङ्ग के नेत्रों से अश्रुपात होने लगा। उन्होंने रघुनाथ से कहा- "इस महत्त्वहीन बात पर रोने की कोई आवश्यकता नहीं है, मेरे बन्धु ! न्याय तो एक शुष्क दर्शन है। इससे मैं अधिक लाभान्वित भी नहीं हो पाऊँगा।" इतना कह कर उन्होंने पाण्डुलिपि को नदी में फेंक दिया और उसी क्षण से न्याय के अध्ययन का परित्याग भी कर दिया। गौराङ्ग का हृदय कितना उदार, कितना विशाल था! इस प्रकार गौराङ्ग का न्याय-ग्रन्थ संसार से विलुप्त हो गया और रघुनाथ का 'दीधिति' नामक ग्रन्थ न्याय के प्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में समादृत होने लगा।

व्याकरण, तर्कशास्त्र, साहित्य, अलंकारशास्त्र, दर्शन तथा धर्मशास्त्र-संस्कृत-वाङ्मय की इन समस्त विधाओं में गौराङ्ग सुदक्ष थे। उनकी चमत्कारिक प्रतिभा का उत्तरोत्तर विकास होता गया। वे एक प्रचण्ड मेधा-सम्पन्न व्यक्ति थे। उन्होंने स्वयं एक टोल अर्थात् पाठशाला की स्थापना की। तब उनकी आयु मात्र सोलह वर्ष की थी और टोल के प्रभारी आचार्यों में आयु की दृष्टि से वे कनिष्ठतम थे।

गौराङ्ग सदय, संवेदनशील, निष्कलुष तथा भद्र थे। उनका हृदय माधुर्य तथा प्रेम से परिपूरित था। वे सहृदयता तथा सहानुभूति की प्रतिमूर्ति थे। वे निर्धनों के सखा, सहचर तथा सेवक थे। वे उनको सदैव प्रसन्न रखते थे। उनके जीवन में कृत्रिमता के लिए कोई स्थान न था।

गौराङ्ग के पिता की मृत्यु

गौराङ्ग के विद्यार्थी-जीवन में ही उनके पिता का देहान्त हो गया। इसके पश्चात् वल्लभाचार्य की पुत्री लक्ष्मी से उनका विवाह हुआ। पाण्डित्य में उन्होंने स्वयं को अनेक विद्वानों से श्रेष्ठतर सिद्ध किया। यहाँ तक कि उन्होंने दूसरे प्रान्त के एक लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् को भी परास्त कर दिया। उन्होंने बंगाल के पूर्वी अंचल की यात्रा की जहाँ उनको धर्म-निष्ठ तथा उदार-हृदय गृहस्थों की ओर से अनेक बहुमूल्य उपहार प्राप्त हुए। उधर से लौटने पर उनको ज्ञात हुआ कि उनकी अनुपस्थिति में सर्प दंश के कारण उनकी पत्नी का देहान्त हो गया था। तत्पश्चात् उनका विवाह विष्णुप्रिया से हुआ। वे अध्यापन के साथ-साथ अपने शिष्यों का मनोरंजन भी करते थे। उन्हें अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य का अहंकार हो गया था।

गौराङ्ग के जीवन का एक संक्रान्ति काल

१५०९ ई. में गौराङ्ग ने अपने सहचरों के साथ गया की तीर्थ-यात्रा की। वहाँ उन्होंने माध्व-सम्प्रदाय के संन्यासी ईश्वर पुरी के दर्शन किये और उनको अपना गुरु मान लिया। यहीं से उनके जीवन में एक चमत्कारिक रूपान्तरण का श्रीगणेश होने लगा। वे भगवान् कृष्ण के उपासक हो गये। उनमें विद्वत्ता का जो अहंकार था, वह पूर्णतः विनष्ट हो गया। वे उच्च स्वर में बोल उठे- "कृष्ण ! कृष्ण ! हरि बोल, हरि बोल।" कृष्ण-प्रेम-जनित आनन्द के अतिरेक में वे हँसने, रोने, उछलने-कूदने तथा नृत्य करने लगते थे। जब वे इस प्रकार के भावावेश में होते थे, तब उनके लिए अन्न-जल ग्रहण करना सम्भव नहीं हो पाता था।

गौराङ्ग भगवान् कृष्ण के चरण-चिह्नों के दर्शन के लिए गदाधर-मन्दिर गये। वे उन चरण-चिह्नों के समक्ष एक प्रतिमा की भाँति निश्चल खड़े हो गये। वे पूर्णतः ध्यानावस्थित हो गये। उनके नेत्रों से अविराम अश्रु-वर्षण होने लगा जिससे

उनके वस्त्र अश्रु से आप्लावित हो गये। वे धराशायी होने ही वाले थे कि ईश्वर पुरी ने आगे बढ़ कर उन्हें सँभाल लिया। धीरे-धीरे उनकी चेतना जाग्रत हो पायी। उन्होंने ईश्वर पुरी से कहा- "हे श्रद्धेय गुरुदेव, मुझ पर दया कर मुझे संसार-कलिल से मुक्त कीजिए और कृष्ण के प्रति राधा के प्रेम के रहस्य को मेरे समक्ष अनावृत कीजिए। भगवान् कृष्ण के प्रति मुझमें विशुद्ध प्रेम का विकास हो और मैं कृष्ण-प्रेम-रस का अमृत-पान करता रहूँ।"

तत्पश्चात् ईश्वर पुरी ने उन्हें भगवान् कृष्ण के दशाक्षर-मन्त्र की दीक्षा दी। इसके फल-स्वरूप गौराङ्ग के हृदय में पूर्व राग का उदय हुआ। वे सर्वदा ध्यान में लीन रहने लगे। उनको अन्न ग्रहण का स्मरण भी नहीं हो पाता था और उनके नेत्रों से अश्रु झरते रहते थे। कभी-कभी वे संज्ञाशून्य भी हो जाते थे और संज्ञस्त होने पर पुनः पुनः कहने लगते थे- "हे भगवान् कृष्ण, हे मेरे पिता, तुम कहाँ हो ? मैं तुम्हारे बिना जीवित नहीं रह सकता। तुम मेरे एकमात्र आश्रय और आश्वासक हो। यथार्थतः तुम्हीं मेरे पिता, तुम्हीं मेरी माता, तुम्हीं मेरे सखा, तुम्हीं मेरे सम्बन्धी तथा तुम्हीं मेरे गुरु हो। तुम अपने स्वरूप को मेरे समक्ष सर्वदा प्रकट करते रहो।" गौराङ्ग कभी-कभी रिक्त नेत्रों से एकटक देखते रहते और कभी-कभी ध्यान मुद्रा में बैठ जाते। वे अपने मौन अश्रु-कणों को अपने सहचरों से गुप्त ही रखना चाहते थे। कभी-कभी उनको अपने प्रतिवेश का भी ज्ञान नहीं रह जाता था। गौराङ्ग वृन्दावन जाना चाहते थे; किन्तु उनके सहचर उनको बलात् नवद्वीप लौटा लाये।

निताई

निताई का नाम नित्यानन्द था। जन्म से वे ब्राह्मण थे। बारह वर्ष की अल्पायु से ही वे तपस्वी-जीवन व्यतीत करने लगे थे। वे कृष्ण की खोज में इतस्ततः भ्रमण किया करते थे। गौराङ्ग उनको अपने घर ले आये और अपनी माता से उनका परिचय कराते हुए कहा- "हे माता, यह तुम्हारा एक अन्य पुत्र है जो मेरा अग्रज है। तुम अपने जिस विश्वरूप से वंचित हो गयी थी, वह तुम्हारे पास पुनः लौट आया है। इसे तुम अपना विश्वरूप ही समझो।" शची ने निताई से कहा- "यहाँ आओ, पुत्र ! तुम अपने अनुज का ध्यान रखो और उसकी रक्षा करो। वह अपने प्रति उदासीन तथा अबोध है। मुझे अब उसकी चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। बैठ जाओ और प्रसन्न मन से भोजन करो।"

नित्यानन्द ने अनेक स्थानों पर संकीर्तन का आयोजन किया और नवद्वीप हरि-नाम की प्रतिध्वनि से गूंज उठा। निताई सारी रात राधा तथा कृष्ण का गुण-गान करते रहते। प्रायः धार्मिक शोभा यात्राओं का आयोजन हुआ करता था जिनमें गौराङ्ग तथा नित्यानन्द के नेतृत्व में भक्तजन नाचते-गाते चलते थे या घरों के प्रांगण में एकत्र हुआ करते थे।

गौराङ्ग प्रेम की प्रतिमूर्ति थे। वे सर्वांगतः प्रेम में समाहित थे। वस्तुतः उनका अस्तित्व प्रेम का पर्याय बन चुका था। उनकी वाणी प्रेममयी थी; उनके प्रेम की रश्मियाँ सब पर विकीर्ण हुआ करती थीं। उनके स्पर्श में चुम्बकीय शक्ति थी। उनके गीत, उनके श्वास-प्रश्वास तथा उनका व्रजन - यह सभी कुछ प्रेम द्वारा स्फुरित था। उनका अध्यापन नियमों तथा निर्देशों के माध्यम से कम तथा दृष्टान्तों के माध्यम से अधिक होता था। "तुम्हें भक्ति का आशीर्वाद प्राप्त होगा." उनके ये शब्द ही किसी व्यक्ति को समाधिस्थ तथा उसके हृदय को प्रेम-पूरित करने के लिए पर्याप्त थे। ऐसी थी गौराङ्ग की शक्ति।

जब गौराङ्ग किसी मार्ग से निकलते थे, तब उनके प्रेम-प्रवाह से सहस्र-सहस्र जन प्रभावित एवं अभिभूत हो उठते और बिना किसी विघ्न-बाधा के आनन्दातिरेक में नृत्य करने लगते थे।

गौराङ्ग का संन्यास-ग्रहण

कृतविद्य तथा परम्परा-निष्ठा लोग गौराङ्ग से घृणा तथा उनका विरोध करने लगे; किन्तु गौराङ्ग अविचलित रहे। उन्होंने कुछ ही लोगों का मत-परिवर्तन किया था। उन्होंने इन लोगों की मुक्ति के लिए संन्यास-ग्रहण का निश्चय किया। उन्होंने मन-ही-मन सोचा- "इन दम्भी पण्डितों तथा परम्परा-निष्ठ गृहस्थों की मुक्ति के लिए मैं कृत-संकल्प हूँ; अतः मेरे लिए संन्यास-ग्रहण अत्यावश्यक है। मेरे संन्यास-ग्रहण के पश्चात् ये लोग मुझे देख कर प्रणाम करेंगे जिसके फल-स्वरूप ये लोग पवित्र हो जायेंगे तथा इनका हृदय भक्ति-भाव से परिपूरित हो उठेगा। इन लोगों के लिए मुक्ति-प्राप्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है।"

अतः चौबीस वर्ष की आयु में गौराङ्ग ने स्वामी केशव भारती से संन्यास-दीक्षा ले ली और उनको कृष्ण चैतन्य के नाम से अभिहित किया गया। संक्षेप में उन्हें चैतन्य कहा जाता था। उनके संन्यास-ग्रहण से उनकी कोमल-हृदया माता शोकार्त हो उठीं; किन्तु चैतन्य ने उन्हें प्रत्येक सम्भव उपाय से सान्त्वना प्रदान की। वे उनकी इच्छाओं का पालन करते रहे।

चैतन्य पूर्णतः विरक्त थे। उन्होंने ऐन्द्रिय सुखों का विष की भाँति परित्याग कर दिया था। वे संन्यास की आचार संहिता का कठोरतापूर्वक पालन करते थे। उन्होंने उत्कल-नरेश राजा प्रताप रुद्र से भेंट करने में अपनी असहमति व्यक्त कर दी; क्योंकि संन्यासी के लिए राजा का दर्शन घोर पाप होता है। यह स्त्री-दर्शन के पाप के समकक्ष होता है। यदि कोई संन्यासी किसी राजा को देख लेगा, तो वह धीरे-धीरे उसके प्रति आसक्त होने लगेगा। जैसा कि अनुकरण मन का धर्म है. वह विलासिता का जीवन व्यतीत करने लगेगा जिसके फल-स्वरूप अन्ततः उसका पतन सुनिश्चित हो जायेगा। इसी कारण संन्यासी के लिए राजा का दर्शन वर्जित है। गौराङ्ग की दृष्टि-परिधि में किसी रमणी का मुख-मण्डल कभी नहीं आ पाया। उन्होंने किसी भी स्त्री को अपने समीप आने की अनुमति नहीं दी। वे नग्न-शरीर से भूमि पर शयन करते थे।

गौराङ्ग एक महान् वैष्णव उपदेशक थे। उन्होंने वैष्णव-मत तथा उसके धार्मिक सिद्धान्तों का दूर-दूर तक प्रचार-प्रसार किया। नित्यानन्द, सनातन, रूप, स्वरूप, दामोदर, अद्वैताचार्य, श्रीवास, हरिदास, मुरारी, गदाधर तथा अन्य लोगों ने चैतन्य के धर्म-प्रचार में उनको सहयोग प्रदान किया।

जगाई तथा मधाई का मतान्तरण

जगाई और मधाई इतिहास के पृष्ठों पर अब तक अंकित पापियों तथा अपराध-कर्मियों में निकृष्टतम थे। वे भाई-भाई थे। वे नवद्वीप के कोतवाल थे जो समृद्ध लोगों को लूटते, स्त्रियों का सतीत्व भंग करते और नगण्य बातों पर भी उत्तेजित हो कर लोगों की हत्या कर देते थे। धरती पर ऐसा कोई जघन्य अपराध नहीं था जिसे उन दो भाइयों ने नहीं किया हो। ब्राह्मण हो कर भी वे उद्दाम मद्यप थे।

चैतन्य तथा निताई ने दोनों भाइयों के सुधार का उत्तरदायित्व ग्रहण किया। चैतन्य ने अपने भक्तों के समक्ष कीर्तन करते हुए जगाई और मधाई के शिविर में जाने तथा वहाँ जा कर उन दोनों को हरि-नाम की दीक्षा देने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया।

चैतन्य और उनके भक्तों ने सड़क पर आ कर संकीर्तन प्रारम्भ कर दिया। संकीर्तन-दल का नेतृत्व निताई के हाथों में था। वे दल को जगाई तथा मधाई के शिविर में ले गये। वहाँ अब उनके सम्मुख दोनों भाई खड़े थे। निताई ने कहा- "प्रिय बन्धुओ, कृपया आप लोग अब कृष्ण का नाम लीजिए और उनकी सेवा कीजिए; क्योंकि वे सर्वोच्च स्वामी हैं।" इस उपदेश से मधाई, जो जगाई से अधिक शक्तिशाली था, उत्तेजित हो उठा। उसने एक भग्न मृत्तिका-पात्र के शिरोभाग को निताई के ऊपर फेंका जिससे उनके ललाट में गहरा घाव हो गया और वहाँ से रक्त की धारा बहने लगी। इसे रोकने के लिए निताई ने ललाट के आहत भाग को अपने दोनों हाथों से दबा लिया। मधाई ने निताई के

शिर पर एक बार और प्रहार करना चाहा; किन्तु जगाई ने उसे पकड़ कर उससे उलाहना-भरे शब्दों में कहा- "रुक जाओ, मधाई। तुम अत्यन्त निर्मम हो। एक संन्यासी की हत्या से क्या लाभ ! यह तुम्हारे लिए उचित नहीं होगा।"

कीर्तन-दल के पीछे चल रहे गौराङ्ग को सूचित किया गया कि जगाई और मधाई निताई की हत्या कर रहे हैं। गौराङ्ग शीघ्र ही उस स्थान पर पहुँचे जहाँ आहत निताई खड़े थे। रक्त स्राव को रोकने के लिए उन्होंने निताई के ललाट को अपने वस्त्र से आच्छादित कर दिया। मधाई ने जब निताई पर दूसरा प्रहार करना चाहा था, तब जगाई ने उसे रोक लिया था; अतः गौराङ्ग ने जगाई को अपने आलिङ्गन में आबद्ध कर लिया। जगाई आत्म-विस्मृत हो कर भूमि पर गिर पड़ा। मधाई हताश था और उसकी वाणी कुण्ठित हो गयी थी। उसने उन्हें साष्टांग प्रणाम करते हुए कहा- "हे स्वामी, मैं घोर पापी हूँ। मुझ पर दया कीजिए।" गौराङ्ग ने मधाई को निताई के पास जा कर उनसे क्षमा-याचना करने के लिए कहा। मधाई ने निताई से क्षमा-याचना की और निताई ने क्षमा कर उसे आलिंगित कर लिया। अपने भाई की भाँति मधाई भी आत्म-विस्मृत हो कर धराशायी हो गया।

इसके पश्चात् वे पवित्र-हृदय सन्त हो गये। इसके पूर्व वे अपनी क्रूरता के लिए जितने अधिक घृणित तथा भयप्रद समझे जाते थे, अब वे उतने ही अधिक जनप्रिय हो गये। वे आत्यन्तिक विनम्रतापूर्वक घुटनों के बल चलते हुए नदी-तट की ओर जाने वाले प्रत्येक स्नानार्थी की भृत्योचित सेवा के लिए तत्पर रहने लगे और इस प्रकार उन्होंने अतीत में किये गये अपने कुकृत्यों के लिए प्रायश्चित्त कर लिया। उन्होंने स्वयं अपने हाथों में फावड़ा ले कर एक घाट का निर्माण किया जो नवद्वीप में आज भी 'मधाई-घाट' के नाम से प्रसिद्ध है।

धोबी से वार्तालाप

एक दिन गौराङ्ग अपने सहचरों के साथ एक धोबी के यहाँ पहुँचे जो एक काष्ठ-पट्टिका पर वस्त्र-प्रक्षालन कर रहा था। उन्होंने उससे 'हरि बोल' कहने के लिए कहा। धोबी ने सोचा कि यह भिक्षुक उससे भिक्षा-ग्रहण करने आया है। उसने गौराङ्ग से कहा- "हे भिक्षुक, मैं नितान्त निर्धन हूँ। मेरे पास आपको देने के लिए कुछ भी नहीं है।" गौराङ्ग ने कहा- "मैं तुमसे कुछ भी नहीं चाहता। केवल तुम कम-से-कम एक बार 'हरि बोल' कह दो।" किन्तु धोबी सहमत नहीं हो सका।

उसने सोचा कि उसे भिक्षुक को कुछ देना होगा। उसने कहा- "मैं अत्यन्त निर्धन हूँ। आपने मुझसे जिस नाम के उच्चारण का अनुरोध किया है, उसके लिए मैं वस्त्र-प्रक्षालन का कार्य स्थगित नहीं कर सकता।" गौराङ्ग ने कहा- "मैं तुम्हारा यह कार्य स्वयं किये देता हूँ। तुम केवल 'हरि बोल' कह दो।" धोबी ने कहा- "हरि बोल।" तब गौराङ्ग ने उससे इन दो शब्दों की दो बार पुनरावृत्ति करने को कहा। धोबी ने ऐसा ही किया। इसके पश्चात् शीघ्र ही उसके हृदय में भक्ति की ज्वाला प्रज्वलित हो उठी और वह बिना किसी अनुरोध के ही 'हरि-नाम' की रट लगाने लगा। इतना ही नहीं, वह दोनों हाथ ऊपर उठा कर नृत्य भी करने लगा।

धोबी की पत्नी जब उसके लिए भोजन ले कर आयी, तब उसने देखा कि उसका पति दोनों हाथ ऊपर उठा कर 'हरि बोल, हरि बोल' कहते हुए नृत्य कर रहा है। उसने इस बात पर विशेष ध्यान दिया कि वह अपने परिवेश से पूर्णतः अनभिज्ञ हो चुका है। उसने उसे उच्च स्वर से पुकार कर उसकी चेतना को जाग्रत करना चाहा; किन्तु उसका प्रयत्न निष्फल रहा। वह भयभीत हो उठी। गाँव में जा कर उसने अपने सम्बन्धियों तथा पड़ोसियों से कहा- "मेरा पति प्रेताविष्ट हो गया है। कृपया, आप लोग उसे प्रेत-बाधा से मुक्त करने में मेरी सहायता कीजिए।" वे लोग धोबी को देखने के लिए शीघ्र ही वहाँ जा पहुँचे। वह उस समय भी आनन्दातिरेक में नृत्य किये जा रहा था। उसके निकट जाने में लोगों को भय हो रहा था। अन्ततः एक साहसी व्यक्ति ने उसे पकड़ कर नृत्य से विरत करना चाहा; किन्तु 'हरि बोल' के 'संक्रामक रोग' से ग्रस्त हो कर वह भी 'हरि बोल' की रट लगाते हुए नृत्य करने लगा। जब उसने दर्शकों को आलिंगन में आबद्ध किया, तब वे लोग भी इस 'संक्रामक रोग' से ग्रस्त हो कर हर्षातिरेक में नृत्य करने

लगे। गाँव के सभी लोग इससे प्रभावित हुए। इस नृत्य का कुछ देर तक रसास्वादन करते रहने के पश्चात् गौराङ्ग वहाँ से चले गये।

तीर्थ-यात्रा

अपने सखा नित्यानन्द के साथ चैतन्य ने उत्कल की ओर प्रस्थान किया। वे जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ उन्होंने वैष्णव-धर्म का उपदेश दिया। इसके अतिरिक्त उन स्थानों पर उन्होंने संकीर्तन का भी आयोजन किया। उनके प्रति सहस्रों लोग आकर्षित हुए। पुरी में कुछ समय रुकने के पश्चात् वे दक्षिण की ओर चल पड़े। उधर उन्होंने तिरुपति की पहाड़ियों, कांचीपुरम् तथा कावेरी-तट पर स्थित विख्यात श्रीरंगम् की यात्रा की। श्रीरंगम् से वे मदुरै, रामेश्वरम् और कन्याकुमारी गये। इसके अतिरिक्त उन्होंने उडीपी, पण्ढरपुर तथा नासिक की भी यात्रा की। तत्पश्चात् वे वृन्दावन गये। वहाँ उन्होंने यमुन तथा कुछ पवित्र सरोवरों में स्नान कर वहाँ के अनेक मन्दिरों में पूजन-अर्चन किया। उन्होंने मन्दिरों में प्रार्थना की तथा हृदय की आत्यन्तिक तुष्टि-पर्यन् वे नृत्य करते रहे। वे अपनी जन्म-भूमि नवद्वीप में भी गये। अन्ततः वे पु लौट कर वहीं बस गये। उन्होंने अपने जीवन का शेषांश केवल पुरी में व्यतीत किया। उनके शिष्य तथा प्रशंसक उनके प्रति अपनी श्र अर्पित करने के लिए बंगाल, वृन्दावन तथा अन्य अनेक स्थानों से पुरी आते रहते थे। गौराङ्ग के कीर्तन तथा धार्मिक प्रवचन के कार्यक्रम प्रतिदिन चलते थे।

पुरी में चमत्कार

पूरी में एक चमत्कार हो गया। एक दिन रथ-यात्रा के महोत्सव के समय जगन्नाथ का रथ गति-शून्य हो गया। समस्त तीर्थ-यात्रियों की समवेत शक्ति भी उसके अग्रसरण में विफल सिद्ध हई। सभी लोग किंकर्तव्यविमूढ़ थे। उसी समय वहाँ गौराङ्ग का आगमन हुआ। उन्होंने अपने शिर से रथ को धक्का दिया और रथ तत्काल गतिमान हो गया। सभी तीर्थ-यात्रियों तथा भक्तों के हरि बोल' स्वर से आकाश गूंज उठा।

सार्वभौम का मतान्तरण

सार्वभौम भट्टाचार्य एक महान् वेदान्ती विद्वान थे। एक बार चैतन्य आनन्दातिरेक की मुद्रा में जगन्नाथ-मन्दिर में गये। वे विग्रह का आलिंगन करने के लिए तीव्र गति से आगे बढे: किन्तु गहन अचेतनावस्था में वे भूमि पर गिर पडे। प्रहरी उन पर प्रहार करने ही वाला था कि उत्कल-नरेश के अमात्य कृतविद्य पण्डित्य सार्वभौम भट्टाचार्य वहाँ आ गये और चैतन्य को उठा कर अपने घर ले गये। उनके विद्यार्थियों ने गौराङ्ग को कन्धों पर उठा कर घर के एक स्वच्छ स्थान पर रख दिया। भक्तों ने गौराङ्ग के कानों में उच्च स्वर में हरि-नाम का उद्‌घोष किया जिससे उनकी चेतना पुनः लौट आयी।

सार्वभौम ने सोचा कि गौराङ्ग मनोविकार-ग्रस्त तथा वेदान्त-ज्ञान-शून्य एक युवा व्यक्ति हैं। कीर्तन तथा नृत्य के प्रति वे विरक्त थे। उन्होंने गौराङ्ग को पुनः दीक्षित करना चाहा। गौराङ्ग उनका प्रवचन कई दिनों तक विनम्र भाव से सुनते रहे। सार्वभौम ने निम्नांकित श्लोक की नौ विभिन्न विधियों से व्याख्या की। इसके पश्चात् चैतन्य ने संस्कृत में अपनी दक्षता का प्रदर्शन करते हुए उसी श्लोक की व्याख्या इकसठ विभिन्न विधियों से कर दी। सार्वभौम इसे सुन कर स्तब्ध रह गये। श्लोक है :

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ।।

"हरि के गुण इतने मनोहर हैं कि निर्ग्रन्थ (माया या शास्त्रीय निषेधादेशों से असम्पृक्त होते हुए भी आत्माराम योगी ध्यानस्थ तथा उनके प्रति आकर्षित हो कर उरुक्रम हरि की निस्स्वार्थ सेवा तथा भक्ति में तल्लीन हो जाते हैं।"

सार्वभौम में न भक्ति थी, न उनको आत्म-साक्षात्कार ही हो पाया था। वे एक शुष्क विद्वान् मात्र थे। महान् विद्वान् होते हुए भी गौराङ्ग विनम्र थे। दसरों की भावनाओं को आहत करने वाली बातों से उनका कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा। वाद-विवाद में किसी को परास्त करने के पश्चात् वे हर्ष-विह्वल नहीं हो जाते थे। अन्ततोगत्वा गौराङ्ग ने सार्वभौम की एक-एक युक्ति का खण्डन करते हुए उनको वैष्णव-मत के प्रति आस्थावान् बना दिया। गौराङ्ग ने उन्हें आलिंगित कर लिया और दिव्यानन्द के आधिक्य के कारण सार्वभौम संज्ञा-शून्य हो गये। तत्पश्चात् वे उठ कर नृत्य करने लगे। गौराङ्ग को साष्टांग प्रणाम करते हुए उन्होंने कहा- "श्रद्धेय गुरुदेव, तर्कशास्त्र ने मेरे हृदय को लौहवत् कठोर बना दिया था और मैं भक्ति से पूर्णतः वंचित था; किन्तु अब मुझमें भक्ति-रस का उद्रेक होने लगा है। हे अपार शक्ति-सम्पन्न प्रभु, मैं आपको प्रणाम करता हूँ।"

वह अद्वैतमतावलम्बियों का प्रमुख हो या वैष्णवों का आचार्य हो, भगवान् गौराङ्ग की सभा में जो कोई भी आया, उन्होंने उसका मतान्तरण कर उसे अपने मत में दीक्षित कर लिया। वाराणसी के अद्वैताचार्य प्रकाशानन्द को भी उन्होंने दीक्षित किया। गौड़-नरेश के अमात्यों तथा काजी को भी उनके समक्ष अवनत-शिर होना पड़ा। उत्कल-नरेश गौराङ्ग के उत्कट एवं निष्ठावान् शिष्य हो गये और उनको भगवान् कृष्ण का अवतार मानने लगे।

कुष्ठरोगी का उपचार

वासुदेव एक विनम्र, धर्मनिष्ठ तथा सौम्य प्रकृति का ब्राह्मण था। वह घृणित रोग कुष्ठ से पीडित था। अपने शरीर से उत्सर्जित घृणास्पद दुर्गन्ध के कारण वह अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों से विलग रहने को विवश था। उसके घाव से जो कीटाणु बाहर निकलते थे. वह उन्हें पूनः उनके स्थान पर रख देता था। समदर्शी वासुदेव का हृदय करुणा से ओत-प्रोत था। उसका विचार या कि प्रत्येक जीवित प्राणी को जीवित रहने का समान अधिकार है और किसी को भी उसे उसके खाद्य-पदार्थ से वंचित करने का कोई अधिकार नहीं है। यह एक कोमल हृदय की कितनी स्तुत्य उदारता है!

वासुदेव कूर्म-मन्दिर के प्रतिवेश में ही रहता था। एक रात उसे कूर्म-मन्दिर में चैतन्य के आगमन की सूचना प्राप्त हुई। दूसरे दिन प्रातःकाल वह उनके दर्शन के लिए मन्दिर में गया; किन्तु वहाँ यह सुन कर कि वे वहाँ से एक घण्टा पहले ही जा चुके थे. वह दुःख तथा नैराश्य के कारण यह कहते हुए मूच्छित हो कर गिर पड़ा- "हे भगवान् कृष्ण, क्या तुमने मुझे विस्मृत कर दिया?" चैतन्य उधर से ही कहीं जा रहे थे। वासुदेव का क्रन्दन सुन कर वह मन्दिर की ओर तीव्र गति से चल पड़े। उन्होंने कुष्ठ रोगी को अंक में भर कर उसे अपने आलिंगन-पाश में आबद्ध कर लिया। शीघ्र ही वह रोगी कुष्ठ-मुक्त हो कर स्वस्थ-सुन्दर हो गया। उसने कहा- "हे भगवान् ! आपने मुझे आलिंगित किया, जब कि अन्य सभी लोग मेरे विक्षत शरीर को देख कर मुझसे दूर चले जाते थे। मैं यहाँ आपके प्रति अपना सम्मान प्रकट करने तथा आपके कमलवत् चरणों के दर्शन के लिए आया था। निश्चित रूप से मैं यहाँ रोगमुक्त होने के लिए नहीं आया था। इस घृणित व्याधि से मैंने विनम्रता, करुणा तथा निरन्तर हरि-नाम-स्मरण का पाठ ग्रहण किया है; किन्तु यह स्वस्थ शरीर मुझमें पुनः अहंकार तथा आत्म-प्रदर्शन की सृष्टि कर देगा और मैं प्रभु को विस्मृत कर दूँगा।”

चैतन्य ने उसे सान्त्वना प्रदान करते हुए कहा- वासुदेव, तुम पर भगवान् कृष्ण की कृपा है। तुममें अब मिथ्याभिमान का प्रवेश कभी नहीं हो सकेगा। तुम्हारी वित्रमता तथा प्राणिमात्र यहाँ तक कि तुम्हारा रक्त-शोषण करने वाले कीटाणुओं के प्रति भी तुम्हारी करुणा के कारण भगवान् कृष्ण ने तुम्हें अपना लिया है। तुम उनके नाम की रट लगाते हुए अन्य लोगों को भी उनके नाम स्मरण के लिए उत्प्रेरित करते हुए उनकी मुक्ति का माध्यम बनो।"

श्रीवास के निवास-स्थान पर कीर्तन

श्रीवास गौराङ्ग के निष्कपट भक्त थे। प्रथम कीर्तन-दल का निर्माण श्रीवास के घर के प्रांगण में ही हुआ था। कीर्तन अधिकतर वहीं हुआ करता था। श्रीवास के पौत्र ने 'चैतन्य-भागवत' की रचना अपने घर में की थी।

एक रात श्रीवास के घर में भव्य कीर्तन हुआ। गौराङ्ग तथा भक्तजन हर्षातिरेक में नृत्य कर रहे थे। उसी समय प्रांगण में एक दासी का प्रवेश हुआ जिसने सांकेतिक रूप से श्रीवास को अपना अनुगमन करने के लिए कहा। श्रीवास कीर्तन छोड़ कर घर के भीतर चले गये। उनका एकमात्र पुत्र विसूचिका रोग से गम्भीर रूप से ग्रस्त हो गया था। श्रीवास ने देखा कि मृत्यु उनके पुत्र के उत्तरोत्तर निकट चली आ रही है और उसकी माता रो रही है। श्रीवास ने उससे कहा- "रोने की कोई आवश्यकता नहीं। इससे हमारे प्रभु के आनन्द में व्यतिरेक उपस्थित होगा। यह हमारे लिए परम सौभाग्य की बात है कि जब हमारे पुत्र का प्राणान्त हो रहा है, तब हमारे घर में हरि-कीर्तन हो रहा है।" कुछ ही क्षणों में बालक की आत्मा ने शरीर का परित्याग कर दिया। श्रीवास कीर्तन में पुनः सम्मिलित हो गये और आनन्दातिरेक में नृत्य करने लगे। अपने पुत्र की मृत्यु से वे पूर्णतः अप्रभावित थे; किन्तु इस दुःखद घटना को अधिक देर तक गुप्त नहीं रखा जा सकता था। किसी तरह कीर्तन करने वाला एक व्यक्ति इस घटना से अवगत हो गया। उसने कीर्तन बन्द कर दिया। जब इसकी सूचना कीर्तन-दल के एक अन्य सदस्य को प्राप्त हुई, तब वह भी कीर्तन-दल से विलग हो कर श्रीवास की मनोदशा से परिचित होने का प्रयत्न करने लगा। धीरे-धीरे कीर्तन में पूर्ण विराम लग गया। गौराङ्ग ने भी कीर्तन छोड़ कर पूछा- "यह कैसी बात है कि आज मुझे आनन्दानुभूति नहीं हो रही है? क्या आज कोई गम्भीर बात हो गयी है?" उन्होंने श्रीवास पर दुःखी हदव से दृष्टिपात किया।

श्रीवास ने उत्तर दिया- "जब प्रभू मेरे घर में कीर्तन कर रहे है, तब मैं संकट-ग्रस्त कैसे हो सकता है? एक अन्य भक्त ने कहा- मेरे प्रभु, यह सच है कि एक महाविपत्ति आ गयी है। पण्डित श्रीवास के पुत्र का देहान्त हो गया है।" चैतन्य ने कहा- "क्या इसके पुत्र की मृत्यु हो गयी? कब हुई मृत्यु ?" भक्त ने उत्तर दिया- "इसकी मृत्यु छह-सात घण्टे पूर्व हुई थी।" चैतन्य के नेत्रों से अश्रु-वर्षा होने लगी। उन्होंने श्रीवास से कहा- "तुम बालक को मेरे पास ले आओ।" बालक का मृत शरीर प्रांगण में गौराङ्ग के सम्मुख रख दिया गया। गौराङ्ग ने मृत बालक को सम्बोधित करते हुए उसे बोलने का आदेश दिया। बालक ने कहा- "मैं एक उत्तम योनि की प्राप्ति के लिए इस शरीर का त्याग कर रहा हूँ। हे स्वामी, क्या मेरी आत्मा आपके चरण-कमलों से लिपट सकती है?" इसके पश्चात् बालक की आत्मा ने पुनः शरीर का परित्याग कर दिया। तत्पश्चात् गौराङ्ग ने श्रीवास तथा उसकी पत्नी मालिनी से कहा- "अब मैं तथा नित्यानन्द तुम्हारे मृत पुत्र का स्थान ग्रहण करेंगे। शोक तथा चिन्ता मत करो।" गौराङ्ग का हृदय कितना विशाल तथा सहानुभूतिपूर्ण था।

षड्-भुज ईश्वर

चैतन्य के अनुयायी उनको षड्-भुज ईश्वर मानते हैं। कहा जाता है कि उन्होंने सार्वभौम, रामानन्द राय तथा निताई के समक्ष अपना जो रूप प्रस्तुत किया था, उसकी छह भुजाएँ थीं। इन छह भुजाओं में से प्रथम दो में धनुष-बाण, द्वितीय दो में बज उठने के लिए तत्पर वंशी तथा तृतीय दो में दण्ड-कमण्डल थे। चैतन्य ने अभिव्यक्ति के इस माध्यम द्वारा निताई को यह बताया कि वे राम और कृष्ण दोनों हैं।

समुद्र में छलाँग

एक बार जब गौराङ्ग के हृदय में भक्ति-रस का आत्यन्तिक उद्रेक हुआ, समझ लिया था और उनकी इच्छा वृन्दावन की गोपियों के रास में सम्मिलित तब वे पूरी के नीले सागर में कूद गये। उन्होंने नीले सागर को नीलवर्णी यमुना होने

की हई थी। निरन्तर उपवास तथा जागरण के कारण वे अत्यन्त कृशकाय हो चले थे। अतः वे जल के ऊपर उतराते-उतराते हए धीवर के जाल में आबद्ध हो गये। जाल को भारी देख कर धीवर अत्यन्त हर्षित हुआ। उसने सोचा कि उसने एक विशालकाय मत्स्य को पकड लिया है। बहुत कठिनाई से वह जाल को समुद्र तट तक खींच सका और उसने देखा कि उसके जाल में विशालकाय मत्स्य के स्थान पर मानव का मृत शरीर पड़ा है। उस मृत शरीर से कुछ अस्फुट स्वर बाहर आये और धीवर ने उसे कोई प्रेत या बेताल समझ लिया। उसके भय की सीमा नहीं रही। वह कम्पित-पग समुद्र-तट पर धीरे-धीरे टहलने लगा। स्वरूप तथा रामानन्द जो सूर्यास्त के समय से ही अपने स्वामी की खोज कर रहे थे, उस धीवर से मिले। स्वरूप ने धीवर से पूछा कि क्या उसने कहीं गौराङ्गदेव को देखा है? धीवर ने उन्हें अपनी कहानी सुना दी। स्वरूप और रामानन्द उस स्थान की ओर चले जहाँ वह जाल पड़ा हुआ था। उन्होंने अपने स्वामी को जाल से बाहर निकाल कर भूमि पर रखा। उन्होंने उच्च स्वर में हरि-नाम का गायन किया जिसके फल-स्वरूप गौराङ्ग की चेतना जाग्रत हो गयी।

उनके अन्तिम शब्द

भगवान् गौराङ्ग ने कहा- "स्वरूप तथा रामानन्द, तुम दोनों मेरी बात सुनो! कलियुग में कृष्ण के चरणों की प्राप्ति का मुख्य साधन कृष्ण के नाम का गुणगान है। कलियुग में नाम-संकीर्तन रामबाण औषधि है। संकीर्तन वैदिक यज्ञ के समकक्ष है। यह पापों को नष्ट तथा हृदय को पवित्र करता है। सोते- प्रत्येक स्थिति में तथा प्रत्येक स्थान पर नाम का गुणगान करते रहना इससे मनुष्य में भक्ति का उद्रेक होता है। उठते, बैठते, घूमते, भोजन करते, चाहिए। नाम सर्वशक्तिमान है। इसका जप किसी भी स्थान पर और किसी भी समय किया जा सकता है।

"स्वरूप तथा रामानन्द, तुम दोनों मेरी बात सुनो। मैं उस मानसिक अभिवृत्ति के विषय में तुम लोगों से कुछ कहता हूँ जिससे अनुप्राणित हो कर नाम की महिमा का गायन होना चाहिए।

"जो नित्य पद-मर्दित होते रहने वाले तृण से भी अधिक विनीत और वृक्ष (जो अपने व्यवच्छेदन के समय भी शान्त बना रहता है, जो ग्रीष्म के प्रचण्ड ताप से विनष्ट होने की स्थिति में भी जल की याचना नहीं करता और इसके विपरित जो याचकों को अपना सर्वस्व दान कर दिया करता है एवं जो धूप तथा वर्षा के प्रकोप को सहन करते हुए भी इनसे अपने शरणागतों की रक्षा करता है) से भी अधिक धैर्यवान्, सहिष्णु तथा दानशील है और जो अत्यधिक आदर का पात्र होते हुए भी इस भावना से उत्प्रेरित हो कर कि ईश्वर सर्वभूतों में परिव्याप्त है, सबको आदरणीय समझता है, उसको सर्वदा हरि-नाम-संकीर्तन करना चाहिए। वस्तुतः वही इसका अधिकारी भी है। इस मनःस्थिति को प्राप्त जो व्यक्ति कृष्ण का नाम जप करता है, उसे कृष्ण-प्रेम की प्राप्ति होती है।"

भगवान् गौराङ्ग ने सर्वान्तःकरण से उद्‌भूत विनम्रता के साथ निम्नांकित श्लोक का सस्वर पाठ किया : "हे भगवान्! मैं तुमसे धन, अनुयायियों तथा काव्योचित मेधा की याचना नहीं करता। मैं मात्र इतना ही चाहता हूँ कि मैं जब-जब जन्म ग्रहण करूँ, तुम्हारे प्रति मेरी अहेतुकी भक्ति अक्षुण्ण बनी रहे।"

गौराङ्ग १४ जून १५३३ को गोलोकवासी हुए।

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयः कैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम् ।
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम् ।।

"कृष्ण के विभिन्न नामों का संकीर्तन सर्वाधिक महिमामय है। यह वित-दर्पण का मार्जन करता है. जन्म-मरण के चक्र की महादावाग्नि का शमन करता है और चन्द्र-किरण की भाँति आध्यात्मिक कल्याण की कमदिनी को उत्फुल्ल करता है। यह विद्यावधू के लिए जीवनामृत है, इससे दिव्य परमानन्द-सागर उमड़ उठता है, यह नाम-संकीर्तन करने वाले को प्रत्येक शब्द के उच्चारण पर दिव्य प्रेम का पूर्णानन्द प्रदान करता है और मन तथा इन्द्रियों को दिव्यानन्द से ओत-प्रोत कर देता है।"

सन्त अरुणगिरि

महान् सन्त तथा भगवान् सुब्रह्मण्य के भक्त अरुणगिरि का जन्म लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व दक्षिण भारत-स्थित तिरुवन्नामलै में हुआ था। कहा जाता है कि उनका जन्म एक महान् सन्त तथा शिवभक्त पट्टिनत्थार के वीर्य से हुआ था। बाल्यावस्था से ही उनका भरण-पोषण उनकी बड़ी बहन ने किया। अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनों से ही वे अपव्ययी तथा उत्कट ऐन्द्रिय सुखोपभोग में लिप्त रहने वाले व्यक्ति थे। उनकी जारिणी का नाम मुत्ति था जिसका सहवास उन्हें वर्षों तक प्राप्त होता रहा। इस अवधि में वे अपनी उस दयालु बहन की सदैव उपेक्षा करते रहे जो उनके लिए आर्थिक दृष्टि से सर्वदा लाभप्रदायिनी रही।

मुत्ति नृत्यांगनाओं के एक दल की सदस्या थी। जब तक अरुणगिरि आर्थिक दृष्टि से उसके लिए लाभप्रद सिद्ध होते रहे और उनसे उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती रही, तब तक उसका सम्बन्ध उनसे बना रहा; किन्तु जब वे उस स्त्री को धन देने में असमर्थ हो गये, तब उनके प्रेम सम्बन्ध में व्यवधान उपस्थित हो गया। फिर भी उसके प्रति अपनी गहन आसक्ति के कारण उन्होंने येन-केन-प्रकारेण उसे कुछ धन देने का निश्चय कर लिया। वे अपनी बहन के पास गये किन्तु वह आर्थिक दृष्टि से सर्वथा विपन्न हो गयी थी। अपने एकमात्र अनुज की आवश्यकता में उसकी सारी सम्पत्ति स्वाहा हो चुकी थी और अब उसके पास अपने जीविकोपार्जन का भी कोई साधन नहीं रह गया था। फिर भी उनके प्रति अपनी सहानुभूति के कारण उनकी आवश्यकता के क्षणों में उनकी माँग पूर्ति के लिए उसने उन्हें अपना अन्तिम आभूषण, अपनी जंजीर दे दी। उसी समय मुत्ति के प्रति उनकी आसक्ति के निराकरण के लिए उसने अरुणगिरि से कहा कि वह उस नर्तकी को जंजीर देते समय उसकी (बहन की) इच्छानुसार कार्य करेंगे। अरुणगिरि इससे सहमत हो गये। उनकी बहन ने कहा- "तुम उसको नग्नावस्था में झुकने को कहना और उसे यह जंजीर उसके पीछे से देना।" अरुणगिरि ने मुत्ति को यह आभूषण उसी विधि से दिया जिस विधि के लिए उनकी बहन ने उन्हें निर्देश दिया था। जैसा कि अरुणगिरि की बहन का पूर्वानुमान था, स्त्रियों, विशेषतः मुत्ति के प्रति अरुणगिरि का जीवन-पर्यन्त जो आसक्ति-जन्य सम्बन्ध था, उसका विच्छेदन विरक्ति के कृपाण से पूर्णरूपेण हो गया। वे अपने सम्मोहित जीवन की दीर्घ निद्रा से जाग्रत हो गये। उन्हें अपने विगत जीवन पर घोर पश्चात्ताप होने लगा। इस पश्चात्ताप के मात्राधिक्य के कारण उन्होंने आत्म-हत्या का निश्चय कर लिया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे शीघ्र ही मन्दिर में जा कर उसके सामने की बुर्ज पर चढ़ गये और वहाँ से नीचे कूद गये।

इस प्रकार जब अरुणगिरि मन्दिर के बुर्ज से नीचे गिर रहे थे, तब भगवान् सुब्रह्मण्य उनके सम्मुख प्रकट हुए, उनको अपने अंक में भर लिया और धीरे-धीरे उनको नीचे उतार लाये। उनको कहीं कोई शारीरिक क्षति नहीं पहुँची। अब अरुणगिरि के जीवन में एक नया मोड़ आया। उनको स्वयं भगवान ने ज्ञान के रहस्यों में दीक्षित किया। इस प्रकार ज्ञान-दीप्त हो कर ने भगवान् सुब्रह्मण्य की स्तुति में अनेक गीतों की रचना की।

अरुणगिरि ने अपने जीवन का उत्तरार्ध दक्षिण भारत के अनेक मन्दिरों ही यात्रा में व्यतीत किया। उन मन्दिरों में जिन देवताओं के विग्रह थे, उनके सावन में उन्होंने गीत लिखे। अरुणगिरि का मूत्ति से एक पुत्र था जिसका नाम स्तुताडवन था। कुछ दिनों के पश्चात् उसने एक महान् शिव-योगी के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की। दक्षिण भारत के प्रबुद्ध देव राय नामक एक राजा ने उसको अपना संरक्षण प्रदान किया। अपने जीवन काल में ही अरुणगिरि ने

अपने समकालीन विद्वानों पर अपना साहित्यिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। इन जिदानों में तमिल भाषा में महाभारत के अनुवादक श्रीविल्लिप्त्तरार भी थे।

अपने प्रबोध-काल तथा अपनी तीर्थ-यात्रा की अवधि में भगवान् सुब्रह्मण्य की अभ्यर्थना में अरुणगिरि ने जिन दश हजार गीतों की रचना की, उन्हें संकलित कर लिया गया है। उस संकलन को तिरुप्पूगल कहते हैं। इनमें से अब केवल बारह सौ गीत ही उपलब्ध है। इन गीतों में साधकों के लिए बहुमूल्य अनुदेश निहित हैं। ये उन्हें अत्यल्प काल में ही सरल-सहज विधि से स्वर्वोच्च सत्ता के साक्षात्कार के लिए प्रोत्साहित-प्रबोधित करते हैं। मनुष्य के लिए जो परम काम्य है, उसकी सम्प्राप्ति के माध्यम के रूप में वे भक्ति तथा संकीर्तन की अनुशंसा-प्रशंसा करते हैं। तिरुप्पुगल भगवत्प्राप्ति के लिए भक्ति पर बल देता है। इन गीतों का दैनिक पारायण हरि-कृपा तथा तत्पश्चात् ज्ञान-प्राप्ति में सहायक सिद्ध होता है। यद्यपि तिरुप्पुगल विशेषतः भक्ति-मार्ग पर बल देता है, तथापि इसके प्रत्येक गीत में आत्मा को उत्प्रेरित-अनुप्राणित करने वाले वेदान्त की झलक भी मिल जाती है। 'कन्दर अनुभूति' अरुणगिरि की एक अन्य कृति है। साहित्यिक मूल्य तथा आध्यात्मिक महत्त्व की दृष्टि से भी इस रचना को उच्च स्थान प्राप्त है। आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के अनुदेशन तथा उनकी उत्प्रेरणा के लिए इनमें कई गीत संग्रहित हैं।

तमिल नाडु के शैव आचार्य

अप्पर या तिरुनावुक्करसर

अप्पर की गणना समय (Samaya) आचार्य-चतुष्टय में की जाती है। वे के एक वेल्लाला थे। वे पुगलनार (Pugazhanar) तथा मातिनियार (Maathiniar) के पुत्र थे। अप्पर के माता-पिता ने उन्हें मरुलनीक्कियार (अन्धकार को दर सम्बन्धर के समकालीन तथा तमिल नाडु के कडलूर जनपद-स्थित तिरुआमा करने वाला) नाम से अभिहित किया। अप्पर का अर्थ पिता होता है। मरुलनीक्कियार को यह नाम सम्बन्धर ने दिया था। उन दोनों के बीच वार्तालाप होते रहते थे। इसी वार्तालाप के समय सम्बन्धर ने उन्हें कभी अप्पर नाम से सम्बोधित किया था। उन्हें इस नाम से सम्बोधित करने वाले वे प्रथम व्यक्ति थे। अप्पर को उनके आत्मोद्दीपक तथा उदात्त गीतों के लिए तिरुनावुक्करसर (वाचस्पति) की उपाधि प्रदान की गयी। उनकी अन्तःप्रेरणा का स्रोत ईश्वर था। विभिन्न मन्दिरों की तीर्थ-यात्रा के समय वे भक्तिपरक गीतों का गायन किया करते थे। वे सातवीं शताब्दी के एक सुप्रसिद्ध रहस्यवादी एवं कवि थे।

तिलकवधियार (Tilakvadhiar) उनकी ज्येष्ठ सहोदरा थी जो पल्लव-नरेश के अधीनस्थ कलिप्पाहैयार (Kalippahaiyar) नामक एक सैन्य अधिकारी की वाग्दत्ता थी। वह उत्तर के किसी आक्रमणकारी के विरुद्ध युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हो गया। जब तिलकवधियार को कलिप्पाहैयार की मृत्यु की सूचना प्राप्त हुई, तब उसने सती होने का निश्चय किया। अपनी बहन के इस अभिप्राय से अवगत मरुलनीक्कियार शीघ्रातिशीघ्र उसके पास पहुँच कर उसके चरणों के समक्ष दण्डवत् भूशायी हो गये और कहने लगे- "मैं माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् एकमात्र तुम्हारे ही आश्रय में रह कर जीवन-यापन कर रहा है। यदि तुम अपना प्राणान्त करना चाहती हो. तो तुम्हारे शरीरपात के पूर्व मैं स्वयं मृत्यु का वरण कर लूँगा।" उनके इन शब्दों से उनकी बहन का हृदय द्रवित हो उठा। उसने अपने निश्चय का परित्याग कर अपने असहाय अनुज का भरण-पोषण करते हुए एक तपस्विनी का जीवन व्यतीत करने का संकल्प कर लिया।

अप्पर जैन-धर्म में दीक्षित हो गये। उन्होंने समस्त जैन-धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया। वे पाटलिपुत्र गये जहाँ वे अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य के बल पर आध्यात्मिक प्रमुख बन गये।

यह सुन कर कि उसका अनुज जैनधर्मावलम्बी हो गया है, अप्पर की दीदी अत्यन्त दुःखी हई और अपने जन्म-स्थान का परित्याग कर तिरुवतिकार्ड Thiruvathikai) नामक एक समीपस्थ नगर में चली गयी। वहाँ वह एक शिव मन्दिर में ध्यान तथा प्रार्थना में लीन रहते हुए अपने अनुज के प्रत्यागमन की प्रतीक्षा करने लगी।

अप्पर असाध्य उदर-शूल से ग्रस्त हो गये। उन्होंने अपना भिक्षा-पात्र फेंक दिया और जैन मुनि के वेश का परित्याग कर अपनी दीदी के यहाँ चले गीतं गये। वह अप्पर के ललाट को पवित्र भस्म से रंजित कर उन्हें शिव मन्दिर ले गयी जहाँ उसने उन्हें दण्डवत् भूशायी हो कर शिव को प्रणाम-निवेदन तथा उनकी उपासना का निर्देश दिया। अप्पर ने वैसा ही किया। अप्पर का तीव्र उदर-शूल जाता रहा और उन्होंने शिव की अभ्यर्थना की।

पाटलिपुत्र के (जैनियों के) आध्यात्मिक प्रमुख ने जैनधर्मावलम्बी राज कादव को अप्पर के पलायन की सूचना दी। उन दिनों कडलूर जनप पल्लव-नरेश कादव के अधीन था। उस प्रमुख ने राजा को अप्पर क उत्पीड़ित करने के लिए उत्प्रेरित किया।

अप्पर पल्लवों की राजधानी में जा कर राजा के सम्मुख उपस्थित ह जहाँ उन्हें विभिन्न विधियों से यन्त्रणा दी गयी। उन्हें चूने के प्रज्वलित भट्ठे फेंका गया, उन्हें विष-मिश्रित दुग्ध-पान के लिए विवश किया गया, उनकी हत्या के लिए एक हाथी को भेजा गया और अन्ततः उनको एक भारी पत्थर में बाँध कर समुद्र में डाल दिया गया; किन्तु भगवान ने उनकी रक्षा की और वे जल के ऊपर तैरते हए तिरुप्पतिरिप्पूलियूर (Thiruppathirippuliyur) के समुद्र-तट पर पहुँच गये।

अब पल्लव-नरेश उनकी महानता से परिचित हो कर उनके चरणों पर अवनत हो गया। उसने जैन धर्म का परित्याग कर शैव-धर्म ग्रहण कर लिया और एक भव्य शिव मन्दिर का निर्माण किया जो गुणपरवीच्चरम् (Gunaparaveechcharam) के नाम से विख्यात है।

इसके पश्चात् अप्पर विभिन्न पवित्र स्थानों की तीर्थ-यात्रा पर निकल पड़े। वे चिदम्बरम्, सीरगालि तथा अन्य स्थानों पर गये। वहाँ उन्होंने शिव-स्तुति में तेवारमों का गायन किया।

अप्पर तिंगलूर के सन्त अप्पूदि अडिगल से मिले। वहाँ उन्होंने कोबरा सर्प के दंश से मृत उनके पुत्र की प्राण-रक्षा की।

तत्पश्चात् अप्पर ने तिरुवेण्णैनल्लूर (Thiruvennainallur), तिरुवामात्तूर (Thiruvaamaaththur), तिरुक्कोविलूर (Thirukkovilur) तथा तिरुप्पेन्नाडकम् (Thiruppennadakam) जैसे पवित्र स्थलों पर जा कर शिव की उपासना की। अन्ततः तिरुत्तूनानैमडम् (Thiruththoonganaimadam) जा कर उन्होंने भगवान् शिव की इन शब्दों में अभ्यर्थना की- "हे शिवशंकर, हे अर्धनारीश्वर, हे सर्वभूतों के आदि-अन्त, मैं जैनियों के स्पर्श से दूषित इस देह को अब धारण नहीं करना चाहता। मैं अपने शरीर को आपके त्रिशूल तथा नन्दी द्वारा अंकित कर देना चाहता हूँ।" उन्होंने एक पदिगम का गायन किया और भगवान् शिव की कृपा से अप्पर के पास आ कर एक शिव-गण ने उनके कन्धे को त्रिशूल तथा नन्दी से चिह्नांकित कर दिया।

इसके पश्चात् अप्पर सम्बन्धर के दर्शनार्थ सीरगालि गये। वे सम्बन्धर के घरणों पर गिर पड़े जिन्होंने उनको 'मेरे प्रिय अप्पर' शब्दों से सम्बोधित किया।

एक बार सम्बन्धर पालकी में बैठ कर तंजावर जनपद-स्थित तिरुप्पुन्तुरुति (Thiruppunthuruthi) में अप्पर से मिलने गये। अप्पर ने उनकी अगवानी की और पालकी को स्वयं उठा लिया। सम्बन्धर ने पूछा- "अप्पर कहाँ है?" अप्पर ने उत्तर दिया- "मैं यहाँ आपकी पालकी ढो रहा हैं।" सम्बन्धर शीघ्र ही पालकी से कूद पड़े। उन्होंने अप्पर को आलिंगन में पाश-बद्ध कर लिया और उनकी आँखों से प्रेमाश्र बहने लगे।

अप्पर तिरुच्छट्टिम्ट्रम गये। वहाँ उन्होंने एक पदिगम गाया और कहा- "हे भगवान्, इसके पूर्व कि मैं इस भौतिक शरीर का परित्याग करूँ. मेरे शीश पर अपने चरण-कमलों को रख दो।" उसी समय उन्होंने यह आकाशवाणी सुनी- "तिरुनल्लर आओ।" अप्पर के शीश पर भगवान् शिव ने अपना चरण रखा और वे भगवान के समक्ष दण्डवत् भूशायी हो गये। उनका हृदय अनिर्वचनीय आनन्द से ओत-प्रोत हो गया।

इसके पश्चात् अप्पर तिरुवम्भार, तिरुकडवूर तथा तिरुवीलिमलै (Thiruveezhimalai) गये। तिरुवीलिमलै भीषण अकाल से ग्रस्त था। भगवान् शिव के भक्त अन्नाभाव के कारण मर रहे थे। इस बात से अप्पर और सम्बन्धर शोकार्त हो उठे। दोनों को स्वप्न में भगवान् शिव के दर्शन हुए जिन्होंने उनसे कहा- "शोक मत करो। मैं तुम दोनों को स्वर्ण मुद्राएँ दूँगा।" उन दोनों को प्रतिदिन स्वर्ण-मुद्राएँ प्राप्त होती रहीं और उन्होंने अकाल-ग्रस्त लोगों को पर्याप्त मात्रा में भोजन दिया।

अप्पर तथा सम्बन्धर तंजावूर जनपद-स्थित वेदारण्यम्-मन्दिर गये। वहाँ एक पुरातन शिव-मन्दिर था जिसके द्वार वर्षों से बन्द पड़े थे। एक बार इस मन्दिर में वेदों ने स्वयं आ कर भगवान् शिव का पूजन किया था; किन्तु अब वे यहाँ आ कर शिव-पूजन नहीं करते थे, क्योंकि जैन-धर्म के प्रभाव के कारण लोगों ने वेदाध्ययन का परित्याग कर दिया था। सम्बन्धर ने अपर से कहा- "यहाँ आ कर प्रार्थना-गीत गाओ जिससे ये द्वार खुल सकें।" अप्पर के गायन से द्वार खुल गये: किन्तु सम्बन्धर के गायन से वे बन्द हो गये।

एक बार जब अप्पर तीर्थाटन कर रहे थे, वे क्षुधा-पीडित हो गये। किन्तु भगवान शिव ने एक कुण्ड तथा एक वाटिका का निर्माण कर दिया। अप्पर के लिए उन्होंने भोजन की भी व्यवस्था कर दी।

तत्पश्चात् अप्पर की कैलास यात्रा का श्रीगणेश हुआ। उनकी यह यात्रा क्लान्तिकर थी। उनके पैर क्षतिग्रस्त हो गये। उन्होंने आकाश में भगवान के वे शब्द सुने- "हे अप्पर, उठो और सरोवर में स्नान करो। तुम्हें मेरे तथा कैलास-गिरि के दर्शन तिरुवैयारु में होंगे।" अप्पर जब स्नान करने के पश्चात् सरोवर से बाहर आये, तब उन्हें सर्वत्र शिव तथा शक्ति के दर्शन होने लगे। मन्दिर में प्रविष्ट हो कर उन्होंने वहाँ कैलास पर्वत तथा कैलासाधिपति भगवान् शिव के दर्शन किये। इस भव्य दृश्य को देख कर अप्पर आनन्दातिरेक में पदिगम का गायन करने लगे।

अन्ततः अप्पर तिरुवारूर के निकट तिरुप्पुगलूर में रुके। अपने जीवन का शेषांश उन्होंने यहीं व्यतीत किया। यहाँ भगवान् द्वारा उनका इसलिए परीक्षण किया गया कि वहाँ के लोग उनकी महानता से अवगत हो सकें। जब अप्पर मन्दिर में सेवारत थे, तब हीरक तथा स्वर्ण का उनके चरणों के नीचे ढेर लग जाता था; किन्तु वे उन्हें पत्थर समझ कर फेंक दिया करते थे। एक बार उनके समक्ष स्वर्ग की दिव्यांगनाओं का आगमन हुआ जिन्होंने उनको विभिन्न विधियों से अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया; किन्तु अप्पर अपने ध्यान से विचलित नहीं हो पाये। आयु की वार्धक्यावस्था में उन्होंने स्वयं को ज्योतियों की ज्योति भगवान् में समाहित कर लिया।

अप्पर की शिक्षाएँ

अपने गीतों के माध्यम से अप्पर ने शैव-सिद्धान्त के रूप में दर्शन की आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि, धार्मिक संवेग तथा उच्च आध्यात्मिक अनुभूति से एक नयी शाखा का सूत्रपात किया। अप्पर की कविताएँ कल्पना, आप्लावित हैं।

अप्पर सम्बन्धर से अपेक्षाकृत अधिक विद्वान थे। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था। शिव-भक्त के रूप में उनका जीवन उल्लेखनीय था। उन्होंने जैन धर्म के प्रभाव को नष्ट कर दिया। वे पंचाक्षर की सर्वदा स्तुति करते रहते थे। उनके अनुसार वेद तथा षड्वेदांग ब्राह्मणों के लिए और पंचाक्षर देवों के लिए अनमोल रत्न हैं।" उनके अनुकरणीय जीवन, उनकी मधुर प्रवाही कविताओं. उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य तथा उनके गहन धर्मोत्साह से उनकी ओर असंख्य लोग आकर्षित हुए। उनके प्रशंसकों तथा शिष्यों की संख्या अगणित थी और उनका प्रभाव क्षेत्र विस्तृत था। अप्पर की कृतियों में तीन सौ कविताएँ हैं। बारह ग्रन्थों में तीन ग्रन्थ शैव काव्य के तमिल संकलन में संग्रहित हैं जिन्हें तिरुमुराई कहा जाता है।

अप्पर कहते हैं- "प्रत्येक वस्तु भगवान् शिव की अभिव्यक्ति है। शिव ही नारायण, ब्रह्मा, और चार वेद हैं। शिव पवित्रतम, सनातन तथा परिपूर्ण हैं। यह सब होते हुए भी शिव इनमें से कुछ भी नहीं हैं। वे अनाम, अज, नित्य तथा अनामय हैं। वे एक साथ ही लोकोत्तर तथा सर्वव्यापी, दोनों हैं।

"भगवान् शिव की प्रतीति एवं अभिव्यक्ति होनी चाहिए। प्रार्थना कीजिए, उपासना कीजिए, रुदन कीजिए तथा नृत्य कीजिए। भगवान् शिव गीत में संगीत तथा राग, फलों में माधुर्य, मन में विचार तथा नेत्रों में ज्योति हैं। वे न स्त्री हैं, न पुरुष। वे आयाम-रहित हैं।

"इन्द्रियों का दमन कीजिए। नियमित ध्यान का अभ्यास कीजिए। चर्या, क्रिया, योग तथा ज्ञान का अभ्यास कीजिए। अनासक्त-भाव को विकसित कीजिए। शरीर त्रय का अतिक्रमण कीजिए तथा जीवात्मा को तथा अमरत्व की प्राप्ति होगी। यदि आप अपने देहालय के अन्दर मन के परम आत्मा अर्थात भगवान् शिव से सम्बद्ध कीजिए। आपको शाश्वत आनन्द प्रदीप में ध्यान के घृत से अनुप्राणित जीवन-वर्तिका से निःसृत ज्ञान-ज्योति से भगवान् शिव को देखना चाहते हैं तो आप उनके दर्शन में अवश्य सफल होंगे।

"सत्य से क्षेत्र-कर्षण कीजिए. उसमें ज्ञान की अभीप्सा का बीज-वपन का अभिसिंचन कीजिए, क्षेत्र को मिथ्या के घास-पात से मुक्त कीजिए, धैर्य के जल से मन अन्तर्दृष्टि या आत्म-निरीक्षण या आत्म-विश्लेषण से अपने कार्यों का पर्यवेक्षण कीजिए और क्षेत्र के रक्षणार्थ इसके चतुर्दिक यम-नियम या सम्यक् आचरण का बाड़ा (घेरा) लगाइए। यदि आप इतना कर लेते हैं, तो आपको शिवानन्द अर्थात शिव के नित्य आनन्द की तत्काल प्राप्ति हो जायेगी।

"आप अपने शरीर को शिवालय, मन को उपासक, सत्य को उपासना के लिए आवश्यक शुद्धता, मन के रत्न को लिंग तथा प्रेम को दुग्ध-घृत समझ कर भगवान् शिव का पूजन कीजिए। चित्त की एकाग्रता तथा पंचाक्षर मन्त्र पर ध्यान के अभाव में भगवान् शिव की प्राप्ति असम्भव है।"

आप लोग अप्पर के निर्देशों तथा उपदेशों का अनुगमन कर नित्य आनन्द के शाश्वत धाम अर्थात् शिव-पद को प्राप्त करें!

सुन्दरमूर्ति

तमिल नाडु-स्थित नावलूर में सडयनार (Sadayanar) नामक ब्राह्मण रहते थे। वे अत्यन्त धर्मनिष्ठ तथा शिव-भक्त थे। उनके धर्म-परायण पुत्र नम्बियारुरार को आलाला सुन्दरर तथा सुन्दरमूर्ति नायनार के नामों से भी जाना जाता था। वह युवावस्था को प्राप्त हो चुका था।

सुन्दरमूर्ति की गणना चार शैव आचार्यों में की जाती है। वे भगवान शिव शिव एक वृद्ध ब्राह्मण के रूप में उनके सम्मुख प्रकट हुए। भगवान ने कहा कि के महान् भक्त थे। उनके विवाह के अवसर पर तिरुवेण्णैनल्लर के भगवान् सुन्दरार उनका बन्धक दास था। अतः उसे उनके घर में रह कर उनकी सेवा करनी चाहिए। भगवान् का नाम तडत्ताटकोन्ड पिरान (Taduttatkonda Piran) था अर्थात् भगवान् जिसने सुन्दरार की संसार से रक्षा की।

सुन्दरमूर्ति ने अनेक मन्दिरों के दर्शन किये। वे अडिगैविराट्टनम् (Adigaivirattanam) गये। वहाँ भगवान शिव ने उनके समक्ष प्रकट हो कर उनके शीश पर अपना पावन चरण रखा। इसके पश्चात् सुन्दरर तिरुवारूर गये जहाँ भगवान् शिव ने उनको अपना मित्र बना लिया।

कैलास में कमलिनी उमादेवी की दासी थी। उसकी इच्छा थी कि वह आलाला सुन्दरर को पति रूप में प्राप्त करे। अतः उसको इस संसार में तिरुवारूर में जन्म ग्रहण करने के लिए विवश होना पड़ा। उसको परवै नाम से अभिहित किया गया। जब वह युवावस्था को प्राप्त हुई, तब भगवान् शिव ने अपने भक्तों से स्वप्न में कहा- "तुम लोग परवै तथा सुन्दरमूर्ति के विवाह की व्यवस्था करो।" उन्होंने परवै और सुन्दरर को सूचना दे दी। सुन्दरर ने परवै से विवाह कर लिया और दोनों सुखी जीवन व्यतीत करने लगे।

एक बार तिरुवारूर में अकाल पड़ा। सुन्दरमूर्ति के समक्ष प्रकट हो कर भगवान् शिव ने उनके सम्मुख अन्न का अम्बार लगा दिया। अन्न की अत्यधिक मात्रा के कारण उसे वहाँ से कहीं अन्यत्र ले जाना असम्भव था। सुन्दरमूर्ति ने इस कार्य के लिए भगवान् शिव से उनकी सहायता की याचना की। भगवान् शिव के गणों ने उस अन्न-राशि को परवै के घर में पहुँचा दिया।

जब सुन्दरर तिरुप्पुगलूर में थे, तब उन्होंने अपनी पत्नी के लिए स्वर्ण की याचना की। ईंटों पर शिर रख कर वे सो गये। जागने पर उन्होंने देखा कि सारी ईंटें स्वर्ण का रूप ग्रहण कर चुकी हैं। विरुद्धाचलम् जाते समय भी उन्हें स्वर्ण प्राप्त हुआ था; किन्तु भगवान् के आदेशानुसार उन्होंने उसे मणिमुत्तारु नदी में फेंक दिया। तिरुवारूर के कुण्ड से उन्होंने उसे पुनः ले लिया। तब भगवान् शिव ने उन्हें तिरुक्कुडलैयूर चले जाने को कहा।

जब सुन्दरर तिरुक्कुरुकवूर जा रहे थे, तब भगवान् ने उनके भोजन की व्यवस्था कर दी। एक अन्य अवसर पर भगवान को उनके भोजन के लिए भिक्षा माँगनी पड़ी थी।

सुन्दरमूर्ति तिरुवोट्टियूर चले गये जहाँ उन्होंने संगिलि से विवाह किया। संगिलि भगवान की कृपा पात्र तथा उनकी महान् भक्त थी। कैलास पर्वत पर रहने वाली अनिन्दिता उमादेवी की दासी थी। उसने संगिलि के रूप में पृथ्वी पर जन्म-ग्रहण किया था।

सुन्दरमूर्ति ने भगवान् शिव से प्रार्थना की कि जब वे संगिलि के समक्ष आजीवन उसका परित्याग न करने की शपथ ग्रहण कर रहे हों, तब वे एक मगिला (Magizha) वृक्ष के नीचे विद्यमान रहें। सुन्दरर ने संगिलि को मन्दिर के भीतर भेजना चाहा; किन्तु भगवान् शिव ने संगिलि को इस बात की पूर्व-सूचना दे दी थी कि वे मन्दिर में न रह कर उक्त वृक्ष के नीचे रहेंगे। तत्पश्चात् संगिलि ने सुन्दरमूर्ति से शपथ ग्रहण करने के लिए उस वृक्ष के नीचे आने को कहा और सुन्दरमूर्ति को उसका आग्रह स्वीकार करना पड़ा। कुछ काल के उपरान्त सुन्दरमूर्ति ने कभी भी उसका परित्याग न करने की अपनी शपथ भंग कर दी। वे संगिलि को छोड़ कर किसी उत्सव में सम्मिलित होने के लिए अकेले ही तिरुवारूर चले गये। शपथ-भंग के कारण उन्हें नेत्रहीन होना पड़ा।

सुन्दरमूर्ति ने भगवान् से कहा- "आपने मुझे दृष्टिहीन बना दिया है। अब कृपया आप मुझे एक दण्ड दे दीजिए।" भगवान् शिव ने तिरुवेणपाक्कम् में उन्हें एक दण्ड दे दिया। सुन्दरमूर्ति जब कांचीपुरम् आये, तब उनके वाम नेत्र की ज्योति पुनः लौट आयी और जब तिरुवारूर में उन्होंने भगवान् शिव की प्रार्थना की, तब उनका दक्षिण नेत्र भी अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त हो गया।

एक दिन तिरुप्पुक्कोलियूर में सुन्दरमूर्ति कहीं जा रहे थे, तब उन्होंने देखा कि एक घर में लोग रो रहे थे और उसके सामने वाले घर में हर्षोत्सव मनाया जा रहा था। उन्होंने लोगों के पूछा- इन दोनों घरों में क्या हो रहा है?" लोगों ने उनसे कहा - "दो पंचवर्षीय बालक सरोवर में स्नान करने गये थे जिनमें से एक का मगर ने भक्षण कर लिया और दूसरा वहाँ से निरापद निकल आया। मृत बालक के माता-पिता फूट-फूट कर रो रहे हैं और जो बालक वहाँ हे निरापद बच निकला, उसके माता-पिता उसके यज्ञोपवीत-संस्कार का समारोह मनाते हए हर्ष-विह्वल हो रहे हैं।"

यह सुन कर सुन्दरमूर्ति विचलित हो उठे। उन्होंने भगवान् शिव की स्तुति में एक पदिगम का गायन किया। इसके फल-स्वरूप यम के आदेशानुसार वह मगर उस बालक को किनारे पर ला कर छोड गया। उस बालक के माता-पिता होन्मत्त हो उठे और उन्होंने सुन्दरर को साष्टांग प्रणाम किया।

अपनी तीर्थ-यात्रा में सुन्दरमूर्ति एक बार कावेरी-तट पर गये। उन दिनों नदी में बाढ़ आयी हुई थी। उन्हें तिरुवारूर में भगवान् शिव के दर्शन की इच्छा हुई। उन्होंने एक पदिगम गाया जिसके फल-स्वरूप नदी ने उनके लिए मार्ग की व्यवस्था कर दी। उन्होंने तिरुवारूर जा कर भगवान् की उपासना की।

तिरुपेरुमंगलम् में एक महान् शिव-भक्त रहते थे। उनका नाम कलिकामर था। जन्मतः वे पिल्लै थे। यह सुन कर कि सुन्दरर ने परवै के पास भगवान् शिव को अपना दूत बना कर भेजा था, उन्होंने कहा- "एक भक्त ने भगवान् को अपनी सेवा का आदेश दे कर उन्हें अपना सेवक बना लिया है और वह भी उसने यह सब एक नारी के लिए किया है। क्या भगवान् के प्रति ऐसा व्यवहार करने वाला व्यक्ति उनका भक्त हो सकता है? मैं घोर पातकी हूँ। यह बात सुनने के पश्चात् भी मेरा प्राण मुझसे विलग न हो सका। एक तथाकथित भक्त के व्यवहार को सुन कर भी मैं लौह-दण्ड से अपने कानों को विनष्ट नहीं कर सका हूँ।"

सुन्दरर कलिकामर नायनार की दशा से अवगत हो गये। इसके साथ की। भगवान् शिव इन दोनों में मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे। उन्होंने उनको अपनी भयंकर भूल का भी ज्ञान हुआ। उन्होंने भगवान से क्षमा-याचना कलिकामर को जठरशोथ रोग से ग्रस्त कर दिया। इनके पश्चात् उनके स्वप्न में प्रकट हो कर उन्होंने उनसे कहा- इस रोग का उपचार सुन्दरर ही कर सकता है।" कलिकामर ने विचार किया- 'सुन्दरर के हाथों रोग मुक्त होने की अपेक्षा मेरे लिए रोग-जन्य पीड़ा को सहते रहना ही श्रेयस्कर है।' उघा भगवान् ने सुन्दरर को आदेश दिया "जाओ और जा कर कलिकामर को रोग-मुक्त करो।"

सुन्दर ने एक सन्देश भेज कर कलिकामर को अपने आगमन की सूचना दे दी। कलिकामर ने सोचा- 'इसके पहले कि सुन्दरर मुझे रोग-मुक्त करने आये, मुझे अपने जीवन का अन्त कर देना चाहिए।' यह सोच कर उन्होंने अपनी अँतड़ियाँ काट दीं और इस प्रकार उनका प्राणान्त हो गया। उनकी पत्नी ने सुन्दरर के आगमन पर उनका स्वागत एक अति-सम्माननीय व्यक्ति की भाँति किया।

सुन्दरर ने कलिकामर की पत्नी से कहा- "मैं आपके पति को रोग-मुक्त कर उनके साथ कुछ दिनों तक रहना चाहता हूँ।" उसने उनसे कुछ 5 नहीं कहा; किन्तु वहाँ एकत्र लोगों से यह कहने के लिए कहा कि कलिकामर वि को कोई रोग नहीं है और वे सो रहे हैं। सुन्दरर ने उन लोगों से कहा कि उनकी कलिकामर के दर्शन की प्रबल इच्छा है। तब लोगों ने उन्हें कलिकामर को दिखा दिया। किन्तु सुन्दरर ने जो-कुछ देखा, वह कलिकामर न हो कर उनका मृत शरीर था। अब उन्होंने भी प्राण-विसर्जन के लिए तलवार निकाल ली। भगवान् शिव की कृपा से कलिकामर पुनर्जीवित हो गये। उन्होंने तत्काल सुन्दर को पकड़ लिया। सुन्दरर कलिकामर के चरणों पर गिर पड़े। कलिकामर श्री सुन्दरर के चरण कमलों के समक्ष भूशायी हो गये। शिव मन्दिर में जा कर उन दोनों ने भगवान शिव की आराधना की। इसके पश्चात् वे लोग तिरुवारूर की ओर चल पड़े।

परवै इस बात से अत्यन्त क्षुब्ध थी कि सुन्दरर ने उसका परित्याग कर कलि से विवाह कर लिया था। सुन्दरर ने शिव से उसे शान्त करने की प्रार्थना की। भगवान् शिव परवै के घर दो बार गये। उन्होंने उसे शान्त कर दिया और इसके पश्चात् उन दोनों में पुनः सम्बन्ध स्थापित हो गया। यहाँ भगवान को अपने भक्तों के लिए दौत्य कर्म करना पड़ा। भगवान् अपने निष्कपट भक्तों का दासत्व-ग्रहण पूर्णरूपेण कर लेते हैं।

सुन्दरमूर्ति अपने जागतिक अस्तित्व के प्रति पूर्णतः विरक्त हो चुके थे। उन्होंने भगवान् शिव से प्रार्थना की कि वे उन्हें कैलास बुला लें। भगवान् ने उनके पास एक श्वेत हाथी भेज दिया।

सुन्दरमूर्ति विभिन्न पावन स्थलों पर शिव-महिमा के गीत गाते रहते थे जिनका पुस्तकाकार में संकलन कर लिया गया है और जिन्हें तेवारम् कहा जाता है। आज भी भक्त गण इसका गायन करते हैं। सुन्दरमूर्ति, अप्पर या

तिरुनावुक्करसर तथा तिरु ज्ञान सम्बन्धर द्वारा गायी भजनावली को तेवारम् एवं माणिक्कवासगर द्वारा गायी गयी भजनावली को तिरुवाचकम् कहा जाता है।

भगवान् शिव के प्रति सुन्दरमूर्ति का सख्य-भाव था; अतः भगवान् के साथ उनका जो सम्बन्ध था, वह नितान्त मैत्रीपूर्ण था। यह सम्बन्ध पूर्णरूपेण अकृत्रिम तथा सरल-सहज था। सम्बन्ध की इसी सहजता के कारण वे उनसे स्वर्ण, मुक्ताहार, कस्तूरी, बहुमूल्य रत्नों की माला, ऐनक, वस्त्र, सुरभित पदार्थ, आभूषण, वायुगति से चलने वाले अश्व, स्वर्णिम सुमन, पालकी तथा तिरुवारूर के सम्पूर्ण धन-धान्य के तृतीयांश की माँग किया करते थे। वे इन वस्तुओं की याचना अपनी भोगेच्छा की तुष्टि के लिए न कर अपने निर्भर जनों के उपभोग के लिए किया करते थे।

सुन्दरमूर्ति ने संसार के समक्ष भक्ति के सख्य-भाव का मार्ग-प्रदर्शन किया।

तिरु ज्ञान सम्बन्धर

सम्बन्धर का जन्म तंजावुर जनपद-स्थित सीरगालि (Sirgazhi) के ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। सीरगालि को ब्रह्मपुरी के नाम से भी जाना जा है। तिरु ज्ञान सम्बन्धर की माता का नाम भगवती तथा उनके पिता का न शिवपादहृदयार था।

एक बार भगवती और उसके पति सरोवर में स्नान करने गये। उनके सा उनका पुत्र भी था जिसे घाट पर छोड़ कर वे दोनों स्नान करने चले गये। जन पुत्र ने अपने माता-पिता को वहाँ नहीं देखा, तब वह तीव्र स्वर में पुकार उठा- "हे माँ, हे पिता जी!" किन्तु उसकी पुकार उसके माता-पिता तक नहीं पहुँच सकी; परन्तु भगवान् शिव तथा पार्वती उसकी पुकार सुन कर उसके समक्ष प्रकट हो गये। पार्वती ने उसके लिए दुग्ध की व्यवस्था की। उस दुग्ध-पान के साथ-साथ बालक ने दिव्य ज्ञान के दुग्ध का भी पान कर लिया। उसी क्षण से बालक भगवान् शिव का स्तुति-गान करने लगा। उसने आत्मोत्प्रेरक तथा लोकोत्तर गीतों (Thevarams) का गायन किया। यह घटना उस समय हुई थी जब तिरु ज्ञान सम्बन्धर की आयु मात्र तीन वर्ष थी।

जब स्नान के पश्चात् बालक के माता-पिता उसके पास आये, तब उन्होंने देखा कि बालक के मुख से दुग्ध बह रहा था और उसके नेत्र अश्रु-पूरित थे। उन्होंने पूछा- "प्रिय वत्स, तुमको दुग्ध किसने दिया?" उत्तर में बालक ने एक स्तोत्र का गायन किया और वहाँ जो-कुछ भी हुआ था, उनके समक्ष उसका अविकल विवरण प्रस्तुत कर दिया। इसे सुन कर उसके माता-पिता का हृदय हर्ष-विह्वल हो उठा। बालक को शिव-पार्वती की कृपा हो दिव्य ज्ञान की उपलब्धि हई थी अतः उसके माता-पिता ने उसे तिरु ज्ञान सम्बन्धर नाम से अभिहित किया। सम्बन्धर को लोग पिल्लैयार भी कहते थे।

इसके पश्चात् बालक सम्बन्धर तिरुक्कोलक्का गया जहाँ उसने मन्दिर में एक स्तोत्र का सस्वर पाठ किया। इस पर प्रसन्न हो कर भगवान शिव ने भेंट स्वरूप उसे एक मंजीरा दे दिया।

तिरुवेरुक्काट्टामपुलियर में एक शिव-भक्त रहता था जो यल (Yazh) नामक वाद्य यन्त्र को निपुणता के साथ बजा सकता था। उसका नाम तिरुनीलकन्ड यलपनार (Thiruneelakanda Yazhpanar) था। वह सम्बन्धर के प्रति अपना सम्मान प्रकट करने सीरगालि गया। सम्बन्धर उसे भगवान शिव के मन्दिर में ले गया जहाँ उसने उसके संगीत का आनन्द लिया। यलपनार ने उससे प्रार्थना करते हुए कहा- मुझे अपना सतत साहचर्य प्रदान करो जिससे मैं तुम्हारे स्तोत्र-गायन पर यल बजाता रहूँ। तुम मेरी यह प्रार्थना स्वीकार कर लो।" सम्बन्धर उससे सहमत हो गया। तत्पश्चात्

सम्बन्धर, उसके माता-पिता और यलपनार ने चिदम्बरम् जा कर नटराज का पूजन किया। एक दिन सम्बन्धर ने चिदम्बरम् के तीन सहस्र ब्राह्मणों में शिव के तीन सहस्र गणों के दर्शन किये।

एक बार सम्बन्धर की इच्छा हुई कि वह अरात्तुरै जा कर शिव जी की आराधना करे। वह पैदल ही चल पड़ा। श्रान्त-क्लान्त हो जाने के कारण वह रात्रि में मरनपाड़ि में विश्राम करने लगा। अल्पायु बालक होने के कारण उसके कोमल चरण इस दीर्घ पद-यात्रा से आक्रान्त हो गये। अरात्तुरै के भगवान् ने मन्दिर के पुजारियों के स्वप्न में प्रकट हो कर कहा - "सम्बन्धर मेरे यहाँ आ रहा है। मन्दिर में जो मौक्तिक छत्र और पालकी हैं, उन्हें तुम उसे दे आओ।" पुजारियों की निद्रा भंग हो गयी और वे मन्दिर में गये, जहाँ उन्होंने देखा कि स्वप्न में उन्होंने जिन वस्तुओं को देखा था, वे सभी वहाँ विद्यमान हैं। उन वस्तुओं को ले कर वे मरनपाडि गये और उन्हें सम्बन्धर को दे दिया। उन्होंने उनको भगवान के आदेश की भी सूचना दे दी किन्तु सम्बन्धर इस आदेश के पूर्व-परिचित थे। भगवान ने उनके स्वप्न में प्रकट हो कर इन सबसे उनको अवगत करा दिया था।

इसके पश्चात् पुजारियों ने सम्बन्धर का यज्ञोपवीत-संस्कार किया। सम्मुख उन्होंने वेद-मन्त्रों की आवृत्ति तथा इनकी व्याख्या भी की जिसे सुन सम्बन्धर ने वेद वेदांग का कभी अध्ययन नहीं किया था; किन्तु पुजारियों के कर वे स्तब्ध रह गये।

अप्पर सम्बन्धर की महिमा से पूर्ण परिचित हो चुके थे। वे सम्बन्धर के प्रति अपना सम्मान प्रकट करने के लिए चिदम्बरम से सीरगालि गये। सम्बन्धार उनके स्वागत के लिए आगे बढे। वहाँ उन दोनों शिव-भक्तों के बीच जे वार्तालाप हुआ, वह स्नेह तथा प्रेम से पूरित था। अप्पर कुछ दिनों तक सम्बन्धर के ही घर में रहे।

मालव (Mazhava) के राजा की पुत्री एक असाध्य रोग से पीड़ित थी राजा ने रोग-निवृत्ति के लिए अनेक औषधियों का प्रयोग किया। अन्ततः व तिरुपच्चिल अच्चिरामम् (Thirupachchil Achchiramam) गया और पुत्री को का के मन्दिर में भगवान् के चरणों में छोड़ आया। एक दिन सम्बन्धर मन्दिर में जहाँ उन्होंने राजकुमारी को अचेतनावस्था में देखा। उनका हृदय द्रवित उठा। उन्होंने एक पदिगम का गान किया और भगवान् की आराधना की। पदिगम के प्रत्येक पद की अन्तिम पंक्ति की परिसमाप्ति इस प्रकार थी- "क्या इस बाला को उत्पीड़ित करना भगवान् के लिए न्याय--है?" इस पर राजकुमारी तत्काल रोग-मुक्त हो गयी। उसने सम्बन्धम साष्टांग प्रणाम किया।

इसके पश्चात् सम्बन्धर तिरुप्पट्टीश्वरम् के मन्दिर में गये। उस दिन गरमी पड़ रही थी। ग्रीष्म के इस उत्ताप से सम्बन्धर की रक्षा के लिए उस मन्दिर के अधिष्ठात देव भगवान शिव ने अपने गणों द्वारा उनके पास एक मौक्तिक की भेज दी।

सम्बन्धर ने एक पदिगम का गायन किया जिसके फलस्वरूप उन्हें अकाडतरे के भगवान् से एक सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ प्राप्त हईं। पदिगम के प्रत्येक पद में वे भगवान् से पूछते हैं- "क्या मेरे हित-चिन्तन के लिए तुमने इसी मार्ग का वरण किया है? क्या यह भी तुम्हारी कृपा का ही फल है कि कभी-कभी तुम्हारे पास मेरे लिए कुछ भी देय नहीं रह जाता?" उन्होंने वे स्वर्ण मुद्राएँ अपने पिता को दे दीं।

सम्बन्धर ने तिरुमरुगल की यात्रा की। वहाँ सर्प-दंश से एक यात्री का देहान्त हो गया था। उसकी पत्नी उसकी मृत्यु पर विलाप कर रही थी। सम्बन्धर ने एक पदिगम गाया जिसके फल-स्वरूप यात्री पुनर्जीवित हो गया।

एक बार तिरुवीलिमले में भयंकर अकाल पड़ा। सम्बन्धर को वहाँ के अधिष्ठात देव भगवान शिव से प्रतिदिन एक निश्चित मात्रा में स्वर्ण की प्राप्ति होती रही। वे इस धन से भोजन-सामग्री ले कर शिव-भक्तों के लिए भोजन की व्यवस्था करते रहे।

एक दिन पाण्ड्य-नरेश के मंत्री कुलच्चिरै ने सम्बन्धर को अपने घर आमन्त्रित किया। वह तथा वहाँ की महारानी मंगयरकरसि, दोनों भगवान् शिव के भक्त थे। सम्बन्धर मदुरै गये जहाँ उन्होंने भगवान् शिव की आराधना की।

वहाँ जैनियों ने सम्बन्धर के शिविर में आग लगा दी; किन्तु सम्बन्धर के पदिगम-गायन से अग्नि का शमन हो गया। लेकिन पाण्ड्य-नरेश भयंकर ज्वर से ग्रस्त हो गये। चिकित्सक तथा जैन उनके उपचार में असमर्थ रहे। पाण्ड्य-नरेश ने अपने उपचार के लिए सम्बन्धर से प्रार्थना की। सम्बन्धर ने पवित्र विभूति की स्तुति में एक पदिगम गाया और उस विभूति को राजा के शरीर पर लगा दिया जिसके फल-स्वरूप वह तत्काल स्वस्थ हो गया।

यदि सम्बन्धर का धर्म श्रेष्ठतर है, तो तत्पश्चात् यह निश्चित हुआ कि सम्बन्धर तथा जैनियों को अपनी-अपनी रचनाओं को अग्नि में डाल देना चाहिए। अग्नि में डाले गये ताड़-पत्र अदह्य रह जायेंगे। इस अग्नि परीक्षा में सम्बन्धा खरे उतरे।

इसके पश्चात् एक और परीक्षण हुआ। जैनियों ने कहा- "जिन ताड-पत्रों पर यथार्थ धर्म अंकित है, वे वैगाई नदी के प्रवाह के विपरीत दिशा में बहने लगेंगे।" मन्त्री ने पूछा- "इस परीक्षण में जिसकी पराजय होगी, उनके लिए किस दण्ड की व्यवस्था की जायेगी?" जैनियों ने कहा- "पराजित लोगों को प्राण-दण्ड दिया जायेगा।" जैनियों ने नदी पर एक ताड़-पत्र रखा जो नदी के प्रवाह का ही अनुगमन करने लगा। सम्बन्धर ने ताड़-पत्र पर अपनी एक कविता लिख कर नदी में डाल दी जो प्रवाह की विपरीत दिशा में बहते-बहते तिरुवेडगम नामक स्थान पर जा पहुँची। सम्बन्धर ने ताड़-पत्र को रोकने के लिए एक पदिगम का गायन किया। ताड़-पत्र रुक गया। मन्त्री ने दौड़ कर उस ताड़-पत्र को उठा लिया और उसे ले जा कर राजा को दिखाया।

इसके पश्चात् कुछ जैनियों को सूली पर चढ़ा दिया गया। जो शेष रह गये, उन्होंने शैव-धर्म ग्रहण कर लिया। सम्बन्धर राजा तथा रानी के साथ मदुरै के मन्दिर में गये जहाँ उन्होंने भगवान् की अभ्यर्थना की।

सम्बन्धर की इच्छा हुई कि वे तिरुक्कोल्लमपुदूर जा कर भगवान् के दर्शन करें; किन्तु उन दिनों नदी में बाढ़ आयी हुई थी। नाविक ने नदी-पार जाने के विचार का परित्याग कर दिया। वह नाव को किसी स्थान पर बाँध कर कहीं चला गया। सम्बन्धर एक पदिगम के गायन के पश्चात् उसी नाव से अपने दल के साथ नदी को पार कर गये।

तब सम्बन्धर के भक्त यात्रा करते समय हर्षोन्मत्त हो कर विजय-दुन्दुभि बजा रहे थे। इसे देख कर बौद्ध ईर्ष्याग्नि में जलने लगे। उन्होंने अपने वरिष्ठ आचार्य बद्धनन्दि (Buddhanandi) को इसकी सूचना दी जिन्होंने सम्बन्धर को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा।

सम्बन्ध सरनलयार (Sambandha Saranalayar) (जो सम्बन्धर के शिष्य थे दहात कहा- बद्धनन्दि के शिर पर वज्रपात होगा।" शीघ्र ही उनके शिर पर और अपने गुरु के गीतों को लिपिबद्ध किया करते थे) ने एक पदिगम गाने के अजाघात हुआ जिसके फल-स्वरूप उनका प्राणान्त हो गया। कुछ बौद्ध वहाँ से भाग गये। जो शेष रह गये. उन्होंने शैव-धर्म ग्रहण कर अपने ललाट पर वनित्र भस्म धारण कर ली।

इसके पश्चात् सम्बन्धर ने तिरुवोट्टर की यात्रा की। वहाँ एक व्यक्ति ने आ कर सम्बन्धर से कहा- "हे स्वामी, ताड़ के सारे बीज नर-बीज हो गये हैं और लोग मुझे हास्यास्पद दृष्टि से देख रहे है। कृपया, मुझे आप आशीर्वाद " सम्बन्धर ने एक पदिगम गाया और ताड़ के नर-बीज विपरीत लिंग में रूपान्तरित हो गये।

मैलापूर में शिवनेश चेट्टियार नामक एक शिव-भक्त रहते थे। कुछ दिनों की तपस्या के पश्चात् उनके एक पुत्री उत्पन्न हई। पिता ने उसे पूम्पावै नाम दिया। सम्बन्धर की महिमा से अवगत हो कर उन्होंने अपनी कन्या समेत अपनी सारी सम्पत्ति उनके चरणों पर अर्पित कर दी। एक दिन जब पूम्पावै बाटिका में फूल एकत्र कर रही थी, तब उसे कोबरा सर्प ने डस लिया और तत्काल ही उसका प्राणान्त हो गया। शिवनेश ने उसका अन्तिम संस्कार कर उसकी अस्थियों को एक पात्र में एकत्र किया और उस पात्र को कन्निकैमडम में रख दिया। उस पात्र को उन्होंने रेशमी वस्त्र में परिवेष्ठित कर दिया और वहाँ सम्बन्धर को आमन्त्रित किया। सम्बन्धर मैलापूर आये जहाँ उन्होंने रुपालीश्वरर के दर्शन किये। वहाँ भक्तों ने उन्हें शिवनेशर की कन्या की मृत्यु की सूचना दी। सम्बन्धर ने शिवनेशर से वह पात्र ले आने को कहा जिसमें उनकी पुत्री की अस्थियाँ रखी हुई थीं। शिवनेशर शीघ्र ही वह पात्र ले कर वहाँ आ गये। सम्बन्धर ने एक पदिगम गाया और जिस प्रकार कमल से लक्ष्मी का आविर्भाव हुआ था, उसी प्रकार उस पात्र से मृत पूम्पावै का जीवित पूम्पावे के रूप में आविर्भाव हो गया। शिवनेशर का हृदय हर्ष-विभोर हो उठा। उस अवसर पर दिव्य लोकों से सुमन-वर्षण हुआ। इसके पश्चात् सम्बन्धार सीरगालि चले गये।

एक दिन ब्राह्मणों ने सम्बन्धर से कहा- वेद-विहित यज्ञानुष्ठान की पूर्ति के लिए आपके लिए विवाह करना आवश्यक है। सम्बन्धर की सहमति प्राप्त करके उनके पिता तथा ब्राह्मणों ने उनकी वधू के रूप में नम्बन्दार नम्बि की पुत्री का चयन किया। इस वैवाहिक अनुष्ठान का आयोजन नल्लर पेरुमनम में किया गया। जब वे मन्दिर में भगवान् शिव के समक्ष गये, तब वे अपनी वधू तथा अपने अनुयायियों के साथ भगवान शिव की परम ज्योति में विलीन हो गये।

सम्बन्धर अपने एक पदिगम में कहते हैं- "हे मूर्ख मानव, काल को व्यर्थ ही व्यतीत मत होने दो। नील ग्रीवा वाले शिव की सेवा करो, उनके गुण-गान को सुनो, उनके स्वरूप का ध्यान करो, सर्वदा पंचाक्षर-मन्त्र का जप करो और शिव-भक्तों के संसर्ग में रहो। उनका नाम सभी आसन्न विपत्तियों तथा संकटों से तुम्हारी तथा तुम्हारे परिवार की रक्षा करेगा। भगवान् शिव की उपासना करो। वे तुम्हें शाश्वत आनन्द तथा अमरत्व प्रदान करेंगे।"

माणिक्कवासगर

माणिक्कवासगर जन्मना ब्राह्मण थे। उनका जन्म मदुरै से सात मील दूर वैगाई नदी के तट पर स्थित तिरुवडवूर में हुआ था। उनका जीवन-काल ६५० ई. और ६९२ ई. के मध्य रहा होगा। कुछ लोग इसे दशम या एकादश शताब्दी में निर्धारित करते हैं। मदरै-नरेश अरिमर्दन पाण्ड्यन से उनका मैत्री-सम्बन्ध था जिसके फलस्वरूप वे उसके महामात्य हो गये। उनको वडवुरार नाम से भी अभिहित किया गया था।

पाण्ड्यन राजा ने माणिक्कवासगर को विपूल धन-राशि दे कर राज्य के शुभारम्भ किया। मार्ग में उन्होंने तिरुपेरुन्दरै के एक उद्यान में शिव-कीर्तन लिए कुछ अश्वों के क्रय के लिए भेजा। माणिक्कवासगर ने अपनी यात्रा का शिष्य-रूप-धारी गणों के साथ एक वृक्ष के नीचे बैठे थे। वे माणिक्कवासगर ना/ भगवान् शिव वहाँ एक शिव-योगी का वेश धारण किये हुए अपने के पास उनको शिव-ज्ञान की दीक्षा देने आये।

माणिक्कवासगर ने उनको साष्टांग प्रणाम कर उनके समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया। भगवान शिव ने उन्हें रहस्यात्मक शिव-ज्ञान की दीक्षा प्रदान की। माणिक्कवासगर जितना भी धन ले कर चले थे, वह मन्दिरों के निर्माण तथा शिव-भक्तों के भोजन में भक्तशेष हो गया। उन्होंने अपना सर्वस्व त्याग कर कौपीन धारण कर लिया और इस प्रकार वे संन्यासी हो गये। राजा को इस बात की सूचना दे दी गयी।

राजा ने माणिक्कवासगर को पत्र द्वारा यह आदेश दिया कि वे उसके समक्ष शीघ्रातिशीघ्र उपस्थित हों; किन्तु माणिक्कवासगर इस आदेश के प्रति उदासीन ही रहे। भगवान् शिव ने उनसे कहा- "मैं 'आवनिमूलम्' पर अश्वों की व्यवस्था कर दूँगा। तुम आगे जा कर यह हीरा राजा को दे देना।" माणिक्कवासगर मदुरै पहुँचे। वहाँ उन्होंने राजा को वह हीरा दे कर कहा- "अश्व 'आवनिमूलम्' पर यहाँ आ जायेंगे।" राजा अधीर हो उठा। 'आवनिमूलम्' के दो दिन पूर्व तक भी उसे अश्वों के विषय में कोई सूचना नहीं प्राप्त हो सकी। उसने सोचा कि माणिक्कवासगर ने उनको प्रवंचित किया है। अतः उसने उन्हें कारागार में डाल कर घोर यन्त्रणा दी।

'आवनिमूलम्' पर प्रातःकाल ही अश्व आ गये। भगवान् शिव उस समय अश्वपाल का वेश धारण किये हुए थे। भगवान् शिव अपने भक्तों के प्रति कितने दयालु है! राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने माणिक्कवासगर को कारागार से मुक्त कर उनसे क्षमा याचना की किन्तु जो अश्व वहाँ लाये गये थे. वस्तुतः अश्व न हो कर अश्व-रूप-धारी शृगाल थे। यह सब भगवान की लीला से ही हआ था। कुछ समय पश्चात् वे अश्व पुनः शृगाल हो गये। राजा क्रोधोन्मत्त हो उठा। उसने माणिक्कवासगर को पुनः प्रताड़ित किया। उसने उन्हें मध्याह्न काल में वैगाई नदी की तप्त बालुका-राशि पर खड़े रहने को विवश किया; किन्तु भगवान् की कृपा से उनके चरणों को शीतलता प्रदान करने के लिए नदी में बाढ़ आ गयी। इस बाढ़ से सारा नगर जलाप्लावित हो गया।

अमात्यों ने राजा से कहा कि इन वरिष्ठ महात्मा के प्रति दुर्व्यवहार के कारण ही यह विपत्ति आयी है। राजा ने उनको तत्काल कारागार से मुक्त कर और उनके चरणों पर अवनत शिर हो कर जल-प्लावन को नियन्त्रित करने की प्रार्थना की। माणिक्कवासगर के नदी-तट पर पहुँचते ही जल-प्लावन पूर्णतः शान्त हो गया। राजा ने अपनी प्रजा को नदी के तट पर एक-एक टोकरी कीचड़ डालने का आदेश दिया जिसके फल-स्वरूप जहाँ-जहाँ तट-भंग हुआ था, वे सभी स्थान अपनी पूर्वावस्था में आ गये; किन्तु जिस स्थान को भरने का उत्तरदायित्व वन्दि नामक एक वृद्धा को सौंपा था, वह नहीं भर सका। वस्तुतः उस समय वह किसी संकट में पड़ गयी थी। करुणा-विगलित भगवान् शिव एक श्रमिक का रूप ग्रहण कर स्वयं उसके सम्मुख प्रकट हुए और केवल मुट्ठी-भर चावल के आटे के पारिश्रमिक के प्रतिदान में उन्होंने उसे अपनी सेवा अर्पित कर दी। वे मात्र लीला कर रहे थे। उन्होंने अपने हाथों में कीचड़ ले लिया। राजा को सूचना मिली कि वन्दि का श्रमिक कोई काम नहीं कर रहा है। कुपित हो कर उसने श्रमिक पर दण्ड प्रहार कर दिया जिसके आघात का अनुभव स्वयं राजा को तथा उसके साथ समस्त नगरवासियों को भी हुआ। श्रमिक वहाँ से अन्तर्धान हो गया। राजा को माणिक्कवासगर की महिमा को स्वीकृत करना पड़ा।

इसके पश्चात् माणिक्कवासगर ने भगवान शिव के दर्शन किये। भगवान ने उन्हें समस्त तीर्थ स्थानों की यात्रा के पश्चात् चिदम्बरम जाने का आदेश दिया। माणिक्कवासगर ने तिरुवन्नामलै, कांचीपुरम तथा अन्य स्थानों की यात्रा की और वहाँ स्व-रचित 'तिरुवाचकम् का गायन किया। इसके पश्चात् वे विदम्बरम् पहुंचे। उन्होंने 'तिरुकूवलि' की रचना चिदम्बरम में ही की।

तत्पश्चात् उन्होंने वाद-विवाद में एक अर्हत को पराजित किया। सरस्वती ने उस अर्हत तथा उसके शिष्यों को मूक बना दिया था। इस घटना से प्रभावित बौद्ध राजा ने माणिक्कवासगर के पास जा कर कहा- "आपने मेरे आचार्य तथा उनके शिष्यों को मूक बना दिया था। यदि आप मेरी एक मूक पुत्री को वाचाल बना दें. तो मैं अपनी प्रजा के साथ शैव-धर्म ग्रहण कर लेंगा।" माणिक्कवासगर ने उस मूक कन्या से कुछ प्रश्न पूछे और वह बोलने लगी। इसके पश्चात् बौद्ध राजा अपनी समस्त प्रजा के साथ शैवमतावलम्बी हो गया। माणिक्कवासगर की कृपा से अर्हत तथा उनके शिष्यों को उनकी वाक्-शक्ति की पुनः सम्प्राप्ति हो गयी।

इसके पश्चात् भगवान् शिव एक ब्राह्मण के रूप में माणिक्कवासगर के पास गये। माणिक्कवासगर ने ब्राह्मण के सम्मुख सम्पूर्ण 'तिरुवाचकम्' की आवृत्ति कर दी। ब्राह्मण ने ताड़पत्र पर सब-कुछ लिख लिया। अन्त में उसने

लिखा- "माणिक्कवासगर ने इसकी आवृत्ति की और तिरुचित्तम्बल उडयार ने इसे लिपिबद्ध किया।" ब्राह्मण ने इसे चित्सबै के पंचाक्षर-सोपान पर रख दिया। चिदम्बरम् के ब्राह्मणों ने इसे माणिक्कवासगर को दिखा कर उनसे इन कविताओं का अर्थ बताने की प्रार्थना की। माणिक्कवासगर ने कहा- "तिल्लै नटराज में ही इन पदों का तात्पर्य निहित है।" इसके पश्चात् नटराज के चरणों पर अवनत-शिर हो कर उन्होंने तत्काल उनका तादात्म्य-सम्बन्ध प्राप्त कर लिया। तब उनकी आयु बत्तीस वर्ष थी।

माणिक्कवासगर की कविताओं की संख्या बावन है। इन कविताओं का संकलन 'तिरुवाचकम्' नाम से प्रख्यात है। ये कविताएँ सुन्दर, भव्य तथा प्रेरणादायी हैं। इस संकलन में अलंकारिक कविताएँ संग्रहीत हैं। दक्षिण भारत के लोग प्रतिदिन 'तिरुवाचकम' का सस्वर पाठ करते हैं। इन स्तोत्रा को सुन कर श्रोताओं के हृदय तत्काल द्रवित हो उठते हैं।

प्रिय पाठको, माणिक्कवासगर के जीवन से आपके सम्मुख यह तथ्य पूर्णतः स्पष्ट हो गया होगा कि भगवान् शिव अपने भक्तों के दास हो जाते हैं।

दक्षिण भारत के आलवार या वैष्णव रहस्यवादी

भूमिका

जब कभी भी धर्म का ह्रास होता है और जब कभी भी लोग अधार्मिक तथा सदाचार-शून्य हो जाते हैं, तब लोगों के आध्यात्मिक उत्थान के लिए इस धरती पर महान् सन्तों का आविर्भाव होता है। लोगों को इस संकट के मुक्त करने के लिए आलवारों ने दक्षिण भारत में जन्म-ग्रहण किया।

आलवार दक्षिण भारत के वैष्णव रहस्यवादी या सन्त हैं। वे दक्षिण भारत ही एक विशिष्ट निधि हैं। उनका जीवन भगवान् नारायण के प्रति उनकी उत्कट आस्था तथा उनकी पारदर्शी विशुद्धता का ज्वलन्त उदाहरण है।

आलवारों ने दक्षिण भारत में भक्ति की अग्नि-शिखा को पुनः प्रज्वलित किया और इसके साथ ही भागवत-सम्प्रदाय के भक्ति-मार्ग के पुनरुत्थान का प्रारम्भ हुआ। आलवारों के आगमन ने भक्ति-आन्दोलन को एक नयी दीप्ति, एक नयी गरिमा, एक नयी जीवन्तता, एक नयी ऊर्जा तथा एक नया जीवन प्रदान किया। आलवार सर्वदा ईश्वर के सान्निध्य में रहते थे। उनका जीवन ध्यान तथा ईश्वरीय संस्पर्श का एक अविरल प्रवाह था। वे भगवान् हरि के गुण-गान में सर्वदा संलग्न रहते थे। उनके होठों पर सर्वदा नारायण, राम, कृष्ण, अच्युत, गोविन्द तथा माधव के नाम रहते थे। उन्हें सर्वत्र भगवान् की उपस्थिति का भान हुआ करता था। वे दिव्य सुरा का पान कर ईश्वरोन्माद में लीन रहने वाले सन्त थे। उनकी मनोदशा के वर्णन में शब्द असमर्थ हैं। उनकी महिमा अनिर्वचनीय है। उनका हृदय भगवान् के चरण-कमलों पर सर्वदा केन्द्रित रहता था। उनका हृदय भगवान् हरि का वास-स्थान था। भगवान् उनके साथ क्रीड़ा करते. वार्तालाप करते और उन्हीं के साथ रहते भी थे। आलवार प्रेम, दया तथा करुणा के मूर्त रूप थे। उनके सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति का रूपान्तरण हो जाता था।

आलवारों में सभी जातियों के लोग थे। उनमें से चार सनातनधर्मी ब्राह्मण, दो अब्राह्मण, एक दलित वर्गीय, एक महिला, चार अयोनिज तथा तथा पेयालवार (Peyalwar) नामक प्रथम तीन आलवारों के जन्म स्थान के एक क्षत्रिय था। पोयगै आलवार (Poygai Alwar), भूदत्तालवार (Bhudattalwar) अतिरिक्त उनके विषय में किसी को कुछ भी ज्ञात नहीं है।

वैष्णव सन्तों की संख्या बारह है। ये लोग सर्वदा ईश्वर-प्रेम में निमज्जित रहते थे: अतः इन्हें आलवार की संज्ञा प्रदान की गयी। वैष्णव धर्म-ग्रन्थों में कहा गया है कि भक्ति के प्रचार-प्रसार तथा लोगों को अज्ञान से मुक्त करने के लिए भगवान् हरि ने इन बारह आलवारों के रूप में अपने श्रीवत्स, कौस्तुभ, वैजयन्ती, वनमाला, श्रीदेवी, भूदेवी, नीलादेवी, अनन्त, गरुड़, सुदर्शन, पाञ्चजन्य तथा सारङ्ग भेज दिये।

वैष्णव-मत हिन्दू-धर्म का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा मार्मिक मत है। इसके पीछे एक बहुमूल्य इतिहास है। भारत में इसके अनुयायियों की संख्या अत्यन्त प्रभावशाली है। शैव-धर्म की अनेक पीढ़ियों के पूर्व ही इसका प्रभाव-क्षेत्र दक्षिण भारत में विस्तृत हो चुका था। पल्लव तथा चोल राजाओं के प्रभुत्व-स्थापन के वर्षों पूर्व आलवारों के पूर्व-पुरुष वहाँ भक्ति का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे।

पोयगै आलवार, भूदत्तालवार, पेरियालवार और तिरुमलिसै आलवार का जन्म द्वापर युग के अन्त में हुआ। अन्य आठ आलवारों ने इस कलियुग में जन्म-ग्रहण किया। कहा जाता है कि उनका जीवन-काल चौथी तथा आठवीं शताब्दी के बीच था।

आलवार सन्तों की भजनावली को 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम् (Nalayira Doya Prabhandam) कहा जाता है। उधर के लोगों का इससे घनिष्ठ सम्बन्ध मानि ने किया। ये भजन आलवार सन्तों के हृदयोदगार हैं। 'दिव्य प्रबन्धम' था। इन भजनों की संख्या चार हजार है जिनका संकलन महान् कृतविद्य नाद स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इसके प्रत्येक भजन में भक्ति की ज्वलन्त दिव्य ज्ञान की पवित्र निधि है। इसमें वेदों, इतिहास तथा प्राणों का निहितार्थ जीवन्तता निहित है।

वैष्णव-भजन पुरातन धुनों में गाये जाते थे जिन्हें कोल्ली, कुरुन्जी तथा तकेशी आदि कहते थे। आजकल इन धूनों का प्रचलन नहीं है। अब तो इन्हें कर्नाटक धनों में गाया जाता है।

'दिव्य प्रबन्धम्' को तिरुवोयमोलि कहते हैं। ये आलवारों के पवित्र होठों से निःसृत अपौरुषेय शब्द हैं। इन्हें वैष्णवों द्वारा घरों या मन्दिरों में समवेत स्वरों में गाया जाता है।

तीन प्राचीन आलवार

पोयगै आलवार, भूदत्तालवार तथा पेयालवार प्राचीनतम आलवार हैं। वे जन्मजात सन्त थे। उन्हें आलवारों का पथ-प्रदर्शक कहा जाता है। पोयगै आलवार का जन्म आज से लगभग ५५०० वर्ष पूर्व कांचीपुरम् में द्वापर युग के ८,६२,९६२ वें वर्ष में हुआ। भूदत्तालवार का जन्म दूसरे दिन तिरुकदरमल्लै में हुआ जिसे आजकल महाबलिपुरम् कहा जाता है। पेयालवार का जन्म इसके दूसरे दिन मामइलै में हुआ जिसे आजकल मैलापुर कहा जाता है।

पोयगै आलवार को भगवान् हरि के शंख पांचजन्य का, भूदत्तालवार को उनकी गदा का और पेयालवार को उनके नन्दक अर्थात् उनकी तलवार का अवतार कहा जाता है।

इन तीन आलवारों के प्रारम्भिक जीवन तथा इनकी साधना के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। दक्षिण आर्काट जनपद में दक्षिण पेन्नार नामक नदी के तट पर स्थित तिरुक्कोइलर में इन तीनों की भेंट अप्रत्याशित रूप से हो गयी और तभी से लोग इनसे परिचित हो गये। पोयगै आलवार मन्दिर में भगवान् की पूजा करने लगे। तमसावृत रात्रि झंझावात तथा वर्षा के कारण और अधिक भयावह हो गयी थी। उन्होंने एक भक्त के घर के एक संकीर्ण कुटीर में शरण ग्रहण की। वे वहीं ध्यानस्थ हो गये। कुछ क्षणों के पश्चात् भूदत्तालवार वहाँ आ गये। उन्होंने पूछा- "यहाँ कौन रहता है? क्या विश्राम के लिए मुझे यहाँ कोई स्थान मिल सकता है?" पोयगै आलवार ने कहा- "आपके लिए स्थान की व्यवस्था हो जायेगी। एक सो सकता है और दो बैठ सकते हैं।" भूदत्तालवार ने कहा- "अच्छी बात है। हम बैठ जायें।" उन्हें प्रवेश की अनुमति मिल गयी। अब ये दोनों ईश्वर के सम्बन्ध में वार्तालाप करने लगे। इसके पश्चात् वहाँ पेयालवार का आगमन हुआ। आते ही उन्होंने पूछा- "क्या मुझे विश्राम के लिए यहाँ कोई स्थान मिल सकता है?" पोयगै आलवार ने कहा- "एक सो सकता है, दो बैठ सकते हैं और तीन खड़े रह सकते हैं।" पेयालवार ने कहा- "अच्छी बात है। हम खड़े रहेंगे।" उन्हें भी प्रवेश की अनुमति मिल गयी। अब वे तीनों खड़े हो कर भगवान् हरि का ध्यान करने लगे। उन तीनों को वहाँ कुछ असहजता का भान हो रहा था। उन्हें ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो उनके बीच वहाँ कोई और भी हो। वह आगन्तुक भगवान् हरि के अतिरिक्त अन्य कोई न था। वहाँ तिरुक्कोइलूर के भगवान् त्रिविक्रम का आगमन हुआ था जो उनके निकट इस प्रकार आ गये थे जिससे उनके शरीर का स्पर्श उन तीनों से हो रहा था। अब अपने ध्यान तथा हरि-कृपा से उन लोगों ने नवागन्तुक को पहचान लिया और इस प्रकार उन्हें भगवान् विष्णु के दर्शन हो गये।

उन तीनों आलवारों के आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने भगवान् के चरण-कमलों पर आत्म-समर्पण कर उनसे उनकी महिमा के गान की क्षमता की याचना की। उनकी प्रार्थना स्वीकृत हुई। तत्क्षण उनमें से प्रत्येक ने वहीं भगवान् हरि की महिमा के अभिव्यंजक सौ-सौ ललित तथा सुमधुर गीतों की रचना कर उन्हें ईश्वरार्पित कर दिया।

पोयगै आलवार ने ज्ञान पर, भूदत्तालवार ने भक्ति पर तथा पेयालवार ने त्याग पर सर्वाधिक बल दिया। बोध-प्राप्ति के पश्चात् उन तीनों ने एक ही मूलभूत सत्य का प्रचार-प्रसार किया। उन्होंने भगवान् शिव की निन्दा कभी नहीं की। निर्भान्त सत्य से अवगत हो कर उन लोगों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से भगवान शिव तथा भगवान् विष्णु की तात्विक एकता का प्रतिपादन किया। वे उत्तरकालीन मताग्रही भाष्यकारों से श्रेष्ठतर थे।

इन तीनों प्राचीन आलवारों की कविताओं के समवेत स्वरूप को अन्तादियाँ कहा जाता है। अन्तादि की प्रत्येक कविता का अन्तिम शब्द उत्तरवर्ती कविता का प्रथम शब्द होता है।

प्राचीन आलवारों में शैव-मत के प्रति पूर्ण सहिष्णुता थी। पोयगै आलवार के अनुसार ईश्वर एक ही है जिसे शिव तथा विष्णु के भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित किया गया है। उसका वाहन या तो गरुड़ है या वृषभ और उसका कर्म या तो प्रलय है या पालन। उन अवतारों का कहना है कि ईश्वर स्वयं को हर तथा नारायण के रूप में अभिव्यक्त करने पर भी एक ही है।

पेयालवार यह भी कहते हैं कि उन्होंने वेंकट उपगिरि पर भगवान् के दर्शन जटा-जूट-कुठार-धारी शिव के रूप में तथा चक्र-सुदर्शन और मुकुट से सुशोभित हरि के रूप में किये थे।

इन प्राचीन आलवारों का सन्देश था- "इन्द्रिय-निग्रह करो। भक्तों का सत्संग करो। भगवान् नारायण के चरणों पर सर्वतोभावेन आत्म-समर्पण करो सर्वदा उनके नाम का जप करो। उनकी उपासना तथा उनका ध्यान करो। उनक महिमा का गान करो। वे त्रिलोक के स्वामी हैं। वे तुम्हारे आश्रय तथ शरण-स्थल हैं। उनकी कृपा प्राप्त करो। तुम्हारी रक्षा उन्हीं की कृपा से सम्भा है। वे तुम्हारे हृदय में निवास करते हैं।"

पेरियालवार

पेरियालवार का अर्थ है महान् आलवार। पेरियालवार का मन सर्वसा भगवान् विष्णु के ध्यान में लीन रहता था; अतः उन्हें विष्णुचित्त के नाम मे अभिहित कर दिया गया था। वे आण्डाल के पालक पिता थे। नम्मालवार के अंग-प्रत्यंग की संरचना दक्षिण भारत के आलवारों या वैष्णव रहस्यवादियों मे ही हई है। पेरियालवार से शिर का संघटन हआ है। अन्य आलवार भगवान् से ज्ञान तथा मुक्ति के लिए प्रार्थना करते थे; किन्तु पेरियालवार भगवान् के प्रति अपने वात्सल्य-भाव के कारण उनकी मंगल कामना करते हुए उन्हें इन शब्द में आशीर्वाद देते थे- "उसके पावन चरण लक्ष लक्ष वर्षों तक अक्षुण्ण दीप्ति में अवस्थित रहें - पल्लान्ड। इस कारण उन्हें एक विशिष्ट स्तर का सन्त समझा जाता था।

तिरुनेलवेली जनपद के श्रीविल्लिपुत्तूर ग्राम में मुकुन्दाचारी नामक एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण अपनी पवित्र-हृदय पतिव्रता पत्नी के साथ रहते थे। वह सन्तान प्राप्ति के लिए प्रतिदिन भगवान् से प्रार्थना किया करते थे। उनकी प्रार्थना स्वीकृत हुई जिसके फल-स्वरूप पेरियालवार या विष्णुचित्त का जन्म हुआ। उनको भगवान् हरि के वाहन गरुड़ का अवतार माना जाता है।

पेरियालवार एक स्थानीय मन्दिर में रह कर भगवान् हरि का ध्यान किया करते थे। उनकी एक सुन्दर वाटिका थी। इस वाटिका से फूल चुन कर मन्दिर के वटपत्रशायी भगवान् के लिए माला बनाना उनकी दिनचर्या का एक मुख्य अंग था। वह जन-समूह के समक्ष भगवद्गीता की व्याख्या किया करते। वह संस्कृत के महान् पण्डित थे।

उस समय श्री वल्लभदेव पाण्ड्य देश (तिरुनेलवेली तथा मदुरै जनपद) के अधिपति थे। उनकी राज-सभा मदुरै में थी। एक बार उनकी भेंट एक विद्वान् ब्राह्मण तीर्थयात्री से हुई जो काशी से रामेश्वरम् जा रहा था।

राजा ने उससे कहा- "आप एक कृतविद्य ब्राह्मण हैं। मुझे आप अपने किसी अनुभव-जन्य सत्य से अवगत कराइए।"

ब्राह्मण ने कहा - "आप मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनिए। वर्षा ऋतु के लिए आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था वर्ष के शेष आठ महीनों में ही कर लेनी से बाहिए। रात के लिए आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध दिन में ही कर लेना सेद्धि-सम्मत होता है। इसी प्रकार मनुष्य को इसी जन्म में उन सदगुणों का अर्जन कर लेना चाहिए जिनसे उसको शाश्वत आनन्द तथा अमरत्व की उपलब्धि होनी है।"

पाण्ड्य-नरेश ने अपने मुख्य पुरोहित चेल्ब नम्बि को बुला कर कहा- "मेरे मन में ईश्वर साक्षात्कार की बलवती इच्छा जाग्रत हई है। इसकी सम्प्राप्ति कैसे सम्भव है?"

पुरोहित ने कहा- "इसके लिए एक धर्म-सम्मेलन या धर्म-संसद का आयोजन अत्यावश्यक है। उसमें सभी सन्तों तथा महान् योगियों को आमन्त्रित किया जायेगा और योग्य व्यक्तियों को पुरस्कार के रूप में प्रचुर धन-राशि भी प्रदान की जायेगी। आप उनके सान्निध्य में रह कर उनके अमूल्य उपदेशों के श्रवण-अनुसरण द्वारा स्वयं को लाभान्वित कर सकते हैं।"

राजा पुरोहित के इस प्रस्ताव से सहमत हो गये। इस आयोजन का देश-भर में यथोचित प्रचार कर दिया गया। वाद-विवाद में विजेता को पुरस्कार देने के लिए विपुल धन-राशि भी निश्चित कर दी गयी।

धर्म-संसद का सम्मेलन मदुरै में किया गया जिसमें देश के प्रत्येक मत के आचार्य ने भाग लिया। वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध तथा पाशुपत सभी मतों के अनुयायी उस अनन्य अवसर पर उपस्थित थे। वाद-विवाद में सम्मिलित विद्वज्जनों ने अपने-अपने पक्ष का प्रतिपादन उत्तेजक शब्दों में किया; किन्तु उनमें से कोई भी राजा को सन्तुष्ट नहीं कर सका।

भगवान् हरि ने विष्णुचित्त के स्वप्न में प्रकट हो कर उनसे राजा के संरक्षण में एक बृहद् धर्म-सम्मेलन हो रहा है। उसमें तुम भी कहा- "विष्णुचित्त, उठो और मदरै के लिए शीघ्रातिशीघ्र प्रस्थान करो। वहाँ सम्मिलित हो जाओ। मैं तुम्हें तुम्हारी सफलता के प्रति आश्वस्ति प्रदान करता है। तुम वहाँ जा कर पाण्ड्य-नरेश तथा एकत्र जन-समुदाय को भगवान् हरि की भक्ति का सन्देश दो।"

विष्णुचित्त ने सम्मेलन में भाग लिया जिसमें उनका विशिष्ट योगदान रहा। राजा ने उनका समुचित स्वागत सत्कार किया। विष्णुचित्त ने वहाँ एकत्र पण्डितों के सभी प्रश्नों के सन्तोषप्रद उत्तर दिये। उन्होंने कहा- "भगवान हरि देवाधिदेव हैं। वे चरम सत्य हैं। वे एकमात्र रक्षक हैं। उनकी शरण में जा कर उनके चरणों में सर्वतोभावेन, स्पष्टरूपेण तथा स्वेच्छापूर्वक आत्म-समर्पण करो। 'ॐ नमो नारायणाय' - उनके इस मन्त्र का जप करो। उनकी कृपा प्राप्त करो। वे तुमको मुक्ति प्रदान करेंगे। वे तुमको अमरत्व, सर्वोच्च शान्ति तथा शाश्वत आनन्द से कृतकृत्य करेंगे। तुम एकमात्र उन्हीं की कृपा से माया को पराभूत कर पाओगे। वह अन्तर्यामी, सर्वव्यापी, कृपा-सिन्धु तथा अनवच्छिन्न हैं। उनकी महिमा का गुण-गान तथा उनके नाम का जप करो। उनकी उपासना करो तथा स्वयं को उनके चरणों से कभी विलग न होने दो।"

उसी समय एक चमत्कार हुआ। विजेता विद्वान् के लिए निर्धारित धन-राशि की पोटली जो एक उच्च स्थान पर रखी हुई थी, खुल कर अकस्मात् विष्णुचित्त के चरणों पर आ गिरी। अब पाण्ड्य-नरेश पूर्णतः आश्वस्त तथा सन्तुष्ट हो गये।

उन्होंने पेरियालवार की चरण-वन्दना कर उन्हें अपना गुरु तथा आध्यात्मिक आचार्य मान लिया। आलवार को हाथी पर बैठा कर मदुरै की सड़कों पर उनकी शोभा-यात्रा का आयोजन किया गया। हाथी पर बैठे-बैठे आलवार को अकस्मात् एक दिव्य दृश्य दिखायी पड़ा। उन्होंने देखा कि भगवान् हरि गरुड़ पर आरूढ़ हो कर अपनी पार्श्ववर्तिनी लक्ष्मी के साथ सोभा यात्रा का पर्यवेक्षण कर रहे हैं।

वे हाथी के दोनों पार्श्व में झूलते हुए घण्टों को झाँझ की तरह बजाते हुए गाने लगे। उस समय उनके मन में वात्सल्य-भाव था। उन्होंने भगवान् को अपनी सन्तान के रूप में देखा। उस समय उन्होंने जिस गीत की रचना की, उसे पल्लान्ड' कहते हैं। इसका अर्थ होता है अनेक वर्ष। यह एक रोमाञ्चक रचना है। वैष्णव जन इसे अपने घरों तथा मन्दिरों में गाते हैं।

इस गीत का अर्थ है "भगवन्! आपमें अनेक वर्ष, कोटि-कोटि वर्ष समाहित हों। आपके चरण कमल हमारी रक्षा करें। आपकी पार्श्ववर्तिनी लक्ष्मी को भी अनेक वर्ष प्राप्त हों। आपके दक्षिण हस्त में सुशोभित दीप्तिमय चक्र तथा युद्ध-क्षेत्र में आपकी महिमा को गुजित करने वाले शंख को भी अगणित वर्ष प्राप्त हो। हे भक्त जन, 'ॐ नमो नारायणाय' का गान करते हुए उनके चरण-कमलों का पूजन करो। उनके सहस्र-सहस्र नामों की आवृत्ति करो। 'हमारे भगवान् को अगणित वर्ष', इसे उच्च स्वरों में घोषित करो। हमारे परिवार के सभी सदस्य, हमारे पूर्वज तथा हमारे वंशधर- ये सभी उनके दास हैं। वे हमें पवित्र करेंगे; हमारी रक्षा करेंगे।

"पंच-शिर नाग के ऊपर नृत्य करने वाले हे भगवान्, आपको अगणित वर्ष प्राप्त हों। मैं आपका विनम्र सेवक हूँ। मैं आपके परित्यक्त पुरातन पीत वस्त्रों को धारण करता हूँ। मैं आपका प्रसाद-ग्रहण अर्थात् आपका उच्छिष्ट भोजन करता हूँ। मैं आपके द्वारा धारण की गयी तुलसी-माला पहनता हूँ। आपकी इच्छा ही सर्वोपरि रहेगी। मैं आपके अभियान के सफल समापन एवं आपके नाम की महिमा के प्रचार-प्रसार के लिए ही जीवित हूँ। मैं आपका भक्त तथा दास हूँ। मैं आपके मन्त्र 'ॐ नमो नारायणाय' की सर्वदा आवृत्ति किया करता हूँ। हे भगवान्, आपमें अगणित वर्ष समाहित हों।”

पेरियालवार से हमें दो कविताएँ प्राप्त हई है। पहली कविता है पल्लान्ड जाता है। इसमें स्वर-माधूर्य से पूर्ण चार सौ इकसठ सम्मोहक छन्द है। आलवारों की समस्त कृतियों में पल्लान्ड को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। वेदों के जिसमें बारह छन्द हैं। ददूसरी एक संकलन है जिसे पेरियालवार तिरुमोलि कहा लिए जितना महत्त्व प्रणव का है. आलवारों की कृतियों के लिए उतना ही महत्त्व पल्लान्डु का है। पेरियालवार तिरुमोलि में कृष्ण लीला का वर्णन है। इसमें भागवत का सार-तत्त्व निहित है।

पेरियालवार उच्च स्वर में घोषित करते हैं "जो लोग भगवान् का स्मरण नहीं करते. उनका जन्म-ग्रहण निष्प्रयोजन है। उनका जन्म उनके माता-पिता के लिए अकीर्तिकर ही सिद्ध होता है। जो लोग भगवान् के नाम का जप नहीं करते. वे पाप का ही भक्षण करते है, पाप का ही पान करते हैं। उनका जीवन व्यर्थ है।"

पेरियालवार में वात्सल्य-भाव था। वे भगवान् को पुत्रवत् प्यार करते थे। वे कहते थे- "मेरे बच्चे, रोओ मत। मेरे हृदय के स्वर्णिम पालने पर द्र शान्तिपूर्वक सो जाओ। इस नवनीत तथा मिष्टान्न को ग्रहण करो। प्रियवर, तुम इतने उपद्रवी कैसे हो गये ? तुम गोपियों तथा अपनी माता को कष्ट मत दो। भद्र तथा शान्तचित्त बालक बनो। गोपियाँ तुम्हें

अभिशंसित करती हैं। वे जब अपने घरों से निकलती हैं, तब तुम उनका दूध पी लेते हो। तुम उनका नवनीत चुरा लेते हो। तुम कल वन में मत जाना। मेरे साथ यहीं रहना। तुम्हारे पाँव कोमल हैं। तुम श्रान्त-क्लान्त हो जाओगे।

"अब मेरा कृष्ण वंशी-वादन करता है। कितनी मधुर है इसकी ध्वनि! यह रोमांचक तथा आत्मोद्दीपक है। यह अमृत से भी अधिक मधुर है। जब गायें तथा अन्य पशु उसकी वंशी के स्वर सुनते हैं, तब वे मूर्तिवत् खड़े रह जाते हैं।"

मदुरै के निकट अलगरकोइल में ८५ वर्ष की आयु में पेरियालवार का देहान्त हुआ।

समस्त आलवारों के शिरोमणि पेरियालवार की महिमा में वृद्धि हो और इनका आशीर्वाद हमें प्राप्त होता रहे !

नम्मालवार

नम्मालवार प्रथम महान रहस्यवादी तथा कवि है। नम्मालवार का अर्थ है हमारा आलवार। उनको शटकोपर तथा वकुलभरनार के नाम से भी जाना आता है; किन्तु उनका नम्मालवार नाम ही अधिक प्रचलित है।

कहा जाता है कि नम्मालवार का जन्म तिरुनेलवेली जनपद में ताम्रपर्णी नदी के तट पर स्थित तिरुक्कुरुहर में हआ। इसे आजकल आलवार तिरुनगरी कहते हैं। उन्होंने कलियुग के प्रारम्भ के तैंतालीसवें वर्ष में वैकाशी, प्रमादी पुर्णिमा को शुक्रवार के दिन जन्म-ग्रहण किया।

नम्मालवार के माता-पिता क्रमशः करियार या करिमारन तथा उदय स्पैयार थे। करियार वेल्लला पिल्लई थे। उनके सभी पूर्वज भगवान् हरि के निष्ठावान् उपासक थे। करियार का विवाह बाल्यावस्था में ही हो गया था। उनकी पत्नी के पिता का नाम वैष्णव स्थानिक था जो पश्चिमी घाट के दूसरे पाश्र्व में स्थित तिरुवनपरिसरन ग्राम के निवासी थे। उदय नंगैयार एक पतिव्रता नारी थी। नम्मालवार को लोग मारन तथा सेनाम्सा नाम से जानते थे।

करियार और उदय नंगैयार बहुत दिनों तक निःसन्तान ही रहे। उन्होंने सन्तान प्राप्ति के लिए कठोर तप किया। एक बार तिरुवनपरिसरन से लौटते समय उन्होंने मार्ग में तिरुक्कुरुनगुड़ि ग्राम के एक मन्दिर में रुक कर देवता से पुत्र-प्राप्ति के लिए प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना स्वीकृत हुई जिससे उनको एक दिव्य पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। शिशु को मारन या नम्मालवार के नाम से अभिहित किया गया।

यह एक विलक्षण शिशु था। न तो वह अपनी आँखें खोलता था, न रोता था और न ही अपनी माता का दूध पीता था। भगवान् हरि तथा लक्ष्मी ने वैकुण्ठ से तिरुक्कुरुहूर आ कर मारन को आशीर्वाद दिया।

बालक के जन्म के बारहवें दिन उसके माता-पिता उसे नदी-तट पर स्थित स्थानीय वैष्णव मन्दिर में ले गये। उन्होंने निकट के एक इमली के पेड़ सोलह वर्षों तक पड़ा रहा। भगवान ने उसको उच्चतम आध्यात्मिक सत्यों मे की डाल से एक पालना लटका दिया जिसमे वह बालक निर्जल-निराहा अवगत कराने के लिए अपने दतों को भेजा। वह बालक बैठाने पर बैठ जाता, खड़ा कराने पर खड़ा हो जाता और लिटाने पर शान्तिपूर्वक लेट जाता।

एक अन्य किंवदन्ती के अनुसार उस बालक के माता-पिता ने उसे एक स्थानीय मन्दिर में भगवान् हरि के चरणों पर डाल दिया: किन्तु वह एक इमली के पेड़ पर चढ़ कर एक बड़े कोटर में प्रविष्ट हो गया। वहाँ पद्मासन पर बैठ कार उसने आँखें बन्द कर लीं। शीघ्र ही वह समाधिस्थ हो गया।

मधुर कवि चोल देश-स्थित तिरुक्कोइलूर के एक ब्राह्मण थे। वह अपनी बाल्यावस्था में ही चारों वेदों तथा विज्ञान का अध्ययन कर चुके थे। एक बार वह उत्तर भारत के अयोध्या आदि पवित्र स्थानों की तीर्थयात्रा पर गये। एक रात उन्हें दक्षिण में एक विलक्षण द्युतिमान प्रकाश के दर्शन हुए जिसे देख कर वह स्तब्ध रह गये। उस प्रकाश में बालारुण की कान्ति थी। दूसरी रात भी उन्हें उस प्रकाश के दर्शन हुए। उन्हें अनवरत तीन रात तक उस प्रकाश के दर्शन होते रहे। मधुर कवि इस प्रकाश के रहस्योद्घाटन में असमर्थ थे। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि दक्षिण में कोई महान् घटना हुई है। वह उस प्रकाश का अनुसरण करते हुए दक्षिण की ओर चल पड़े। अन्ततः जब वह ताम्रपर्णी-तट पर स्थित तिरुक्कुरुहूर पहुँचे, तब वह प्रकाश अदृश्य हो गया।

इसके पश्चात् उन्होंने शहर में जा कर लोगों से पूछा- "क्या यहाँ पहले कोई विलक्षण घटना हुई है?" लोगों ने उन्हें उस विचित्र बालक के विषय में जो अपने जन्म के कई वर्षों के बाद तक भी ताम्रपर्णी नदी के तट पर रेली के पेड की छाया में एक पालने में पड़ा हुआ है। मधुर कवि ने नदी तट और घटना स्थल पर जा कर मौन मारन को देखा। वे यह सब देख कर विस्मित रह गये। उन्होंने यह जानना चाहा कि बालक चेतनावस्था में है या अचेतनावस्था में। उन्होंने एक बड़ा पत्थर उठा कर मारन के सम्मुख फेंक दिया। इसके फल-स्वरूप मारन की जो आँखें वर्षों से बन्द थीं, वे खुल गयीं और वह देखने लगा।

मधुर कवि ने मारन से एक दुरूह दार्शनिक प्रश्न पूछा- यदि किसी मृत नस्तु के अन्तर्गत किसी लघु वस्तु का जन्म हो, तो उनका शयन-अशन कैसे सम्भव होगा?"

मारन ने उत्तर दिया- "वह लघु वस्तु उसी से अन्न ग्रहण करेगी और उसी में शयन करेगी।" इसका अर्थ यह हुआ कि जड़ वस्तु या प्रकृति से आवृत सूक्ष्म आत्मा प्रकृति से ही क्षुधा तृप्त करेगी और प्रकृति को ही उस शरीर मे दुःख-सुख का अनुभव होगा। वह ईश्वरीय आनन्द का उपभोग करते हुए ईश्वर में ही निवास करेगी।

मधुर कवि इस सूक्ष्म तथा प्रज्ञापूर्ण उत्तर से स्तब्ध रह गये। उन्होंने मारन का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। इसके पश्चात् उन्होंने अपने गुरु के चरणों में रह कर ज्ञान-प्राप्ति का निश्चय किया। मारन ने तिरुविरुत्तम्, तिरुवाशिरियम्, पेरिय तिरुवन्तादि और तिरुवाय्मोलि-जैसे आत्मोद्दीपक भजन गाये। मधुर कवि ने इन भजनों को ताड़-पत्र पर लिख लिया जो नम्मालवार के देहान्त के पश्चात् प्रकाश में आये।

प्रचलित दृष्टिकोण के अनुसार तिरुविरुत्तम् में ऋग्वेद के, तिरुवाशिरियम् में यजुर्वेद के, पेरिय तिरुवन्तादि में अथर्ववेद के तथा तिरुवाय्मोलि में सामवेद के सार-तत्त्व निहित हैं; किन्तु यह एक भ्रान्त धारणा है। वस्तुतः नम्मालवार की कृतियों तथा वेदों में कोई साम्य नहीं है; किन्तु एक बात इनमें उभयनिष्ठ है। इनमें ईश्वर तथा इसके साक्षात्कार की विधियों का वर्णन है।

नम्मालवार सम्भवतः अविवाहित थे। इस विषय पर इतिहास मौन है।

नम्मालवार एक महान् कवि थे। उनका जीवन ध्यान तथा आत्मोदघाटन का एक सतत प्रवाह था। उनकी कविताओं से उनके रहस्यमय मनोभाव तथा उदात्त आध्यात्मिक दिव्य दृष्टि का स्पष्ट रेखांकन हो जाता है। उनके भजन पूर्व-लेखन के परिणाम न हो कर तात्कालिक प्रस्तुति होते थे। वस्तुतः वे आशु कवि थे।

नम्मालवार का देहान्त पैंतीस वर्ष की आयु में हुआ। आलवार तिरुनगरी के वर्तमान मन्दिर में आज भी उनका प्रतिमा पूजन होता है। इस मन्दिर में या श्रीरंगम जैसे अन्य मन्दिरों में भी नम्मालवार द्वारा रचित भजन गाये जाते हैं। तिरुमंगै आलवार ने दक्षिण भारत के श्रीरंगम के मन्दिर में तिरुवायमोलि के गायन की प्रथा का प्रचलन किया।

नम्मालवार सर्वदा दिव्य चेतना में निवास करते थे। उनकी चेतना ब्रह्माण्डीय थी। **"सर्वं विष्णुमयं जगत्"** - यह उनका अनुभव था। सम्पूर्ण जगत् विष्णुमय है। वह किसी वृक्ष या किसी बछड़े या किसी स्तम्भ को आलिंगित कर कह उठते- "यही हैं मेरे भगवान् हरि।" वे नीले आकाश की ओर संकेत कर कहने लगते - "मेरा श्यामवर्ण कृष्ण यहीं रहता है।" उनके नेत्रों से अविरल अश्रु-प्रवाह होने लगता और वे आत्म-विभोर हो कर गाने, रोने तथा नृत्य करने लगते।

धूल में खेलते हुए नम्मालवार कहने लगते- "यह वामन की धरती है।" वे अग्नि को आलिंगन कर तीव्र स्वर में कह उठते- "अच्युत।" इसी प्रकार वे शीतल वायु के स्पर्श से रोमांचित हो कर कह उठते- "मेरे गोविन्द।" पर्वत को देख कर वे कहने लगते- "हे महान् नारायण, यहाँ पधारिए।" घनघोर वर्षा में वह कह उठते- "विष्णु का शुभागमन हो गया।" इतना कह कर वे नृत्य करने लगते। वह किसी सर्प के पीछे यह कहते हुए दौड़ पड़ते- "यह विष्णु की शय्या है।" उनको जब वंशी का स्वर सुनायी पड़ता, देखकर वह कह उठते- "यही वह नवनीत है जिसे कृष्ण खाया करते थे।" वह उसे कृष्ण का वंशी-वादन ही समझ लेते। नवनीत विक्रेता नारियों को गायों को देख कर वे उनके पीछे यह कहते हुए दौड़ पड़ते- "भगवान् कृष्ण यही हैं।"

नम्मालवार अपने गीतों के माध्यम से कहते हैं- "न तो मैंने तुम्हारे लिए कभी फूल चुने, न भक्तिपूर्वक तुम्हारी कभी आराधना की। इन्द्रिय-निग्रह में धी मैं असमर्थ ही रहा। अन्न-जल द्वारा भी मैंने तुम्हारा कभी पूजन नहीं किया। मैं सांघातिक रूप से आहत हैं। मुझे दर्शन दो। मेरे नेत्र आँसुओं से आप्लावित माता-पिता, हे अमृत-सिन्धु, हे ज्ञान के भण्डार, मुझे अपने चरण-कमलों में हैं। मैं तुमसे वियुक्त हो कर कब तक जीवित रह पाऊँगा! हे ज्योतिर्मय हे मेरे शरण ग्रहण करने दो। मेरे पास अविलम्ब आ कर मुझ पर अपनी कृपा का वर्षण करो। मुझे जन्म-मरण के पाश से मुक्त करो।"

कुलशेखर आलवार

दक्षिण भारत के चेरवंशीय कुलशेखर केरल के धर्मनिष्ठ राजा थे। उनकी राजधानी कालिकट थी और वे राजा दृढ़व्रत के पुत्र थे। उनका जन्म कलियुग के अट्ठाइसवें वर्ष में प्रभव, मासी में शुक्ल पक्ष की द्वादशी तिथि को बृहस्पतिवार के दिन तिरवञ्चिक्कुलम् में हुआ। उस समय पुनर्वसु नक्षत्र प्रभावशाली था।

कुलशेखर श्री राम के परम भक्त थे। उनको भगवान् राम की उपासना तथा राम-भक्तों की सेवा में अत्यधिक आनन्द आता था। वे विद्वान्, ज्ञानी तथा भक्त थे। संस्कृत तथा तमिल- उनको इन दोनों भाषाओं का ज्ञान था। वेदों के वे मर्मज्ञ थे। इसके साथ ही वे क्षात्रधर्मी भी थे। उन्होंने तत्कालीन दाक्षिणात्य राजाओं को पराभूत किया। लोगों ने उन्हें कूडनायक (Koodanayaka) तथा कोंगारकोनि (Kongarkone) जैसी उपाधियों से सम्मानित किया था।

कुलशेखर का शासन न्याय तथा बुद्धिमत्तापूर्ण था। वे एक लब्ध-प्रतिष्ठ राजा थे। उनके राज्य में सर्वत्र शान्ति तथा समृद्धि थी। सारी प्रजा का जीवन शान्तिमय तथा सन्तोषपूर्ण था। एक राज्य का अधिपति होने पर भी उनका से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। उनकी इच्छा श्रीरंगम की तीर्थ-यात्रा की थी। वे ध्यान सर्वदा ईश्वर पर केन्द्रित रहता था। उनमें वैराग्य के भाव थे। भौतिक सुखों वहाँ भक्तों के बीच रह कर अपने जीवन के शेष दिन ईश्वर की सेवा तथा कई बार किया किन्तु किसी-न-किसी कारण से उनकी यात्रा स्थगित ध्यान में व्यतीत करना चाहते थे। उन्होंने अपने इस उपक्रम का आयोजन होती रही।

ईश्वर के प्रति कुलशेखर आलवार का दास्य-भाव था। भगवान के भक्तों के प्रति उनकी असीम भक्ति थी। उनके लिए शरीर पर भक्तों की चरण-रज का अनुलेपन पवित्र भागीरथी में स्नान की अपेक्षा अधिक प्रभावप्रद था।

अमात्यों का कुकृत्य

अमात्यों ने राजा की धार्मिक प्रवृत्ति को एक भ्रान्त दिशा की ओर उन्मुख करना चाहा। एक बार राजा का मोतियों का एक बहुमूल्य हार खो गया। अमात्यों ने इस विषय में राजा के सन्देह को भक्तों की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया जो राजप्रासाद में सर्वदा अबाध गमनागमन किया करते थे। उन्होंने राजा से कहा कि भक्त ढोंगी हैं।

राजा ने कहा- "मैं सिद्ध कर दूँगा कि वास्तविक भक्त निर्दोष हैं। चौर्य कर्म की ओर उनका झुकाव हो ही नहीं सकता।" उन्होंने अपने सेवकों को एक पात्र में एक नाग को बन्द करने का आदेश दिया। इसके पश्चात् उन्होंने कहा- "जो व्यक्ति भक्तों पर चोरी का दोषारोपण करता है, वह इस पात्र में हाथ डाल दे। यदि उसका आरोप यथातथ्य है, तो नाग उसे नहीं काटेगा।" किसी को भी ऐसा करने का साहस नहीं हुआ; किन्तु कुलशेखर ने भक्तों की निर्दोषता को सिद्ध करने के लिए अपना हाथ उस पात्र में निर्भय हो कर डाल दिया लेकिन नाग ने उन्हें नहीं काटा। राजा इस अग्नि परीक्षा में सफल रहे। मोतियों की माला भी वास्तविक चोर से प्राप्त कर ली गयी।

राम के प्रति कुलशेखर की भक्ति

कुलशेखर को राज-सभा के पण्डित का रामायण का व्याख्यात्मक प्रवचन सुनने में अत्यधिक आनन्द आता था। एक दिन पण्डित रामायण की कथा के उस प्रसंग का वर्णन कर रहा था जिसमें राम दण्डकारण्य में खर तथा दूषण के नेतृत्व में चौदह सहस्र राक्षसों की सेना के विरुद्ध अकेले युद्धरत थे। यह सुनकर कुलशेखर उत्तेजित हो उठे। राम के प्रति उनकी भक्ति तत्क्षण जागृत हो उठी। उन्होंने सोचा कि उनके राम संकटग्रस्त हैं और उनकी सहायता के लिए उनका वहाँ पहुँचना अत्यावश्यक है। उन्होंने अपनी सेना को राम की सहायता के लिए उद्यत हो जाने का आदेश दे दिया। इस पर पण्डित ने तत्काल यह पढ़ा- "राम अकेले ही उन चौदह सहस्र राक्षसों का वध कर सुरक्षित रूप के आश्रम लौट गये।" यह सुनने के पश्चात् ही राजा की उत्तेजना शान्त हो सकी। यह जान कर कि राम संग्राम में विजयी हो गये हैं, उन्होंने अपनी सेना को विघटित कर दिया। राम के प्रति ऐसी गहन तथा उत्कट भक्ति थी कुलशेखर की !

एक अन्य अवसर पर राजपण्डित रावण द्वारा सीता हरण के प्रसंग का विवरण प्रस्तुत कर रहा था। यह सुन कर कुलशेखर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे। वे युद्ध में रावण के वध तथा सीता की मुक्ति के लिए लंका-गमन के लिए तत्काल उद्यत हो गये और समुद्र तट पर पहुँच कर समुद्र में कूद पड़े। उन्होंने तैर कर ही लंका तक पहुँचने का निश्चय कर लिया; किन्तु उनके समक्ष राम ने प्रकट हो कर स्वयं कह दिया कि उन्होंने लंका पर विजय गान कर ली है। वे कुलशेखर को समुद्र से निकाल कर सुरक्षित समुद्र-तट पर ले आये। इसके पश्चात् वे उन्हें उनकी राजधानी तक पहुँचा कर अन्तर्धान हो गये।

उनकी तीर्थ-यात्रा

कुलशेखर अन्ततः अपने पुत्र दृढव्रत को सिंहासनारूढ कर श्रीरंगम, तिरुपति, अयोध्या, चित्रकूट, वृन्दावन, तिरुकन्नपुरम् तथा अन्य पवित्र स्थानों के तीर्थाटन पर निकल पड़े।

कुलशेखर तिरुपति में रुके। वहाँ उन्होंने ये आत्मोदीपक गीत गाये, "मैं किसी राज्य पर प्रभुत्व-स्थापन नहीं करना चाहता। इन्द्रिय-ग्राह्य विषयों तथा स्वर्ग-सुख के प्रति भी मैं आकर्षित नहीं होता। मुझे संसार की कोई भी वस्तु प्रलोभित नहीं कर सकती। हे भगवान वेंकटेश्वर, मुझे इस पवित्र उपगिरि पर रह कर आत्मोत्थान की अवसर प्राप्ति की अनुमति दीजिए। इस पवित्र तिरुपति के किसी भी सरोवर में मुझे मत्स्य के रूप में जन्म-ग्रहण करने का वर

दीजिए। वेंकट उपगिरि पर मेरा अचेतन अस्तित्व भी मेरे लिए सुखद होगा। मुझे तिरुपति के पावन मन्दिर की देहली बना दीजिए। मुझ पर खड़े हो कर भक्त जन आपका पूजन कर सकेंगे। मुझे इस उपगिरि के उस पथ में रूपान्तरित कर दीजिए जो आपके चरणों में जा कर समाप्त होता है। मुझे अपनी वेदिका का एक स्तम्भ या अपने उपगिरि की तुलसी या मल्लिका बना दीजिए। हे वेंकटाचलपति, मुझे वह जल-स्रोत बना दीजिए जिससे आपकी सुमन-वाटिका का अभिसिंचन होता है।"

प्रत्येक विष्णु-मन्दिर के गर्भ-गृह के सम्मुख की देहली को 'कुलशेखर की देहली' कहा जाता है।

कुलशेखर भगवान् से सर्वदा यह प्रार्थना करते रहते- "हे भगवान् राम, मैं आपका भव्य दर्शन कब कर पाऊँगा ? मैं अशान्त हूँ। आपके मधुर सान्निध्य में मैं कब आ सकूँगा? मेरा अशान्त मन आपके चरण-कमलों पर कब स्थिर हो पायेगा? मेरा हृदय आपके प्रति एकान्तिक तथा उत्कट प्रेम से आप्लावित तथा द्रवित कब होगा? मैं सांसारिकता में लिप्त व्यक्तियों के सम्पर्क में नहीं रहूँगा। मैं भक्त जनों के साथ रहूँगा।"
कुलशेखर आलवार

एक रात कुलशेखर ने भगवान् नारायण का दर्शन किया जिसके फल-स्वरूप वे दिव्य आनन्द के सागर में डूब गये।

वे धर्मनिष्ठ भक्त जनों के बीच रह कर अपना समय प्रार्थना, उपासना, ध्यान, कीर्तन तथा पवित्र शास्त्रों के श्रवण में व्यतीत करने लगे।

उनकी कृतियाँ

कुलशेखर भगवान् राम के उत्कट भक्त थे जिसे तमिल में पेरुमाल कहा जाता है। राम से तादात्म्य स्थापन के कारण उन्हें कुलशेखर पेरुमाल तथा उनकी कविताओं को 'पेरुमाल तिरुमोलि' कहा जाने लगा। इस संग्रह में उनकी एक सौ पाँच कविताएँ है। इनका संकलन 'दिव्य प्रबन्धम' के प्रथम भाग में किया गया है। इस संग्रह के अर्धांश में उन मन्दिरों की महिमा का वर्णन किया गया है जिनके उन्होंने दर्शन किये थे। भगवान् कृष्ण के सम्बन्ध में रचित बीस कविताओं में माधुर्य-भाव गर्भित है और चित्रकूट के सम्बन्ध में लिखी गयी दश कविताओं में भगवान् राम के जीवन से सम्बन्धित मुख्य घटनाओं का वर्णन है। वैष्णवों का यह दृढ़ विश्वास है कि इन दश कविताओं की आवृत्ति सम्पूर्ण रामायण के पाठ के समान ही फलप्रद है।

कुलशेखर श्रीरंगम् में कई वर्ष रहे। उन्होंने वहाँ संस्कृत में 'मुकुन्द माला' की रचना की। इसमें चालीस पद हैं। यह कुलशेखर की एक विख्यात कृति है।

कुलशेखर ने श्रीकृष्ण तथा श्रीराम की लीला, गोपियों के प्रेम, श्रीकृष्ण की महिमा एवं श्रीराम की महिमा तथा उनके वीरोचित अभियानों के सम्बन्ध में अनेक गीतों की रचना की है।

तिरुनेल्वेली जनपद में स्थित आलवार तिरुनगरी के निकट ब्रह्मदेशम् नामक गाँव में ६७ वर्ष की आयु में कुलशेखर का देहान्त हो गया।

तोन्डरडिप्पोडी आलवार

तोन्डरडिप्पोडी आलवार का जन्म तिरुमंडनगडि के एक चोलिय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। कहा जाता है कि उनका जन्म कलि के २८९ वे वर्ष में मंगलवार को मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी, प्रभव में हुआ। उनको विप्रनारायण नाम से अभिहित किया गया। वे श्रीरंगम के भगवान् रंगनाथ के भक्त थे। उनको भगवान् हरि की तुलसी-माला का अवतार कहा जाता है। उनके पास एक सुमन-वाटिका थी। वे प्रति दिन भगवान् को सुमन-मालाएँ अर्पित किया करते थे।

तोन्डरडिप्पोडी आलवार वेद-विद्या में पारंगत थे। उनमें गहन वैराग्य-भाव था। वह अपनी कुटिया में रहते, भगवान् रंगनाथ के प्रसाद से क्षुधा-तृप्ति करते तथा भगवान् की महिमा का गान किया करते।

एक दिन देवदेवी नामक एक सुन्दर नृत्यांगना, जो वेश्या थी, अपनी बड़ी बहन के साथ विप्रनारायण की सुमन-वाटिका में आयी। उस समय विप्रनारायण पौधों के अभिसिंचन में व्यस्त थे। वे भगवान के नाम का जप कर रहे थे। अतः उन बालाओं की ओर उनका ध्यान नहीं गया। बड़ी बहन ने कहा- "इनका चित्त सर्वदा भगवान् में स्थिर रहता है। कोई भी नारी इनको प्रलोभित नहीं कर सकती।" देवदेवी ने कहा- "मैं इनको अपना दास बना लूँगी।" बड़ी बहन ने कहा- "तुम्हारी यह आशा व्यर्थ सिद्ध होगी। यदि तुम इन्हें प्रलोभित कर लोगी, तो छह मास तक मैं तुम्हारी दासी बनी रहूँगी।" देवदेवी ने कहा- "यदि मैं इन्हें प्रलोभित नहीं कर पाऊँगी, तो छह मास तक मैं तुम्हारी सेवा एक दासी के रूप में करूँगी।"

देवदेवी संन्यासिनी का वस्त्र धारण कर विप्रनारायण के सम्मुख खड़ी हो गयी। विप्रनारायण ने पूछा- "देवी, तुम कौन हो ? तुम्हें क्या चाहिए?"

संन्यासिनी ने कहा- "मेरी माँ चाहती है कि मैं एक वेश्या का जीव व्यतीत करूँ; किन्तु मैंने उसके इस प्रस्ताव को स्पष्टतः अस्वीकार कर दिया है और अब मैं आपकी शरण में आयी है। कृपया मेरी रक्षा कीजिए। मैं इस वृक्ष के नीचे रह कर आपकी वाटिका की देख-रेख करूंगी, भगवान् के लिए माला बनाऊँगी और आपका बचा-खुचा प्रसाद ग्रहण करती रहेंगी। मैं आपकी सर्व-विध सेवा करूँगी।" विप्रनारायण का हृदय करुणा से द्रवित हो गया। उन्होंने उसे वाटिका में कुछ दूरी पर रहने की अनुमति प्रदान कर दी।

एक दिन मूसलाधार वर्षा हो रही थी। बेचारी संन्यासिनी वर्षा के जल से भीग गयी थी। वह काँप रही थी। उसकी दयनीय दशा देख कर विप्रनारायण का हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने उसे घर के भीतर आने की अनुमति प्रदान कर दी। उसे उन्होंने अपने सूखे वस्त्र दिये। उनके अतिरिक्त वहाँ और कोई न था। अन्ततः उसने उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर ही लिया। अब विप्रनारायण ने ईश्वर को भी विस्मृत कर दिया। वे उसके घर जा कर उसी के साथ रहने लगे। इसके फल-स्वरूप उनकी सम्पत्ति नष्ट हो गयी, उनके सद्गुण नष्ट हो गये, उनकी भक्ति नष्ट हो गयी, उनकी वाटिका नष्ट हो गयी और सबसे दुःखद बात तो यह हुई कि अब उनके लिए भगवान् रंगनाथ का भी कहीं कोई अस्तित्व नहीं रहा। वे देवदेवी तथा कामुकता के दास हो गये।

विप्रनारायण ने अपना सर्वस्व देवदेवी को दे दिया। एक दिन उसके घर जा कर उन्होंने उसका द्वार खटखटाया। उस समय वह रिक्त हस्त थे।

देवदेवी ने पूछा- "कौन है?"

विप्रनारायण ने कहा- "मैं तुम्हारा प्रेमी हूँ।"

देवदेवी ने पूछा- "तुम यहाँ क्या ले कर आये हो?"

विप्र- "प्रिय देवदेवी, मैं यहाँ अपनी वासना ले कर आया हूँ।"

देवदेवी- "क्या तुम धन ले कर आये हो?"

विप्र- "मैंने अपना सब-कुछ तुम्हें दे दिया है और अब मैं निःस्व हूँ।"

देवदेवी- "तुम यहाँ से चले जाओ। भविष्य में यहाँ कभी न आना।"

विप्र- "द्वारा खोलो, देवदेवी। कामाग्नि से मैं झुलस रहा हैं।"

देवदेवी- "इस स्थान को शीघ्र छोड़ दो।"

विप्र सर्वदा देवदेवी के विषय में ही सोचा करते थे।

भगवान रंगनाथ ने हाथ में मन्दिर का एक स्वर्ण-पात्र लिये देवदेवी का द्वार खटखटाया।

देवदेवी- "कौन है?"

भगवान् रंगनाथ - "मैं विप्र का सेवक हूँ।"

देवदेवी- "तुम यहाँ क्यों आये हो?"

भगवान् रंगनाथ - "विप्र ने तुम्हारे लिए एक स्वर्ण-पात्र भेजा है।"

देवदेवी- "भीतर आ जाओ।"

देवदेवी ने द्वार खोल कर कहा- "कृपया मेरे प्रेमी विप्र को यहाँ शीघ्र आने को कहो। मैं उसके दर्शन के लिए लालायित हूँ।"

भगवान् रंग- "मैं अभी जाता हूँ।"

भगवान् रंगनाथ विप्र के पास गये। विप्र उस समय निःसंज्ञावस्था में थे।

रंग ने कहा- "उठो, विप्र। देवदेवी तुमसे अत्यन्त प्रसन्न है। उसने तुमको शीघ्र ही बुलाया है।" विप्र दौड़े-दौड़े उसके पास पहुँच गये।

देवदेवी ने हर्षित हो कर उनका आदर-सत्कार किया। वह रात उन्होंने उसके साथ वहीं व्यतीत की।

प्रातःकाल ज्ञात हुआ कि मन्दिर में स्वर्ण-पात्र नहीं है। पुलिस के सूक्ष्म अन्वेषण के फल-स्वरूप वह स्वर्ण-पात्र देवदेवी के घर प्राप्त हुआ। देवदेवी ने बताया कि वह स्वर्ण-पात्र उसके पास विप्र ने अपने सेवक के द्वारा भेजा था। विप्र ने कहा कि उसके यहाँ कोई सेवक नहीं है और उसने देवदेवी के पास स्वर्ण-पात्र कभी नहीं भेजा था। पात्र

मन्दिर को सौंप दिया गया, चोरी की वस्तु को स्वीकार करने के अपराध में देवदेवी को अर्थ-दण्ड दिया गया और निसुलापुरी (वोरैयूर, तिरुचिरापल्ली) के राजा के आदेशानुसार विप्र को कारागार में डाल दिया गया।

राजा ने रात में एक स्वप्न देखा। स्वप्न में भगवान रंगनाथ ने उनके समक्ष प्रकट हो कर कहा- देवदेवी को वह स्वर्ण-पात्र मैंने ही दिया था। मैंने अपने भक्त की मुक्ति के लिए ही ऐसा किया। विप्र पूर्णतया निर्दोष है। उसे उसकी वाटिका में भेज दो।" राजा ने उनको तत्काल मुक्त कर दिया।

विप्र ने पवित्रात्मा जनों से पूछा कि उनके पापों के लिए किस प्रकार के प्रायश्चित्त की व्यवस्था है। उन लोगों ने उनसे कहा कि श्री वैष्णवों की चरण-धूलि लेना तथा उनके पद-प्रक्षालन के लिए प्रयुक्त जल का पान करना ही सर्वोत्तम प्रायश्चित्त है। विप्र ने ऐसा ही किया और तभी से लोग उनको तोन्डरडिप्पोडी आलवार कहने लगे। जो भक्तों की चरण-धूलि को अपने शिर पर धारण करते हैं, उनको यही संज्ञा प्रदान की जाती है।

तोन्डरडिप्पोडी आलवार भगवान् रंगनाथ के मन्दिर में गये। उनके नेत्र अश्रु-पूरित थे। पश्चात्ताप करते हुए उन्होंने कहा- "हे भगवान् रंगनाथ, आप मेरे अपराधों को क्षमा कीजिए। मैंने एक नारी के पाश में आबद्ध हो कर विवेक-बुद्धि को तिलांजलि दे दी थी। मैं एक दुःखी तथा हतभाग्य व्यक्ति हूँ। मैं आपको विस्मृत कर चुका था। न तो मैंने आपकी स्तुति की, न ही आपकी महिमा के गीत गाये। हे करुणा-सागर, आपने मुझे मुक्त किया है। आपने मेरी रक्षा की है। मैं आपका दास हूँ। मुझ पर कृपा कीजिए। आप पतित-पावन तथा भक्त-वत्सल हैं। आप मेरे माता-पिता, मेरे गुरु, मेरे शिक्षक तथा मेरे सखा हैं। मैं आपके चरण-कमलों का परित्याग नहीं करूँगा। मैंने आपके चरणों में सर्वतोभावेन आत्म-समर्पण कर दिया है।" वे प्रतिदिन मन्दिर में जा कर भगवान् की महिमा तथा उनके नाम का गुणगान किया करते थे। वे यह जागरण-गीत गाते थे- "उठिए भगवान् रंग, और उठ कर मेरे हृदय में विराजिए।"

तोन्डरडिप्पोडी श्रीरंगम में एक सौ पाँच वर्षों तक रहने के पश्चात गोलोक-वासी हुए। तिरुमलै तथा तिरुप्पल्लीलुचि उनकी मधुर कविताएँ है।

तोन्डरडिप्पोडी आलवार तथा तिरुमंगै आलवार समकालीन थे। अतः तोन्डरडिप्पोडी का काल छठी शताब्दी ही प्रतीत होता है।

देवदेवी भी अपने अनैतिक जीवन के प्रति विरक्त हो गयी। अपनी सारी सम्पत्ति मन्दिर को सौंप कर वह भगवान् रंगनाथ की अति-विनम्र भक्त हो गयी।

तिरुप्पन आलवार

तिरुप्पन आलवार का जन्म कलियुग के ३४२ वें वर्ष में तिरुचिरापल्ली के निकट वोरैयूर में हुआ। कहा जाता है कि उनकी जन्म तिथि दुर्मति, कार्तिक, कृष्ण पक्ष की द्वितीया है। उस दिन शुक्रवार था। सारंग मुनि उनको अपने कन्धे पर बैठा कर मन्दिर ले जाया करते थे; अतः लोग उन्हें मुनि-वाहन भी कहते थे। उनको श्री विष्णु के वक्षस्थल पर अंकित श्रीवत्स का अवतार कहा जाता है।

उनके जन्म का मानव-वंशावली से कोई सम्बन्ध नहीं है। एक दलित दम्पति उनको धान के एक खेत से उठा लाये थे और उन्होंने ही उनका पालन-पोषण किया था; अतः उनको दलित ही समझा जाता था।

तिरुप्पन आलवार भगवान् रंगनाथ के भक्त थे। वे अपने मधुर गीतों के माध्यम से भगवान् की स्तुति किया करते थे। इसी कारण उन्हें तिरुप्पन आलवार कहा जाता था। उनकी इच्छा श्रीरंगम् के मन्दिर में जाने की थी; किन्तु निम्न जाति से सम्बद्ध होने के कारण वे मन्दिर में प्रवेश का साहस नहीं कर सकते थे। वे वोरैयूर से श्रीरंगम् चले आये और कावेरी के दक्षिणी तट पर एक कुटिया बना कर रहने लगे। वे अपनी वीणा पर भगवान् रंग का स्तुति-गायन किया करते थे।

एक दिन लोकसारंग जीयर भगवान् रंगनाथ के अभिषेक के लिए स्वर्ण-पात्र में कावेरी से जल लाने गये। तिरुप्पन आलवार ध्यानस्थ होने के कारण ब्राह्मण के आने पर वहाँ से हट नहीं सके। इससे क्रुद्ध हो कर जीयर ने उनके ललाट पर पत्थर से प्रहार कर दिया जिसके परिणाम स्वरूप उनके ललाट से अविरल रक्त प्रवाह होने लगा। तिरुप्पन आलवार जीयर से क्षमा-याचना कर चले गये।

जब जीयर मन्दिर में गये, तब उन्होंने भगवान् के ललाट से रक्त बहते देखा। भगवान् ने जीयर के स्वप्न में प्रकट हो कर उनसे कहा- "निम्न जाति के जिस व्यक्ति को तुमने पत्थर मारा था, वह एक महान् सन्त है। वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। उस सन्त को तुम मेरे पास अपने कन्धे पर बैठा कर ले आओ।"

जीयर भक्त की कुटिया में जा कर उनके चरणों पर गिर पड़े। उन्होंने उनसे कहा- "भगवान् रंगनाथ ने मुझे आदेश दिया है कि मैं आपको उनके पास अपने कन्धे पर बैठा कर ले आऊँ। आप मेरे कन्धे पर बैठने की कृपा कीजिए।" तिरुप्पन आलवार ने इसका घोर प्रतिवाद करते हुए कहा- "मैं एक निम्न जाति का व्यक्ति हूँ। मैं आपके कन्धे पर नहीं बैठ सकता"

किन्तु जीयर ने उनकी एक न सुनी। उन्होंने आलवार को अपने कन्धे पर बैठा कर भगवान् रंगनाथ के सम्मुख खड़ा कर दिया। भगवान् के दर्शन से आलवार हर्षोन्मत्त हो उठे। वे आनन्दातिरेक में नृत्य करने लगे। उन्होंने भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन कर लिया। उन्होंने 'अमलनादिपिरान' नामक अपनी प्रख्यात पदावली में भगवान् का स्तुति-गान करते हुए कहा- "हे भगवान रंग, आपकी इस महती कृपा के अनुरूप मैंने कोई कठोर तप नहीं किया है। आप मेरे रक्षक तथा करुणा-सिन्धु हैं। मैं आपका दास हूँ। मुझ पर आपका पूर्ण अधिकार है।”

आलवार ने ईश्वर से तादात्म्य स्थापन कर लिया। वहाँ एक प्रोज्ज्वल ज्योति के दर्शन हुए और आलवार उस दिव्य अग्नि-शिखा में विलीन हो गये।

तिरुप्पन आलवार के विषय में किसी इतिहास-सम्मत तिथि का निर्धारण असम्भव है। वे सम्भवतः तोन्डरडिप्पोडी आलवार या तिरुमगै आलवार के समकालीन थे।

तिरुमंगै आलवार

तिरुमंगै आलवार का जन्म कलियुग के ३९८ वे वर्ष में चोल देश के तिरुरैयलूर में हुआ। किंवदन्तियों के अनुसार उनकी जन्म तिथि गुरुवार, कार्तिक माह की पूर्णिमा, नल संवत्सर है। तिरुमंगै आलवार को परकाल तथा नील नामों से भी अभिहित किया गया था। उनको भगवान् हरि के धनुष सारंग का अवतार माना जाता है। वह एक छोटे-मोटे नायक, योद्धा तथा निर्भीक सेनानी थे। वह चोल नरेश की सेना के सेनापति थे।

नील ने तिरुवालि-निवासिनी सदाचारिणी कुमारी कुमुदवल्ली से विवाह करना चाहा। वह भगवान् हरि की परम भक्त थी। उसने उस आदमी से विवाह करना अस्वीकार कर दिया जो श्रीवैष्णव नहीं था। यह सुन कर नील ने

वैष्णव-मत की दीक्षा ग्रहण कर ली। इसके पश्चात् कुमुदवल्ली ने उनसे कहा- "यह बाह्य दीक्षा-ग्रहण अर्थहीन है। आपके लिए एक वर्ष तक प्रतिदिन एक हजार आठ भक्तों को भोजन कराना और तत्पश्चात् मुझे प्रसाद देना अत्यावश्यक है।" नील ने इस प्रस्ताव से सहमत हो कर एक वर्ष तक प्रतिदिन एक हजार आठ वैष्णवों को भोजन कराया। इसके पश्चात् वे दोनों विवाह-सूत्र में बँध कर सुखमय जीवन व्यतीत करने लगे।

भक्तों की सेवा में नील का सारा धन समाप्त हो गया। अतः वे चोल-नरेश का राज्य-शुल्क चुका पाने में असमर्थ हो गये जिसके परिणामस्वरूप राजा ने उन्हें कारागृह में डाल दिया। एक रात भगवान ने नील के स्वप्न में प्रकट हो कर उनसे कहा- "काचीपुरम में वेगवती नदी के तल में प्रचुर धनराशि पड़ी हई है। उसे ले जा कर राज्य-शुल्क चुका दो।" नील ने उस धनराशि के द्वारा स्वयं को कर-मुक्त कर लिया। इसके पश्चात् उन्होंने दस्यु-वृत्ति ग्रहण कर ली। वे भ्रष्ट समृद्ध जनों का धन लूट कर उसे ईश्वर की सेवा में प्रयुक्त करने लगे।

एक दिन भगवान् हरि तथा देवी लक्ष्मी ने उनको इस पाप कर्म से विरत करना चाहा। भगवान ने एक ब्राह्मण का तथा लक्ष्मी ने उनकी पत्नी का रूप ग्रहण किया। उन्हें देखने से ऐसा प्रतीत होता था मानो वर-वधू विवाह के पश्चात घर लौट रहे हों। नील ने उनके आभूषण लूट लिये और उन्हें एक पेटिका में रख दिया। ब्राह्मण की उँगली में एक मुद्रिका थी जिसे देख कर नील ने कहा- "यह मुद्रिका मुझे दे दो। तुम्हें इस स्वर्ण-मुद्रिका की क्या आवश्यकता है?" ब्राह्मण ने कहा- "इस मुद्रिका को उँगली से निकालना कठिन है।" नील ने कहा- "इसे मैं निकाल लूँगा।" उसने अपने मुँह से वह मुद्रिका निकाल ली।

नील ने पेटिका को उठाने का प्रयत्न किया; किन्तु वे उसे उठा नहीं पाये। उन्होंने ब्राह्मण से कहा- "इसमें तुम्हारी कोई चाल है। तुमने किसी मन्त्र के बल से इसे भारी बना दिया है। मुझे वह मन्त्र बता दो। नहीं बताओगे, तो मैं तुम्हारी हत्या कर दूँगा।" तब भगवान् ने उसी ब्राह्मण-वेश में उनके कानों में ॐ नमो नारायणाय' का अष्टाक्षरी मन्त्र अत्यन्त मन्द स्वर में उच्चारित कर दिया। इसके पश्चात् भगवान् ने नील के सम्मुख अपने भव्य स्वरूप को अनावृत कर दिया। नील ने उनके चरण-कमलों पर गिर कर उनका आशीर्वाद ग्रहण किया।

नील ने जिन पवित्र स्तोत्रों की रचना की, उनके नाम हैं- पेरिय तिरुमोलि, तिरुकुरुताण्डकम्, तिरुनेडुनताण्डकम्, तिरुवेलुकूरिरुक्कै, सिरिय तिरुमडल तथा पेरिय तिरुमडल। अश्रुपूरित नेत्रों से उन्होंने पश्चात्ताप प्रकट करते हुए कहा- कामकृता में मैंने अपना जीवन नष्ट कर दिया; किन्तु भगवान ने मेरी रक्षा की। मुझसे नृशस अपराध हए। मैने भगवान् तक को लूटा। मैं अत्यन्त भ्रष्ट था; किन्तु भगवान् के नाम ने मेरी रक्षा कर ली। जय हरि! जय विष्णु !"

आकाश से यह स्वर सुनायी पड़ा- "भयमुक्त हो जाओ तिस्मात आलवार। तुमने मेरे प्रति कोई अपराध नहीं किया है। तुम श्रीरंगम् जाओ। वहाँ जा कर मन्दिर के निर्माण-कार्य को पूरा करो और दूर-दूर तक भक्ति का प्रचार-प्रसार करो। वहाँ अपने सुमधुर स्तोत्रों की माला से मेरा पूजन कर मेरे पास लौट आओ।"

तिरुमंगै आलवार ने मन्दिर-मन्दिर जा कर छियासी मन्दिरों के सम्बन्ध में स्तोत्रों की रचना की। वे सिरगाली में महान् शिवाचार्य तिरु ज्ञान सम्बन्धर से मिले। सम्बन्धर ने उनका आदर-सत्कार किया। इस प्रकार उनका काल छठी शताब्दी प्रतीत होता है।

तिरुमंगै आलवार नागपट्टिनम् से बुद्ध की एक स्वर्ण-प्रतिमा ले आये। उसके स्वर्ण का उपयोग उन्होंने श्रीरंगम् के मन्दिर के भित्ति-निर्माण में किया। एक सौ पाँच वर्ष की आयु में वे शाश्वत आनन्द-धाम वैकुण्ठ के वासी हुए।

नम्मालवार आलवार तिरुनगरि से श्रीरंगम् आये। तिरुमंगै आलवार ने उनका भव्य स्वागत किया तथा उनके उत्प्रेरक स्तोत्रों को भक्ति-भाव से सुना।

तिरुमंगै आलवार का सन्देश है- भगवान का नाम जप अनवरत रूप से करो। उनको सर्वदा स्मरण करते रहो। उनके चरणों पर सर्वतोभावेन आत्म-समर्पण कर उनकी कृपा प्राप्त करो। उनके चरण कमलों में लीन रहो। भगवान् नारायण हमारे रक्षक तथा मुक्ति-दाता हैं। वे करुणा के सागर है। भक्तों की सेवा करो। भक्त तथा भगवान एक ही हैं । उनकी महिमा का करो। आनन्दातिरेक में नृत्य करो। भगवान् हरि में निवास करो। उनके सहस्र नामों की आवृत्ति करो। 'विष्णुसहस्रनाम' का अध्ययन करो।"

तिरुमलिसै आलवार

तिरुमलिसे आलवार को भक्तिसार भी कहा जाता है। उनके ग्राम का नाम तिरुमलिसे था। उनका तिरुमलिमै आलवार नाम इस ग्राम के नाम पर ही पडा। वे भूगु मुनि तथा कनकांगि या कनकवति नामक स्वर्ग की अप्सरा के पुत्र थे।भृगु मुनि की गणना ब्रह्मर्षियों में की जाती है। उनके जन्म स्थान का पूर्व नाम महिसार या महिसारप्ररम् था जो कालान्तर में विकृत हो कर मलिसै या निरुमलिसे हो गया। यह चेन्नई के निकट है।

कुछ लोग उनका काल छठी या सातवीं शताब्दी मानते हैं: किन्तु यह एक अनुमान मात्र है। तिरुमलिसै आलवार के जन्म-ग्रहण करते ही उनकी माँ ने उनके विकृत स्वरूप तथा अविकसित अंगों को देख कर उन्हें बेंत की एक झाड़ी में फेंक दिया। तिरुवल्लन नामक एक लकड़हारा अपनी पत्नी पंकजवल्लि के साथ वहाँ बेंत काटने गया। वे वहाँ से उस शिशु को अपने घर ते आये। वह शिशु मानव-पयोधर से दुग्ध-पान नहीं करता था। एक वृद्ध कृषक उस शिशु के लिए दूध ले आया करता था जिसे वह ग्रहण कर लेता था। इसका यह कारण था कि वह व्यक्ति विशुद्ध हृदय तथा धर्म-प्राण था। एक दिन उस कृषक ने आलवार के लिए आरक्षित दूध का कुछ अंश अपनी पत्नी को पिला दिया। उस प्रसाद के कारण उन्हें एक चमत्कारी पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। उसका नाम कन्निकन्नन या कन्निकृष्णन रखा गया। कन्निकन्नन नामक यह बालक बाल्यावस्था में भक्तिसार का बाल-सखा और तत्पश्चात् उनका परम भक्त हो गया।

भक्तिसार अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनों से ही भक्ति में लीन रहते उन्होंने समस्त पवित्र ग्रन्थों का पारायण कर उनमे दक्षता प्राप्त कर ली। उन्होंने वैदिक तथा अवैदिक धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन कर वेदान्त, शैव-मत, बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म का विशद ज्ञान प्राप्त किया। विभिन्न मतों के अध्ययन के पश्चात वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उनके लिए शैव-मत का अनुयायी होना श्रेयस्कर होगा। फलतः वे शैव मत के उत्कट प्रेमी हो गये। जब वे शैवमतावलम्बी थे. तब उनको शिववाक्य कहा जाता था। उन्होंने शैव मत पर पुस्तकें लिखीं और इसका प्रचार भी किया। शिव के सम्बन्ध में उन्होंने कई गीतों की रचना की और उनका सस्वर पाठ किया।

पेयालवार ने शिववाक्य को वैष्णव-मत में दीक्षित करना चाहा। उन्होंने सोचा कि यदि उन्हें वैष्णव-मत में दीक्षित कर लिया जायेगा, तो उनसे उनके अभियान में अत्यधिक सहयोग प्राप्त होगा। एक दिन उन्होंने फूलों के कुछ पौधों की जड़ों को ऊपर कर उनका रोपण प्रारम्भ कर दिया। इसके पश्चात् वे उन पौधों का अभिसिंचन उस जल पात्र से करने लगे जिसमें असंख्य छिद्र थे। यह देख कर शिववाक्य हँस पड़े। पेयालवार ने कहा- "यदि तुम अपने विशुद्ध मत की उपेक्षा कर अन्य मतों का ग्रहण तथा परित्याग करते रहना चाहते हो, तो क्या इसे तुम्हारी आत्मा के प्रति तुम्हारा अन्याय नहीं कहा जायेगा? जब तुम स्वयं ही एक हास्यास्पद कर्म कर रहे हो, तब तुम मुझ पर क्यों हँस रहे हो ? समस्त धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के बाद भी तुम यथार्थ धर्म तथा सर्वोच्च सत्ता के सम्बन्ध में किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके हो।" यह सुन कर शिववाक्य की आँखें तत्क्षण खुल गयीं। उनका पेयालवार से वाद-विवाद हुआ जिसमें उन्हें पराजित होना पड़ा। वे पेयालवार का शिष्यत्व ग्रहण कर वैष्णव हो गये। उन्होंने तिरुमलिसै आलवार का दास्य-नाम ग्रहण किया।

तिरुमलिसै आलवार के परम भक्त कन्निकन्नन ने अपने स्वामी की निष्ठापूर्वक सेवा की। एक वृद्ध महिला भी अत्यन्त उत्साह तथा श्रद्धा के साथ उनकी सेवा करती थी। इस वृद्धा से आलवार बहुत प्रसन्न थे। एक दिन उन्होंने उससे कहा- "मुझसे तुम वर माँगो। वह तुम्हें अवश्य प्राप्त होगा।" उस वृद्ध महिला ने उनसे कहा- "पूज्यवर, मुझे आप पुनः युवती बना दीजिए।" आलवार ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति से उसे एक सुन्दर बाला के रूप में रुपान्तरित कर दिया। कांची के तत्कालीन अधिपति पल्लव-नरेश उस पर आसक्त हो गये और उन्होंने उससे विवाह कर लिया।

काल-चक्र अपनी गति से चलता रहा; किन्तु राजा ने देखा कि उनकी पत्नि की आयु-वृद्धि के अनुसार उसके सौन्दर्य तथा यौवन का क्षरण नहीं हो रहा है। उन्होंने उससे पूछा- "तुम्हारे सौन्दर्य तथा यौवन का रहस्य क्या है?"

रानी ने बताया- "तिरुमलिसै आलवार नामक एक महान् भक्त विष्ण-मन्दिर के सरोवर के निकट रहते हैं। वे एक महान् भक्त और दक्ष योगी हैं। कन्निकन्नन उनके शिष्य हैं। यहाँ वह प्रतिदिन भिक्षाटन के लिए आया करते हैं। आप शिष्य के माध्यम से गुरु का दर्शन कर उनसे वर प्राप्त कर सकते हैं।"

राजा ने कन्निकन्नन को बुला कर उनसे कहा- "आप अपने गुरु को यहाँ ले आइए। मैं उनको भेंट दूँगा।" कन्निकन्नन ने कहा- "राजन् ! मेरे गुरुदेव यहाँ नहीं आयेंगे। वे राजकीय अनुग्रह के इच्छुक नहीं हैं। वे केवल त्रिलोक-पति भगवान् हरि के आदेश का पालन करते हैं।"

तब राजा ने उनसे कहा- "हे कन्निकन्नन ! आप मेरी प्रशंसा में एक कविता की रचना कीजिए। मैं आपको उपहार दूँगा।" कन्निकन्नन ने कहा- "मैं केवल भगवान् तथा उनके भक्तों की महिमा का गुण-गान करता हूँ। मैं सांसारिकता में लिप्त, नश्वर तथा भ्रष्ट शासकों का गुण-गान नहीं करता।"

राजा कन्निकन्नन के इन शब्दों से अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे। उन्होंने कहा- "तुम कितने धृष्ट हो। तुमने मेरा प्रशस्ति-गायन न कर मेरा अनादर किया है। तुम मेरे राज्य से शीघ्र निकल जाओ।" कन्निकन्नन ने कहा- "मैं शीघ्र ही आपके राज्य का परित्याग कर दूंगा।”

कन्निकन्नन ने इस घटना की सूचना अपने गुरु को दे दी। तब आलवार ने कनिकन्नन के साथ अन्यत्र चले जाने का निश्चय कर लिया। उन्होंने वहाँ के स्थानीय देवता से भी उस स्थान का परित्याग कर देने का आग्रह किया। आलवार तथा उनके शिष्य ने उस राज्य का परित्याग कर दिया। देवता भी अपनी सर्प-शय्या समेट कर उन लोगों के साथ एक निकटस्थ ग्राम में चले गये।

अब वह राज्य समृद्धि-शून्य हो गया। देवता के प्रयाण के फल-स्वरूप सर्वत्र विषाद का अन्धकार व्याप्त हो गया। अनावृष्टि के कारण लोग त्रस्त हो उठे। राजा को अब इस बात का ज्ञान हुआ कि इस विपत्ति का कारण कन्निकन्नन के प्रति उनका धृष्ट व्यवहार तथा उनका निर्वासन ही है। वह उस स्थान पर गये जहाँ आलवार तथा उनके शिष्य ठहरे हुए थे। उनके नेत्रों में पश्चात्ताप के आँसू थे। उन्होंने उनसे कांची लौट चलने की प्रार्थना की। वे उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर अपनी आद्य कुटिया में चले गये। आलवार ने देवता से भी मन्दिर में लौट चलने के लिए अनुनय-विनय की। उन्होंने प्रार्थना की-"हे शेषशायी, कन्निकन्नन लौट आया है और मैं भी लौट आया हूँ। कृपया आप भी पुनः मन्दिर में आ जाइए।" भगवान् भी लौट आये। अब राज्य समृद्ध तथा मन्दिर ज्योतिर्मय हो उठा।

इसके पश्चात् आलवार ने कुम्भकोणम् के अधिष्ठातृ देवता के पूजन के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में वे पेरुमबुलियूर (सम्भवतः चिदम्बरम्) में रुके। वहाँ कुछ ब्राह्मण वेद-पाठ कर रहे थे; किन्तु आलवार को देखते ही उन्होंने वेद-पाठ

बन्द कर दिया। उन्होंने उन्हें अब्राह्मण या किसी निम्न जाति का व्यक्ति समझ लिया था। जब उन्होंने वेद-पाठ का पुनः प्रारम्भ करना चाहा, तब उन्हें इसका स्मरण नहीं रहा कि उन्होंने पहले वेद-पाठ का स्थगन कहाँ किया था। आलवार उनकी कठिनाई को समझ गये। वे मार्ग में पड़े धान के एक काले दाने को उठा कर उसे विखण्डित करने लगे। यह देख कर ब्राह्मणों को यह स्मरण हो गया कि उन्होंने वेद-पाठ उस लेखांश पर बन्द किया था जो कृष्णानां ब्रिहिनं नख निर्भिन्ननेम' (यजुर्वेद १/९) से प्रारम्भ होता है। बाह्मणों ने कहा- "हमारी भूल के लिए हम लोगों को क्षमा कीजिए। आप साधारण व्यक्ति न हो कर एक महात्मा है।"

जब आलवार गाँव की गलियों से हो कर जा रहे थे, तब मन्दिर के अधिष्ठात देवता भी उनके साथ ही चलते रहे। उनका साहचर्य आलवार को सर्वत्र प्राप्त होता रहा। इसकी सूचना एक दीक्षितार को दे दी गयी जो उस समय एक यज्ञ कर रहा था। दीक्षितार ने उन्हें अपने यज्ञ-मण्डप में आमन्त्रित कर उनका यथोचित आदर-सत्कार किया। इससे अन्य ब्राह्मण रुष्ट हो गये। उन्होंने आलवार के प्रति अवज्ञापूर्ण व्यवहार किया।

दीक्षितार ने आलवार से उन ब्राह्मणों को सद्बुद्धि प्रदान करने की प्रार्थना की। आलवार ने अपने शरीर पर भगवान् हरि के आश्चर्यजनक रूप का प्रदर्शन कर दिया। इससे प्रभावित हो कर ब्राह्मणों ने उनसे क्षमा याचना की।

आलवार कुम्भकोणम् पहुँचे। उनकी प्रार्थना पर वहाँ के स्थानीय देवता आरावमुदर ने अपनी सर्प-शय्या से अपने शरीर के अर्धांश को उत्थित कर दिया। यह आज भी उसी मुद्रा में अवस्थित है। इस घटना का वर्णन आलवार की 'तिरुचन्दविरुत्तम्' शीर्षक की एक कविता में किया गया है।

कुम्भकोणम् आ कर उन्होंने 'तिरुचन्दविरुत्तम्' तथा 'नानमुखन तिरुवन्तादि' नामक अपनी दो कृतियों को कावेरी नदी में फेंक दिया। वे इतने विक्रम तथा अहंकार-शून्य थे कि उन्हें स्वयं अपनी कविताओं के प्रकाशन की भी इच्छा नहीं होती थी; किन्तु उनकी ये दोनों रचनाएँ विपरीत धारा में बह कर भी तट पर आ लगीं।

'तिरुचन्दविरुत्तम्' काव्य में एक सौ बीस पद हैं और 'नानमुखन तिरुवन्तादि' में छियानवे कविताएँ हैं। इन दोनों को सभी आलवारों की कविताओं के संग्रह 'दिव्य प्रबन्धम' में संग्रहित कर लिया गया है। आलवार ने शैव-मत का परित्याग कर वैष्णव-मत की दीक्षा ग्रहण की थी। अतः उनकी कृतियों में मताग्रही भक्ति के पुट के दर्शन होते हैं।

आलवार ने कुम्भकोणम को अपना स्थायी निवास स्थान बना लिया। दीर्घायु होने के पश्चात् ही उनका देहान्त हुआ। कहा जाता है कि वे अपनी यौगिक शक्ति के बल पर चार सहस्र सात सौ वर्षों तक जीवित रहे।

तिरुमलिसै आलवार का सन्देश है- "नारायण सर्वोच्च सत्ता है। वे एकमात्र गति हैं। भगवान् के नामों में महान् शक्ति निहित है। मृत्यु के अधिपति यम अपने दतों के कान में अति मन्द स्वर में कहते हैं कि उन्हें भगवान् हरि के भक्तों के निकट नहीं जाना चाहिए। उनके सान्निध्य का सर्वत्र अनुभव करो। वे तुम्हारे हृदय में वास करते हैं। वे सर्वदा तथा सर्वत्र तुम्हारे रक्षक है। भगवान से प्रेम करो। आत्म-समर्पण द्वारा उनकी कृपा प्राप्त करो। तुम्हे शाश्वत आनन्द तथा अमरत्व की प्राप्ति होगी।"

आण्डाल

आण्डाल को देवी पृथ्वी या भू देवी का अवतार कहा जाता है। वे भगवान् विष्णु की तीन पार्श्ववर्तिनियों में एक हैं। उन्हें धरती पर विशेषतः दिव्य प्रेमानन्द के उल्लास को अभिव्यक्त करने के लिए भेजा गया था। उनका जन्म दक्षिण भारत के रामनाथपुरम् जनपद के श्रीविल्लिपुत्तूर नामक ग्राम में हुआ था। जिस प्रकार जनक को पवित्र क्षेत्र-कर्षण

के समय सीता की प्राप्ति हुई थी, उसी प्रकार आण्डाल को विष्णुचित्त की कुसुम-वाटिका के एक तुलसी-कुंज में पाया गया था। विष्णुचित्त पेरिय आलवार के नाम से अधिक विख्यात हैं। परम्परागत रूप से आण्डाल का जन्म कलियुग के ९८ वें वर्ष में हुआ था।

पेरिय आलवार ने शिशु को उठा कर स्थानीय मन्दिर के भगवान् वटपत्रशायी के चरणों पर यह कहते हुए डाल दिया- “यह अमूल्य निधि एकमात्र आपकी ही है। यह आपकी सेवा करेगी।" तभी आकाशवाणी हुई—“विष्णुचित्त, इस शिशु को कोदै नाम से पुकारना और इसका पालन-पोषण अपनी ही पुत्री की भाँति करना। कोदै का अर्थ है पुष्प-हार श्री। अतः लोग उसे आण्डाल कहने लगे। उसे रंगनायकी के नाम से भी पुकारा की भांति सुन्दर। शिशु को भगवान् रगनाथ का स्नेह तथा उनकी कृपा प्राप्त जाता था।

आण्डाल एक असाधारण, रमणीय तथा अमूल्य बालिका थी। जब वह हाल-सुलभ स्वर में तुतलाती थी, तब भी उसके कण्ठ से भगवान् हरि का नाम ही निकलता था। वह अन्य बालिकाओं की भाँति नहीं खेलती थी। वह फूल एकत्र कर भगवान् के लिए माला गूंथती। वह अपने पिता के साथ कुसुम-वाटिका में काम करती थी। वह भगवान् का प्रशस्ति-गायन करती थी और उसे पुराणों के अध्ययन तथा श्रवण में आनन्द का अनुभव होता था।

श्रीरंगम् के भगवान् रंगनाथ के प्रति उसके मन में गहन भक्ति थी। उसका जीवन एकमात्र उन्हीं के लिए अर्पित था। वह सर्वदा उन्हीं के विचारों में मग्न रहती तथा उनकी स्तुति करती रहती थी। वह माधुर्य-भाव के शिखर पर आरूढ़ हो गयी थी। यह भाव प्रेमी-प्रेमिका के बीच स्थापित होता है।

वह जो माला भगवान् के लिए बनाती थी, उसे स्वयं पहन कर दर्पण के समक्ष खड़ी हो जाती और अपनी सुन्दरता की प्रशंसा करते हुए कहती - "क्या मैं अपने भगवान् रंगनाथ द्वारा स्वीकार कर ली जाऊँगी? क्या मेरा सौन्दर्य मेरे प्रति उनमें प्रेमाग्नि प्रज्वलित कर सकता है?" यह सब उसकी दिनचर्या का एक आवश्यक अंग बन गया था। एक दिन मन्दिर के पुजारी ने उसकी माला को इसलिए अस्वीकार कर दिया कि उसमें बाल था। पेरिय आलवार ने नये फूल चुने और भगवान् के लिए उस दिन नयी माला बनायी। दूसरे दिन पुजारी ने कहा कि माला के फूल कुछ मुरझाये हुए थे। पेरिय आलवार ने इसके कारण की खोजबीन का प्रयत्न किया।

एक दिन पेरिय आलवार ने परदे की ओट से वह सब-कुछ देख लिया श्री उनकी पुत्री कर रही थी। उसने नयी माला पहन ली। इसके पश्चात् वह दर्पण के सम्मुख खड़ी हो कर कहने लगी- "हे भगवान् रगनाथ, हे मेरे प्रियतम, उसके पास दौड कर गये, उन्होंने कहा- "मेरी प्रिय पुत्री, यह तुम क्या कर क्या तुम्हें अब मेरे सौन्दर्य से प्रेम है?" वह प्रफुल्ल-चित्त थी। उसके पिता रही हो ? तुमने भगवान के लिए प्रयुक्त होने वाली माला को अपवित्र कर दिया है। कृपया भविष्य में ऐसा मत करना।"

पेरिय आलवार ने नयी मालाएँ बना कर भगवान को अर्पित कीं। उस रात उन्होंने एक स्वप्न देखा। भगवान ने स्वप्न में प्रकट हो कर उनसे कहा- "आण्डाल द्वारा धारण की हई मालाएँ मुझे अत्यन्त रुचिकर लगती हैं। वह भू देवी और मेरी अर्धांगिनि है जिसने मानव-रूप में अवतार ग्रहण किया है। अब मेरे पास उसकी पहनी हुई मालाएँ ही लाया करो।" उस दिन से लोग उसे 'सूडि कोडुत्ता नाचियार' कहने लगे। जो स्वयं पहले माला धारण कर भगवान् को इसके पश्चात् अर्पित करती है, उसे इसी नाम से नामित किया जाता है।

आण्डाल के लिए श्री विल्लिपुत्तूर वृन्दावन हो गया। वह वहाँ की समस्त नारियों को गोपियाँ समझती थी और उनसे कृष्णोपासना का अनुरोध करती थी। उसकी सखियाँ गोपियाँ हो गयीं। वटपत्रशायी श्रीकृष्ण हो गये। आण्डाल भी स्वयं को गोपी समझती थी। वह श्रीकृष्ण से एक गोपी की ही भाँति प्रेम करती थी और उनके लिए लालायित रहती थी। अपनी सखियों के साथ वह श्रीकृष्ण के जीवन के कुछ प्रसंगों का मञ्चन करती थी। उसकी सुन्दर कविताओं

'तिरुप्पावै' और 'नाचियार तिरुमोलि' में ऐसे प्रसंगों का सुखद वर्णन किया गया है। ये कविताएँ माधुर्य तथा सम्मोहन से ओत-प्रोत हैं।

पेरिय आलवार आण्डाल के लिए एक वर की खोज करने लगे। आण्डाल ने उनसे कह दिया- "मैं किसी नश्वर से विवाह नहीं करूँगी। मेरा मन श्रीरंगम् के भगवान् रंगनाथ पर केन्द्रित है। मैंने अपना जीवन एकमात्र उन्हीं को समर्पित कर दिया है। वे मेरे पति हैं। वे मेरे स्वामी हैं। वे मेरे सर्वस्व हैं।
श्रीकृष्ण के मनोहर हाथों को ही मुझे आबद्ध करने दीजिए। यदि मेरा विवाह किसी नश्वर से हुआ, तो मेरा प्राणान्त हो जायेगा। मैं केवल भगवान् रंगनाथ से ही विवाह करूँगी।"

पेरिय आलवार ने एक स्वप्न देखा जिसमें भगवान् रंगनाथ ने उनसे उनकी पुत्री को उस पवित्र स्थान पर वधू-वेश में लाने को कहा। श्रीरंगम मन्दिर के व्यवस्थापक ने भी ऐसा ही स्वप्न देखा।

आण्डाल को चौदह वर्ष की आयु में श्रीरंगम् लाया गया जहाँ उसने मन्दिर के गर्भ-गृह में भगवान् को सर्प-शय्या पर देखा। आण्डाल तत्क्षण उनके साथ एकाकार हो गयी। उसके जीवन की आकांक्षा की पूर्ति हो गयी। उसने संसार को भगवद्-भक्ति की महिमा की झलक दिखा दी।

आण्डाल पाँच वर्ष की आयु से ही तिरुप्पावै गाने लगी थी। इसमें तीस मधुर तथा सम्मोहक पद हैं। दूसरे संग्रह में इन पदों की संख्या एक सौ तैंतालिस हो गयी। श्रीवैष्णव प्रतिदिन प्रातःकाल तिरुप्पावै का पाठ करते हैं।

तिरुप्पावै में दिसम्बर मास में किये जाने वाले एक व्रत का विवरण है। यह भागवत की एक कथा पर आधारित है। गोपियाँ कात्यायनी देवी के सम्मान में इस व्रत का अनुपालन करती थीं। उनको विश्वास था कि इसके माध्यम से उनको श्रीकृष्ण का दर्शन सुलभ हो जायेगा।

'नाचियार तिरुमोलि' भगवान् के प्रति आण्डाल की भक्ति को अभिव्यक्त करता है। वह भगवान् के दर्शन के लिए काम की प्रार्थना तथा चातक की चरण-वन्दना करती है। वह उनके पास मेघ को अपना दूत बना कर भेजती है। वह स्वप्न में उनको प्राप्त कर हर्षित होती है। वह अपने पिता तथा सम्बन्धियों को स्वयं को कृष्ण के पास ले जाने की प्रार्थना करती है। अन्ततः भगवान् प्रकट हो कर उसे अपना लेते हैं। इसकी एक दशी का गायन श्रीवैष्णवों के विवाह के अवसर पर किया जाता है। अन्तिम पंक्ति में नव-दम्पति को आशीर्वाद दिया गया है।

आण्डाल अन्य नारियों को गोपियाँ समझ कर उनसे कृष्ण की उपासना का अनुरोध इन शब्दों में करती है-

"मधुर वृन्दावन की प्रिय गोपियो, उठो । पक्षियों के गायन का प्रारम्भ हो चुका है। मन्दिर से शंख-ध्वनि आ रही है। क्या यह ध्वनि तुम लोगों को सुनायी नहीं पडती है? क्या तुम लोग गोपियों के दधि-मन्थन के स्वर नहीं सुन रही हो? क्या तुम लोग बधिर हो ? हमें ज्योतिर्मयी यमुना में स्नान कर वृन्दावन के वंशी-वादक तथा देवकी के हर्षोल्लास भगवान् कृष्ण का दर्शन और इसके पश्चात् नव-चयनित सुमनों से उनका पूजन करना चाहिए। पुत्रियो, उठो। अब और अधिक शय्या पर मत रहो। अपने द्वार खोलो। कमल प्रस्फुटित हो चुके हैं।

"क्या तुम लोग अभी तक सो रही हो? यह लज्जाजनक है। शीघ्र उठो। ब्राह्ममुहूर्त बीत जायेगा। यह भगवान् के महिमा-गान, प्रार्थना तथा ध्यान का सर्वोत्तम समय है।"

आण्डाल भगवान् को इस प्रकार सम्बोधित करती है-

"भगवान्, हम तुम्हारे मधुर तथा पवित्र सान्निध्य में आये हैं। हमारे हृदय में स्वयं को आसीन करो। हमें अपने सतत स्मरण की शक्ति प्रदान करो। हमारे अन्तरतम में दिव्य ज्योति को निरन्तर प्रोज्ज्वल रहने दो। हे गोविन्द, हमें अपनी कृपा-दृष्टि से कृतार्थ करो। हे जनार्दन, हमें अपनी अविरत सेवा का अवसर प्रदान करो। हे अच्युत, तुम हमें ऐसा वर दो जिससे हम तुममें स्थायी रूप से निवास कर सकें। हमारा मन तुम्हारे चरण-कमलों में लीन रहे। हे माधव, हमारे होठों पर सर्वदा तुम्हारा ही नाम रहे।

"योगियों द्वारा पूजित तुम्हारे उन चरणों की महिमा में वृद्धि हो जिन्होंने त्रिलोक को नाप लिया था। हे नृसिंह, आपने प्रह्लाद की रक्षा के लिए स्तम्भ से गरजते हुए विकराल हिरण्य हो विदीर्ण कर दिया था। आपकी महिमा में वृद्धि हो। कालियनाग के फण पर नृत्य करने वाले हे परिरक्षक, आप महिमान्वित हो जायेगी, आपने रासलीला में नृत्य कर गोपियों को हर्ष प्रदान किया था। आपकी महिमा में वृद्धि हो।"

भगवान् तथा आण्डाल का विवाहोत्सव जुलाई मास में दक्षिण भारत के अनेक मन्दिरों में धूम-धाम से मनाया जाता है।

आण्डाल, भू देवी तथा धरती माता महिमान्वित हों! उन्हें प्रणाम ! उनका आशीष हमारे शीश पर रहे !

सन्त आलवन्दार

बारहवीं शताब्दी में मदरै एक पाण्ड्य-नरेश के अधिकार में था। यह अमिल विद्या का केन्द्र था और वहाँ का राजा विदत्ता का महान् संरक्षक था। रानी भी विदुषी महिला थी।

वहाँ विद्वज्ज्ञान कोलाहल नामक एक प्रख्यात पण्डित था जिसे राजा का संरक्षण प्राप्त था। वहाँ की विद्वन्मण्डली उससे आतंकित रहती थी। वह अत्यन्त उद्धत तथा अहम्मन्य था। वह अन्य विद्वानों से कर के रूप में बलात् इन लिया करता था। उसे चुनौती देने का साहस किसी में नहीं था। वह एक कठोर-हृदय व्यक्ति था। वह पालकी में चलता था और अनेक लोग उसका अनुगमन करते थे। ये लोग उसकी विद्वत्ता का विज्ञापन किया करते थे। यदि किसी पण्डित के ऊपर उसकी शुल्क राशि शेष रह जाती थी, तो वह उसके प्रति अत्यन्त कठोर व्यवहार करता था।

ये किसी वास्तविक विद्वान् पण्डित के लक्षण नहीं हैं। विद्वत्ता हृदय में गर्व तथा आत्म-प्रवंचना को बद्धमूल करती है जिससे अहंवृत्ति और अधिक प्रबल हो उठती है। किन्तु यह विनाश का कारण है।

भाष्याचार्य एक विनम्र शिक्षक थे। कोलाहल के अभिकर्ता रामशास्त्री एक बार उनकी पाठशाला में आये। उस दिन भाष्याचार्य पाठशाला में नहीं थे। रामशास्त्री ने यमुना नामक एक विद्यार्थी से कहा- तुम अपने गुरु से कह देना कि वे शुल्क ले कर पण्डित कोलाहल से मिल लें। यदि आज वे उनके नहीं मिलेंगे, तो परिणाम अनर्थकारी होगा।" विद्यार्थी ने कहा- "मेरे धृष्ट तथा गर्वोन्मत्त मुखों को एक भी पैसा नहीं देंगे। आप जा कर अपने पण्डित से मेरी बात शब्दशः कह दीजिए।"

यमुना के इस धृष्ट उत्तर से कोलाहल ने उग्र रूप धारण कर लिया। उसने भाष्याचार्य को वाद-विवाद के लिए आमन्त्रित कर दिया। भाष्याचार्य भयभीत हो उठे। यमुना ने कहा- पूज्य गुरुदेव, आप कोलाहल को सूचित कर दीजिए कि आपका शिष्य उनको किसी भी वाद-विवाद के लिए चुनौती दे रहा है। मैं उनकी आत्म-प्रवंचना को

अंकृशित कर आपके लिए अक्षय कीर्ति अर्जित कर लूँगा। संकोच के साथ ही सही, भाष्याचार्य ने शिष्य के प्रस्ताव का अनुमोदन कर दिया।

यमुना पाण्ड्य-नरेश की राज-सभा में गया और वहाँ निर्भय हो कर कोलाहल के सम्मुख बैठ गया। सब लोगों ने यही सोचा कि पण्डित इस बालक को पराजित कर देगा। राजा का भी यही अनुमान था; किन्तु रानी यमुना की निश्चित विजय के प्रति पूर्णतः आश्वस्त थी। उसने राजा से कहा- "यदि यह बालक पण्डित को पराजित नहीं करेगा, तो मैं आपकी दासी हो जाऊँगी।" राजा ने कहा- "यदि यह बालक विजयी होगा, तो मैं उसे अपने राज्य का अर्धांश दे दूँगा।"

वाद-विवाद प्रारम्भ हुआ। पण्डित ने क्लिष्ट प्रश्न पूछे जिनके बालक ने यथोचित उत्तर दे दिये। अब पण्डित ने कहा- “हे धृष्ट बालक, अब तुम मुझसे कोई भी प्रश्न करो। मैं उसका उत्तर दे दूँगा।"

यमुना ने कहा- "पण्डित जी, मैं कहता हूँ कि आपकी माँ बन्ध्या नहीं है, राजा धर्मनिष्ठ हैं और रानी पवित्र हैं। यदि आप कर सकते हैं, तो मेरे इस वक्तव्य का खण्डन कीजिए।" पण्डित किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। वह इसका कोई उत्तर नहीं दे सका।

राजा ने यमुना से कहा- तुम अपने वक्तव्य का स्वयं खण्डन करो।"

यमुना ने कहा- "एक वृक्ष से उपवन की सृष्टि नहीं होती और एक सन्तान को सन्तान नहीं समझना चाहिए। पण्डित जी की माँ ने केवल एक सन्तान को जन्म दिया है। इस स्थिति में उन्हें बन्ध्या ही कहा जायेगा। राजा पूर्णतः धर्म-निष्ठ नहीं हो सकता: क्योंकि उसे प्रजा का भी पाप ग्रहण करना पड़ता है। एक नारी सर्वप्रथम अग्नि, वरुण तथा इन्द्र को अर्पित की जाती है। इसके पश्चात् ही वह पति-समर्पिता होती है। अतः रानी भी पवित्र नहीं है।"

पण्डित लज्जा के कारण अवनत-शिर हो गया। श्रोताओं ने युवा मेधावी छात्र की बातों पर करतल-ध्वनि करते हुए हर्ष प्रकट किया। राजा ने भी यमुना की कुशाग्र बुद्धि की प्रशंसा करते हए उसे अपने राज्य का अर्धांश प्रदान कर दिया। रानी ने उसे आलवन्दार (जो शासन करने आया) नाम से अभिहित किया।

अब यमुना शासक और पण्डित उसका सेवक हो गया। भाष्याचार्य के आनन्द की सीमा नहीं रही। यमुना का प्रशासन बुद्धिमत्तापूर्ण तथा न्यायपूर्ण था। राज्य में शान्ति तथा व्यवस्था थी।

आलवन्दार महान् भक्त नाथमुनि के पौत्र थे। जब वे मात्र दश वर्ष के थे, तभी उनके पिता का देहान्त हो गया था। नाथमुनि ने उनको श्रीरंगम् के भगवान् श्री रंगनाथ की सेवा में अर्पित कर दिया।

मनक्काल नम्बि नाथमुनि के शिष्य थे। वे महान् कृतविद्य तथा भक्त थे, आलवन्दार की बाल्यावस्था में ही नाथमुनि का देहान्त हो चुका था। मृत्यु के पूर्व नाथमुनि ने मनक्काल नम्बि से कहा- "मेरे पौत्र के वयस्क हो जाने पर उसे उस अमूल्य निधि का दर्शन करा देना जो मुझे आजीवन अत्यन्त प्रिय रही है। वह बहुमूल्य निधि है। आलवन्दार के लिए मैं यही विपुल धन-राशि पैतृक सम्पत्ति के रूप में छोड कर जा रहा है। यह रंगनाथ के मन्दिर के गर्भ गृह में प्राप्त होगी।" नाथमुनि के ये अन्तिम शब्द थे।

राजा आलवन्दार अपने राजसी जीवन से सन्तुष्ट नहीं थे। वे आत्मा की आन्तरिक तथा अक्षय शान्ति के अभिलाषी थे। अपने शत्रुओं के विरुद्ध युद्धरत होने के लिए उन्हें विपुल धन राशि की आवश्यकता थी। संकट की इस घड़ी में मनक्काल नम्बि मदरै आये। उन्होंने आलवन्दार को दीक्षित करना तथा उनको अपने गुरु नाथमुनि का सन्देश देना

चाहा। वे उनके रसोइये से मिले। उन्होंने उसे एक दिव्य अमृत वटी देते हुए कहा- "मैं इसे तुम्हें प्रतिदिन दिया करूँगा। तुम इसे राजा की सब्जी में मिला दिया करना। इससे सब्जी स्वादिष्ट हो जायेगी और वह उसे प्रेमपूर्वक ग्रहण करेंगे।" रसोइये ने उनके आदेश का पालन किया। राजा को वह सब्जी अत्यन्त स्वादिष्ट लगी। एक दिन नम्बि वह बूटी नहीं ला सके। राजा को उस दिन की सब्जी सुस्वादु नहीं लगी।

आलवन्दार ने रसोइये से पूछा- "आज सब्जी स्वादिष्ट क्यों नहीं लगी?" रसोइये ने कहा- "महाराज, आज भक्त महोदय बूटी ले कर नहीं आये।" आलवन्दार ने कहा- "किस भक्त की बात कर रहे हो?" रसोइये ने कहा- "एक भक्त यहाँ प्रतिदिन आते थे और कहते थे कि इस बूटी को सब्जी में मिला कर राजा को खिलाया करो।" आलवन्दार ने कहा- "उस भक्त को मेरे पास ले आओ।" रसोइया मनक्काल नम्बि को साथ ले कर राजा के पास आ गया।

आलवन्दार ने कहा- "हे भक्त, आपकी बूटी से मेरा भोजन ही स्वादिष्ट नहीं हुआ, इससे मेरी आत्मा भी तृप्त हो गयी। मैं आपका कृतज्ञ हूँ। मुझे किसी सेवा का आदेश दीजिए। मैं आपको प्रचुर धन दूँगा।"

नम्बि-"मैं आपके पास प्रचुर धन-ग्रहण करने नहीं आया हूँ। इसके विपरीत मैं स्वयं आपको उस विपुल धन-राशि का दर्शन कराना चाहता हूँ, जिसके आप उत्तराधिकारी हैं।”

आलवन्दार- वह धन राशि कैसी है? मैं उसका उत्तराधिकारी कैसे हो गया? वह है कहाँ ? मुझे युद्ध के लिए धन की नितान्त आवश्यकता है।"

नम्बि - "महाराज, आप ध्यानपूर्वक सुनिए। नाथमुनि आपके पितामह हैं और मैं उनका निष्ठावान् शिष्य हैं। अपने गो-लोक-वास के कुछ क्षणों पूर्व वे वह विपुल धन-राशि मुझे ही सौंप गये।"

आलवन्दार--"हे पूजनीय भक्त, मुझ पर मेरे पितामह की दया-दृष्टि रहती थी। उन्होने मुझे प्रचुर धन दिया है। वह धन इस समय मेरे लिए नितान्त आवश्यक है। कृपया मुझे बतलाइए कि वह धन कहाँ है ?"

नम्बि - वह धन-राशि दो नदियों के बीच में है। एक दीर्घकाय सर्प उसकी रक्षा करता है। एक मन्त्र द्वारा उसे प्राप्त किया जा सकता है। उसको हस्तगत करने के पश्चात् आप सभी कुछ प्राप्त कर सकते हैं। तब आपकी सारी अभिलाषाएँ पूर्ण हो जायेंगी; किन्तु उसकी प्राप्ति के लिए आपमें विशुद्ध प्रेम तथा दृढ़ इच्छा-शक्ति का होना अत्यावश्यक है।"

आलवन्दार- "हे भक्त, अब आप चल कर वह विपुल धन-राशि दिखलाइए। अपने आदरणीय दयालु पितामह के नाम पर मैं उसे निःसन्देह प्राप्त कर लूँगा। मैं निश्चित रूप से यह कह सकता हूँ कि उसकी सम्प्राप्ति के लिए मुझमें विशुद्ध प्रेम तथा दृढ़ इच्छा-शक्ति है।"

नम्बि - "सांसारिक वस्तुओं के प्रति राग का परित्याग कर आप मेरे साथ चलिए। स्वयं को गहन ध्यान, ज्वलन्त आकांक्षा तथा उत्कट विश्वास से पूरित कीजिए। आप तत्काल वह धन प्राप्त कर लेंगे।"

आलवन्दार सुयोग्य व्यक्तियों के हाथों में शासन-सूत्र सौंप कर उस धन-राशि की खोज में नम्बि के साथ चल पड़े। नम्बि गीता के परम भक्त थे। वे प्रतिदिन इसका पारायण करते थे। आलवन्दार उनका गीता-पाठ आस्था, भक्ति तथा एकाग्र चित्त से सुना करते थे। इससे उनका हृदय विशुद्ध हो गया। उन्होंने कहा- हे पूजनीय भक्त, आप मेरे गुरु है। आप मुझे गीता के यथार्थ तत्त्व की शिक्षा दीजिए। मैं गीतामृत-पान के लिए उत्सुक हैं। नम्बि ने उनको गीता के सार-तत्त्व से परिचित करा दिया।

आलवन्दार गीता के ध्यान में आत्म-विस्मृत हो गये। उन्होंने सोचा- "इस राज्य की उपयोगिता ही क्या है? राज्य के प्रशासन में मुझे शान्ति नहीं प्राप्त होगी। मैंने अपने जीवन को अब तक नष्ट ही किया है। इस महान् भक्त ने मेरे ज्ञान-चक्ष खोल दिये हैं। मैं तत्त्व-अतत्त्व के भेद से परिचित हो चुका है। गीता में प्रचुर आध्यात्मिक सम्पदा निहित है। इससे मेरे मन को शान्ति प्राप्त होती है। इस भक्त के सान्निध्य में मुझे आश्वस्ति प्राप्त होती है। वह मेरा प्रिय है। मैं अपने जीवन को ईश्वर की सेवा में अर्पित कर ईश्वर में ही निवास करूँगा। मैं त्रिलोकीनाथ के चरणों पर सर्वतोभावेन आत्म-समर्पण कर दूँगा। राजकीय जीवन अहं-वृत्ति से ओत-प्रोत है। मैं सिंहासनारूढ़ होना नहीं चाहता। मेरी इच्छा है कि ईश्वर मेरे हृदय-सिंहासन पर स्वयं ही विराजमान हो जायें। मुझे किसी सांसारिक सम्पदा की आवश्यकता नहीं है। यह किसी काँच का भग्नांश मात्र है।" यह सोच कर उन्होंने नम्बि से कहा- "हे गुरुदेव, आप संसार की विपुलतम धन-राशि की प्राप्ति के अभियान में मेरा पथ-प्रदर्शन कीजिए।"

नम्बि इस तथ्य से परिचित हो गये कि आलवन्दार का हृदय पूर्णतः विशुद्ध हो चुका है। उन्होंने कहा- "यह सम्पत्ति स्थायी है। इसे देखने के लिए आप मेरा अनुगमन कीजिए।"

श्रीरंगम् आ कर दोनों ने भगवान् रङ्ग के मन्दिर में प्रवेश किया। उस समय पूजा-चर्या चल रही थी। ब्राह्मण वेद-पाठ कर रहे थे। भक्त-गण आलवारों द्वारा रचित भजन गा रहे थे। पुजारी आरती दिखा रहा था। नम्बि ने आलवन्दार से कहा-"यहाँ देखिए। यही है संसार की विपुलतम सम्पदा जिसे आपके धर्म-निष्ठ पितामह आपके लिए उत्तराधिकार के रूप में छोड़ गये थे। यह सम्पदा कावेरी तथा कोलेरून नदियों के बीच है जिसकी रक्षा आदिशेष कर रहे है। आप इसे हस्तगत कीजिए और इसके उपभोग द्वारा अपने हृदय को तुष्टि प्रदान कीजिए। 'ॐ नमो नारायणाय' इसकी प्राप्ति का मन्त्र है।"

आलवन्दार दिव्य आनन्द में मग्न हो गये। उनको उनका राज्य विस्मृत हो गया। उन्होंने कहा "मैं अपने धर्मनिष्ठ पितामह के प्रति कृतज्ञ हैं जिन्होंने मुझे उत्तराधिकार में यह अमूल्य सम्पदा प्रदान की है। हे गुरुदेव, मैं अवनत-शिर आपको प्रणाम करता है। आप ही के मार्गदर्शन में मैं यह विपुल धनराशि अर्जित कर पाया हैं। हे भगवान् हरि, मैं आपके चरणों पर आत्म-समर्पण करता हूँ। आप मेरे रक्षक तथा एकमात्र शरण-दाता हैं। मैं पुनः आपकी बार-बार चरण-वन्दना करता हूँ। मेरी सारी इच्छाएँ समाप्त हो चुकी हैं और मेरे मन को शान्ति प्राप्त हो चुकी है। मैं स्वयं को एक बाह्य युद्ध के लिए उद्यत कर रहा था; किन्तु काम, लोभ, क्रोध, मद, ईर्ष्या तथा अहंवृत्ति-जैसे आन्तरिक शत्रु मेरे हृदय के निभृत कोने में बैठे हुए थे। मैंने आपके शक्तिशाली मन्त्र द्वारा इन्हें विनष्ट कर दिया है। मेरे गुरुदेव नम्बि ने मुझे उस अमूल्य निधि का दर्शन करा दिया है। आप मेरी शाश्वत तथा अक्षय सम्पत्ति हैं। भौतिक सम्पत्ति अनित्य तथा अर्थहीन है। आप मेरे हृदय में संस्थित हैं। आप मेरे जीवन, मेरी आत्मा तथा मेरे सर्वस्व है।"

आलवन्दार श्रीरंगम् में ही बस गये जहाँ उन्होंने जप, कीर्तन, ध्यान तथा उपासना में अपना जीवन व्यतीत कर दिया।

महाराष्ट्र के सन्त

समर्थ रामदास

उनका जन्म १६०८ ई. में महाराष्ट्र-स्थित जम्ब में हुआ था। उनके पिता का रामदास संसार के महानतम सन्तों में थे। वह शिवाजी के प्रेरणा-स्रोत थे। नाम सूर्याजी पन्त तथा उनकी माता का नाम रेणकाबाई था। उनका आद्य नाम

नारायण था। रामदास सन्त तुकाराम के समकालीन थे। वह भगवान् राम तथा हनुमान् के परम भक्त थे। उन्होंने अपने बाल्यकाल में ही भगवान् राम के दर्शन कर लिये थे। स्वयं भगवान् राम ने ही उन्हें दीक्षित किया था।

बाल्यावस्था में ही उन्हें हिन्द-धर्म-ग्रन्थों का सामान्य ज्ञान प्राप्त हो जाग्रत हो गयी थी। एक दिन वह स्वयं को एक कमरे में बन्द कर ईश्वर का चुका था और ध्यान तथा धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन के प्रति उनकी अभिरुचि ध्यान करने लगे। जब उनकी माता ने उनसे पूछा कि वह बन्द कमरे में क्या कर रहे हैं, तब उन्होंने उत्तर दिया कि वह लोक-कल्याण के लिए ध्यान तथा ईश्वर से प्रार्थना कर रहे हैं। पुत्र की इस महनीय धार्मिक प्रवृत्ति से माता आश्चर्यचकित होने के साथ-साथ हर्ष-विभोर भी हो उठीं।

बारह वर्ष की आयु में ही रामदास के विवाह की सारी व्यवस्था सम्पन्न कर ली गयी और उन्हें वधू के सम्मुख बैठा दिया गया। वर-वधू के बीच एक यवनिका का व्यवधान था। जब पुरोहितों ने 'सावधान' शब्द का उच्चारण किया, तब रामदास उस स्थान का परित्याग कर पलक झपकते ही कहीं अन्तर्धान हो गये।

अध्ययन तथा तपस्या

गोदावरी-तट पर स्थित नासिक बारह वर्षों तक रामदास का वास स्थान रहा। वह प्रातःकाल के प्रारम्भिक क्षणों में ही शय्या का परित्याग कर गोदावरी नदी की ओर चले जाते और दोपहर तक आवक्ष उसके जल में खड़े-खड़े पवित्र गायत्री-मन्त्र का जप करते रहते। इसके पश्चात् वे भिक्षा के लिए निकल पड़ते। प्राप्त भिक्षान्न को वह पहले अपने इष्टदेव श्री राम को अर्पित करते और तत्पश्चात् उसे प्रसाद-रूप में स्वयं ग्रहण कर लेते। कुछ देर के विश्राम के पश्चात् वह नासिक तथा पंचवटी के विभिन्न मन्दिरों में जा कर प्रवचन सुनते। रामदास ने संस्कृत का भी अध्ययन किया तथा अपने हाथों वाल्मीकीय रामायण को लिपिबद्ध किया। यह पाण्डुलिपि धुबलिया के श्री एस. एस. देव के संग्रहालय में आज तक सुरक्षित है।

रामदास ने गोदावरी-तट पर नासिक के निकटस्थ तफाली में राम के त्रयोदशाक्षर-मन्त्र 'श्री राम जय राम जय जय राम' का त्रयोदश लक्ष पुरश्चरण किया। पुरश्चरण के समापन के पश्चात् रामदास को भगवान् राम के एक बार पुनः दर्शन हुए। कहा जाता है कि रामचन्द्र ने रामदास को नासिक, हरिद्वार, काशी इत्यादि पवित्र स्थलों के परिभ्रमण का आदेश दिया।

एक बार रामदास ने राम-नाम का जप करते हुए एक शव को पवित्र जल से अभिषिक्त कर दिया जिससे वह पुनर्जीवित हो गया। रामदास को ऐसा इसलिए करना पड़ा क्योंकि उन्होंने एक ऐसी नारी को सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद दिया था जो कुछ ही क्षणों पूर्व विधवा हुई थी।

तीर्थाटन

रामदास अद्वैतमतावलम्बी होने के साथ-साथ भक्त भी थे। उनमें एक ऐसा उदात्त गुण था जिससे उत्प्रेरित हो कर वह प्रत्येक धर्म तथा जाति के प्रति सर्वदा सहिष्णु रहे। उनका मुख्य उद्देश्य सारे भारत में हिन्दू-धर्म को प्रचारित-प्रसारित करना था।

पण्ढरपुर के अस्तित्व तक से अपरिचित रहने के कारण रामदास इस अनुसार एक दिन पाण्डुरंग विठ्ठल ब्राह्मण का वेश धारण कर तीन सौ पवित्र स्थल की यात्रा नहीं कर सके थे। एक लोक-प्रचलित किम्बदन्ती के तीर्थयात्रियों के साथ रामदास के पास आये और उन्होंने उनसे पूछा- क्या आपको भगवान् कृष्ण का दर्शन करने में कोई आपत्ति है?" रामदास का उत्तर निषेधात्मक था। तत्पश्चात् पाण्डुरंग उन्हें पण्ढरपुर ले आये; किन्तु भक्त गणों के मन्दिर में प्रविष्ट होते ही ब्राह्मण देवता अन्तर्धान हो गये। अब रामदास को ज्ञात हुआ कि उन्हें उस पवित्र स्थान तक ले आने वाले स्वय भगवान् ही थे। जब वह मन्दिर के भीतर गये, तब उन्हें यह देख कर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ा कि वहाँ श्री राम एक ईंट पर अकेले खड़े हैं।

रामदास ने अपने इष्टदेव को इन शब्दों में सम्बोधित किया- "हे प्रभु, आप यहाँ एकाकी क्या कर रहे हैं? आपके अनुज लक्ष्मण तथा आपकी पार्श्ववर्तिनी सीता माता कहाँ हैं? मारुति कहाँ हैं और कहाँ है वानरों का वह यूथ ?" इन शब्दों को सुनते ही उस विग्रह ने स्वयं को पण्ढरीनाथ के विग्रह में रूपान्तरित कर लिया। तत्पश्चात् रामदास ने पाण्डुरंग की इस कृपा के लिए उनकी स्तुति की। उन्होंने उनके समक्ष भूमिशायी हो कर उनको प्रणाम किया और उनके दुर्लभ दर्शन-जनित आनन्द में विभोर हो कर उनका प्रशस्ति-गायन किया। अब रामदास की आस्था इस तथ्य के प्रति अधिकाधिक सुदृढ़ होती गयी कि भगवान् के विभिन्न अवतार उनके विभिन्न रूपों की ही अभिव्यक्ति हैं। उन्होंने अपने उपदेशों के माध्यम से लोगों को इस सत्य से अवगत कराया कि उन्हें उस 'एक' की ही उपासना करनी चाहिए जिसका ध्यान प्राणिमात्र के कल्याण पर केन्द्रित है। उन्होंने एकाग्र-चित्त हो कर पाण्डुरंग की उपासना की और अब उनके प्रति उनकी भक्ति इतनी प्रगाढ़ हो गयी कि वह वहाँ नियमित रूप से आने-जाने लगे। रामदास को पण्ढरपुर में ही सन्त तुकाराम तथा पण्ढरपुर के अन्यान्य सन्तों का सम्पर्क-लाभ हुआ। अपनी तीर्थयात्रा की अवधि में उन्हें भारतीयों की सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक दशा एवं उनकी चरम निराश्रयता के पर्यवेक्षण का अवसर प्राप्त हुआ।

कहा जाता है कि श्री राम ने रामदास को कृष्णा नदी के तट पर जाने तथा वहाँ जा कर महाराष्ट्र राज्य के संस्थापक तथा भगवान् शंकर के अवतार शिवाजी की उद्देश्य-सिद्धि में सहायक सिद्ध होने का आदेश दिया। रामदास कृष्णा-तट पर गये और उन्होंने महाबलेश्वर से कोल्हापुर तक के लोगों को अपने उपदेशामृत से लाभान्वित किया। उन्होंने मारुति के एकादश प्रमुख पीठों की स्थापना की जो शारीरिक विकास के द्योतक हैं। उन्होंने चम्पावती में श्री रामचन्द्र के विग्रहों का प्रतिष्ठापन कर रामनवमी महोत्सव तथा श्री राम की रथ-यात्रा की परम्परा का प्रवर्तन किया। शिंगड़वाड़ी (Singanvadi) नामक स्थान पर शिवाजी को रामदास ने दीक्षा प्रदान की।

शिवाजी अपने सिंहासन पर गुरु की पादुका रख कर उनके आदेश तथा मार्ग-दर्शन के अन्तर्गत उनके प्रतिनिधि के रूप में राज्य के प्रशासन का उत्तरदायित्व वहन करते थे। उनके राष्ट्रीय ध्वज का रंग गेरुआ था। सन्त रामदास के प्रतिनिधि के रूप में शिवाजी द्वारा अपने राज्य के प्रशासन तथा राष्ट्रीय ध्वज के लिए गैरिक वर्ण के चयन के सम्बन्ध में महाराष्ट्र में एक किम्बदन्ती प्रचलित है जिसको एक रुचिकर तथा रोमानी घटना से सम्बद्ध माना जाता है।

एक दिन शिवाजी ने अपने राजप्रासाद के चबूतरे से अपने गुरु को हाथ में भिक्षा-पात्र लिये जाते हुए देखा। शिवाजी को इस बात पर आश्चर्य हुआ कि जब उन्होंने अपना सर्वस्व अपने गुरुदेव के चरणों पर अर्पित कर दिया है, तब उन्हें भिक्षाटन की क्या आवश्यकता है। उन्होंने अपने सखा बालाजी को बुलाया और उन्हें एक अल्प-कलेवर पत्र दे

कर कहा कि गुरु जी के राजप्रासाद में आने पर वह यह पत्र उन्हें दे दें। लगभग मध्याह्न की बेला में रामदास अपना भिक्षा-पात्र लिये हुए राजप्रासाद में आये। बालाजी ने उन्हें साष्टांग प्रणाम कर वह पत्र उनके चरणों पर रख दिया। उस संक्षिप्त पत्र में मात्र इतना ही लिखा था कि उन्होंने अपना सम्पूर्ण राज्य गुरुदेव को भेंट-स्वरूप अर्पित कर दिया है और अब वे विनम्रतापूर्वक केवल उनके आशीर्वाद की
दिन प्रातःकाल रामदास ने शिवाजी के पास जा कर पूछा कि 'उन्होंने (शिवाजी कामना करते हैं। गुरु जी ने बालाजी से मुस्कराते हुए कहा- "ठीक है।" दूसरे ने) अपने राज्य को तो उन्हें अर्पित कर दिया है: किन्तु स्वयं अपने विषय में उनका क्या विचार है?'

शिवाजी ने उन्हें साष्टांग प्रणाम करने के पश्चात् कहा कि 'गुरुदेव की सेवा में जीवन-पर्यन्त रहने से उन्हें अपार हर्ष होगा और वे स्वयं को कृतकृत्य समझेंगे।' तब रामदास ने कहा- इस भिक्षा पात्र को ले लो। अब हमें भिक्षाटन के लिए चलना है।" इस प्रकार वे दोनों भिक्षा के लिए सतारा में घूमने लगे। श्रद्धा-विनत लोगों ने उन दोनों को भिक्षा दी। तत्पश्चात् ये दोनों नदी के तट पर आये जहाँ रामदास ने अपना साधारण भोजन बनाया। गुरुदेव के भोजन कर लेने के पश्चात् शिवाजी ने शेषान्न ग्रहण किया। इसके पश्चात शिवाजी ने अपने गुरुदेव से मुस्कराते हुए पूछा कि उनको भिक्षुक बना देने के पश्चात् अब उनके (रामदास के) लिए उनका क्या उपयोग शेष रह जायेगा ? रामदास इस तथ्य से परिचित हो गये कि अब राजा के उदात्त आदर्शों के प्रस्तुतिकरण का अवसर आ गया है।

रामदास ने शिवाजी को आदेश दिया कि वह उनके (रामदास के) नाम पर शासन करें, अपने ध्वज के लिए गेरुए वस्त्र का उपयोग करें, इसके सम्मान की रक्षा के लिए अपना जीवन तक उत्सर्ग कर दें, ईश्वर के समक्ष राज्य का शासन न्यायोचित विधि से करें एवं स्वयं को इसका अधिपति न समझ कर इसका एक न्यासी मात्र समझें। शिवाजी के ध्वज का रंग गेरुआ कैसे हुआ, यह उक्त घटना से स्पष्ट हो जाता है।

रामदास ने अपने जीवन के अनेक वर्ष पवित्र तीर्थ-स्थानों की यात्रा में व्यतीत किये। उन्होंने महाराष्ट्र में कई हनुमान्-मन्दिरों का निर्माण कराया। तीर्थ-यात्रा से लौटने पर उनसे किसी ने कहा कि उनकी माता उन्हें देखने को लालायित हैं। उसने उनसे यह भी कह दिया कि पुत्र-वियोग-जनित आत्यन्तिक दुःख के कारण वह अन्धी हो गयी हैं। अब रामदास अपनी माता के दर्शन के लिए वहाँ से तत्क्षण चल पड़े। वहाँ पहुँच कर उन्होंने अपनी माता को साष्टांग प्रणाम किया। बहुत वर्षों के अन्तराल के पश्चात् अपने पुत्र के आगमन से उन्हें अत्यन्त हर्ष हआ। रामदास ने अपनी माता के नेत्रों का स्पर्श किया और पुत्र की यौगिक शक्ति के कारण माता को अपनी चक्षु-शक्ति की पुनः सम्प्राप्ति हो गयी।

उनका जीवन और उनके धर्मोपदेश

रामदास एक विलक्षण व्यक्ति थे। बाह्य जगत् उनको विक्षिप्त समझता था। वह अपने पास एक छोटा धनुष रखा करते थे। इसके अतिरिक्त उनके पार्श्व में पत्थर भी पड़े रहते थे। वह जिस किसी को भी देखते, उसकी ओर पत्थर फेंक दिया करते। जिन लोगों को उनके उपदेशों में रुचि थी, उन्हें वे '**श्री राम जय राम जय जय राम**' का मन्त्र दिया करते थे।

रामदास के शिष्यों की संख्या ग्यारह सौ थी जिसमें तीन सौ महिलाएँ थीं। ये धर्म-प्राण महिलाएँ प्रवचन की कला में निष्णात थीं। रामदास अपने शिष्यों को हिन्दू-धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए भारत के कोने-कोने में भेजा करते थे। उत्तरांचल-स्थित उनके मठों तथा शिष्यों से शिवाजी को प्रत्यक्ष या परोक्षतः प्रचुर सहयोग प्राप्त हुआ करता था। दक्षिण में तंजावूर (Thanjavur) के आस-पास रामदास का जो संगठन था, उससे शिवाजी के पुत्र राजाराम को जिंजी (Jinji) जा कर औरंगजेब के विरुद्ध बीस वर्षों तक युद्धरत रहने में अत्यधिक सहायता प्राप्त हुई। जब

रामदास तंजौर गये, तब शिवाजी के सौतेले भाई वेंकोजी उनके शिष्य बन गये। रामदास ने अपने शिष्य भीमस्वामी को तंजौर मठ का महन्त नियुक्त किया।

अन्तिम दिन

अरण्य-वास रामदास को रुचिकर लगता था। उनके अनुसार वहाँ उनके ब्यान में कोई व्यतिरेक नहीं उपस्थित होता था। जीवन के अन्तिम दिनों उनका समय अंशतः साहित्यिक गतिविधि तथा अंशतः उत्तर और दक्षिण के शिष्यों के योजनाबद्ध चरित्र-निर्माण तथा मठों की देख-रेख में व्यतीत होता था। उनकी साहित्यिक कृतियों में दासबोध, मनाचे श्लोक (मन को सम्बोधित कविताएँ), करुणाशतक (भजनावली) तथा रामायण (केवल लंका-विजय तथा रावण दमन) अत्यधिक लोकप्रिय हैं। उनके प्रति लोगों का यह श्रद्धा-भाव ही था कि उनकी असाधारण सहनशीलता तथा भारत में हिन्द-धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा के उनके संकल्प के कारण लोगों ने उनका नाम समर्थ रामदास रख दिया रख दिया जो उनके लिए सर्वथा उपयुक्त था। महाराष्ट्र के महान् गुरु ने सन् १६८२ में सतारा के नजदीक सज्जनगढ़ में अन्तिम साँस ली। शिवाजी ने यह दुर्ग उन्हें उनके निवास के लिए दिया था।

रामदास ने अन्तिम श्वास लेते समय राम मन्त्र का उच्चारण किया। संसार से उत्क्रमण करने के समय उनके शरीर से नेत्रों को स्तब्ध कर देने वाली एक ज्योति निःसृत हुई और रामदास भगवान् राम की प्रतिकृति में अन्तलीन हो गये।

अपने शिष्यों के लिए रामदास के अन्तिम अनुदेश थे :

"अपनी दैहिक आवश्यकताओं को अधिक महत्त्व मत प्रदान करो। भक्तों के सत्संग में रहो। अपने हृदय में भगवान् राम के स्वरूप को अधिष्ठित कर लो। सर्वदा भगवान् राम के नाम का जप करते रहो। काम, क्रोध, लोभ, घृणा तथा अहंकार को विनष्ट कर दो। प्राणिमात्र में भगवान् राम के दर्शन करो। सबसे प्रेम करो। सर्वत्र भगवान् राम की विद्यमानता का अनुभव करो। एकमात्र उसी के लिए जीवित रहो। प्राणिमात्र की सेवा को उसकी सेवा समझो। उसके चरणों पर स्वयं को निष्कपट रूप से सर्वतोभावेन समर्पित कर दो। तुम लोग सर्वदा केवल ईश्वर में ही निवास करोगे और तुम सबको अमृतत्व तथा शाश्वत आनन्द की प्राप्ति होगी।"

नामदेव

महाराष्ट्र के नामदेव मध्ययुगीन भारत के सन्त थे। वह भगवान् कृष्ण के दास न हो कर उनके सखा तथा अंशावतार थे।

नामदेव महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध सन्त ज्ञानदेव के समकालीन थे। वे उनसे पाँच वर्ष बड़े थे। उनका जन्म पण्ढरपुर के विठ्ठल के अनन्य भक्त दर्जियों के परिवार में १२६९ ई. में हुआ था। उस परिवार के सदस्यों में वारी (Wari) नामक एक धार्मिक प्रथा का प्रचलन था जिसके अनुसार एक वर्ष में दो बार-आषाढ़ तथा कार्तिक मास की प्रथम एकादशी को-तीर्थाटन के लिए जाना पड़ता था। सतारा जनपद में कराड़ (Karad) के निकट कृष्णा नदी के तट पर स्थित नरसीबामनी (Narsibamani) नामक ग्राम उनका आदि वास-स्थान था; किन्तु नामदेव के पिता तथा विठ्ठल के परम भक्त दामा सेट्टी (Dama Setti) अपनी भौतिक सम्पत्ति में अभिवृद्धि की उद्देश्य-पूर्ति के लिए पुत्र के जन्म के दो-एक वर्ष पूर्व पण्ढरपुर चले गये थे।

नामदेव की बाल्यावस्था में ही लोगों को उनमें प्रह्लाद के स्वभावगत वैशिष्ट्य के दर्शन होने लगे। दो वर्ष की आयु में अपनी वाक्-शक्ति के प्रथम उन्मेष में ही उन्होंने जिस शब्द का निर्भान्त उच्चारण किया, वह था 'विठ्ठल'। इसके पश्चात् बिना किसी के सहयोग या अनुदेश के ही वह इस पवित्र नाम के जप की आवृत्ति में सतत संलग्न रहे। उनकी माता गुनाबाई उन्हें प्रतिदिन अपने इष्टदेव विठोबा के मन्दिर में अर्चन-पूजन के लिए ले जाया करती थीं। इसमें उन्हें बहुत आनन्द आता था। अब उनकी एक दूसरी बानगी देखिए। सात वर्ष की आयु में वह झाँझ की एक जोड़ी ले आये और अपना समय नृत्य तथा भजन-कीर्तन में व्यतीत करने लगे। वे इसमें इस तरह तल्लीन हो गये कि उन्होंने अपने छात्रोचित अध्ययन, शयन-अशन तथा विश्रामादि को भी विस्मृत कर दिया। विठोबा के प्रति उनकी भक्ति इतनी अकृत्रिम और निष्कपट थी कि वह कभी-कभी उन्हें अपना प्रिय बन्धु या बाल-सखा समझने लगते थे।

एक दिन जब नामदेव की माता गृह-कार्य में व्यस्त थीं, उन्होंने नामदेव से पूजन-सामग्री ले कर विठोबा के मन्दिर में जाने को कहा। मन्दिर में नामदेव ने पूजन की खाद्य सामग्री को विठोबा के समक्ष रख कर उनसे उसे ग्रहण करने का आग्रह किया किन्तु विठोबा की ओर से जब उनके आग्रह की स्वीकृति का कोई संकेत नहीं मिला, तब वह फूट-फूट कर रोने लगे जिसके परिणाम स्वरूप विठोबा ने मनुष्य-रूप धारण कर उस खाद्य सामग्री को कृतज्ञ भाव से ग्रहण कर लिया। हाथ में रिक्त पात्र लिये हर्ष-विह्वल नामदेव ने जब अपनी माता को बताया कि विठोबा ने मानव-शरीर धारण कर खाद्य सामग्री को उदरस्थ कर लिया था, तब वह आश्चर्यचकित रह गयीं। दूसरे दिन वह नामदेव के कथन की यथा-तथ्यता के सत्यापन के लिए छिप कर नामदेव के पीछे-पीछे चल पड़ीं। विठोबा के मन्दिर में जो एक दिन पूर्व हुआ था, वही उस दिन भी हुआ उनकी माता ने विठोबा को खाद्य सामग्री को साक्षात् ग्रहण करते देखा। यह देख कर वह सन्तुष्ट हो गयीं और नामदेव के लिए उनका मन असीम हर्ष तथा गर्व से पूरित हो गया। वह इस बात के लिए भगवान् की कृतज्ञ हुईं कि वह एक महान् भक्त की जननी हैं।

भगवान् विठोबा-उनकी अभिरुचि का एकमात्र विषय

नामदेव के स्वभाव का एक अन्य पक्ष भी था जो पहले उनके माता-पिता तथा तत्पश्चात् उनकी पत्नी एवं उनके अन्य सम्बन्धियों के लिए निराशाजनक सिद्ध हुआ। जागतिक व्यापार में उनकी अभिरुचि प्रारम्भ से ही नहीं थी। छात्रोचित अध्ययन, पैतृक व्यवसाय या किसी भी अन्य व्यापार के प्रति वह विरक्त ही रहे। वह रात-दिन विठोबा के अर्चन-पूजन में ही संलग्न रहते थे। उधर उनके माता-पिता वृद्ध से वृद्धतर होते जा रहे थे और पारिवारिक सम्पत्ति का क्षरण होता जा रहा था। इस कारण माता-पिता की यह इच्छा थी कि नामदेव विठोबा के पूजन-अर्चन के लिए कोई समुचित किन्तु निर्दिष्ट समय निश्चित कर परिवार की सुख-सुविधा की अभिवृद्धि में भी सहायक सिद्ध हों। अतः एक दिन वस्त्र-विक्रय के लिए उन्हें बाजार भेजा गया; किन्तु वह व्यावसायिक कौशल से अनभिज्ञ तथा मूल्य और मुद्रा के महत्त्व से सर्वथा अपरिचित थे। पिता द्वारा विवश किये जाने पर ही वह बाजार गये थे। वस्त्र-विक्रय की बात भूल कर वह वहाँ एक पत्थर पर बैठ गये। कुछ ही देर बाद सूर्यास्त हो गया। उनके लिए यह बेला सान्ध्यकालीन अर्चन-पूजन के लिए मन्दिर जाने की बेला थी। उसी समय उन्हें याद आया कि अभी तक वे वस्त्र बिना बिके हुए ज्यों-त्यों वहीं पड़े हुए हैं जिसके परिणाम-स्वरूप उन्हें अपने पिता द्वारा प्रताड़ित होना पड़ेगा। दूसरी ओर वह मन्दिर जाने के लिए व्यग्र थे। उन्हें एक विचित्र उपाय सूझा। उन्होंने सारे वस्त्र उस पत्थर के ही हाथों बेच दिये अर्थात् उन्होंने उस पत्थर पर वस्त्र रख दिये और एक अन्य पत्थर को प्रतिभू बना दिया। इसका तात्पर्य यह था कि पहला पत्थर अगले दिन दूसरे पत्थर को वस्त्र का मूल्य दे देगा। इस प्रकार वह मन्दिर जा सके।

नामदेव के पिता अपने पुत्र के इस मूर्खतापूर्ण अभियान को सुन कर क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने उन्हें उस प्रतिभू धोण्ड्य (इसका अर्थ पत्थर होता है; किन्तु इसे महाराष्ट्र के लोगों के एक वर्ग-विशेष के नाम के लिए भी प्रयुक्त किया जाता है) को बुलाने का आदेश दिया। दूसरे दिन नामदेव ने वहाँ जा कर देखा कि रातों-रात वे वस्त्र वहाँ से लुप्त हो चुके थे। प्रतिभू पत्थर उन वस्त्रों का क्या मूल्य दे पाता; अतः उन्होंने उसे एक कमरे में बन्द कर दिया। इसके पश्चात्

मन्दिर में जा कर उन्होंने विठोबा को सारा वृत्तान्त कह सुनाया। इसके अतिरिक्त उन्होंने उनके समक्ष अपने संकट को भी स्पष्ट कर दिया। जब नामदेव के पिता ने उनको उनके समक्ष उस प्रतिभू पत्थर को प्रस्तुत करने का आदेश दिया, तब नामदेव ने उनसे कहा कि वह घर के एक कमरे में बन्द है। इतना कह कर वह मन्दिर चले गये। पिता ने जब कमरा खोला, तब वह यह देख कर आश्चर्यचकित रह गये कि वहाँ एक स्वर्ण-पिण्ड पड़ा हुआ है। वह हर्ष-विभोर हो गये; किन्तु नामदेव इसके प्रति उदासीन ही रहे। उन्होंने ईश्वर की स्तुति केवल इसलिए की कि पिता की प्रताड़ना से उनकी रक्षा हुई थी। दिन इसी प्रकार व्यतीत होने लगे।

उनका विवाह

इस बीच उनका विवाह राधाबाई से हो गया। राधाबाई उन महिलाओं में थीं जो सांसारिकता में ही लिप्त रहती हैं। नामदेव ने अपने पुत्र के नामकरण संस्कार के समारोह में सम्मिलित होने के लिए विठ्ठल को आमन्त्रित किया जो वहाँ मनुष्य के छद्मवेश में पहुँचे। उन्होंने शिशु को 'नारायण' नाम से अभिहित किया और अवसर के अनुकूल उसे प्रचुर मात्रा में उपहार प्रदान किये।

गार्हस्थ-सम्बन्धी उत्तरदायित्वों के प्रति नामदेव की उपेक्षा के कारण उनके परिवार की निर्धनता चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। उनकी माता तथा पत्नी भगवान् कृष्ण को अपशब्दों से सम्बोधित करने लगीं। एक दिन वैकुण्ठपुरम के धर्म सेट्टी का छद्म रूप धारण कर नामदेव से अपनी पूर्व-मैत्री की चर्चा करते हए भगवान् नामदेव के घर पहुँचे और राधाबाई को बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट कर अन्तर्धान हो गये।

परिसा भागवत नामक एक भक्त ने रुक्मिणी से अपने तुष्टिप्रद प्रसादन के माध्यम द्वारा एक दार्शनिक के ऐसे शिला-खण्ड को हस्तगत कर लिया जो लोहे को स्वर्ण में रूपान्तरित कर सकता था। एक दिन परिसा की पत्नी ने उस शिला-खण्ड को अपनी मित्र राधाबाई को दे दिया। राधाबाई ने उस शिला-खण्ड को अपने पति को दिखाते हुए कहा कि उनकी (नामदेव की) भक्ति परिसा भागवत की भक्ति के समक्ष नगण्य है। नामदेव ने उस शिला-खण्ड को नदी में फेंक दिया। दूसरे दिन इस घटना से अवगत हो कर परिसा ने नामदेव को बहुत डाँटा-फटकारा। नामदेव ने परिसा को वह स्थान दिखाया जहाँ उन्होंने उस शिला-खण्ड को फेंका था। परिसा ने वहाँ उसकी खोज की; किन्तु उसने आश्चर्यचकित हो कर देखा कि वहाँ एक शिला-खण्ड न हो कर अनेक शिला-खण्ड थे। वह नामदेव की त्याग-भावना तथा आध्यात्मिक शक्तियों से अभिभूत हो गया।

गृह कार्य, माता-पिता तथा पत्नी-पुत्र के प्रति उनकी विरक्ति-भावना में अधिकाधिक वृद्धि होती गयी। जागतिक जीवन की ओर उनके प्रत्यावर्तन के लिए उनके मित्रों तथा अन्य लोगों के सारे प्रयत्न निष्फल सिद्ध हो गये। उनकी अभिरुचि के एकमात्र केन्द्र भगवान् विठोबा थे। वे उनके समक्ष घण्टों बैठ कर या तो उनसे आध्यात्मिक विषयों पर वार्तालाप करते या भजन करते। नामदेव के लिए विठोबा ही प्रत्येक वस्तु के आदि तथा अन्त थे।

ज्ञानदेव से उनकी भेंट

नामदेव जब महान् सन्त ज्ञानदेव से पण्ढरपुर में पहली बार मिले, तब उनकी आयु लगभग बीस वर्ष थी। नामदेव विठोबा के महान् भक्त थे; अतः ज्ञानदेव के लिए उनकी ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। यह सोच कर कि नामदेव के साहचर्य से वह लाभान्वित होंगे, उन्होंने उनको तीर्थाटन के निमित्त समस्त पवित्र स्थानों की यात्रा के लिए सहमत कर लिया। पण्ढरपुर के विठोबा से विलग होने की आशंका से नामदेव उनके साथ जाना नहीं चाहते थे; किन्तु अन्ततः सत्परामर्श की विजय हुई और वह इसके लिए सहमत हो गये। नामदेव के जीवन की यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कालावधि थी। जब तक मृत्यु ने इन दोनों महान् सन्तों का सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर दिया, तब तक

व्यवहारतः वे एक-दूसरे से कभी भी वियुक्त नहीं हुए। उनके तीर्थाटन की इस विस्तृत परिधि में भारत का प्रत्येक भूखण्ड एवं लगभग समस्त पवित्र स्थान आवेष्ठित थे।

तीर्थाटन के समय नामदेव तथा ज्ञानदेव द्वारा सम्पन्न कई एक चमत्कारों की बात कही जाती है। एक बार ये दोनों मारवाड़ के मरुस्थल में पहुँचे जहाँ अत्यधिक प्यास के कारण नामदेव मृतप्राय हो गये। वहाँ उन्हें एक कुआँ मिला; किन्तु उसमें पानी इतना नीचा था कि सामान्य साधनों द्वारा वहाँ तक हुँच पाना असम्भव था। ज्ञानदेव ने अपनी लघिमा-सिद्धि से पक्षी का रूप कारण कर अपनी चोंच से पानी लाने का सुझाव दिया; किन्तु नामदेव उनसे श्रेष्ठतर सिद्ध हए। उन्होंने रुक्मिणी से प्रार्थना की और जल का स्तर आश्चर्यप्रद विधि से उठ कर ऊपर तक आ गया। बीकानेर से दश मील दूर स्थित कौलायतजी में यह कुआँ आज भी विद्यमान है।

नामदेव तथा ज्ञानदेव नागनाथपुरी में पहुँचे जहाँ मन्दिर में नामदेव भजन गाने लगे। वहाँ अपार जन-सूमह था; अतः मन्दिर के पुजारी को मन्दिर में प्रवेश करने का कोई मार्ग ही न मिला जिससे वह क्रुद्ध हो उठे। नामदेव मन्दिर के पश्चिमी द्वार पर चले गये जहाँ उन्होंने सम्पूर्ण रात्रि कीर्तन में व्यतीत कर दी। मन्दिर का विग्रह स्वयं उनकी ओर हो गया।

बीदर के एक ब्राह्मण ने नामदेव को अपने घर भजन के लिए आमन्त्रित किया। वह वहाँ अनेक भक्तों के साथ पहुँच गये। सुलतान ने इन लोगों को विद्रोही सेना का सैनिक समझ कर सेनापति काशी पन्त को उनका सामना करने को भेजा। सेनापति ने सुलतान को सूचित किया कि यह एक धार्मिक मण्डली है; किन्तु सुलतान ने उनको गिरफ्तार कर उन्हें दण्डित करने का आदेश दे दिया। उसने नामदेव को एक कटी हुई गाय की ओर संकेत करते हुए आदेश दिया कि वह या तो इस मृत गाय को जीवित कर दें या इसलाम-धर्म स्वीकार कर लें। उनको कुचलने के लिए एक हाथी भेजा गया। नामदेव की माता ने पुत्र की प्राण-रक्षा के लिए उनसे इसलाम धर्म स्वीकार कर लेने की प्रार्थना की; किन्तु नामदेव मरने को तैयार थे। उस मृत गाय को पुनर्जीवित कर वह सुलतान तथा उसके अमीर-उमराओं द्वारा प्रशंसित हुए।

नामदेव तथा ज्ञानदेव ने नरसी मेहता से जूनागढ़ में; कबीर, कमाल तथा मुद्गलाचार्य से काशी में; तुलसीदास से चित्रकूट में; पीपा जी से अयोध्या में; नानक से दक्कन के किसी स्थान पर एवं दादू, गोरखनाथ तथा मत्स्येन्द्रनाथ से किसी अन्य स्थान पर भेंट की।

तीर्थाटन के समापन के पश्चात् जब ब्राह्मण-भोजन का आयोजन हुआ, तब विठ्ठल तथा रुक्मिणी ने पाचक एवं सेवक का उत्तरदायित्व वहन किया। इतना ही नहीं, उन्होंने नामदेव द्वारा प्रयुक्त किये गये पात्र में ही भोजन किया।

तीर्थाटन की अवधि में ज्ञानेश्वर तथा उनके अग्रज एवं गुरु निवृत्ति के संसर्ग से नामदेव बहुत लाभान्वित हुए। संसार ईश्वर की अभिव्यक्ति है, इस तथ्य को देखने-परखने का निवृत्ति का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था।

जैसा कि हम देख चुके है, पण्ढरपुर के उनके इष्टदेव विठोबा तक ही उनका संसार सीमित था। ईश्वर के प्रतीक के रूप में वह किसी अन्य देवता को स्वीकार ही नहीं कर सकते थे। उनका तीर्थाटन पाँच वर्षों में समाप्त हुआ। इस अवधि में ज्ञानदेव नामदेव को किसी गुरु से दीक्षा ग्रहण का परामर्श देते रहे जिससे वह स्वयं को सर्वव्यापी ईश्वर की अभिव्यक्ति के आत्यन्तिक बोध की स्थिति में प्रतिष्ठित कर अपने जीवन के चरम पुरुषार्थ की सिद्धि कर सकें। किन्तु यह सोच कर कि इससे विठोबा के प्रति उनकी निष्ठा तथा भक्ति के मार्ग में अवरोध उपस्थित हो जायेगा, वह इससे हिचकते रहे। उन्होंने स्पष्टतः कह दिया कि जब तक उनको विठोबा का स्नेह प्राप्त है, तब तक उनके प्रति एकनिष्ठ भक्ति के अतिरिक्त उनको अन्य किसी भी वस्तु की कामना नहीं है। वस्तुतः विठोबा ही उनके गुरु थे। अब ज्ञानदेव तथा साथ के अन्य सन्तों के समक्ष यह स्पष्ट हो गया कि नामदेव का दृष्टिकोण इस अर्थ में संकीर्ण था कि वह

एकमात्र पण्ढरपुर के अपने इष्टदेव में ही ईश्वर को केन्द्रित समझते थे। उन लोगों की इच्छा थी कि जिस व्यापक दृष्टिकोण की उन्हें उपलब्धि हो चुकी है, वह उन्हें भी प्राप्त हो जाये।

एक दिन इन लोगों ने सन्त गोरा, जो व्यवसाय से कुम्भकार थे, से कहा कि वह इस बात का निर्णय करें कि इन लोगों में अर्ध-पक्व अर्थात् ब्रह्म-साक्षात्कार में असफल कौन है। गोरा ने पात्र परीक्षण के लिए प्रयुक्त एक काष्ठ-पट्टिका से उनमें से प्रत्येक के शिर को थपथपाया। जब उसने नामदेव के शिर को थपथपाया, तब वह स्वयं को आहत समझ कर चिल्ला उठे। यह देख कर वहाँ एकत्र अन्य जन यह कह कर हँस पड़े कि नामदेव अभी अर्ध-पक्व हैं और अध्यात्म में उनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित नहीं हो पायी है।

इस अवमानना से अत्यधिक क्षुब्ध हो कर नामदेव परिवाद के लिए विठोबा के यहाँ गये। नामदेव ने उनसे कहा कि स्वयं भगवान् कृष्ण से उनका (नामदेव का) अन्तरंग सम्बन्ध है: अतः उन्हें किसी गुरु से दीक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। भगवान् कृष्ण ने कहा कि नामदेव ने उनको पूर्णतः नहीं जाना है। नामदेव उनके इस कथन से सहमत नहीं हो सके। तब भगवान् कृष्ण ने उनको उस दिन अपने स्वरूप से परिचित होने की चुनौती दे दी जिसे नामदेव ने स्वीकार कर लिया। भगवान् कृष्ण एक पठान अश्वारोही के वेश में उनके सामने से निकल गये; किन्तु नामदेव उन्हें पहचान नहीं पाये। तब नामदेव ने गुरु की आवश्यकता के प्रति अपनी सहमति व्यक्त कर दी। तत्पश्चात् भगवान् विठोबा ने उनको विसोबा खेचर से दीक्षा ग्रहण करने का परामर्श दिया।

विसोबा खेचर ज्ञानदेव के शिष्यों में थे। वह उन दिनों अवन्ध्या नामक ग्राम में रहते थे। नामदेव ने वहाँ के लिए शीघ्र ही प्रस्थान किया। वह वहाँ दोपहर में पहुँचे। विश्राम के लिए उन्होंने एक मन्दिर में शरण ली। उस मन्दिर में उन्होंने एक ऐसे व्यक्ति को देखा जिसके पैर स्वयं देवता पर पड़े हुए थे। नामदेव यह देख कर स्तब्ध रह गये। उन्होंने उसे जगा कर उसके इस अधार्मिक एवं देव-द्रोही कृत्य के लिए उसे डाँटा-फटकारा। वस्तुतः वह स्वयं विसोबा थे जिन्होंने कहा- "नामदेव, तुमने मुझे क्यों जगाया ? क्या इस संसार में कोई ऐसा भी स्थान है जहाँ ईश्वर परिव्याप्त न हो? यदि तुम समझते हो कि इस प्रकार के स्थान का अस्तित्व सम्भव है, तो मेरे पैर उठा कर वहीं रख दो।" नामदेव ने उनके पैरों को अपने हाथों में ले कर किसी अन्य दिशा में घुमा दिया; किन्तु देवता उधर भी विद्यमान थे। नामदेव ने उनके पैरों को पुनः अन्य दिशा में घुमाया; किन्तु देवता वहाँ भी विद्यमान मिले। नामदेव को विसोबा के पैरों को रखने के लिए कोई भी ऐसा स्थान न मिला जहाँ देवता के पद-मर्दित होने की आशंका न हो। ईश्वर सर्वव्यापी था। ईश्वर की सर्वव्यापकता के इस चरम सत्य के बोध के पश्चात् नामदेव ने विसोबा के चरणों पर कृतज्ञतापूर्वक विनम्र भाव से आत्म-समर्पण कर दिया। इसके पश्चात् विसोबा ने उन्हें अनेक परामर्श दिये जिनमें से कुछ निम्नांकित हैं :

"यदि तुम पूर्णतः सुखी होना चाहते हो, तो इस संसार को भजन तथा प्रभ के नाम-संकीर्तन से पूरित कर दो। जगत् तथा प्रभु ये दोनों अभिन्न हैं।

समस्त इच्छाओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं का परित्याग कर दो। उनकी चिन्ता उन्हें ही करने दो। मात्र विठ्ठल के नाम से सन्तुष्ट रहो। तुम्हें स्वर्ग-प्राप्ति के लिए किसी प्रकार के कष्ट-सहन या तप की कोई आवश्यकता नहीं है। वैकुण्ठ स्वयं तुम्हारे पास आयेगा। तुम अपने मित्रों, सम्बन्धियों तथा इस जीवन की चिन्ता मत करो। ये सब मृग-मरीचिका मात्र हैं। मनुष्य को यहाँ कुम्भकार के उस चक्र की भाँति कुछ क्षण व्यतीत करने होते हैं जो कुम्भकार के हाथों से विलग हो कर भी कुछ देर तक परिभ्रमित होता रहता है। विठ्ठल को सर्वत्र तथा सबमें परिव्याप्त समझो तथा मन-वचन से उसका सतत स्मरण करते रहो। यह मेरे जीवन का अनुभव है।

"चन्द्रभागा नदी के तट पर पण्ढरपुर की स्थापना एक नौका के रूप में भव-सागर के सन्तरण के लिए हुई है। वहाँ पण्ढरीनाथ एक नाविक के रूप में तुम्हें पार उतारने के लिए खड़े हुए हैं और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि

वह यह काम निःशुल्क किया करते हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने समक्ष आत्म-समर्पण करने वाले कोटि-कोटि जनों का उद्धार किया है। स्वयं को उनके हाथों में सौंप कर इस संसार में तुम अमर्त्य हो जाओगे।"

विसोबा से दीक्षा ग्रहण के पश्चात् नामदेव अधिकाधिक दार्शनिक तथा विशाल-हृदय होते गये। उनका मन्दिर चन्द्रभागा के तट पर स्थित वह संकीर्ण एवं परिमित भूखण्ड नहीं रह गया। अब इसमें समस्त जगत् समाविष्ट हो गया और एकमात्र शरीरधारी विठोबा या विठ्ठल ही उनके ईश्वर नहीं रह गये। अब उनका ईश्वर उस परम सत्ता से अभिन्न तथा एकात्म हो गया जो सर्वशक्तिमान् एवं असीम है।

विसोबा से दीक्षा ग्रहण करने के कुछ दिनों के पश्चात् नामदेव एक स्थान पर बैठ कर भजन कर रहे थे। इस बीच एक कुत्ता उनके मध्याह्न भोजन की रोटी ले कर भाग गया। नामदेव उस कुत्ते के पीछे दौड़े; किन्तु उनके हाथ में डण्डा न हो कर घृत-पात्र था। उन्होंने कुत्ते से कहा- "हे विश्वेश्वर, आप सूखी रोटी क्यों खाना चाहते हैं? इसके लिए कुछ घी भी लेते जाइए। इससे रोटी सुस्वादु हो जायेगी।" अब वह आत्म-साक्षात्कार की अतिरेकावस्था को प्राप्त हो चुके थे।

जब नामदेव तथा ज्ञानदेव अपनी दीर्घकालीन तीर्थ-यात्रा से लौटे, तब ज्ञानदेव ने आलन्दी में समाधि ग्रहण की इच्छा व्यक्त की। नामदेव ज्ञानदेव से विलग नहीं हो सकते थे; अतः वह उस दल के साथ आलन्दी चल पड़े। वह अन्तिम क्षण तक ज्ञानदेव के साथ रहे। तत्पश्चात् वह उनके अन्य भाइयों, निवृत्ति तथा सोपान एवं उनकी बहन मुक्ताबाई के शरीरपात तक उस मण्डली से विलग नहीं हुए। नामदेव अपने पीछे इन चारों सन्तों की मृत्यु का विस्तृत विवरण छोड़ गये हैं जो सुन्दर कविताओं में आबद्ध है। वह इन घटनाओं से इतने मर्माहत हुए कि वह जीवन के प्रति सर्वथा विरक्त हो गये। १२९५ ई. में छब्बीस वर्ष की आयु में वह समाधिस्थ हो गये।

नामदेव किसी बृहद् ग्रन्थ के प्रणेता नहीं थे; किन्तु वह अपने पीछे भक्ति-सुधा से ओत-प्रोत तथा ईश्वर-प्रेम से परिपूरित अनेक अभंग तथा अल्प-कलेवर कविताएँ छोड़ गये हैं। ये रचनाएँ अत्यन्त मधुर हैं। इनमें से अधिकांश लुप्त हो गयी हैं; किन्तु चार हजार अभंग अभी भी विद्यमान हैं जो आज भी पाठकों के लिए प्रेरणा के महान् स्रोत हैं। इनमें से कुछ अभंग सिक्खों के आदि ग्रन्थ में भी पाये जाते हैं।

नामदेव के उपदेशों का सार इस प्रकार है: "सदा-सर्वदा भगवन्नाम लेते रहो। भगवान् के अखण्ड स्मरण में लीन रहो। भगवान् की महिमा का श्रवण करो। अपने हृदय में भगवान् का ध्यान करो। अपने हाथों से भगवान की सेवा करो। उनके चरण कमलों पर अपना शिर रखो। कीर्तन करो। तुम अपनी भूख-प्यास भूल जाओगे। भगवान् तुम्हारे निकट आ जायेंगे। तुम अमरत्व तथा शाश्वत परमानन्द प्राप्त करोगे।"

नामदेव की सेविका जनाबाई

जनाबाई के उल्लेख के अभाव में नामदेव के जीवन का कोई भी विवरण अपूर्ण ही रहेगा। वह नामदेव की गृह-सेविका थी। उसके जीवन के विषय में इसके अतिरिक्त और कुछ भी ज्ञात नहीं है कि वह नामदेव की सेविका थी। कभी-कभी उसे स्वयं इस बात का स्मरण नहीं रह पाता था कि नामदेव की सेविका के अतिरिक्त किसी अन्य रूप में भी उसका कोई अस्तित्व है। भक्ति-सम्बन्धी अपनी अनेक कविताओं में उसने अपना चित्रण 'नाम की सेविका' या 'नामदेव की जानी' के रूप में किया है। उसकी गणना नामदेव के अन्तरंग अनुयायियों में की जाती है। नामदेव की सेवा तथा भगवान् विठोबा के गुण-गान के अतिरिक्त उसकी अन्य कोई भी महत्त्वाकांक्षा नहीं थी। उदाहरण के लिए उसने अपनी एक कविता में कहा है :

"तुम्हारे आदेशानुसार भले ही मुझे इस संसार में जन्म ग्रहण करना पड़े; किन्तु तुमसे मेरी प्रार्थना है कि मेरी इच्छाओं की पूर्ति होती रहे। मेरी इच्छा है कि मैं अपने प्रत्येक जन्म में पण्ढरपुर का दर्शन तथा नामदेव की सेवा करती रहूँ। मुझे पक्षी, शूकरी, श्वान या मार्जारी होने का खेद नहीं होगा; किन्तु मेरी यह शर्त है कि उक्त जन्मों में मुझे पण्ढरपुर के दर्शन तथा नामदेव की सेवा के अवसर अनिवार्य रूप से प्राप्त होते रहें। नामदेव की सेविका की यही महत्त्वाकांक्षा है।"

एक अन्य स्थान पर जनाबाई लिखती हैं :

"हे हरि, तुम मुझ पर बस इतनी ही कृपा करो कि मैं सर्वदा तुम्हारे पवित्र नाम का संकीर्तन करती रहूँ। तुम केवल मेरी इस इच्छा की पूर्ति कर दो कि मेरी श्रद्धा तथा सेवा तुम्हें स्वीकार होती रहे। मेरी एकमात्र यही इच्छा है। कृपया मेरी इस इच्छा को पूर्ण कर दो। मेरी कामना है कि मेरा मन तथा मेरे नेत्र तुम पर केन्द्रित और होंठ तुम्हारे नाम-जप में संलग्न रहें। इसके लिए मैं तुम्हारे चरणों की वन्दना करती हूँ।"

उक्त शब्दों में जनाबाई का सम्पूर्ण दर्शन तथा उसकी अभीष्ट-सिद्धि की विधि निहित है। विठोबा के प्रति उसकी भक्ति इतनी प्रगाढ़ एवं निष्कपट थी कि भगवान् उसके कौटुम्बिक कर्तव्य का भार वहन एक सीमा तक स्वयं कर लिया करते थे। भगवान् के प्रति अपनी सेवा-भक्ति के माध्यम से उसने स्वयं को पूर्णतः विसर्जित कर उनसे तादात्म्य स्थापित कर लिया था। जनाबाई एक महान् आत्मा थी और उससे भी महान् थे नामदेव ।

एकनाथ

एकनाथ महाराष्ट्र के सुविख्यात सन्त हैं। उनका जन्म महाराष्ट्र में स्थित पैठण (Paithan) में १५३३ ई. में हुआ था। उनके पिता का नाम सूर्यनारायण तथा माता का नाम रुक्मिणी था। दश वर्ष की अल्पायु में ही उनके पूर्व-संस्कारों के कारण उनके हृदय में भक्ति की ज्वाला प्रदीप्त हो चुकी थी। गीता में आया है-"अपने पूर्व जन्म में प्राप्त संस्कारों को वहाँ वह पुनः प्राप्त कर लेता है और वहाँ से पूर्णता की सिद्धि के लिए पुनः प्रयत्न करता है" (६/४३)।

एक बार एकनाथ ने यह आकाशवाणी सुनी- "देवगिरि जा कर जनार्दन पन्त के दर्शन करो। वह तुम्हें उपयुक्त मार्ग दिखा कर तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करेंगे।"

एकनाथ ने अविलम्ब देवगिरि के लिए प्रस्थान किया और वहाँ जनार्दन पन्त के दर्शन कर उनके चरणों की वन्दना की। जनार्दन ने उन्हें अपने शिष्य के रूप में ग्रहण कर लिया। वह देवगिरि प्रान्त के दीवान थे। अपने गुरु के संसर्ग में आठ वर्ष तक रह कर एकनाथ ने सर्वान्तःकरण से उनकी सेवा की।

एक दिन जनार्दन ने एकनाथ को लेखाबही में एक पाई की भूल का पता लगाने का आदेश दिया। एकनाथ रात-भर उस भूल का पता लगाते रहे; परन्तु रात-भर के कठिन परिश्रम के पश्चात् प्रातःकाल ही इसका पता लग सका जिससे उन्हें अत्यधिक प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपने गुरु को सूचित कर दिया कि उन्होंने उस भूल का पता लगा लिया है। जनार्दन ने उनसे कहा- "जब लेखाबही की एक साधारण भूल का पता लगाने के लिए तुमको इतना अधिक एकाग्रचित्त होना पड़ा, तब ईश्वर की खोज के लिए तुम्हें कितनी अधिक एकाग्रता की आवश्यकता होगी? तुम एक साधारण भूल का पता लगा कर इतना अधिक प्रसन्न हो रहे हो। यदि तुम अपने जीवन की लेखाबही में अंकित भूलों का पता लगा लोगे, तब तुम्हें कितनी अधिक प्रसन्नता होगी?" एकनाथ को एक उपयुक्त सीख मिली और अब वह अपने समय का अधिकांश गहन ध्यान तथा आत्म-विश्लेषण में व्यतीत करने लगे।

उन दिनों जब रेल आदि यातायात के साधन नहीं थे, एकनाथ पैदल ही गंगोत्तरी की तीर्थ-यात्रा पर चले गये। वहाँ उन्होंने गंगा के स्रोत स्थान से कई पात्रों में जल भरा और उसे बाँस की काँवरि द्वारा अपने कन्धों पर रख कर वे वहाँ से लौटे। वहाँ से वह काशी आये जहाँ उन्होंने एक पात्र में भरे गंगाजल से काशी-विश्वनाथ का पूजा-अभिषेक सम्पन्न किया। वहाँ से रामेश्वरम् आ कर उन्होंने रामलिंगेश्वर का अभिषेक किया। एकनाथ ने रामेश्वर से कुछ मील पहले ही मार्ग में एक रोगी गधे को देखा जो जलाभाव में मरा जा रहा था। शरीर झुलसाने वाली गरमी पड़ रही थी। एकनाथ ने सोचा कि ईश्वर उनकी परीक्षा लेना चाहता है। वह पराभक्ति के सन्त थे। प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक क्षण और प्रत्येक कर्म में उन्हें ईश्वर का दर्शन तथा भान होता था। उन्होंने सोचा कि उन्हें इस गर्दभ में स्थित रामलिंगेश्वर की सेवा का सर्वोत्तम अवसर प्राप्त हो गया है। उन्होंने उस प्राणी को कभी गर्दभ नहीं समझा। उन्हें नामरूपात्मक जगत् का विस्मरण हो गया। उन्होंने गर्दभ में परम तत्त्व, सच्चिदानन्द तथा अस्ति-भाति-प्रिय के दर्शन किये। उन्हें भगवान् कृष्ण के ये शब्द याद आये जिन्हें उन्होंने उद्धव से कहा था- "प्रत्येक वस्तू में मेरे दर्शन करो और गर्दभ को भी प्रणम्य समझो।" एकनाथ को रामलिंगेश्वर के पूजन के अवसर से वंचित हो जाने का लेशमात्र भी दुःख नहीं हुआ। उन्होंने कहा- "यही सर्वोत्तम अवसर है।" उन्होंने गंगाजल-पात्र को अनावृत कर सारा जल उस गर्दभ को पिला दिया।

ईश्वर सर्वत्र एवं प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है। तीव्र आवश्यकता के क्षणों में गर्दभ को प्राप्त जल भगवान् रामलिंगेश्वर को पहुँच गया। वहीं और उसी क्षण एकनाथ को रामलिंगेश्वर के दर्शन हो गये।

गुरु के आदेशानुसार एकनाथ ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। उन्होंने एक आदर्श तथा विशुद्ध-हृदय कन्या गिरिजाबाई को पत्नी-रूप में ग्रहण किया।

एकनाथ में नाम-मात्र को भी क्रोध न था। उनके गाँव के कुछ बुरे लोग उन्हें किसी-न-किसी प्रकार उत्तेजित करना चाहते थे। उन्होंने इस कुकृत्य को सम्पन्न करने के लिए एक मुसलमान को कुछ धन भी दिया जिसके लिए वह तैयार हो गया। जिस नदी में एकनाथ स्नान किया करते थे, उसके तट पर जा कर वह उनकी प्रतीक्षा करने लगा। स्नान के पश्चात् जब वह बाहर आये, तब उसने उनके मुख-मण्डल पर थूक दिया। बिना कुछ बोले वह मुस्करा कर दूसरी बार स्नान करने चले गये; किन्तु बाहर आने पर उसने उन पर पुनः थूका। यह प्रक्रिया एक सौ आठ बार चलती रही; किन्तु सहनशीलता की प्रतिमूर्ति एकनाथ इससे सर्वथा अप्रभावित रहे। जब उस मुसलमान ने एकनाथ को पूर्णतः शान्त तथा अक्षुब्ध देखा, तब उसने मन-ही-मन सोचा- 'एकनाथ मनुष्य न हो कर कोई देवता हैं।' वह भयभीत हो गया। उसने सोचा कि वह उसे मृत्यु का शाप न दे दें। काँपते हुए उसने एकनाथ को साष्टांग प्रणाम किया और उनसे क्षमा-याचना की। तत्पश्चात् उसने उनको सारा वृत्तान्त कह सुनाया और बताया कि उसे ग्रामीणों ने उनको क्रोधित करने के लिए धन दिया था।

दूसरी बार गाँव वालों ने उन्हें उत्तेजित करने के लिए एक ब्राह्मण को अभिप्रेरित किया। ब्राह्मण ने मन-ही-मन सोचा- 'एकनाथ को उत्तेजित करने की सुगम विधि क्या होगी। मुझे उनकी पत्नी को पकड़ लेना चाहिए। इससे वे निश्चित रूप से क्षुब्ध हो उठेंगे। यह सर्वोत्तम विधि है जिससे मैं अपने प्रयास में सफल हो जाऊँगा। अतः उसने इस विधि के कार्यान्वयन का निश्चय कर लिया। एक दिन जब एकनाथ की पत्नी भोजन परस रही थीं, उस दुष्ट ब्राह्मण ने घर में प्रविष्ट हो कर उन्हें पकड़ लिया। एकनाथ एक शिला-खण्ड की भाँति अचल खड़े रहे और जोर-जोर से हँसने लगे। उस घटना से उस व्यक्ति को क्या प्रभावित होना था जो किसी शरीर, पत्नी तथा अन्य वस्तुओं से एकात्मीकृत नहीं हो सका था। जो अज्ञान के सागर को पार कर गया है, उस सतोगुणी पुरुष के लिए यह सर्वथा नगण्य है। इस परिस्थिति में उन्होंने अपनी पत्नी से कहा- "गिरिजादेवी, भूखे बालक ने तुम्हें पकड़ लिया है। तुम उसे भर-पेट दूध पिला दो।" जब उस निर्धन ब्राह्मण ने इस बात पर ध्यान दिया कि एकनाथ इससे लेशमात्र भी विचलित नहीं हुए हैं

और जब उसने उनके सहानुभूतिपूर्ण शब्द सुने, तब उसका हृदय द्रवित हो गया। वह फूट-फूट कर रोने लगा। उसे इस बात का अत्यधिक पश्चात्ताप हुआ कि उससे एक घोर अपराध हो गया है। अवनत-शिर हो कर उसने एकनाथ से कहा- "महाराज, मुझे क्षमा कीजिए। मुझ निर्धन व्यक्ति से यह मूर्खतापूर्ण कार्य हो गया है। भरण-पोषण के लिए मेरे पास धन नहीं है। गाँव वालों ने मुझे उत्कोच-रूप में इसलिए धन दिया था कि मैं आपमें क्रोध जाग्रत कर सकूँ। निर्धन होने के कारण मैं धन की इस भेंट के प्रति आकृष्ट हो गया। मुझसे घोर पाप हुआ है। मुझे क्षमा कीजिए।" दयार्द्र हो कर उन्होंने उसके प्रति सहानुभूति प्रकट की। उन्होंने उसे भागवत के पाठ तथा भगवान् कृष्ण के नाम-जप का आदेश दिया। उन्होंने उसे तुलसी की एक माला भी दी।

गाँव वालों को इस बात का पूर्ण विश्वास था कि इस बार उनकी योजना अवश्य सफल होगी; किन्तु जब उन लोगों ने उस निर्धन ब्राह्मण को गले में तुलसी की माला धारण किये लौटते हुए देखा, तब वे निराश हो गये। ब्राह्मण ने उनसे कहा- "मैंने अथक प्रयत्न किया। मैंने उनकी पत्नी को पकड़ लिया; किन्तु इससे वह लेशमात्र भी विचलित न हो सके और सर्वदा मुस्कराते रहे।

वह देवता हैं और अब मैं उनका शिष्य हूँ। मुझे उन्होंने मन्त्र दिया है और उस क्षण से मैंने अपने कुकृत्यों को तिलांजलि दे दी है। मैं अब भगवान् कृष्ण के दर्शन के लिए अनवरत प्रयत्न कर रहा हूँ। अब मैंने स्वयं को तुम लोगों से विलग कर लिया है।"

अस्पृश्य जन के लिए एकनाथ के हृदय में अगाध स्नेह था। वह समदर्शी थे और सर्वभूतों में भगवान् कृष्ण को देखते थे। एक दिन एकनाथ के पिता की मृत्यु की वार्षिकी के अवसर पर उनके घर सुस्वादु पकवान बनाये जा रहे थे जिनकी सुगन्ध के प्रति आकर्षित हो कर महार-जाति के कुछ लोग उनके द्वार के सामने रुक गये। एकनाथ ने उन्हें तत्काल निमन्त्रित कर स्वादिष्ट भोजन से तृप्त कर दिया। इसके पश्चात् पुनः भोजन बनवा कर उन्होंने ब्राह्मणों को निमन्त्रित किया; पर उक्त घटना से ब्राह्मण क्षुब्ध हो गये थे। उन्होंने कहा-"एकनाथ, तुमने पहले महारों को भोजन कराया; अतः हम तुम्हारे घर भोजन नहीं करेंगे।" तब एकनाथ ने अपने भक्ति-बल से अपने पूर्वजों का अपरोक्ष रूप से आह्वान किया जिन्होंने वहाँ सशरीर उपस्थित हो कर भोजन किया।

एकनाथ एक महान् भक्त थे। स्वयं भगवान् कृष्ण एक निर्धन ब्राह्मण बालक के रूप में काण्डिया (Kandia) नाम ग्रहण कर बारह वर्ष तक उनके परिवार की सेवा करते रहे। वह वहाँ पानी भरने से ले कर पूजा का जल लाने, चन्दन घिसने तथा रात्रि-भोजन के पश्चात् भोजन-कक्ष को प्रक्षालित करने तक, सभी काम करते थे। बारह वर्ष की अवधि के पश्चात् काण्डिया चमत्कारिक रूप से अन्तर्धान हो गये।

एकनाथ ने भागवत की रचना की। यह ग्रन्थ महाराष्ट्र में उसी प्रकार समादृत है जिस प्रकार तुलसीदास का 'रामचरितमानस' उत्तर भारत में। वहाँ के लोगों में यह 'एकनाथ भागवतम्' के नाम से प्रख्यात है। इसे महाराष्ट्र के प्रत्येक घर में देखा जा सकता है।

१५९९ ई. में छियासठ वर्ष की आयु में एकनाथ गोलोकवासी हुए। एक निष्ठावान् भक्त, एक महान् भागवत, एक आदर्श गृहस्थ तथा एक वरिष्ठ सन्त के रूप में उनके आदर्श की दीप-शिखा लोगों के समक्ष आज भी प्रदीप्त है।

तुकाराम

तुकाराम का जन्म जनपद पुणे-स्थित देहू नामक ग्राम में १६०८ ई. में हुआ था। यह ग्राम ज्ञानेश्वर का समाधि-स्थल होने के कारण सम्मान्य आलन्दी नामक स्थान से सात मील तथा मुम्बई-पुणे रेल-मार्ग पर स्थित शेलारवाड़ी रेलवे

स्टेशन से तीन मील दूर है। उनका परिवार एक समृद्ध शूद्र परिवार था जिसके जीविकोपार्जन का साधन व्यापार था। इन लोगों को मोरे (Moray) कहा जाता था। यह परिवार देहू में बहुत दिनों पहले आ बसा था। ये लोग पण्ढरपुर के विठोबा के पूजक थे। इन लोगों ने विठोबा के नाम पर एक मन्दिर का भी निर्माण किया था और कई पीढ़ियों से पण्ढरपुर की वारी-प्रथा को स्वीकार कर लिया था। इस प्रथा के अनुसार इन्हें प्रतिवर्ष आषाढ़ तथा कार्तिक की एकादशियों को पण्ढरपुर की तीर्थयात्रा करनी पड़ती थी। तुकाराम के बाल्यकाल में कोई विशेष घटना नहीं हुई।

तीन भाइयों में तुकाराम दूसरे भाई थे। अन्य दो भाइयों के नाम थे सावजी एवं कान्हजी। सावजी की कोई सांसारिक महत्त्वाकांक्षा नहीं थी और पिता धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। इस प्रकार तेरह वर्ष की आयु में ही तुकाराम को परिवार के भरण-पोषण का भार वहन करना पड़ गया। उन्हीं दिनों तुकाराम का विवाह रुक्माबाई से हो गया, किन्तु रुक्माबाई रुग्ण शरीर की महिला थीं; अतः तुकाराम को पुणे की जिजाबाई से विवाह करना पड़ा। बीस वर्षीय होने के पूर्व ही तुकाराम ने अपनी गृहस्थी का प्रबन्ध जिस कौशल से किया, उससे परिवार के सभी सदस्य सन्तुष्ट थे। १६२५ ई. में उनके माता-पिता का देहान्त हो गया, तब उनकी आयु केवल सतरह वर्ष थी। उन्हीं दिनों उनकी भाभी का भी देहान्त हो गया, और उनके बड़े भाई गाँव का परित्याग कर आध्यात्मिक मुक्ति की खोज में वाराणसी चले गये। माता-पिता की मृत्यु उनके लिए एक मर्मान्तक आघात सिद्ध हुई। इसके परिणाम स्वरूप १६२६ ई. तथा १६३० ई. के बीच के चार वर्षों की घटनाओं के परिणाम उनके लिए चक्रवात की भाँति अत्यन्त दुःखद रहे।

उनके माता-पिता तथा उनकी भाभी की मृत्यु एवं उनके अग्रज सावजी के गृह-त्याग के फल-स्वरूप सांसारिकता के प्रति तुकाराम का उत्साह जाता रहा। उनकी इस मनःस्थिति से लाभ उठाते हुए ऋणी लोग उनको ऋण लौटाने में आनाकानी करने लगे और दूसरी ओर ऋणदाता उनसे अपना प्राप्तव्य प्राप्त करने के लिए उन पर दबाव डालने लगे। तुकाराम ने व्यापार के कई एक उपक्रमों में हाथ डाला; किन्तु यह सारा कुछ अलाभकर ही सिद्ध हुआ। एक बार जब वह घर लौट रहे थे, तब कुछ धूर्तों ने गिलट के आभूषण दे कर उनका सारा धन ठग लिया। एक अन्य अवसर पर उन्होंने एक बुभुक्षित तथा मृतप्राय निर्धन ब्राह्मण को देखा और उसकी तुष्टि के लिए उसे मूलधन से उपार्जित लाभ के अतिरिक्त मूलधन भी दे दिया। यह मूलधन उनकी पत्नी ने किसी से उधार लिया था। इस कटु अनुभव के पश्चात् तुकाराम पर से परिवार का विश्वास जाता रहा। जब वह घर से कहीं दूर जाते थे, तब उन्हें कोई मूल्यवान् वस्तु नहीं दी जाती थी। जिजाबाई एक बार पुनः उनकी सहायिका सिद्ध हुईं। उनके लिए उन्होंने उनके ग्राम में ही एक छोटी दुकान की व्यवस्था कर दी। ऐसा करते समय वह पति की मनःस्थिति से परिचित नहीं थीं। तुकाराम दुकान में बैठे-बैठे भजन करते रहते। ग्राहकों के प्रति उनके मन में सहानुभूति तथा निष्कपटता के भाव थे। इसके फल-स्वरूप वह दिवालिया हो गये। उन पर दो पत्नियों, एक पुत्र तथा एक छोटे भाई के भरण-पोषण का भार था। संकट की इस घड़ी में १६२९ तथा १६३० ई. में भयंकर अकाल पड़ा। तुकाराम की पहली पत्नी अन्नाभाव में अन्न के लिए तरसती चल बसीं। उनका पुत्र भी जाता रहा। उनके पास जो पशु शेष रह गये थे, वे भी अकाल के गाल में समा गये और परिवार के प्रामिसरी नोट अन्ध-पत्र सिद्ध हो गये क्योंकि अकाल में उनसे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता था। यह अवसर तुकाराम के जीवन की लक्ष्य-पूर्ति के अभियान का प्रारम्भ-बिन्द सिद्ध हुआ।

दुर्भाग्य के अनेक थपेड़ों के फल-स्वरूप तुकाराम जीवन के प्रति इस सीमा तक विरक्त हो गये कि वह गाँव और घर का परित्याग कर निकटस्थ भामनाथ वन में चले गये। वहाँ वह पन्दरह दिनों तक सर्वशक्तिमान् ईश्वर का ध्यान करते रहे। इस अवधि में उन्हें अन्न, जल तथा निद्रा की कोई सुधि नहीं रही। पन्दरहवें दिन के पश्चात् उन्हें आत्म-साक्षात्कार हुआ और विठोबा ने उन्हें अपने यथार्थ स्वरूप में दर्शन दिया।

इस बीच तुकाराम की दूसरी पत्नी अपने पति की खोज सर्वत्र करती रही और जब उसने उन्हें पहाड़ी पर देखा, तब वह उन्हें घर लौटा लायी; किन्तु यह तुकाराम उस तुकाराम से भिन्न थे जो उसे एक पक्ष पूर्व छोड़ गये थे। अब तुकाराम के हृदय में गृहस्थी, पत्नी तथा सम्बन्धियों के प्रति कोई ममत्व नहीं रह गया था। वन से लौटने के पश्चात्

शीघ्र ही उन्होंने सम्बन्धियों के प्रतिवाद की उपेक्षा कर घर में रखे सारे प्रामिसरी नोट तथा हिसाब-किताब के सभी परिपत्र इन्द्रायणी नदी में बहा दिये। तत्पश्चात् उन्होंने उस मन्दिर का पुनः निर्माण किया जो परिष्कार के अभाव में ध्वस्त हो गया था। अब वह रात-दिन उस मन्दिर में भजन-कीर्तन में तल्लीन रहने लगे। उस समय की अपनी मनःस्थिति का वर्णन उन्होंने इन शब्दों में किया है- "हे परमेश्वर, कृपया तुम मुझे ऐसा वरदान दो कि मैं तुम्हें कभी भी विस्मृत न कर सकूँ। मैंने पंचतत्त्व से निर्मित अपना शरीर अपने जीवन-काल तक के लिए उधार लिया है और इस अवधि की परिसमाप्ति के पश्चात् इसे ब्याज सहित प्रत्यर्पित कर देना है। हे पाण्डुरंग, मैं अन्ततः इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि तुम्हारे अतिरिक्त मेरा अन्य कोई शुभचिन्तक नहीं है।”

तुकाराम की अनन्य भक्ति और उनके भजन-कीर्तन के फल-स्वरूप उनको पुरस्कार में गुरु-उपदेश की प्राप्ति हई। गुरु ने उनको स्वप्न में दर्शन दिया। तुकाराम इसे अपने जीवन की सर्वश्रेष्ठ घटना मानते हैं। वह कहते हैं- "सद्‌गुरु मेरे पास स्वप्न में आये। मेरे कर्म ऐसे नहीं थे कि मैं उनका कृपा-पात्र बन सकूँ। फिर भी वे मेरे प्रति कृपालु थे। मुझसे वे उस समय मिले, जब मैं नदी-स्नान के लिए जा रहा था। उन्होंने मेरे शिर पर हाथ रख कर मुझे आशीर्वाद दिया। उन्होंने अपना नाम बाबा जी बताते हुए अपने दो पूर्ववर्तियों के नाम राघव चैतन्य एवं केशव चैतन्य बताये। उन्होंने मुझे 'रामकृष्ण हरि' के जप का परामर्श दिया। माघ मास के शुक्ल पक्ष की दशमी तिथि को मैंने गुरु से दीक्षा ग्रहण की।" यह घटना जनवरी १६३२ ई. में हुई। उस समय उनकी आयु चौबीस वर्ष की थी। इस घटना से उनको असीम आनन्द हुआ था।

अब तुकाराम के जीवन का अधिकांश समय भक्ति-साधना, ज्ञानदेव, नामदेव तथा एकनाथ की कविताओं, इन सन्तों की अन्य कृतियों, गीत एवं भागवत आदि के अध्ययन में व्यतीत होने लगा। इसके परिणाम स्वरूप वह धीरे-धीरे, किन्तु अनजाने ही कविताएँ लिखने लगे। एक दिन स्वप्न में उनके पास पाण्डुरंग के साथ नामदेव आये। इन दोनों ने उन्हें जगा कर भक्ति-गीत लिखने का परामर्श दिया। ये लोग उनसे कोई बहाना नहीं सुनना चाहते थे। पाण्डुरंग ने उन्हें इसके लिए आवश्यक प्रेरणा प्रदान की और नामदेव ने उनसे एक सहस्र कोटि भक्ति-रस की कविताएँ लिखने को कहा। कभी उन्होंने स्वयं इतनी कविताएँ लिखने का विचार किया था जिनमें से वह चौरानवे करोड़ चालीस लाख कविताएँ लिख भी चुके थे; किन्तु अभी पाँच करोड़ साठ लाख कविताओं का लेखन शेष रह गया था जिसे उन्होंने तुकाराम के लिए छोड़ दिया था। तुकाराम में कविता-लेखन की इस दिव्य कला का आविर्भाव स्वभावतः ही हो गया था। उनकी कविताएँ भक्ति-रस-प्रधान होती थीं जिसके फल-स्वरूप लोग उनकी ओर अधिकाधिक आकृष्ट होते गये। इसका एक कारण यह भी था कि उन्होंने कभी अपनी भौतिक सुख-सुविधा के लिए किसी से किसी सांसारिक वस्तु की याचना नहीं की।

तुकाराम जब कभी भी भजन या कीर्तन करते. तभी वहाँ जन-समूह उमड़ पड़ता। कुछ अपवादों को छोड कर सभी वर्गों के लोग उन्हें सन्त समझ कर उनका सम्मान करते थे किन्तु कुछ लोगों में उनके प्रति विदेष की भावना भी जाग्रत हो गयी थी। उन लोगों ने उनकी अवमानना के अधिकाधिक प्रयत्न किये। इस प्रयत्न में विफल रहने के पश्चात् उन्होंने उस समय के एक विद्वान् ब्राह्मण रामेश्वर शास्त्री के पास तुकाराम के विरुद्ध एक प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दिया।

तुकाराम ने स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने के लिए कई एक प्रमाण प्रस्तुत किये; किन्तु शास्त्री जी ने उनकी एक न सुनी। अपने निश्चय पर अटल रहते हुए अन्ततः उन्होंने तुकाराम से कहा कि 'उन्होंने उनकी कविताओं में श्रुतियों के सिद्धान्तों की व्याख्या का एक सुविचारित प्रयास देखा है, जब कि शूद्र होने के कारण वह इस अधिकार से वंचित हैं; अतः भविष्य में उन्हें इस प्रकार की कविताओं का लेखन बन्द कर देना और अब तक लिखी गयी कविताओं को इन्द्रायणी नदी में बहा देना होगा।' तुकाराम ब्राह्मणों का अत्यधिक सम्मान करते थे; अतः उन्होंने अपनी सारी कविताएँ घर से ला कर उनकी एक पोटली बनायी और उस पोटली को एक पत्थर से सम्बद्ध कर नदी में डाल

दिया। उनके प्रति विद्वेष-भाव से ग्रस्त उनके निन्दक इस घटना से बहुत प्रसन्न हुए। तुकाराम उन लोगों के कटाक्ष से विचलित नहीं हुए; किन्तु वह चिन्ता-मुक्त भी नहीं थे। यहाँ वह अपनी कविताओं के माध्यम से ईश्वर का गुण-गान मात्र कर रहे थे जिस पर केवल वेदों तथा श्रुतियों का ही अधिकार नहीं था। इसके अतिरिक्त स्वयं पाण्डुरंग ने उन्हें अपनी कविताओं के माध्यम से लोगों में भक्ति के प्रचार-प्रसार का आदेश दिया था।

इस घटना के पश्चात् तुकाराम इन्द्रायणी नदी के तट पर बैठ कर उपयुक्त मार्ग-दर्शन के लिए पाण्डुरंग की अनवरत प्रार्थना में तल्लीन हो गये। तेरह दिनों तक वह अशन-शयन का परित्याग कर अविचलित रूप से प्रार्थना करते रहे। अन्तिम दिन पाण्डुरंग ने तुकाराम के एक अनुयायी को स्वप्न में दर्शन दे कर उससे कहा "नदी के तट पर जाओ। वहाँ तुकाराम की कविताओं की पोटली सुरक्षित रूप में नदी की सतह पर प्रवाहित होती मिल जायेगी।" वह व्यक्ति तत्काल ही नदी-तट पर जा कर कविताओं की पोटली उठा लाया। ईश्वर की इस कृपा से विगलित-हृदय तुकाराम ने पाँच कविताओं के माध्यम से ईश्वर के वचनों पर सन्देह प्रकट करने तथा अपनी कविताओं को जल में तेरह दिनों तक सुरक्षित रखने में हुए उनके कष्ट के लिए स्वयं को दोषी माना। फिर भी तुकाराम के लिए यह पर्याप्त नहीं था। इसका कारण यह था कि वह ब्राह्मण-वचन तथा शास्त्र-वचन में वैभिन्य दर्शन नहीं करते थे। इसके अतिरिक्त रामेश्वर शास्त्री ने उन्हें भविष्य में कविताएँ नहीं लिखने का आदेश दे दिया था।

इस घटना के कुछ ही दिनों पश्चात् एक दिन रामेश्वर शास्त्री वाघोली (Vagholi) गाँव से होते हुए एक अन्य गाँव में जा पहुँचे। उस गाँव में अंगद शाह नामक एक फकीर ठहरे हुए थे। उनके अहाते में एक बड़ा जल-स्रोत था जिससे वहाँ चतुर्दिक् शीतल जल-प्रक्षेपण होता रहता था। उस जल-स्रोत से आकर्षित रामेश्वर को वहाँ स्नान करने का लोभ हुआ। अपने अहाते में एक अपरिचित व्यक्ति को प्रविष्ट होते देख कर अंगद शाह क्षुब्ध हो उठे। उन्होंने उनको शाप दिया कि उनका सम्पूर्ण शरीर भीतर-ही-भीतर प्रदाहक संवेदन से ग्रस्त हो जाये। रामेश्वर के लिए अंगद शाह के शाप का परिणाम शीघ्र ही पीड़ाप्रद सिद्ध होने लगा। उस प्रदाहक संवेदन से मुक्ति के उनके सारे प्रयत्न निष्फल हो गये और उनका शरीर शीतल न हो सका। उस व्यथा को सहने में असमर्थ हो कर वह आलन्दी चले गये जहाँ ज्ञानेश्वर की समाधि के सम्मुख बैठ कर शरीर के प्रदाह-संवेदन से मुक्ति के लिए वे प्रार्थना करने लगे। स्वप्न में उनको ज्ञानेश्वर के दर्शन हुए जिन्होंने उनसे कहा- "विठोबा के महानतम भक्त तुकाराम के प्रति तुम्हारे मन में घृणा के भाव हैं। उनके सम्मुख जा कर उनको आत्म-समर्पण करो। तुम्हारी शारीरिक पीड़ा समाप्त हो जायेगी।" रामेश्वर को तुकाराम के सम्मुख सशरीर उपस्थित होने में भय हो रहा था। देह (Dehu) में जो कुछ हो चुका था, वह उससे परिचित थे और तुकाराम की महानता के प्रति आश्वस्त हो चुके थे अतः उन्हें भय था कि तुकाराम कहीं उन्हें शाप न दे दें। इस स्थिति में उन्होंने पत्र द्वारा तुकाराम से क्षमा याचना की। निःस्व होते हुए भी तुकाराम के हृदय में प्रत्येक प्राणी के लिए प्रेम था। वह अपने उत्पीड़कों तक से प्रेम करते थे। पत्र-प्राप्ति के पश्चात् पत्रोत्तर के रूप में उनको निम्नांकित आशय की कविता लिख भेजी :

"यदि मन पवित्र है तो तुम्हारे शत्रु भी मित्र हो सकते हैं। व्याघ्र-सर्पादि-जैसे क्रूर पशुओं से भी तुम्हारे समक्ष कोई संकट नहीं उपस्थित हो सकता। तुम्हारे लिए विष भी स्वर्ग के अमृत की भाँति हितकर हो जायेगा। तुम्हारा सारा दुःख सुख में परिणत हो जायेगा और दैहिक प्रदाह-जनित तुम्हारी पीड़ा भी समाप्त हो जायेगी। जिस प्रकार तुम स्वयं से प्रेम करते हो, उसी प्रकार तुम प्राणिमात्र से प्रेम करने लगोगे और समदर्शी हो जाओगे। तुकाराम कहता है, 'मुझ पर नारायण की कृपा-वृष्टि हुई है; अतः मुझमें सर्वभूतों के प्रति यह भाव जाग्रत हो गया है।"

यह पत्र पढ़ते समय जब रामेश्वर की दृष्टि इन शब्दों पर पड़ी, 'दैहिक प्रदाह-जनित तुम्हारी पीड़ा भी समाप्त हो जायेगी', तब उनका शरीर पीड़ा-मुक्त हो गया। अब वह इस तथ्य से पूर्णतः परिचित हो गये कि उन्होंने तुकाराम के प्रति घोर अन्याय किया है। उसी क्षण से वह तुकाराम के महान् प्रशंसक तथा प्रबल अनुयायी हो गये।

इस घटना से तुकाराम की ख्याति चतुर्दिक् व्याप्त हो गयी; किन्तु वह निर्धन-के-निर्धन ही रहे। भजन-कीर्तन में सतत संलग्न तुकाराम अपने भरण-पोषण के लिए कुछ भी उपार्जित न कर सके। उनके परिवार, जिसमें उनकी पत्नी और बच्चे थे, के भरण-पोषण का भार उनकी विवश पत्नी के कन्धों पर पड़ गया। तुकाराम भजन में इतने तल्लीन हो जाते कि उन्हें प्रायः मध्याह्न-भोजन की भी सुधि न रहती। इस स्थिति में उनकी पत्नी को हाथ में भोजन-पात्र लिये स्थान-स्थान पर उनकी खोज कर उनको भोजन कराना पड़ता। अधिकतर वह भामगिरि की पहाड़ी पर रहते थे। परिवार की देख-रेख में उनकी पत्नी को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता। वह कभी-कभी क्रुद्ध-क्षुब्ध भी हो उठती थीं; किन्तु मुख्यतः वह एक साधु-वृत्ति की महिला थीं। उनकी मृत्यु के पश्चात् स्वयं तुकाराम ने उनकी भक्ति तथा विशुद्धता को सराहा था।

एक बार तुकाराम के एक प्रशंसक ने उनसे कहा कि यदि वह उसके मक्के के खेत की देख-भाल तथा पक्षियों से उसकी सुरक्षा का भार ग्रहण कर लें, तो वह उन्हें प्रतिदिन कुछ धान्य दे दिया करेगा। यह सोच कर कि इससे उन्हें ईश्वर के गुण-गान के लिए एक एकान्त स्थान मिल जायेगा, तुकाराम ने उसके इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। तुकाराम के खेत में पहुँचते ही सारे पक्षी उड़ गये। तुकाराम का मन यह देख कर अशान्त हो गया कि उनके कारण पक्षियों को अपने भोजन से वंचित हो जाना पड़ा; किन्तु कुछ ही दिनों में पक्षी अपना संकोच और भय त्याग कर उस खेत में आ कर नियमित रूप से दाना चुगने लगे। जब खेत के स्वामी को यह सब ज्ञात हुआ, तब वह तुकाराम को पकड़ कर गाँव के मुखिया के पास ले गया। तुकाराम ने अपना प्रतिवाद प्रस्तुत करते हुए कहा कि ये प्राणी भी ईश्वर की सन्तान हैं जिन्हें उन्मुक्त हृदय से अन्न-दान करना सबका कर्तव्य है। किन्तु उनकी एक न सुनी गयी और अब तक हुई क्षति के अनुरूप खेत के स्वामी को एक वचन-पत्र देना पड़ा। फसल कटने पर देखा गया कि सम्भावित पैदावार में हानि के स्थान पर दोगुनी वृद्धि हो गयी है। यह देख कर किसान इतना हर्ष-विह्वल हुआ कि उसने अतिरिक्त धान्य-राशि तुकाराम को दे दी और तुकाराम से जैसी आशा की जा सकती थी, उन्होंने यह सारी अतिरिक्त धान्य-राशि निर्धनों में वितरित कर दी।

महाराष्ट्र के महान् जन-नायक शिवाजी तुकाराम के परम भक्त थे। उन्होंने उनके पास भेंट-स्वरूप अनेक बहुमूल्य वस्तुएँ भेजीं तथा उनको अपनी राजसभा में पधारने के लिए निमन्त्रित भी किया; किन्तु तुकाराम ने उन बहुमूल्य वस्तुओं को यह कह कर लौटा दिया कि उन्हें पृथ्वीपतियों से कोई लेना-देना नहीं है। तब शिवाजी स्वयं आ कर उनके पास कई दिनों तक रहे। उन्होंने तुकाराम से कुछ भेंट स्वीकार करने का बहुत आग्रह किया; किन्तु उन्होंने इस आग्रह को स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार कर दिया।

एक दिन शिवाजी तुकाराम के गीतों तथा भजनों से इस सीमा तक प्रभावित हुए कि कुछ क्षणों के लिए उनके मन में यह इच्छा जाग्रत हो गयी कि वह अपने राज्य का परित्याग तथा तुकाराम का पथानुसरण कर आजीवन भजन में तल्लीन रहें; किन्तु तुकाराम ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया। उन्होंने शिवाजी का ध्यान प्रजा, हिन्दू-सम्प्रदाय तथा धर्म की ओर आकृष्ट करते हुए अन्ततः उनको यह परामर्श दिया- "ईश्वर के साक्षात्कार के लिए अन्न-जल के परित्याग तथा वन-गमन की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि सांसारिक सुख तुम्हें स्वतः प्राप्त हो जाते हैं, तो उनका तुम पूर्णतः उपभोग करो; किन्तु यह सब सर्वान्तर्यामी ईश्वर के नाम पर ही होना चाहिए। न किसी वस्तु की इच्छा करो, न किसी वस्तु का परित्याग करो। यह तुमको मेरा एकमात्र सहज परामर्श है।" शिवाजी वहाँ से अपनी राजसभा में अधिक सुखी तथा अधिक सन्तुष्ट हो कर लौटे।

एक दिन एक ब्राह्मण को तुकाराम से सन्त मुकुन्दराज की पुस्तक 'विवेक-सिन्धु' पढ़ने की इच्छा हुई। इससे वह तुकाराम की उस पुस्तक की व्याख्या तथा उनके परामर्श से लाभान्वित होता और उसे आत्म-साक्षात्कार तथा ब्रह्मात्मैक्य-बोध की उपलब्धि होती। उसका उद्देश्य भी यही था। तुकाराम उसके इस प्रस्ताव से सहमत हो गये और ब्राह्मण वह पुस्तक पढ़ने लगा; किन्तु तुकाराम ने अपनी आँखें बन्द कर लीं। वह ध्यानस्थ हो कर जप में तल्लीन हो

गये। इससे क्षुब्ध हो कर उस ब्राह्मण ने उनकी उदासीनता का कटु शब्दों में विरोध किया; किन्तु उसके शब्दों से अविचलित रहते हुए तुकाराम ने इस कविता के माध्यम से उससे कहा- "इसी कारण मैं गृह तथा इन वस्तुओं का परित्याग कर वन में चला जाता है। मुझे ईश्वर से तादात्म्य की इच्छा नहीं है। मैं उसके विग्रह के प्रति अपने प्रेम से वंचित होना नहीं चाहता।

यदि मुझे आत्म-साक्षात्कार की उपलब्धि हो जायेगी, तो भजन-कीर्तन की मेरी कामना का अन्त हो जायेगा। मेरी ऐसी कोई इच्छा नहीं है। मैं अद्वैतवाद का समर्थन करने वाले शब्दों को सुनना नहीं चाहता।" एक अन्य अवसर पर उन्होंने अपनी कविता के माध्यम से ईश्वर से कहा- "मैं तुमसे अपने सम्बन्ध को घनिष्टतम कर देना चाहता हूँ अर्थात् तुम स्वामी, मैं सेवक। तुम उच्चासन पर, मैं तुम्हारे चरणों पर। हे परमेश्वर, तुम मुझे केवल यही वर दो कि मैं तुम्हें कभी विस्मृत न कर पाऊँ और श्रद्धापूर्वक तुम्हारा गुण-गान करता रहूँ।"

तुकाराम की आस्था ईश्वर के नाम जप, भजन तथा उसके गुण-गान के रूप में सगुण भक्ति के प्रति थी। उनका कहना था कि भक्ति ईश्वरोपासना तथा सेवा का उच्चतर स्वरूप है। यह मुक्ति से भी उच्चतर है। उनके अनेकानेक दिन तथा उनकी अनेकानेक रातें भजन में ही व्यतीत होतीं। उनको निकटस्थ गाँवों से वहाँ जा कर ग्रामीणों के साथ भजन करने के निमन्त्रण मिलते थे।

एक बार वह देहू के निकट लोहागाँव में कीर्तन कर रहे थे। वहाँ एकत्र बृहत् जन-समुदाय भी उनके साथ भजन कर रहा था। इसमें जोशी नामक एक ब्राह्मण भी था जो अपनी पत्नी के पास अपने मरणासन्न अल्पवयस्क पुत्र को छोड़ कर वहाँ आया था। बालक की मृत्यु हो गयी जिससे माता शोकार्त हो उठी। भजन में लीन तुकाराम के पास जा कर उसने उनकी भर्त्सना करते हुए कहा कि उन्हीं के कारण उसका पति अपने मरणासन्न पुत्र के प्रति उदासीन हुआ और इस प्रकार वह उसके पुत्र की मृत्यु के लिए उत्तरदायी हैं। तुकाराम तत्काल मृत बालक को जीवन दान देने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करने लगे। वह अकृत्रिम तथा हृदय-स्पर्शी स्वरों में अपना एक आशु भक्ति-गीत गाने लगे जिसमें वहाँ विद्यमान श्रोता भी अन्तःस्फूर्त भक्ति के साथ सम्मिलित हो गये। पण्ढरीनाथ ने उन लोगों की प्रार्थना स्वीकार कर ली और उसका मृत पुत्र पुनर्जीवित हो कर स्वयं उस भजन मण्डली में सम्मिलित हो गया।

कहा जाता है कि तुकाराम के जीवन में अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ हुई। उनकी ख्याति का प्रसार देश-भर में हुआ; किन्तु वह स्वयं इससे अप्रभावित ही रहे। उनको अपने संसार-त्याग के यथार्थ समय का ज्ञान था। वह अब अपने जीवन से परिश्रान्त होने लगे। उन्होंने सोचा कि उनका जो समय कीर्तन-भजन और विठोबा के गुण-गान में व्यतीत होना चाहिए था, वह उनकी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में व्यतीत हो रहा था। उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की कि उन्हें उनके चरण कमलों में शीघ्रातिशीघ्र शरण प्राप्त हो जहाँ वह उनकी अनवरत उपासना में स्वयं को सर्वदा के लिए संलग्न रख सकें।

जब उनका अन्त-काल निकट आ गया, तब उन्होंने अपने मित्रों से कहा कि उनका प्रयाण-काल निकट आ गया है। महाप्रस्थान की पूर्व-रात्रि में उन्होंने कीर्तन का आयोजन किया जो अनेक अर्थों में स्मरणीय है। इस कीर्तन का विषय था हरि-कथा। तुकाराम ने कहा- "हरि-कथा ईश्वर, भक्त तथा भगवन्नाम, इन तीन नदियों का संगम है। इसके श्रवण से सारे पाप भस्म हो जाते हैं और मनुष्य पवित्र हो जाता है। वहाँ आस-पास पड़े पत्थर के रोड़े तक इससे पवित्र हो जाते हैं और उनका पूजन होने लगता है। जो लोग स्वयं को स्वर्ग-प्राप्ति के योग्य बनाना चाहते हैं, उनको पवित्र प्रसाद ग्रहण करना चाहिए। यह स्वर्ग-प्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग है।"

दूसरे दिन प्रातःकाल उन्होंने अपनी पत्नी से कहा- "तुम्हें शीघ्र ही नारायण नामक एक पुत्र की प्राप्ति होगी जो तुम्हारे हर्ष की अभिवृद्धि करेगा। तुम्हारे कारण मेरे दिन सुखमय व्यतीत हुए हैं। मैं तुम्हारी दया के इस ऋण से कभी मुक्त

नहीं हो पाऊँगा।" उनको मरणासन्न जान कर गाँव के सारे लोग वहाँ एकत्र हो गये जिनको उन्होंने इस प्रकार प्रबोधित किया

"तुम लोगों के कन्धों पर पारिवारिक जीवन के उत्तरदायित्व-वहन का भार है। फिर भी तुम लोगों को पाण्डुरंग का विस्मरण नहीं करना चाहिए। उनको कभी भी विस्मृत मत करो और उनका गुण-गान करते रहो। पण्ढरपुर तुम लोगों के बहत समीप है। वह इस धरती पर स्वर्ग है। वहाँ जा कर प्रभु का पूजन करो। यह मेरा अनुभव है कि एकमात्र भगवान् का नाम ही मृत्यु-काल में तुम्हारा त्राण करेगा। तुम लोगों ने एक दीर्घ अवधि तक मेरी रक्षा और देख-रेख की है। मैं तुम लोगों का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ और तुम लोगों से उऋण नहीं हो सकता हूँ। मैं विठोबा से प्रार्थना करूँगा कि वे तुम लोगों को आशीर्वाद दें और मृत्यु के उपरान्त तुम्हारे लिए स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त करें। तुम लोगों को यह मेरा अन्तिम प्रणाम तथा परामर्श है। तुम लोगों के सम्मुख विनत हो कर अश्रुपूर्ण नेत्रों से तुमसे सानुनय कहता हूँ कि तुम प्रभु के नाम का विस्मरण कभी मत करो और भगवान् नारायण का भजन-कीर्तन सदैव करते रहो। अपने सांसारिक कुशल-क्षेम की चिन्ता मत करो। इसकी चिन्ता स्वयं भगवान् कर लेंगे। यह सब क्षण-भंगुर है। भगवान् का नाम शाश्वत है। तुम लोग केवल इसी के मुखापेक्षी रहो। सदा प्रभु का गुण-गान करते रहो। राम-कृष्ण-हरि का जप करो। वे सदा तुम्हारी रक्षा करेंगे। यह तुम लोगों से मेरा अन्तिम निवेदन है; तुम लोगों को मेरा अन्तिम परामर्श है।"

इस प्रकार महाराष्ट्र के महान् सन्तों में से एक की इहलीला समाप्त हुई। मृत्यु के क्षणों में भी उनके मुख पर भगवान् का नाम था और उस समय भी वह प्रभु का गुण-गान कर रहे थे। तुकाराम १६४९ ई. में गोलोकवासी हुए। उस समय उनकी आयु इकतालीस वर्ष थी। ऐसा विश्वास किया जाता है कि उनको अपने धाम में ले जाने के लिए विष्णु भगवान् ने अपना रथ और अपने सेवक भेजे थे।

दामा जी

दामा जी पण्ढरपुर के पाण्डुरंग के महान् भक्त थे। वह तेरहवीं शताब्दी के एक प्रख्यात व्यक्ति थे। वह बीदर (Bedar), गोलाकोण्डा में स्थित मंगलवेद्य (Mangalvedya) के दीवान थे।

एक बार वहाँ भीषण अकाल पड़ा। दामा जी ने नवाब की अनुमति के बिना राजकीय अन्न-भण्डार के द्वार खोल कर निर्धनों में अन्न का वितरण कर दिया जिससे लाखों लोगों की भुखमरी से रक्षा हो गयी।

उनके प्रति द्वेष-भाव से ग्रस्त प्रबन्धक ने नवाब को यह सूचना दे दी कि दामा जी ने बिना अनुमति के ही सारा अन्न निर्धनों में वितरित कर दिया है। इससे क्रुद्ध हो कर नवाब ने सेनापति को आदेश दिया कि वह दामा जी को गिरफ्तार कर उसके समक्ष प्रस्तुत करे। जब दामा जी को नवाब की राजधानी में ले जाया जा रहा था, तब उन्होंने नवाब के सैनिकों से कहा कि वे उन्हें पण्ढरपुर होते हुए राजधानी ले चलें जिससे वह विठ्ठल के अन्तिम दर्शन कर सकें। सैनिकों ने उनका यह आग्रह स्वीकार कर लिया।

अपने भक्त की रक्षा के लिए भगवान् ने एक महार का रूप धारण कर लिया। वे एक काला कम्बल ओढ़े हुए थे और उनके हाथ में लाठी थी। नवाब ने अनिमन्त्रित आगन्तुक से पूछा- "कौन हो तुम?"

उन्होंने उत्तर दिया- "मेरा नाम विठू है और मैं महार हूँ। मैं दीवान दामा जी का सेवक हूँ। भीषण अकाल के समय मेरे स्वामी ने महामहिम के अन्नागार का सारा अन्न उन निर्धन लोगों में वितरित कर दिया था जो भुखमरी की चपेट

में आ गये थे। उन्होंने मुझे वितरित अन्न का मूल्य दे कर यहाँ भेजा है। कृपया, आप इसे ग्रहण कर मुझे इसकी प्राप्ति की रसीद दे दें।"

नवाब ने कहा- "इसे कोषागार में जमा कर दो। मैं रसीद पर हस्ताक्षर कर दूँगा।"

नवाब विट्टू के सम्मोहक व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुआ। विड्डू कोषागार में गये जहाँ उन्होंने अपने झोले में रखा सारा धन कोष में जमा कर दिया; झोला धन से पुनः भर गया। इस प्रक्रिया की पुनः पुनः आवृत्ति होती रही, तब तक होती रही जब तक दामा जी का देय कोषागार में जमा न हो गया। कोषाधिकारी इससे आश्चर्यचकित रह गया। विड्डू रसीद प्राप्त कर नवाब के पास पहुँचे। नवाब ने रसीद पर अपने हस्ताक्षर कर उसे विड्डू को दे दिया। रसीद पर लिखा था- "मंगलवेढ्य-स्थित अपने अन्न भण्डार के अन्न के मूल्य की समग्र धन-राशि प्राप्त की।"

दामा जी का सेवक इतना द्युतिमान् तथा आकर्षक था कि नवाब ने सोचा कि यह निश्चित रूप से कोई दिव्य प्राणी होगा। वह उद्विग्न हो उठा और उसने विड्डू को पुनः देखना चाहा। वह उच्च स्वर में बोला- "विडू, विडू, तुम कहाँ हो विड्डू ?" उसने अपने अधिकारियों को उसका पता लगाने को कहा; किन्तु विड्डू वहाँ कहाँ था जो उसका पता चले !

भगवान् की ओर से कुछ और कौतुक हो गये। विद्धू ने रसीद ले कर दामा जी की गीता में रख दी। चन्द्रभागा नदी में स्नान करके दामा जी गीता का पाठ करने लगे। गीता के भीतर नवाब की रसीद देख कर उनको घोर आश्चर्य हुआ। वह समझ गये कि यह सारा चमत्कार विठ्ठल की कृपा से ही हुआ है।

इस बीच नवाब स्वयं विडू की खोज में निकल पड़ा। राह में उसे दामा जी मिल गये। उसने दामा जी से कहा- "हे आदरणीय सन्त, मुझे क्षमा कीजिए। मुझसे घोर पाप हो गया है। अपने सेवक विड्डू को बुलाने की कृपा करें।"

दामा जी आश्चर्य चकित हो गये। उन्होंने नवाब से कहा- "मेरे आदरणीय स्वामी, मेरे पास विडू नामक कोई सेवक नहीं है। मैं नहीं जानता कि यह विडू कौन है। यदि महामहिम उसकी आकृति-प्रकृति से मुझे अवगत कराने की कृपा करें, तो मैं उसका पता लगा सकता हूँ।"

नवाब ने कहा- "आपके उस सेवक का नाम विड्डू है जो महार है। वह अन्न का मूल्य ले कर मेरे पास आया था। वह कम्बल ओढ़े हुए था और उसके हाथ में एक लाठी थी। उसका रंग काला, मुख-मण्डल सम्मोहक तथा उसके नेत्र द्युतिमान् थे।"

अब दामा जी गीता में रखी रसीद का स्मरण कर आनन्दातिरेक में नाचने लगे और उनकी आँखों से अश्रु-वर्षण होने लगा। उन्होंने कहा- "हे भगवान् विठ्ठल, हे पाण्डुरंग, मेरे लिए आपको एक महार का कार्य करना पड़ा। नवाब धन्य हैं जिन्हें आपने अपने दर्शन से कृतकृत्य कर दिया। आप ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च स्वामी हैं। आपने मेरे लिए इतना कष्ट क्यों किया? नवाब मेरी हत्या के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कर सकता था तथा मैं कुछ भी सजा भुगत लेने को तैयार था।"

दामा जी उच्च स्वर में बोल उठे- "हे पाण्डुरंग, हे पाण्डुरंग!" भगवान् अपने भक्तों, दामा जी तथा नवाब को आशीर्वाद देने के लिए पुनः प्रकट हुए। भगवान् बहुत दयालु हैं। राधावल्लभ भगवान् कृष्ण की जय हो ! दामा जी ने दीवान के पद से तत्काल त्यागपत्र दे दिया और अपने शरीरपात तक जीवन के शेष वर्ष पण्ढरपुर में भगवान् विठ्ठल की सेवा में व्यतीत किये।

चोखामेला

चोखामेला महाराष्ट्र के एक दलित सन्त थे जो पण्ढरपुर में रहते थे। वह रामानुज के समकालीन थे।

बाल्यावस्था से ही वह दलित वर्ग की समस्या, उसकी उपासना पद्धति तथा अन्य समुदायों से उसके सम्बन्ध के विषय में चिन्तित रहते थे। उन दिनों दलितों को अन्य जाति के लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे और उन्हें सवर्णों द्वारा पूजित देवताओं के पूजन-अर्चन की सुविधा से वंचित कर दिया गया था। इस तथाकथित दलित-वर्ग के लोगों को मुक्ति प्राप्त हो सकेगी या नहीं, इस चिन्ता से उनका मन-प्राण सर्वदा आलोड़ित हुआ करता था। एक दिन चोखामेला पण्ढरपुर जा कर भगवान् से प्रार्थना करने लगे। कुछ ब्राह्मण उस पंचम को मूर्ति के पास देख कर उसे मारने-पीटने लगे। चोखामेला ने उन ब्राह्मणों को आश्वस्त कर दिया कि अब वह भविष्य में उस मूर्ति के निकट नहीं जायेंगे। इस घटना ने उन्हें उस स्थान का सर्वदा के लिए परित्याग कर इस समस्या की समाधान-प्राप्ति के लिए किन्हीं अन्य स्थानों की तीर्थ-यात्रा के लिए प्रेरित कर दिया।

चोखामेला वाराणसी गये। वहाँ उन्होंने सुना कि नगर में राम-भक्त मुसलमान सन्त कबीर की कथा हो रही है। वह शीघ्रता से उस स्थान पर पहुँचे और तन्मय हो कर कथा का श्रवण करने लगे। जिस समय वह कथा सुन रहे थे, उस समय कथा में दलित सन्त रोहीदास से कबीरदास के विवाद का प्रसंग चल रहा था। इस प्रसंग से उत्प्रेरित चोखामेला के मन में रोहीदास के निवास-स्थान तथा उनके पूजा-स्थल को देखने की इच्छा जाग्रत हुई। वहाँ जाने पर वह राधावल्लभ नामक एक व्यक्ति से मिले जो रोहीदास का वंशज था। उनके मन में इस बात की एक क्षीण आशा का संचार हुआ कि दलितों को भी पूजा-उपासना की सुविधा प्राप्त हो सकती है। वह और अधिक अनुभव की प्राप्ति के लिए दक्षिण भारत की ओर चल पड़े। वह चिदम्बरम् पहुँचे, जो भगवान् शिव को समर्पित एक पवित्र तीर्थ स्थान था। उसी दिन वहाँ एक अन्य शिवोपासक दलित सन्त नन्दनार के उत्सव का आयोजन था। उन्होंने आश्चर्य चकित हो कर देखा कि नन्दनार का स्मरणोत्सव एक मन्दिर में मनाया जा रहा है। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी देखा कि मन्दिर में नन्दनार की मूर्ति प्रतिष्ठित की गयी थी और उसकी पूजा हो रही थी। उन्होंने वहाँ एकत्र लोगों से यह सुना कि दलित नन्दनार किस प्रकार एक ब्राह्मण भूपति के अधीन कृषि-कर्म करते थे और उन्होंने किस प्रकार ब्राह्मण जाति के विरोध करने पर भी भगवान् शिव की कृपा से मुक्ति प्राप्त की थी।

इसके पश्चात् चोखामेला दक्षिण भारत के एक अन्य पवित्र तीर्थ-स्थान श्रीरंगम् गये। वहाँ उन्होंने दलित भक्त मरनार नम्बि का श्राद्ध-कर्म एक ब्राह्मण के हाथों सम्पन्न होते देखा। तिरुप्पन आलवार दक्षिण भारत के आलवार सन्त थे जो जन्मना दलित थे। चोखामेला ने देखा कि वहाँ उनका भी आनन्दोत्सव मनाया जा रहा है। इन घटनाओं से अत्यधिक उत्प्रेरित तथा मुक्ति-प्राप्ति के लिए पूर्णतः आशान्वित हो कर वह रामानुज से उपदेश-मन्त्र लेने के पश्चात् पाण्डुरंग की सेवा में चले गये।

पण्ढरपुर में चोखामेला का विवाह हो गया। उन्हें वहाँ के लोगों से पूजा की अनुमति नहीं मिली थी। अतः वह अपने घर में ही पूजन-अर्चन करने लगे। एक दिन पाण्डुरंग स्वयं उनके घर जा कर उन्हें अपने साथ मन्दिर के गर्भ-गृह में ले गये। मन्दिर के द्वार बन्द थे। वहाँ वे चोखामेला से बात करने लगे। इतने में द्वार खोल कर एक पण्डित वहाँ आ गया। वहाँ उसने उस पंचम को अकेले देखा। उसने चोखामेला को लांछित-अपमानित किया और अन्य ब्राह्मणों के साथ मिल कर उन्हें पण्ढरपुर का परित्याग कर भीमा नदी के तट पर स्थित एक गाँव में रहने को विवश कर दिया।

उस गाँव में अपनी पत्नी के साथ भगवान् का पूजन तथा व्रतों का अनुपालन करते हुए चोखामेला अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे। एक दिन एकादशी को भगवान् स्वयं चोखामेला के घर आये और वहाँ उन्होंने उनके साथ प्रसाद ग्रहण किया। इस प्रकार भगवान् प्रत्येक एकादशी को उनके घर आ कर उनके साथ प्रसाद ग्रहण करने लगे। एक

दिन ऐसा हुआ कि एकादशी की पूर्व-रात्रि पति-पत्नी बहुत देर तक सोते रहे जिसके फल-स्वरूप उनकी पत्नी प्रातःकाल देर से उठी। उन्होंने पत्नी को डाँटते हुए कहा कि एकादशी की विलम्ब से शय्या-त्याग करने के कारण भगवान् के भोजन में भी विलम्ब होगा। उनके द्वार से हो कर एक ब्राह्मण जा रहा था। उसने उनके शब्द सुन लिये। चोखामेला के जीवन के आन्तरिक रहस्य से अपरिचित उस ब्राह्मण ने समझा कि उनके उन शब्दों से ब्राह्मणों तथा स्वयं भगवान् का अपमान हुआ है। अतः उसने इसकी सूचना राजा को दे दी। राजा ने आदेश दिया कि चोखामेला को वन में ले जा कर वन्य वृषभों से उनकी हत्या करवा दी जाये। उन्हें वन में ले जा कर वन्य वृषभों की दया पर छोड़ दिया गया; किन्तु भगवान् की कृपा से वे उग्र-स्वभाव वन्य वृषभ उनकी हत्या न कर प्रेमपूर्वक उनका शरीर चाटने लगे। इसी बीच चोखामेला की पत्नी अपने पति के साथ प्राण-त्याग करने के लिए दौड़ती हुई वहाँ आ पहुँची। पति-पत्नी को सुरक्षित देख कर राजा के सेवकों को घोर आश्चर्य हुआ। चोखामेला को एक महान् सन्त समझ कर राजा ने अपनी भूल के लिए पश्चात्ताप करते हुए सम्मान तथा धूमधाम के साथ उनका स्वागत किया। तत्पश्चात् चोखामेला अपनी पत्नी के साथ अपने गाँव लौट गये।

एक बार पुनः भगवान् चोखामेला के घर आये जहाँ उनकी पत्नी उन दोनों को भोजन कराने लगी। उसी समय चोखामेला की पत्नी के हाथ से भगवान् के वस्त्र पर छाछ गिर पड़ी जिससे चोखामेला उद्विग्न हो उठे। उन्होंने अपनी पत्नी को भविष्य में सतर्क रहने को कहा। उनकी यह बातें एक अन्य ब्राह्मण को केवल उसके समुदाय के लिए ही नहीं, अपितु भगवान् के लिए भी घोर अपमान जनक प्रतीत हुईं। उसने घर में प्रविष्ट हो कर चोखामेला के गाल पर जोर से चाँटा मारा जिसके फल-स्वरूप चोखामेला के सारे दाँत टूट गये और वह पृथ्वी पर गिर कर संज्ञाशून्य हो गये। ब्राह्मण स्नान कर मन्दिर में गया। वह द्वार खोल कर पूजा प्रारम्भ करने ही वाला था कि उसको भगवान् के वस्त्र का कुछ भाग छाछ से सिक्त और उनका कपोल सूजा हुआ दिखायी पड़ गया। वह इस दृश्य से आतंकित हो उठा। उससे चोखामेला का अपमान हुआ था। अपनी इस भूल पर पश्चात्ताप करते हुए वह भगवान् के चरणों पर गिर कर उनसे क्षमा-याचना करने लगा। तत्पश्चात् उन्होंने पुजारी को आदेश दिया कि वह चोखामेला को मन्दिर में धूमधाम के साथ आमन्त्रित कर उनके कपोल की परिचर्या करे।

पुजारी मन्दिर के अन्य ब्राह्मणों को ले कर दौड़ा-दौड़ा चोखामेला के घर गया जहाँ उसने सबके साथ मन्दिर में चलने का उनसे विनयपूर्वक आग्रह किया। वह मन्दिर में गये। वहाँ भगवान् ने ब्राह्मण से जो कुछ कहा था, चोखामेला ने वही किया। उनका सूजा हुआ कपोल ठीक हो गया। भगवान् पाण्डुरंग के प्रति उनकी उत्कट भक्ति के कारण लोग उनकी अत्यधिक प्रशंसा करने लगे। पण्ढरपुर के ब्राह्मणों की प्रार्थना पर वह अपनी पत्नी के साथ जा कर पण्ढरपुर में रहने लगे। इस प्रकार भगवान् के नाम का गुण-गान करते हुए तथा भगवद्-भक्ति में अधिकाधिक तल्लीन होते हुए उन्होंने मुक्ति-लाभ किया।

अक्कलकोट स्वामी

अक्कलकोट स्वामी एक ज्ञानी पुरुष थे। वह महाराष्ट्र-स्थित अक्कलकोट में रहते थे। अपने जीवन के उत्तरार्ध में अपनी बाह्य चेतना को प्रत्यावर्तित कर लेने एवं शंकर के विशुद्ध निर्विशेष तथा निर्गुण ब्रह्म में अवस्थित हो जाने के फल-स्वरूप वह ब्रह्म-वरिष्ठ कोटि के ज्ञानी हो गये। उनमें बाह्य विषयाकार वृत्ति नहीं थी। जिस प्रकार किसी व्यक्ति को उसकी मूर्च्छितावस्था में भोजन दिया जाता है, उसी प्रकार उनको चम्मच से दूध पिलाया जाता था। वह अनजाने ही मल त्याग कर दिया करते थे जिसे लोग साफ कर दिया करते थे। दक्षिण भारत के महानतम प्रख्यात कुम्बकोणम् मौनी स्वामी की भी यही स्थिति थी। इनके जीवन के पचीस वर्ष अचेतनावस्था में ही व्यतीत हुए। उनको आराम-कुरसी पर बैठा कर भोजन कराया जाता था।

एक दरिद्र ब्राह्मण ने अपनी पुत्री के विवाह समारोह के लिए तपस्या की। उसने भगवान् गणेश को प्रसादित किया जिन्होंने उसे स्वप्न में दर्शन दे कर अक्कलकोट स्वामी के पास जाने को कहा। स्वामी जी ने उस परम्परा-निष्ठ ब्राह्मण को कुछ हड्डियाँ एकत्र करने का आदेश दिया। दरिद्र ब्राह्मण उनके इस आदेश से उद्विग्न हो उठा। किन्तु उसे धन की नितान्त आवश्यकता थी, अतः उसे स्वामी जी के आदेशानुसार कुछ हड्डियाँ एकत्र करने के लिए विवश होना पड़ा। स्वामी जी ने उसे उन हड्डियाँ को घर ले जाने को कहा। ब्राह्मण को इससे अत्यधिक निराशा हुई। जब वह घर पहुँचा, तब उसने उन हड्डियाँ को घर में न रख कर बरामदे के एक कोने में रख दिया। तीन दिन के पश्चात् उसने उन हड्डियों को फेंक देना चाहा। इसके लिए जब उसने पोटली उठायी, तब वह बहुत भारी लगी। जब उसने पोटली को खोला, तब वह यह देख कर आश्चर्य-चकित रह गया कि उसमें हड्डियों के स्थान पर सोना भरा था। ब्राह्मण ने मन-ही-मन सोचा- 'मुझसे गम्भीर भूल हो गयी है। मुझे एक ज्ञानी के शब्दों के प्रति पूर्णतः आस्थावान् होना चाहिए था। ये लोग सांसारिक लोगों के प्रति इसी प्रकार के कौतुक किया करते हैं। मुझे कुछ और हड्डियाँ एकत्र कर लेनी चाहिए थीं।' लोभ में ऐसी ही शक्ति होती है। यह तुम्हें संसार से सम्बद्ध कर देता है। शान्ति को भंग करने वाले इस लोभ को नष्ट करो और सन्तों के प्रति आस्थावान् बनो!

गोरा कुम्हार

भक्त नामदेव के जीवन काल में महाराष्ट्र में चन्द्रभागा नदी के तट पर स्थित थोडागी में गोरा कुम्हार नामक एक सन्त रहते थे।

उनका पूर्व-नाम दिरकाबाथार (Dirkabathar) था। उन्होंने भगवान् के आदेशानुसार वैराग्य के माध्यम से आध्यात्मिक ज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए एक कुम्भकार परिवार में जन्म-ग्रहण किया था। उनके भाई का नाम एत्रन्ना (Ettranna) था। इन दोनों ने किशोरावस्था में ही पण्ढरपुर के गुरु वीरसेगर दासर (Veerasegara Dasar) से भगवद्भक्ति-मार्ग की दीक्षा ग्रहण कर ली। कुछ दिनों के पश्चात् गोरा कुम्हार ने पद्मावती नामक एक कन्या से विवाह कर लिया। ये सभी साथ-साथ रहते हुए भगवान् की भक्ति तथा नाम-स्मरण में तन्मय रहते थे। गोरा कुम्हार मृत्तिकापात्र के विक्रय से प्राप्त धन से जीवन-यापन करते थे।

एक दिन दोनों भाई पात्रों को आँवे में परिपक्व करने में व्यस्त थे। उसी समय एक बिल्ली अपने शावक के साथ आँवे के आस-पास घूमने लगी। दुर्भाग्य से शावक आँवे में गिर कर जल मरा। अपनी सन्तान से इस प्रकार वंचित हो कर बिल्ली भट्टे के चारों ओर घूमने लगी; किन्तु अन्ततः निराश हो कर बाहर चली गयी। इस घटना की ओर एत्रन्ना का ध्यान आकृष्ट हो चुका था। अपनी भूल तथा असावधानी के लिए पश्चात्ताप करते हुए एत्रन्ना ने प्रायश्चित्त के लिए तीर्थाटन पर जाने का निश्चय कर लिया। उन्होंने अपने इस निश्चय की सूचना अपने भाई को दे दी और अपने परिवार को थोडागी में छोड़ कर तीर्थाटन पर निकल पडे।

अपने हाथ अपने पैतक कर्म को तथा हृदय भगवान को अर्पित कर गोरा कुम्हार प्रति दिन कुम्भकार के चाक के पास बैठ कर अपने व्यवसाय में संलग्न रहते थे। एक दिन उनका अल्पवयस्क पुत्र अपने पिता के पास जाने के लिए घुटनों के बल चलते हुए गतिमान चाक के पास जा पहुंचा। पद्मावती कुछ ही क्षण पूर्व घर से कहीं बाहर चली गयी थी। गोरा कुम्हार ने भी अपनी ओर आते हुए बालक की ओर ध्यान नहीं दिया। उधर बालक लुढ़क कर चाक की चपेट में आ गया जिसके फल-स्वरूप उसका शरीर शत-शत खण्डों में विभक्त हो गया। बाहर से लौटने पर पद्मावती ने इस लोमहर्षक दृश्य को देखा; किन्तु गोरा कुम्हार इस घटना से अनभिज्ञ ही रहे। पद्मावती के कारुणिक रुदन तथा उसकी चीत्कार से जब उनकी चेतना जाग्रत हुई, तब उन्होंने देखा कि उनके पुत्र का शरीर अनेक खण्डों में विक्षत हो चुका है। पद्मावती ने उनको इस बात के लिए बहुत भला-बुरा कहा कि उन्होंने अपनी ओर अग्रसरण करते हुए बालक की ओर ध्यान भी नहीं दिया था। इससे क्रुद्ध हो कर गोरा कुम्हार ने चाक द्वारा उसकी हत्या

करनी चाही। उसी क्षण पद्मावती ने उच्च स्वर में उनसे कहा- "तुम्हें अपने भगवान् पाण्डुरंग की शपथ है कि भविष्य में तुम कभी भी मेरा स्पर्श न करना।" ये शब्द गोरा कुम्हार के क्रोध को शान्त करने के लिए पर्याप्त थे। वह चाक को यथा-स्थान रख कर अपने पुत्र के शतशः खण्डित शव को ले कर दाह-संस्कार के लिए श्मशान की ओर चले गये वहाँ से लौट कर अपने कर्म में पूर्ववत् संलग्न हो गये; किन्तु उस दिन से उन्होंने अपनी पत्नी का स्पर्श कभी नहीं किया। इतना ही नहीं, उन्होंने उसके निकट जा कर अपने लिए कुछ करने के लिए भी कभी नहीं कहा। अपने पति को इस कठोर व्रत के अनुपालन में संलग्न देख कर पद्मावती को अपने उन शब्दों से अत्यधिक ग्लानि हुई जिन्होंने उनको पूर्णतः परिवर्तित कर दिया था।

पद्मावती को अपनी भूल पर अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ। उसे सन्तान की कामना थी। अतः उसने गोरा कुम्हार से अपनी बहन पंकजाक्षी के विवाह का निश्चय कर लिया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने अपने माता-पिता के सहयोग से गोरा कुम्हार को पंकजाक्षी से विवाह करने के लिए उत्प्रेरित किया; किन्तु उन्होंने किसी की एक न सुनी। अन्ततः वे लोग उनके गुरु वीरसेगर (Veerasegarar) के यहाँ गये जिन्होंने गोरा कुम्हार को उस कन्या से विवाह करने का आदेश दिया। गोरा कुम्हार ने भी पंकजाक्षी से अपने विवाह के प्रस्ताव के प्रति अपनी सहमति व्यक्त कर दी। विवाह के पश्चात् पंकजाक्षी के पिता ने गोरा कुम्हार को अपनी दोनों पत्नियों के प्रति निष्पक्ष व्यवहार का परामर्श दिया। उनका यह परामर्श गोरा कुम्हार के लिए सौभाग्य तथा पद्मावती के लिए दुर्भाग्य सिद्ध हुआ। गोरा कुम्हार पंकजाक्षी के प्रति वही व्यवहार करने लगे जो व्यवहार वह अपने इस विवाह के पूर्व पद्मावती के प्रति करते थे। इसका तात्पर्य यह है कि वह अपनी किसी भी पत्नी का स्पर्श नहीं करते थे।

इस प्रकार के वियोग के दंश को सहन करने में असमर्थ उन दोनों बहनों ने एक ऐसी युक्ति सोची जिससे गोरा कुम्हार को उनके स्पर्श के लिए विवश होना पड़ता और इस प्रकार उनसे उन दोनों के बीच का व्यवधान समाप्त हो जाता। एक रात जब गोरा कुम्हार प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न थे, दोनों बहनों ने अपनी चारपाइयाँ उनकी चारपाई के दोनों ओर लगा दीं। कुछ क्षणों के पश्चात् उन्होंने उनका एक-एक हाथ अपने शरीर पर रख लिया। जागने पर गोरा कुम्हार ने देखा कि उनके हाथ उनकी दोनों पत्नियों के शरीर पर पड़े हुए हैं। इसे अपना घोर तथा जघन्य अपराध मानते हुए उन्होंने अपनी शय्या का परित्याग कर बिना किसी हिचक के छुरे से अपने दोनों हाथ काट डाले। संकट की उस घड़ी में गोरा कुम्हार की दशा से अवगत स्वयं पाण्डुरंग उनके भाई एन्त्रन्ना के छद्मवेश में गोरा कुम्हार के घर जा पहुँचे। अपने हाव-भाव से उन्होंने यही प्रदर्शित किया मानो वे तीर्थयात्रा के पश्चात् घर लौटे हों। घटना स्थल पर जा कर उन्होंने जो कुछ देखा, वह एक भयंकर विभीषिका थी जो उनके लिए असहनीय थी। फिर भी उन्होंने अपने भाई तथा असमंजस-ग्रस्त एवं दुःखातिरेक से अभिभूत उनकी दोनों पत्नियों को सान्त्वना प्रदान की। उस दिन से भगवान् एत्रन्ना के छद्मवेश में गोरा कुम्हार की सेवा इस विधि से करने लगे कि गोरा कुम्हार को न तो अपने हाथों के कट जाने का कोई दुःख हुआ, न ही उनको अपने शपथ-भंग की आवश्यकता की अनुभूति हुई।

एक दिन भक्त नामदेव भगवान् के पूजन के लिए मन्दिर में गये; किन्तु उन्होंने विग्रह में भगवान् पाण्डुरंग को अनुपस्थित पाया। गहन ध्यान के पश्चात् उन्हें ज्ञात हुआ कि भगवान् एत्रन्ना के छद्मवेश में गोरा कुम्हार के घर में विद्यमान हैं। उधर पण्ढरपुर में होने वाले उत्सव की तिथि निकट आती जा रही थी; अतः नामदेव अपने अनुयायियों के साथ गोरा कुम्हार के घर इस उद्देश्य से पहुँचे कि वह उक्त उत्सव के अवसर पर भगवान् को वहाँ ले जा कर उनको उनके आसान पर अधिष्ठित कर सकें। गोरा कुम्हार के घर पहुँच कर नामदेव ने उनकी तथा गोरा कुम्हार की चरण-वन्दना की। भगवान् ने भी इस उद्देश्य से नामदेव की चरण-वन्दना की कि अन्य लोगों के समक्ष उनका यथार्थ रूप अनावृत न हो जाये। नामदेव के आमन्त्रण को स्वीकार कर भगवान् ने पण्ढरपुर जाने के लिए अपनी सहमति प्रदान कर दी। तत्पश्चात् नामदेव पण्ढरपुर लौट गये। एत्रन्ना भी, जो छद्मवेश में स्वयं भगवान् ही थे, गोरा कुम्हार तथा उनके परिवार को ले कर उत्सव में सम्मिलित होने के लिए पण्ढरपुर पहुँचे गये। उस समय वहाँ भक्त नामदेव कीर्तन कर रहे थे। गोरा कुम्हार भी अपनी पत्नियों के साथ कीर्तन में सम्मिलित हो गये। जब वह कीर्तन में

पूर्णतः तल्लीन हो गये, तब वहाँ एकत्र सभी लोगों ने आश्चर्यचकित हो कर देखा कि उनके हाथ उनके शरीर से पूर्ववत् संयुक्त हो गये हैं। तत्पश्चात् वह अपनी पत्नियों के साथ पाण्डुरंग के विग्रह के पास गये जहाँ उनका मृत पुत्र रहस्यमय विधि से उनसे आ मिला। वह भगवान् के चरणों की ओर से घुटनों के बल चलते हुए उनकी ओर स्वयं चला आ रहा था। गोरा कुम्हार अपने गुरु वीरसेगरर को जो वचन दे चुके थे, उनकी रक्षा के लिए वह अपनी दोनों पत्नियों तथा पुत्र के साथ थोडागी जा कर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे।

ज्ञानदेव

महाराष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति सन्त ज्ञानेश्वर के नाम से परिचित है। वह एक जन्मजात सिद्ध तथा उच्च कोटि के योगी थे। पञ्च-महाभूत उनके वशवर्ती थे। उनकी कृति 'ज्ञानेश्वरी' मराठी-साहित्य की चूड़ामणि है। अकृत्रिम शैली, सुरुचिपूर्ण उद्धरणों तथा उपयुक्त उपमाओं ने इस कृति को आकर्षक, सम्मोहक तथा अत्यधिक उपादेय बना दिया है। हिन्दी भाषा-भाषी लोगों के हृदय में जो स्थान तुलसीकृत 'रामचरितमानस' का है, वही स्थान महाराष्ट्रियों के हृदय में 'ज्ञानेश्वरी' का है। ज्ञानदेव कुछ ही वर्षों तक जीवित रहे; किन्तु इस अल्पावधि में ही उनसे अनेक चमत्कारपूर्ण कृत्यों का निष्पादन होता रहा। वह प्रचण्ड मेधा के स्वामी, गहन आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त योगी तथा उच्चतम कोटि के सन्त थे। वह अपने पूर्ववर्तियों की निर्भीक आलोचना करते थे। वह एक महान् सामाजिक और धार्मिक सुधारक थे। महाराष्ट्र में महान् भक्ति-आन्दोलन का सूत्रपात उन्होंने ही किया था। वह एक उत्कृष्ट कवि थे।

महान् सन्तों, पैगम्बरों तथा जगद्गुरुओं के जीवन-वृत्त, उनका उद्भव तथा उनके जीवन से सम्बद्ध अन्यान्य विवरण अत्यधिक विलक्षण तथा रहस्यमय होते हैं। ज्ञानदेव एक संन्यासी के आत्मज थे। मेरी के गर्भ में भगवान् ईसा का जन्म एक निष्कलंक गर्भधारण की घटना के परिणाम-स्वरूप हुआ था। वह एक काष्ठ-तक्षक (बढ़ई) के पुत्र थे। उनका जन्म किसी राजप्रासाद में न हो कर एक अश्वशाला या अन्ध कक्ष में हुआ था जहाँ मात्र कुछ घास-फूस पड़ा हुआ था। कबीर एक जुलाहे की सन्तान थे जिन्हें एक सरोवर के निकट पाया गया था। शंकर कालडि के एक निर्धन बालक थे।

ज्ञानदेव, जिन्हें कभी-कभी ज्ञानेश्वर भी कहा जाता है, की गणना महाराष्ट्र के प्राचीन सन्तों में की जाती है। वह तथा मुकुन्दराव महाराष्ट्र में भक्ति-पन्थ के प्रवर्तक थे। मुकुन्दराव वयःश्रेष्ठ थे तथा उन दोनों के जीवन-काल के बीच लगभग सौ वर्षों का अन्तराल था।

तेरहवीं शताब्दी में अपेगाँव में गोविन्द पन्त नामक एक ग्राम्य लेखाकार रहते थे। उनके एकमात्र पुत्र का नाम विठ्ठल पन्त था। यही विठ्ठल पन्त ज्ञानदेव के पिता थे। विट्ठल पन्त बाल्यावस्था से ही धर्म-परायण थे। विषयों के प्रति उनकी आसक्ति नहीं थी। पवित्र स्थानों की तीर्थयात्रा उनको रुचिकर लगती थी। वह संस्कृत के गम्भीर विद्वान् थे और आत्म-साक्षात्कार उनके हृदय का अभीप्सित विषय था। उनमें संन्यास-दीक्षा ग्रहण की बलवती कामना थी।

विठ्ठल पन्त का विवाह आलन्दी के श्रीधर पन्त की पुत्री रुक्माबाई से हुआ। आलन्दी पुणे से बारह मील दूर है। यहाँ ज्ञानदेव का समाधि-स्थल है।

विठ्ठल पन्त के मन में सांसारिक जीवन के प्रति वितृष्णा थी। वह एक बार तीर्थयात्रा पर गये। वहाँ से आलन्दी लौटने पर वह संन्यास लेने की बात सोचने लगे; किन्तु उनकी पत्नी तथा उनके श्वसुर नहीं चाहते थे कि वह संन्यास लें।

विठ्ठल पन्त ने वाराणसी जा कर श्रीपाद यति (रामानन्द स्वामी) से संन्यास-दीक्षा ले ली। यह सुन कर कि उसके पति जीवन के चतुर्थ आश्रम में प्रविष्ट हो गये हैं, रुक्माबाई शोकाकुल हो गयीं। उन्होंने सर्वान्तःकरण से भगवान् से अपने

पति से पुनर्मिलन की प्रार्थना की। एक बार विठ्ठल पन्त के गुरु रामेश्वरम् जाते हुए आलन्दी में रुके। रुक्माबाई ने उनके पास जा कर उनको साष्टांग प्रणाम किया। यति ने उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा- "तुम्हें आठ पुत्रों की जननी होना है।"

रुक्माबाई फूट-फूट कर रोने लगी। यति ने कहा- "भद्रे, तुम सौभाग्यवती हो। मैं तुम्हारे दुःख का कारण जानना चाहता हूँ।" तब रुक्माबाई ने उनके समक्ष सारी बातें स्पष्ट कर दीं।

यति ने सोचा कि जिस युवक को उन्होंने संन्यास आश्रम में दीक्षित किया है, वही इस स्त्री का पति होगा। रामेश्वरम्-यात्रा का कार्यक्रम स्थगित कर वह वाराणसी लौट गये। वहाँ अपने शिष्य को डाँटते हुए उन्होंने कहा- "तुम गृहस्थाश्रम में लौट कर अपनी पत्नी के साथ सुखमय जीवन व्यतीत करो। वह तुम्हारी सेवा करना चाहती है। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ रहेगा।"

गुरु के आदेश को शिरोधार्य कर विठ्ठल पन्त आलन्दी लौट आये और रुक्माबाई के साथ रहने लगे। आलन्दी के रूढ़िग्रस्त ब्राह्मणों ने उन्हें तथा उनकी पत्नी को जाति-बहिष्कृत कर दिया। उनका कहना था- "संन्यास-ग्रहण कर पुनः दाम्पत्य जीवन व्यतीत करना शास्त्र-सम्मत नहीं है।" किन्तु, विठ्ठल पन्त का विचार था कि गुरु के आदेशानुसार वह जो-कुछ भी कर रहे हैं, उचित है।

इस बीच विठ्ठल पन्त तथा रुक्माबाई की चार सन्तानें हुईं। निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपान तथा मुक्ताबाई- इन चारों का जन्म क्रमशः १२७३ ई., १२७५ ई., १२७७ ई. तथा १२७९ ई. में हुआ। इनमें निवृत्ति को शिव का, ज्ञानदेव को हरि का, सोपान को ब्रह्मा का एवं मुक्ताबाई को सरस्वती का अवतार कहा जाता है।

एक बार विठ्ठल पन्त अपने आत्मजों के साथ नासिक के निकट गोदावरी नदी के उद्गम के प्रतिवेश में स्थित त्र्यम्बकेश्वर जा रहा थे। जब वे ब्रह्मगिरि पर्वत के निकट पहुँचे, तब मार्ग में उनको एक शेर मिल गया। विठ्ठल पन्त तो अन्य लोगों को ले कर वहाँ से बच निकले; किन्तु निवृत्तिनाथ वहीं रह गये। वह गहनीनाथ की गुहा में प्रविष्ठ हो गये। गहनीनाथ ने निवृत्ति को योग के रहस्यों में दीक्षित कर उन्हें अपनी समस्त आध्यात्मिक सम्पदा प्रदान कर दी।

निवृत्ति ने गहनीनाथ का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। गहनीनाथ गोरखनाथ के शिष्य थे और गोरखनाथ को मत्स्येन्द्रनाथ ने दीक्षित किया था। मत्स्येन्द्रनाथ को स्वयं भगवान् शिव से देशना की सम्प्राप्ति हुई थी। निवृत्ति तथा ज्ञानदेव ने अपने पिता के संरक्षण में वेदाध्ययन किया। आध्यात्मिक ग्रन्थों के अनुशीलन में उनकी प्रगति स्तुत्य थी।

आलन्दी से लौटने पर विठ्ठल पन्त को ब्राह्मणों ने जाति-बहिष्कृत कर दिया। उनको तथा उनके परिवार को निर्ममतापूर्वक अभिशंसित-अपमानित किया गया। ग्राम के अन्य बालक उनके बालकों के साथ नहीं खेलते थे।

जब चारों पुत्र कौमार्यावस्था को प्राप्त हुए, तब उनके माता-पिता को उनका यज्ञोपवीत-संस्कार करने की इच्छा हुई; किन्तु ब्राह्मणों ने उस संस्कार के निष्पादन में स्पष्ट शब्दों में अपनी अस्वीकृति व्यक्त कर दी। उन्होंने कहा- "किसी संन्यासी को वैवाहिक जीवन नहीं व्यतीत करना चाहिए। उसके पुत्र का यज्ञोपवीत-संस्कार शास्त्रानुमोदित नहीं है। संन्यासी के आत्मज यज्ञोपवीत धारण के अधिकार का उपभोग नहीं कर सकते। उनकी गणना ब्राह्मणों में नहीं की जा सकती। तुम तथा तुम्हारी पत्नी दोनों ने शास्त्रों के पवित्र विधान का उल्लंघन किया है। तुम दोनों के लिए एकमात्र प्रायश्चित्त यही है कि तुम लोग प्रयाग की त्रिवेणी में जा कर प्राण त्याग करो।"

विठ्ठल पन्त तथा रुक्माबाई ने प्रयाग जा कर गंगा-यमुना के संगम पर प्राण-विसर्जन कर दिया। उन्होंने सोचा था कि इससे ब्राह्मण उनके पुत्रों पर दया कर उनका यज्ञोपवीत-संस्कार सम्पन्न करवा देंगे। उस समय निवृत्ति, ज्ञानदेव तथा कनिष्ठ पुत्र की आयु क्रमशः लगभग दश, आठ तथा पाँच वर्ष थी।

ज्ञानदेव अपने माता-पिता की इच्छा पूर्ति के लिए यज्ञोपवीत धारण के लिए अत्यन्त उत्सुक थे। उन लोगों ने इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए अपने प्राण विसर्जित किये थे। वह पुनः आलन्दी के ब्राह्मणों के पास गये। इस बार इन निराश्रित बालकों की दशा पर उनको दया आ गयी। उन लोगों ने उनसे कहा- "तुम लोग पैठण जा कर वहाँ के कृतविद्य ब्राह्मणों से एक अनुमोदन-पत्र ले आओ। इसके पश्चात् हम लोग तुम्हारा यज्ञोपवीत-संस्कार कर देंगे।"

बालकों ने पैठण जा कर वहाँ के शास्त्रविद् ब्राह्मणों के समक्ष वेद-पाठ किया। ब्राह्मणों ने कहा- तुम लोग वेद-पाठ के अधिकारी नहीं हो; अतः वेद-पाठ मत करो। तुम लोग उस संन्यासी के पुत्र हो जो गृहस्थाश्रम में पुनः लौट आया था।"

ज्ञानदेव ने कहा- "कोई भी व्यक्ति वेद-पाठ कर सकता है। यहाँ तक कि यह भैंसा भी वेद-पाठ कर सकता है।" इतना कह कर उन्होंने भैंसे की पीठ पर अपना हाथ रख दिया और वह भैंसा एक घण्टे तक वेद-पाठ करता रहा। आश्चर्य तो यह है कि उन बालकों के वेद-पाठ को जिस स्थान पर रोक दिया गया था, भैंसे ने उसी स्थल से वेद-पाठ का प्रारम्भ किया था। उसका वेद-पाठ लय तथा स्वर-शैली के दृष्टिकोण से सर्वथा निर्भान्त था।

इस चमत्कार को देख कर ब्राह्मण स्तब्ध रह गये। उन्होंने कहा- "ये सामान्य बालक न हो कर शंकर, विष्णु तथा ब्रह्मा के साक्षात् अवतार हैं।" वास्तव में वे बालक जन्मजात सिद्ध थे। यद्यपि ब्राह्मणों ने बालकों की महानता को स्वीकार कर लिया, तथापि उन्होंने उनका यज्ञोपवीत-संस्कार करना स्वीकार नहीं किया। उस भैंसे का देहान्त पुणे जनपद के अले (Ale) नामक स्थान पर हुआ था। वहाँ उसकी समाधि है जिसे आज भी देखा जा सकता है।

पैठण में रह कर उन बालकों ने वहाँ के लोगों को गीता की शिक्षा दी। वहाँ ज्ञानदेव से अनेक चमत्कार हुए। एक ब्राह्मण को अपने मृत पिता को पिण्ड-दान देना था; किन्तु ब्राह्मण उस समारोह में सम्मिलित नहीं हुए। तब ज्ञानदेव ने उसके पितरों को स्वर्ग से पृथ्वी पर बुला लिया। उन्होंने सच्चिदानन्द पावा नामक एक मृत व्यक्ति को पुनर्जीवित कर दिया।

ज्ञानदेव ने तेरह वर्ष की अल्पायु में ही गीता पर 'ज्ञानेश्वरी' नामक एक अप्रतिम भाष्य की रचना की। इस भाष्य के लेखन का समापन जनपद अहमदनगर में प्रवरा (Pravara) नदी के तट पर स्थित नेवासा (Nevasa) में हुआ था। इस भाष्य की गणना गीता के सर्वश्रेष्ठ भाष्यों में की जाती है। वाराणसी में संस्कृत के पण्डितों की एक बृहद् सभा में ज्ञानदेव को उसका अध्यक्ष निर्वाचित किया गया।

निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान तथा मुक्ताबाई ने पण्ढरपुर, प्रभास, द्वारका, अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, वाराणसी, कांची, उज्जैन, तिरुपति, रामेश्वरम्, मदुरै, गोकर्ण तथा अन्य पवित्र स्थलों की तीर्थयात्रा की। उनकी इस तीर्थयात्रा में उन्हें नामदेव के साहचर्य का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ।

'ज्ञानेश्वरी' गीता के लेखन की समाप्ति के पश्चात् ज्ञानदेव लगभग छह वर्ष तक जीवित रहे।

ज्ञानदेव प्रख्यात सन्त चांगदेव से भी मिले जो काल की अवज्ञा करते हुए अपनी योग-शक्ति से चौदह सौ वर्षों तक जीवित रहे। वह वटेश्वर में रहा करते थे। उनको अपनी यौगिक सिद्धियों पर बहुत गर्व था। उन्हें भूत-सिद्धि थी अर्थात् समस्त जीवित प्राणी उनके वशवर्ती थे। वह शेर पर सवार हो कर हाथ में सर्प का चाबुक लिये चला करते

थे। वह ज्ञानदेव को देखने को उत्सुक थे। एक बार वह अनेक शिष्यों के साथ शेर पर सवार हो कर हाथ में सर्प का चाबुक लिये उनके दर्शनार्थ चल पड़े। ज्ञानदेव और उनके भाइयों ने उन्हें अपनी ओर धूमधाम से आते हुए देखा। उस समय ज्ञानदेव एक दीवार पर बैठे हुए थे। उन्होंने दीवार को आदेश दिया कि वह अग्रसरण करे जिससे वह चांगदेव का स्वागत कर सकें।

चांगदेव ज्ञानदेव के इस चमत्कार के स्वयं साक्षी थे। वस्तुतः इससे उनको अवमानित होना पड़ा था। उन्होंने शान्त भाव से शेर से नीचे उतर कर ज्ञानदेव को साष्टांग प्रणाम किया और उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया।

चांगदेव चौदह सौ वर्ष के एक वृद्ध पुरुष थे; किन्तु चतुर्दश वर्षीया बाला मुक्ता ने उनसे कहा- "चांगदेव, सुनो, यदि तुम मुक्त होना चाहते हो, तो सर्वप्रथम तुम्हें निष्कपट भक्ति की साधना करनी होगी। तुम्हें भक्ति से वैराग्य और वैराग्य से ज्ञान प्राप्त होगा। अतः ज्ञान तुम्हारा लक्ष्य और भक्ति इस लक्ष्य-सिद्धि का माध्यम होना चाहिए।"

महाभूतो पर ज्ञानदेव का पूर्ण नियन्त्रण था। पाकशाला में जब कभी पात्राभाव हो जाता था, तब उनकी बहन उनकी पीठ पर रोटियाँ सेक लिया करती थी। ज्ञानदेव को भगवान् कृष्ण का अवतार माना जाता है।

निवृत्ति ज्ञानदेव के वास्तविक गुरु थे। उन्होंने ज्ञानदेव को एक ऐसे स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना का आदेश दिया जिसमें उनके ज्ञान-सम्बन्धी समस्त अनुभवों का समावेश हो। इस आदेश का पालन करते हुए ज्ञानदेव ने 'अमृतानुभव' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसकी आठ सौ द्विपदियों में उनके उच्चतम आध्यात्मिक अनुभव सन्निहित हैं।

ज्ञानदेव ने अपने मित्रों तथा भाइयों के समक्ष जीते-जी समाधि (संजीवनी समाधि) लेने की इच्छा व्यक्त कर दी। बाईस वर्ष की आयु में १२९६ ई. के अक्तूबर मास के लगभग अन्त में कार्तिक के कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी तिथि को आलन्दी में उन्होंने अपनी इस इच्छा की पूर्ति भी कर ली।

उन्होंने अपने प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र में केन्द्रित कर अपने भौतिक शरीर का परित्याग कर दिया। यदि कोई उनकी समाधि के पार्श्व में उनकी गीता को पढ़ ले, तो उसे अपनी सभी शंकाओं का समाधान प्राप्त हो जायेगा।

इसके पश्चात् आठ महीने की अल्पावधि में ही उनके अन्य भाइयों तथा उनकी बहन ने भी अपने शरीर का परित्याग कर दिया। सोपान ससवाड (Saswad) में करहा (Karha) नदी के तट पर समाधिस्थ हुए। यह स्थान पुणे के निकट पण्ढरपुर की पहाड़ी की उपत्यका में है। चांगदेव ने पुनतम्बा नामक गाँव में समाधि ली और मुक्ताबाई ने अठारह वर्ष की आयु में स्वयं को पंच-महाभूतों में विलीन कर दिया। उस समय एक भयंकर झंझावात आया था। निवृत्ति ने गोदावरी के उद्गम पर स्थित त्र्यम्बक में समाधि ली।

इस प्रकार पाँच महान् आत्माएँ इस भौतिक संसार का परित्याग कर अपने अन्तिम गन्तव्य को प्राप्त हो गयीं। उन्होंने पचीस वर्षों की अवधि में तत्कालीन ब्राह्मणों की धर्मान्धिता को समाप्त कर उन्हें अज्ञान के अन्धकार से मुक्त किया। उनसे उन ब्राह्मणों को मुक्ति के लिए भक्ति तथा ज्ञान के सुदृढ़ माध्यम की भी सम्प्राप्ति हई। इसके अतिरिक्त उन महान् आत्माओं ने लोगों के मन में इस तथ्य को बद्धमूल कर दिया कि संसार में सभी समान हैं और मानव की महिमा-मण्डित उपलब्धियों तथा उसके उत्कर्ष का कारण संयोगवशात् किसी कुलीन परिवार में उसका जन्म-ग्रहण या मात्र वेद-वेदान्त का अध्ययन न हो कर उसका दिव्य कर्म है। दर्जी नामदेव, नामदेव की सेविका जानी, स्वर्णकार नरहरि, महार चोखामेला, नाई सेना, कुम्भकार गोरा, माली सावन्त तथा महारिन भागू- ये सभी ज्ञानदेव के अनुयायी थे। ये लोग कृष्ण के परम भक्त थे और लोग इन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे।

ज्ञानदेव वारकरी-सम्प्रदाय नामक एक संस्था के संस्थापक थे जो महाराष्ट्र में अपनी पुरातन गरिमा के साथ आज भी जीवित है। जो लोग इस सम्प्रदाय के प्रति आस्थावान् हैं, उन्हें प्रतिवर्ष आषाढ़ तथा कार्तिक मास की एकादशी को पण्ढरपुर की यात्रा करनी होती है। यदि किसी कारण ऐसा सम्भव नहीं हो पाता, तो प्रतिवर्ष कम-से-कम एक बार तो वहाँ जाना ही पड़ता है। इसे इतना पवित्र समझा जाता है कि अस्वस्थ व्यक्तियों को छोड़ कर अन्य सभी लोग आजीवन प्रतिवर्ष पण्ढरपुर की यात्रा करते हैं। यह परम्परा पीढ़ियों से चली आ रही है।

ज्ञानदेव का जीवन आप सब लोगों के लिए प्रेरणा-स्रोत बने ! 'ज्ञानेश्वरी' तथा 'अमृतानुभव' का सम्यक् अध्ययन कर आप लोग ज्ञान के उच्चतर परिमण्डल में अबाध विचरण करें! आप सबको सिद्धयोगी ज्ञानदेव का आशीर्वाद प्राप्त हो! आप सबको उनकी जयन्ती के अवसर पर आलन्दी में उनकी समाधि के दर्शन के लिए जाने का सुअवसर प्राप्त हो और आप लोग वहाँ उस सन्त के आशीर्वाद से कृतकृत्य हों जो आज भी अपने भक्तों को गुप्त रूप से अमरत्व का अमृत-पान कराया करता है!

उत्तर भारत के सन्त

गोस्वामी तुलसीदास

तुलसीदास का जन्म उत्तर प्रदेश के जनपद बाँदा-स्थित राजापुर ग्राम में संवत् १५८९ अर्थात् सन् १५३२ में हुआ था। जन्मना वे सरयूपारीण ब्राह्मण थे और उन्हें संस्कृत में रचित रामायण के रचयिता वाल्मीकि का अवतार माना जाता है। जन्म के समय उन्होंने रुदन नहीं किया था। अपने बत्तीस दाँतों के साथ ही उन्होंने जन्म-ग्रहण किया था जो पूर्णतः अक्षत थे। बाल्यावस्था में उनका नाम तुलसीराम या रामबोला था।

तुलसीदास की पत्नी का नाम बुद्धिमती (रत्नावली) तथा उनके पुत्र का नाम तारक था। अपनी पत्नी के प्रति तुलसीदास की आसक्ति असीम थी। उससे उनका एक दिन का पार्थक्य भी उनके लिए असह्य था। एक दिन उनकी पत्नी बिना उनको सूचित किये अपने पिता के घर चली गयी। तुलसीदास एक रात उसे देखने के लिए छिप कर अपने श्वसुर के घर चले गये। इससे बुद्धिमती अत्यन्त लज्जित हुई। उसने तुलसीदास से कहा- "मेरा शरीर अस्थि-चर्म से निर्मित है। मेरी इस कालुष्यमयी देह के प्रति आपको जितना प्रेम है, उसका अर्धांश भी यदि भगवान् राम के प्रति हो, तो आप संसार-सागर को पार कर अमरत्व तथा शाश्वत आनन्द प्राप्त कर लेंगे।" पत्नी के इस शब्द-बाण से वे मर्माहत हो गये। वे वहाँ एक क्षण के लिए भी नहीं रुके और गृह-त्याग कर तपस्वी हो गये। चौदह वर्षों तक वे विभिन्न पावन तीर्थ स्थलों में भ्रमण करते रहे।

शौच क्रिया से निवृत्त हो कर लौटते समय वे पात्र के शेष जल को एक वृक्ष की जड़ पर डाल दिया करते थे। उस वृक्ष पर एक प्रेत रहता था जो तुलसीदास से बहुत प्रसन्न था। उसने उनसे कहा- तुम मुझसे कोई वरदान प्राप्त करो।" तुलसीदास ने कहा- मुझे भगवान् राम का दर्शन करवा दो।" प्रेत ने कहा- तुम हनुमान् मन्दिर में जाओ। वहाँ हनुमान् रामायण सुनने के लिए एक कोढ़ी के वेश में आया करते हैं। वे वहाँ आने वालों में प्रथम और जाने वालों में अन्तिम होते हैं। उन्हीं को पकड़ो। वे तुम्हारी सहायता करेंगे।" इस परामर्श के अनुसार तुलसीदास ने हनुमान् का दर्शन किया। उनकी कृपा से उन्हें भगवान् राम के दर्शन हुए।

तुलसीदास ने बारह पुस्तकों की रचना की। इनमें सर्वाधिक प्रख्यात 'रामचरितमानस' है जिसे उन्होंने हिन्दी में लिखा था। उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना हनुमान् के निर्देशन में की। उत्तर भारत के प्रत्येक हिन्दू के घर में तुलसी-रामायण का पठन तथा पूजन अत्यन्त आदर के साथ होता है। यह एक प्रेरणाप्रद ग्रन्थ है। इसकी मधुर द्विपदियों में सौन्दर्य-मण्डित तुक तथा छन्दोबद्धता के दर्शन होते हैं। विनयपत्रिका तुलसीकृत एक अन्य महत्त्वपूर्ण रचना है।

एक बार कुछ चोर उनके आश्रम में चोरी करने के लिए आये। वहाँ उन्होंने देखा कि नील-वर्ण का एक प्रहरी हाथों में धनुष-बाण लिये आश्रम के द्वार की ओर सतर्कतापूर्वक देख रहा है। वे जहाँ-जहाँ जाते थे, वहाँ-वहाँ वह उनका अनुगमन करता था। वे भयभीत हो गये। प्रातःकाल उन्होंने तुलसीदास से पूछा- "हे पूजनीय सन्त, हम लोगों ने आपके आश्रम के द्वार पर हाथों में धनुष-बाण लिये एक युवा प्रहरी को देखा है। वह व्यक्ति कौन है?" तुलसीदास कुछ क्षणों तक मौन रहे और तत्पश्चात् रुदन करने लगे। उन्हें ज्ञात हो गया कि भगवान् राम उनकी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए स्वयं कष्ट कर रहे हैं। उन्होंने तत्क्षण अपनी सम्पत्ति निर्धनों में वितरित कर दी।

तुलसीदास कुछ दिनों तक अयोध्या में रहे। तत्पश्चात् वे वाराणसी चले गये। एक दिन एक हत्यारे ने उनसे रोते हुए कहा- "राम के प्रेम के नाम पर आप मुझे कुछ भिक्षा दीजिए। मैं हत्यारा हूँ। तुलसीदास उसे अपने घर ले आये जहाँ उन्होंने उसे भगवान् को अर्पित पावन प्रसाद दिया। उन्होंने यह भी घोषित कर दिया कि इस हत्यारे का अब

शुद्धिकरण हो गया है। इस पर वाराणसी के ब्राह्मणों ने तुलसीदास की भर्त्सना करते हुए कहा- "किसी हत्यारे को कैसे पाप-मुक्त किया जा सकता है? आप उसके साथ भोजन कैसे कर लेते हैं? यदि शिव का पवित्र वृषभ नन्दी उसके हाथों से अन्न ग्रहण कर लेगा, तो हम इस बात को स्वीकार कर लेंगे कि उसका शुद्धिकरण हो चुका है।" उस हत्यारे को मन्दिर में लाया गया जहाँ वृषभ ने उसके हाथों से अन्न ग्रहण किया। इस घटना से ब्राह्मण अत्यन्त लज्जित हुए।

तुलसीदास एक बार वृन्दावन गये। वहाँ एक मन्दिर में जा कर उन्होंने भगवान् कृष्ण की प्रतिमा देखी। उन्होंने कहा- "हे भगवान्, मैं तुम्हारे सौन्दर्य का वर्णन किस प्रकार कर सकूँगा ! जब तुम अपने हाथों से धनुष-बाण ग्रहण करोगे, तभी तुम्हारे सम्मुख तुलसी का शिर अवनत हो पायेगा।" तब भगवान् ने स्वयं को धनुष-बाण के साथ तुलसीदास के समक्ष प्रकट कर दिया।

एक बार तुलसीदास के आशीर्वाद से एक निर्धन स्त्री का मृत पति पुनर्जीवित हो गया। दिल्ली का मुगल सम्राट् तुलसीदास के इस चमत्कार से अवगत हो गया और उसने उन्हें बुलाया। राजसभा में तुलसीदास के उपस्थित होने पर सम्राट् ने उनसे किसी चमत्कार के प्रदर्शन का अनुरोध किया। तुलसीदास ने उत्तर दिया- "मुझमें कोई अलौकिक शक्ति नहीं है। मैं केवल राम का नाम जानता हूँ।" इस पर सम्राट् ने उन्हें कारागृह में डाल दिया और कहा- "जब तुम मेरे समक्ष किसी चमत्कार का प्रदर्शन कर दोगे, तब मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगा।" तब तुलसी ने हनुमान् की प्रार्थना की जिसके फल-स्वरूप शक्तिशाली बन्दरों के असंख्य समूह राजसभा में प्रविष्ट हो गये। सम्राट् भयभीत हो गया। उसने कहा- "हे सन्त, मुझे क्षमा कीजिए। मैं आपकी महानता से परिचित हो गया हूँ।" उसने तुलसी को उसी क्षण कारागृह से मुक्त कर दिया। तुलसी सन् १६२३ में इक्यानवे वर्ष की आयु में वाराणसी के असी घाट पर अपने नश्वर शरीर का परित्याग कर शाश्वत आनन्द के परमधाम में प्रविष्ट हो गये।

कबीर

कबीर का जन्म १४४० ई. में तथा उनका देहान्त गोरखपुर के निकट मगहर में सम्भवतः १५१९ ई. में हुआ। वे काशी के समीप लहरतारा जलाशय में एक कमल-पत्र पर शिशुवत् शयित पाये गये थे। वहाँ उन्हें नीरू नामक एक निःसन्तान जुलाहे ने देखा जो अपनी पत्नी नीमा के साथ एक निकटस्थ गाँव में किसी समारोह में सम्मिलित होने के लिए जा रहा था। पति-पत्नी परित्यक्त शिशु को देख कर दयार्द्र हो उठे। उसे अपने घर ला कर उन्होंने उसका पुत्रवत् पालन-पोषण किया। बालक के नामकरण के लिए एक काजी को बुलाया गया; किन्तु उसने नीरू से कहा कि यह बालक एक दुष्टात्मा है और इसकी हत्या शीघ्रातिशीघ्र कर देनी चाहिए। तभी एक चमत्कार हुआ। बालक के हृदय में एक छुरा प्रविष्ट हो गया; किन्तु रक्त का एक बिन्दु भी बाहर नहीं आया। कबीर के मुँह से एक छन्द के बोले फूटे जिससे लोगों को यह ज्ञात हो गया कि यह बालक रक्त-मांस का एक साधारण पिण्ड मात्र नहीं है। तत्पश्चात् उसे कबीर नाम से अभिहित किया गया है। अरबी भाषा में कबीर का अर्थ होता है महान्।

कबीर के माता-पिता सम्भवतः हिन्दू थे; किन्तु एक दत्तक पुत्र के रूप में उनका पालन-पोषण इसलामी संस्कारों के अनुरूप हुआ। कहा जाता है कि वे एक विधवा ब्राह्मण कन्या के पुत्र थे जिसने स्वयं को लज्जामुक्त करने के लिए शिशु को जलाशय के पास रख दिया था। किन्तु कबीर अपने एक पद में इस धारणा का खण्डन करते हुए कहते हैं कि वे अज हैं और वे कभी गर्भस्थ नहीं रहे (देखिए, मैकोलिफ लिखित "सिख रेलीजन", पृष्ठ १२२)। निराहार रहते हुए भी कबीर का शरीर बार्धक्य को प्राप्त होता रहा जिसके फल-स्वरूप नीरू तथा नीमा चिन्तित रहने लगे। इसके पश्चात् कबीर एक बछड़े का दूध पीने लगे। वह बछड़ा प्रतिदिन एक चमत्कारिक विधि से दूध दिया करता था।

कबीर का जीवन रहस्य से आवृत रहा। हमें उनके प्रारम्भिक प्रशिक्षण तथा जीवन-वृत्त के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। उनके आत्मकथ्यात्मक विवरणों से भी जो-कुछ ज्ञात होता है, वह अपर्याप्त है। इस तथ्य के अतिरिक्त कि वे एक जुलाहे थे, कि वे निर्धन माता-पिता की सन्तान थे, कि सिकन्दा लोधी के शासन-काल में उनकी कर्म-भूमि काशी रही, कि वे महान् धार्मिक सुधारक रामानन्द के शिष्य थे और कि वे कुछ ऐसे शिष्यों के गुरु रहे जिन्होंने प्रचुर ख्याति अर्जित की, हम कबीर के विषय में साधिकार कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं हैं।

अपनी बाल्यावस्था के प्रारम्भिक चरण से ही कबीर की प्रवृत्ति धर्मोन्मुख रही। उनका स्वभाव मननशील था। उनकी मनोदशा प्रायः रहस्यात्मक हो जाया करती थी। अपनी बाल्यावस्था में ही वे साधुओं से ईश्वर-सम्बन्धी वाद-विवाद किया करते थे। वे साधु-सन्तों का आदर-सत्कार आत्यन्तिक भक्ति तथा श्रद्धा के साथ करते थे। नीरू ने उनका विवाह कर दिया था; किन्तु गृह-परिवार के प्रति वे सदा विरक्त ही रहे। वे पावन पुरी काशी में विचरण किया करते थे। उनके जीविकोपार्जन का स्रोत करघा था।

कबीर की दीक्षा

कबीर बहुत दिनों तक गुरु-कृपा से वंचित रहे। वे रामानन्द से दीक्षित होना चाहते थे; किन्तु उन्हें यह सन्देह था कि उनके मुसलमान होने के कारण सम्भवतः वे उन्हें शिष्य के रूप में ग्रहण न करें। एक दिन उन्होंने स्वयं को गंगा-घाट की सीढ़ियों पर छिपा लिया। रामानन्द प्रति दिन प्रातः स्नान के लिए उन्हीं सीढ़ियों से हो कर घाट पर पहुँचते थे। पूर्ववत् उस दिन भी महान् उपदेशक रामानन्द वहाँ स्नान के लिए आये। अन्धकार में उन्होंने सीढ़ियों पर लेटे कबीर को नहीं देखा और उनके वक्षस्थल पर अपना पैर रख दिया; किन्तु जैसे ही उन्हें ज्ञात हुआ कि उन्होंने किसी व्यक्ति को पद-मर्दित कर दिया है. वे राम-राम बोल उठे। कबीर उठ खड़े हुए। उन्होंने कहा- "अन्ततः मैंने उन्हें पा ही लिया।" रामानन्द के चरणों पर गिर कर उन्होंने कहा- "आपने मुझे दीक्षा-मन्त्र दिया है और अब मैं आपका शिष्य हूँ। रामानन्द उनके निष्कपट भाव तथा भक्ति से स्तब्ध रह गये और उन्होंने कबीर को अपने शिष्य के रूप में ग्रहण कर लिया।

कबीर के गुरु तत्कालीन प्रख्यात मुल्लाओं तथा ब्राह्मणों से धर्म तथा सर्जन पर वाद-विवाद किया करते थे। इन वाद-विवादों में कबीर भी सम्मिलित होने लगे। एक बार तर्क-शास्त्र-कुशल सर्वजित नामक एक बाह्यण काशी आया। काशी के पण्डितों ने रामानन्द को उस सुविज्ञ ब्राह्मण के आगमन की सूचना देते हुए कहा कि उस बहुश्रुत ब्राह्मण को अभी तक कोई भी पण्डित परास्त नहीं कर सका है। रामानन्द ने उसके साथ वाद-विवाद के लिए कबीर को भेजा। उस रूढ़िवादी पण्डित ने कबीर से पूछा- "कबीर, तुम्हारी जाति क्या है?" कबीर ने कहा- "मैं एक जुलाहा हूँ।" उस दम्भी पण्डित ने उन्हें घृणास्पद दृष्टि से देखते हुए उनसे अवज्ञा-मिश्रित स्वरों में पूछा कि 'जुलाहा क्या होता है।'

कबीर ने कहा- "जुलाहे का रहस्य कोई नहीं जानता। भगवान् ने समूचे संसार का ताना बुना है। वेद-पुराणों का श्रवण करो। तब तुम्हें भगवान् की यह वाणी सुनायी पड़ेगी - 'मेरा ताना बहुत लम्बा-चौड़ा है। पृथ्वी और आकाश मेरी कार्यशाला है। सूर्य और चन्द्र बारी-बारी से गति करें-मैंने इसकी व्यवस्था कर रखी है।' ऐसे जुलाहे से मैं प्रसन्न हूँ।"

कबीर नानक के सदृश थे। हिन्दू तथा मुसलमान, दोनों के लिए वे समान भाव से प्रिय थे। उनका किसी एक धर्म तथा एक राष्ट्र से कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा। वे सार्वभौम भ्रातृत्व के मसीहा थे और जातिगत विधि-निषेध का अनुपालन नहीं करते थे। उनकी आस्था हिन्दुत्व तथा इसलाम के उच्चतर समन्वय के प्रति थी। वे इस सत्य से सुपरिचित थे कि धर्म, अध्यात्म, प्रेम, भक्ति तथा दिव्य जीवन पर किसी धर्म-विशेष का आधिपत्य नहीं है और वे सर्वनिष्ठ हैं। कबीर का धर्म सहज तथा अकृत्रिम था। उनके लिए एकमात्र ईश्वर-भक्ति ही मुक्ति की माध्यम थी। विश्व

कबीर का घर, समस्त मानव-जाति उनका बन्धु तथा स्वर्गस्थ पिता (ईश्वर) उनका महान् पिता था। कबीर ने कठोर तप तथा ध्यान के लिए संसार-त्याग नहीं किया। उनके योग में गत्यात्मकता थी। करघा चलाते समय भी उनका ध्यान सर्वदा ईश्वर पर केन्द्रित रहता था।

कबीर के प्रति बहुसंख्यक लोग आकृष्ट होने लगे। इनमें से अनेक उनके शिष्य हो गये। वे उनके मधुर, आत्मोत्प्रेरक तथा उत्कृष्ट पदों के लिए उनकी तन्तुशाला या हाट-बाजार में उनके पास एकत्र हो जाते। पैगम्बरों तथा सन्तों के कार्य-कलाप रहस्यमय होते हैं। उनके उपदेशों में अनावश्यक शब्द-बाहुल्य नहीं होता। केवल ज्ञानी जन ही उनसे लाभान्वित हो सकते हैं। एकमात्र यही लोग उन उपदेशों के तत्त्व-ग्रहण में समर्थ होते हैं। कबीर मानव-मानव के बीच एकत्व-स्थापन के लिए प्रयत्नशील रहे। वे विभिन्न मले में पारस्परिक सौहार्द्र के लिए भी प्रयासरत रहते थे। काशी के रूढ़िवादी ब्राह्मणों ने उन्हें पराभूत करने के अथक प्रयत्न किये। उन्होंने उन्हें प्रलोभित करने के लिए उनके पास एक सुन्दर तथा युवती गणिका को भेजा; किन्तु कबीर की आध्यात्मिक शक्ति के कारण बाइबिल की कथा की मैगडेलेन (Magdalene) की भाँति उसका स्वभाव भी रूपान्तरित हो गया।

'कबीर निर्गुण भक्ति के प्रतिपादक थे। उनके हृदय में सर्वभूतों के प्रति आत्यन्तिक प्रेम था। वे अत्यधिक दयालु तथा संवेदनशील थे। उनमें भय नहीं था। उन्होंने किसी से अपने अनुगमन का आग्रह-अनुरोध नहीं किया। वे अपने पदों का सस्वर पाठ करते हुए सम्पूर्ण देश का पर्यटन करते रहे। उन्होंने औपचारिकता तथा कर्मकाण्ड की भर्त्सना और रूढ़िग्रस्त विचारों की कटु आलोचना की। वे एक सामाजिक क्रान्तिकारी थे और उन्होंने लोगों के मामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान के लिए श्रम-साध्य प्रयत्न किये। यही कारण है कि उनके प्रति लोगों की श्रद्धा आज भी अक्षुण्ण है।

कबीर एक महान् प्रचारक थे; किन्तु उनके प्रचार की विधि नितान्त मौलिक थी। उन्होंने अपने चतुर्दिक् विद्यमान विविधता में एकता एवं समस्वरता लाने के लिए अथक प्रयत्न किये। उनके पदों में मुल्लाओं तथा पण्डितों की आलोचना के स्वर पूर्णतः मुखर हुए हैं। उन्होंने मुसलिम तथा हिन्दू रूढ़िवादिता के विरुद्ध युद्ध में अपने किसी भी शस्त्रास्त्र को लक्ष्यहीन नहीं होने दिया। कबीर आत्म-साक्षात्कार से कृतकृत्य एक समर्थ सन्त थे जिसके फल-स्वरूप वे भय तथा विघ्न-बाधा से वियुक्त जीवन-यापन तथा सत्योपदेश के वास्तविक अधिकारी हो गये थे।

कबीर कहते हैं- "मैं अल्लाह तथा राम दोनों की सन्तान हूँ।" यह कहना अत्यन्त दुष्कर है कि वे ब्राह्मण थे या मुसलमान, सूफी थे या वेदान्ती, वैष्णव थे या रामानन्दी। हिन्दू उनको ब्राह्मण सन्त तथा मुसलमान सूफी मानते हैं। उत्तर भारत के लक्ष लक्ष लोग कबीरपन्थी हैं; किन्तु कबीर पन्थ की स्थापना कबीर ने नहीं, अपितु उनके अनुयायियों ने की थी। जहाँ तक कबीर का प्रश्न है, वे मत-मतान्तरों का अतिक्रम कर चुके थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके शव को प्राप्त करने के लिए हिन्दुओं तथा मुसलमानों में परस्पर-विवाद हुआ था। इन दोनों सम्प्रदायों में से प्रत्येक सम्प्रदाय उनको अपने धर्म का अनुयायी मानता था। इस आख्यान से उक्त कथन की स्पष्ट पुष्टि हो जाती है। उनके समकालीन सन्तों में नरसी मेहता, विद्यापति, उमापति, रैदास तथा मीराबाई प्रमुख हैं।

भारतीय रहस्यवाद के इतिहास में अन्य साधकों की अपेक्षा काशी के सन्त-कवि कबीर का व्यक्तित्व अधिक आकर्षक था। वे एक लब्ध-प्रतिष्ठ दार्शनिक, कुशल संगीतज्ञ तथा समर्थ कवि थे। वे पैगम्बर थे। उनके चमत्कारिक गीतों में उनके आध्यात्मिक अनुभव तथा प्रेम की स्वतःस्फूर्त अभिव्यक्तियाँ निहित हैं। उन्होंने अपने गीतों में स्थानीय रूपकों का प्रयोग किया और अपने धर्म को लोकप्रिय पदावली के माध्यम से अभिव्यक्त किया। उत्तर प्रदेश तथा पंजाब के लगभग प्रत्येक घर में उनकी कविताओं की आवृत्ति हुआ करती है। उनके सिद्धान्त आत्मोत्प्रेरक तथा उदार एवं उनकी कुछ कविताएँ अत्यन्त रहस्यात्मक हैं।

कबीर की आध्यात्मिक शक्ति अद्‌भुत थी। उन्होंने कई एक चमत्कारों का प्रदर्शन किया। कहा जाता है कि स्वयं कृष्ण ने उनको एक वस्त्र बुन कर दिया था जो काशी में उन दिनों तक देखे गये वस्त्रों में सर्वाधिक सुरंजित था। इसका वनय तन्तु से न हो कर सूर्य की रश्मियों से हुआ था जिस पर स्थान-स्थान पर इन्द्रधनुष की सुदर्शन रश्मिमालाओं का चित्रांकन किया गया था।

एक बार काजी ने गो-हत्या कर दी; किन्तु गो-हत्या के जघन्य अपराध से काजी की मुक्ति के लिए उन्होंने गौ को पुनर्जीवित कर दिया।

कुछ लोगों ने सिकन्दर लोधी के समक्ष कबीर पर मिथ्या सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार द्वारा लोगों को दिग्भ्रमित करने का आरोप लगाया। कबीर को सम्राट् के सम्मुख प्रस्तुत किया गया जहाँ राजसभा के सभासदों ने उनको सम्राट् का अभिवादन करने के लिए कहा। कबीर ने कहा- "मुझे सम्राट् से कुछ लेना-देना नहीं है। मेरा सम्बन्ध एकमात्र ईश्वर से है जो संसार का आलम्बन तथा वास्तविक जगत्पति है। मैं उसके नाम से परिचित हूँ और केवल उसी का गुण-गान तथा ध्यान कर सकता हूँ। मैं किसी सम्राट् के सम्मुख अवनत-शिर होने की कला से सर्वथा अनभिज्ञ हूँ। मैं अब तक किसी भी सम्राट् की राजसभा में उपस्थित नहीं हुआ हूँ।" कबीर के इन शब्दों से सिकन्दर लोधी क्रुद्ध हो गया। किन्तु वह एक सुसंस्कृत व्यक्ति था; अतः उसने उन्हें निरापद चले जाने दिया। कबीर की प्राण-रक्षा तो हो गयी; लेकिन उन्हें काशी नगरी से निर्वासित होना पड़ा। यह घटना १४९५ ई. में हई थी। उस समय उनकी आयु ५६ वर्ष थी।

कबीर की पत्नी का नाम लोई और उनके पुत्र का नाम कमाल था। धर्मदास उनके प्रमुख शिष्य थे। चित्तौड़ की महारानी झाली उनकी शिष्या थीं। कबीर नगर से बाहर एकान्त स्थान में एक कुटिया में सपत्नीक रहा करते थे। जो भी साधु-संन्यासी उनके यहाँ जाते थे, वे उन्हें भोजन कराते थे। एक दिन जब उनके घर में कुछ भी नहीं था, उनकी कुटिया के द्वार पर कई क्षुधित संन्यासी आ पहुँचे। कबीर की मनोदशा अशान्त हो गयी। यह देख कर उनकी पत्नी ने उनसे कहा- "हे स्वामी, यदि आप अनुमति देंगे, तो मैं महाजन के पुत्र से कुछ धन माँग सकती हूँ।" कबीर ने कहा- "वह तुम्हें धन क्यों देने लगा? वह तो महाकृपण है।" उनकी पत्नी ने उनसे कहा- "वह मुझ पर आसक्त है। कल उसने मुझे कुछ धन देने को कहा था। उससे धन ले कर हमें उसको समुचित पाठ पढ़ाना चाहिए।" कबीर ने कहा- "अच्छी बात है। तुम शीघ्र ही उसके पास जा कर उससे धन ले आओ। संन्यासियों की क्षुधा तीव्र हो गयी है। तीन दिनों से उन्होंने अन्न ग्रहण नहीं किया है।"

लोई महाजन के घर जा कर उसके युवा पुत्र से मिली। उसने उसको रात में मिलने का वचन दिया। महाजन के पुत्र ने तत्काल उसे उसकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए धन दे दिया। घर आ कर लोई ने वह धन कबीर को दे दिया जिसके फल-स्वरूप संन्यासियों ने उस दिन भरपेट भोजन किया।

उस दिन भयंकर वृष्टि हो रही थी और झंझानिल की गति अत्यन्त तीव्र थी। वृष्टि तथा प्रभंजन की उस रात में कबीर ने अपनी पत्नी को कम्बल से ढक दिया तथा अपने कन्धों पर लाद कर उसे महाजन के घर पहुँचा दिया। लोई महाजन के पुत्र के कक्ष में प्रविष्ट हुई। उधर कबीर उसे घर से ले जाने के लिए उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। वह युवक लोई को देख हर्षित हो उठा; किन्तु उसे झंझानिल तथा वृष्टि की इस रात में अपने कक्ष में देख कर उसे आश्चर्य भी कम नहीं हुआ। उसने उससे कहा- "प्रिये, तुम इस समय यहाँ कैसे पहुँच गयी? तुम भीगी नहीं हो और तुम्हारे पैर भी स्वच्छ है। इस पर कीचड़ भी नहीं लगा है। यह अत्यन्त आश्चर्यप्रद है।" लोई ने कहा- "मेरे पति मुझे यहाँ तक अपने कन्धों पर उठा कर ले आये।" वह युवक यह सुन कर स्तब्ध रह गया। उसका स्वभाव तत्क्षण परिवर्तित हो गया और वह फूट-फूट कर रोने लगा। इतना ही नहीं, वह उसी क्षण से लोई को अपनी माता समझने लगा और उसके चरणों पर गिर कर उच्च स्वर में कहने लगा- "तुम मेरी माता हो। मेरे दुराशय के लिए मुझे क्षमा कर दो।" इसके पश्चात् वह उस स्थान की ओर दौड़ पड़ा जहाँ कबीर खड़े थे। वह उनके चरणों पर गिर कर कहने लगा- "हे

मेरे श्रद्धेय गुरु, मैं महापापी हूँ। मुझे पवित्र कर दीजिए। मुझे ऊपर उठा कर आशीर्वाद दीजिए। मैं आपके चरण-कमलों में शरण-ग्रहण करता हूँ। मैं आपके सम्मुख अनुनय-विनय कर रहा हूँ। मैं आपका विनम्र भक्त हूँ।" उसी दिन से महाजन का पुत्र कबीर का निष्ठावान् भक्त हो गया।

सन्तों तथा पैगम्बरों के क्रिया-कलाप रहस्यमय होते हैं। उनके स्पर्श तथा दर्शन मात्र से घोर पापी तथा दुर्जन भी महान् सन्त हो जाते हैं और रजोगुण के आधिक्य का अग्रसरण सतोगुण की दिशा में होने लगता है। महाजन का पुत्र जिसका मनस् रजस्-प्रधान था, एक पवित्र तथा सात्त्विक व्यक्ति में रूपान्तरित हो गया।

एक दिन जहानगश्त नामक एक मुसलमान फकीर कबीर की प्रख्याति सुन कर उन्हें देखने चला गया। कबीर के प्रति उसमें ईर्ष्या की भावना थी। उन्होंने अपने द्वार पर एक शूकर बाँध दिया जिसे देख कर फकीर कुटिया के आँगन में नहीं जा सका। कबीर ने उसे बुला कर कहा- "तुम यहाँ से भाग क्यों रहे हो? मैंने अपने द्वार पर इस दूषित शूकर को बाँध रखा है। किन्तु तुम्हारा हृदय क्रोध, अहंकार, लोभ तथा ईर्ष्या के कल्मष से ओत-प्रोत है।" फकीर का शिर लज्जावश अवनत हो गया। उसने कबीर से क्षमा-याचना की और वह उनका शिष्य हो गया।

कबीर का देहावसान

कबीर के देहान्त के पश्चात् उनके शव की प्राप्ति के लिए हिन्दू तथा मुसलमान, दोनों सम्प्रदायों के लोगों ने अपना-अपना दावा प्रस्तुत किया। काशी-नरेश तथा उनके साथ सहस्रों हिन्दुओं ने उनके मृत शरीर का दाह-सस्कार करना चाहा। उनका दावा था कि कबीर हिन्दू थे; अतः उनका दाह-संस्कार होना चाहिए। उधर बिजली खाँ तथा उनके साथ हजारों मुसलमानों ने उनके शव को कब्र में दफनाना चाहा। उनका दावा था कि कबीर मुसलमान थे; अतः उनके धार्मिक संस्कार के अनुसार उनके शव को कब्र में दफनाना चाहिए।

जब यह विवाद चल रहा था, तब कबीर की आत्मा ने वहाँ प्रकट हो कर कहा- "मैं न हिन्दू था, न मुसलमान। मैं दोनों था। मैं कुछ भी नहीं था और इसके साथ ही मैं सब-कुछ था। मैं दोनों में ईश्वर का दर्शन करता था। यहाँ न कोई हिन्दू है न मुसलमान। ये दोनों एक हैं। कफन को हटा कर यह चमत्कार स्वयं देख लो।"

कफन हटाने पर वहाँ कुसुम-राशि देखने को मिली जिसका अर्धांश काशी-नरेश ले गये और जिसको गंगा के पावन-तट पर अग्नि को समर्पित कर दिया गया। इसके पश्चात् भस्म को भू-गर्भ में स्थापित कर वहाँ एक मन्दिर का निर्माण किया गया जिसे कबीरचौरा कहते हैं। कबीर-पन्थियों का यह एक महान् तीर्थ-स्थान है। दूसरा अर्धांश मुसलमान ले गये जिसे उन्होंने मगहर, जहाँ कबीर का देहान्त हुआ था, में कब्र में दफना दिया। वहाँ उस कब्र पर एक मस्जिद का निर्माण किया गया। यह स्थान मुसलमानों का तीर्थ स्थल है।

कबीर की रचनाएँ

कबीर की रचनाएँ मुख्यतः विभिन्न छन्दों में प्राचीन हिन्दी में लिखित पदों का संग्रह हैं। उनकी बहत्तर कृतियाँ हैं जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा सुप्रसिद्ध हैं कबीर बीजक, सुकनिधान, सबद, साखी, रेख्ता, मंगल, वसन्त तथा होली आगम। कबीर बीजक को कबीर-पन्थियों के समस्त धार्मिक विषयों तथा सिद्धान्तों का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है।

कबीर की भाषा अत्यन्त सरल तथा उनकी शैली सौन्दर्यमयी है। उनके विचारों की अभिव्यक्ति में निर्भयता का पुट है। उनकी कविताओं में कृत्रिमता के दर्शन नहीं होते। इनका प्रत्येक छन्द गहन-अर्थ-गर्भित एवं इसमें प्रयुक्त उपमा तथा रूपक पूर्णतः सटीक हैं। उनकी कविताओं का अन्य वैशिष्ट्य भावनाओं की गहनता तथा कथ्य की

स्पष्टता है। कबीर की अभिव्यक्तियाँ उनके अन्तरतम से समुद्भूत होती हैं। संवेदन या अनुभूति के पुंज को एक सामान्य छन्द में संपिंडित कर देने का उनका कौशल अद्‌भुत एवं अप्रतिम है। उनकी उक्तियाँ अद्वितीय तथा उनकी कविताएँ आत्मोत्प्रेरक एवं प्रेरणाप्रद हैं। उनके विचार गहन तथा उनकी अन्तर्दृष्टि मर्मभेदिनी है।

कबीर की उक्तियाँ

१. माला फेरते जीवन व्यतीत हो जाता है; किन्तु हृदय का अन्धकार विनष्ट नहीं होता। हाथ की माला का परित्याग कर हृदय की माला फेरो।

२. ईश्वर-भक्ति के अभाव में तीर्थाटन से कोई लाभ नहीं। तुम सम्पूर्ण देश का परिभ्रमण कर सकते हो; किन्तु तुम्हारा हृदय अपवित्र ही रहेगा। भगवान् विश्वनाथ के दर्शन के पश्चात् यदि किसी के पाखण्ड, काम तथा लोभका निराकरण और उसमें भगवद्भक्ति का उद्रेक नहीं हुआ, तो उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होगा।

३. मैं अपने प्रियतम (ईश्वर) के वचनों के श्रवण के लिए अत्यन्त लालायित रहता हूँ। यदि मुझे कोई अन्य विधि से सान्त्वना प्रदान करना चाहता है, तो उससे मुझे आश्वस्ति-प्राप्ति नहीं होती। यदि तुम किसी मछली को स्वर्णिम शय्या पर सुला कर उसे एम्ब्रोसिया पिला देते हो, तो उसकी तत्काल मृत्यु सुनिश्चित है।

४. एकमात्र हीरे का मूल्य-निर्धारक ही हीरे के मूल्य से अवगत हो सकता है। ईश्वर की प्राप्ति उसी के लिए सम्भव है जिसके हृदय में भक्ति की गंगा प्रवाहित होती है।

५. जो तोको काँटा बुवै, ताहि बोऊ तू फूल, तोहि फूल को फूल है वाको है तिरसूल।

६. इस नश्वर शरीर का विश्वास मत करो। अपनी प्रत्येक श्वास में ईश्वर का स्मरण करो। मुक्ति का एकमात्र मार्ग यही है।

७. माटी कहे कुम्हार से तू क्या रौंदे मोहि, एक दिन ऐसा आयेगा, मैं रौंदूँगी तोहि।

८. यह शरीर एक पान्थशाला तथा मन एक पक्षी है। इस पान्थशाला में इस पक्षी ने स्वेच्छा से आश्रय-ग्रहण किया है। एकमात्र सत्य यही है कि किसी का किसी से कोई सम्बन्ध नहीं है।

९. जहाँ करुणा है वहाँ पुण्य है, जहाँ लोभ है वहाँ पाप है, जहाँ क्रोध है वहाँ मृत्यु है और जहाँ क्षमा है वहाँ ईश्वर है।

१०. प्रत्येक वन में चन्दन नहीं मिलते, प्रत्येक सेना में कर्तव्यनिष्ठ सैनिक नहीं मिलते और प्रत्येक समुद्र में मोती नहीं मिलते। इसी प्रकार संसार में प्रत्येक स्थान पर साधु-सन्त या महात्मा नहीं मिलते।

११. धैर्य धारण करो। किसी भी वस्तु की सम्प्राप्ति समय पर ही होती है। माली पौधों का अभिसिंचन प्रत्येक दिन करता है; किन्तु वे ऋतु-विशेष में ही पल्लवित-पुष्पित होते हैं।

१२. यदि मैं सम्पूर्ण पृथ्वी को कागज, समस्त वृक्षों को लेखनी तथा सातों समुद्रों को मसि बना दूँ, तो भी इनसे ईश्वर का वर्णन पूर्णरूपेण नहीं किया जा सकता।

१३. अपशब्द से बड़ा कोई पाप नहीं है। यह प्रत्येक वस्तु को जला कर भस्म कर देता है। इसके विपरित मधुर वचन वह वृष्टि है जो वेगवति अमृत-धारा बन कर बरसती है।

१४. यदि किसी शब्द का समुचित प्रयोग हो, तो वह अमूल्य हो जाता है। अतः उच्चारण के पूर्व इसे हृदय की तुला पर भली-भाँति तौल लिया करो।

१५. काल्हू करो सो आजु कर, आजु करो सो अब्ब, पल में परलय होत है, बहुरि करोगे कब्ब !

१६. एकमात्र सूरमा वही है जिसकी पाँचों इन्द्रियाँ उसके वश में हैं। जिसकी इन्द्रियाँ अनियन्त्रित हैं, उसे ईश्वर की प्राप्ति कभी नहीं होती।

१७. शर्करा-भक्षण के पश्चात् मूक व्यक्ति इसके स्वाद का वर्णन नहीं कर सकता। इसी प्रकार आत्म-साक्षात्कार से कृतकृत्य व्यक्ति भी अपनी अनुभूति को वाणी नहीं प्रदान कर सकता।

१८. शर्करा-निर्मित खिलौने शर्करा से निर्मित होते हैं जिनमें शर्करा विद्यमान रहती है। इसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ब्रह्म में और ब्रह्म सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अनुस्यूत है।

१९. शर्करा तथा शर्करा निर्मित खिलौने दो न हो कर एक हैं। इसी प्रकार जब परा ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है, तब विश्व के अनेकत्व में एकत्व-दर्शन होने लगता है।

२०. जिस प्रकार बीज में वृक्ष तथा वृक्ष में बीज स्थित हैं, उसी प्रकार विश्व ब्रह्म में स्थित है।

सन्त महाराजा पीपा

पीपा का जन्म १५२५ ई. में हुआ था। वह गागराउन्घ्रा (Gagaraumghra) राज्य के धर्मप्राण अधिपति थे। उनकी प्रशासन-विधि में न्याय तथा बुद्धि, दोनों का मिश्रण था। वह संन्यासियो, तपस्वियों तथा ब्राह्मणों की सेवा में संलग्न रहते थे। उनके प्रति उनमें उत्कट भक्ति-भाव था। राजा होते हुए भी वह अत्यन्त सरल थे। विलासिता से वह कोसों दर रहते थे। वह नियमित रूप से भगवान का ध्यान तथा पवित्र शास्त्रों का अध्ययन किया करते थे। साधु तथा योगी भगवान् से प्रार्थना किया करते थे कि पीपा साधु-वृत्ति ग्रहण कर लें।

एक बार पीपा को एक सन्त का दिव्य दर्शन हुआ जिन्होंने उनसे कहा- "प्रिय पीपा, तुम वाराणसी जा कर महान् गुरु रामानन्द की सेवा करो।" पीपा तत्काल वाराणसी की ओर चल पड़े। वहाँ जा कर उन्होंने अपने एक सन्देश के माध्यम से श्री रामानन्द को यह सूचना दी कि वह उनको अपनी श्रद्धा अर्पित करना चाहते हैं। रामानन्द ने उनसे अपने उत्तर में कहा- "यहाँ किसी राजा का कोई काम नहीं है। मेरा आश्रम तो केवल निर्धन तथा यायावर साधु-संन्यासियों के लिए है।"

तत्पश्चात् पीपा अपनी राजधानी में लौट आये। यहाँ आ कर उन्होंने अपनी समस्त वैयक्तिक सम्पत्ति निर्धनों में वितरित कर दी। इसके पश्चात् वह रामानन्द के दर्शनार्थ पुनः वाराणसी चले गये। रामानन्द को पीपा की निष्कपटता के परीक्षण की इच्छा हुई। उन्होंने उनकी गुरु-भक्ति को पूर्णरूपेण परखना चाहा। उन्होंने पीपा से कहा- "मुझे यह सुन कर प्रसन्नता हुई है कि तुम निर्धनों में अपने धन का वितरण कर स्वयं निर्धन हो गये हो। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तुममें विवेक और वैराग्य का स्फुरण हो गया है। अब तुम एक कुएँ में कूद जाओ।"

पीपा शीघ्र ही निकट के एक कुएँ में कूदने के लिए चल पड़े; किन्तु रामानन्द के शिष्यों ने उनको ऐसा करने से रोक दिया। पीपा की निष्कपटता तथा भक्ति से रामानन्द अत्यधिक सन्तुष्ट हुए। उन्होंने उनको शिष्य-रूप में स्वीकार कर उनको दीक्षा प्रदान की। आजकल यदि कोई गुरु शिष्य के परीक्षण के लिए उसके प्रति किसी कठोर शब्द का प्रयोग कर देता है, तो शिष्य तत्क्षण उस गुरु का परित्याग कर देता है। इसी कारण आजकल के शिष्य आध्यात्मिक क्षेत्र में अपेक्षित प्रगति नहीं कर पाते।

गुरु के आदेशानुसार पीपा अपनी राजधानी में लौट आये। वहाँ वह अपने गुरु के निर्देशानुसार साधु-सन्तों की सेवा तथा नियमित ध्यान का अभ्यास करने लगे।

पीपा ने अपने गुरु को अपने यहाँ आने के लिए निमन्त्रित किया जिसे उनके गुरु ने स्वीकार कर लिया। वह अपने शिष्यों के साथ राजधानी पहुँच गये जहाँ पीपा ने नंगे पैर दौड़ कर उनका स्वागत किया। उन्होंने उनके शिष्यों को भी अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित किये और निर्धनों को धूम-धाम के साथ भोजन कराया। अपने राजप्रासाद में उन्होंने संकीर्तन का भी आयोजन किया।

रामानन्द ने द्वारका जाने की इच्छा प्रकट की जिससे पीपा को हार्दिक दुःख हुआ। वह अपने गुरु के पावन सान्निध्य से वंचित होना नहीं चाहते थे। रामानन्द ने उनसे कहा- "पीपा, यदि तुम मेरा अनुगमन करना चाहते हो, तो तुम्हें तापसिक वृत्ति ग्रहण करनी होगी।" पीपा ने अपने पुत्र को राजसिंहासन सौंप कर तापसिक वृत्ति ग्रहण कर ली और इस प्रकार वह रामानन्द के साथ चल पड़े। उनकी पत्नी सीता भी तपस्विनी हो गयी और उन सभी लोगों ने द्वारका के लिए प्रस्थान किया।

भगवान् बुद्ध तथा राजा गोपीचन्द ने राज्य का परित्याग कर दिया था और राजा भर्तृहरि ने इसे एक तिनके की भाँति हेय तथा उपेक्षणीय समझ लिया था। वस्तुतः राज्य-सुख ईश्वर-साक्षात्कार के सुख की तुलना में सर्वथा नगण्य है। आध्यात्मिक सम्पदा यथार्थतः अक्षय सम्पदा है। इस सत्य के साक्षात्कार के पश्चात् पीपा ने भी राज्य का परित्याग कर दिया।

द्वारका में पीपा श्रीकृष्ण के लोकोत्तर मन्दिर के दर्शनार्थ समुद्र में कूद पड़े जहाँ भगवान् ने प्रेमपूर्वक उनका स्वागत किया। वहाँ उनके साथ कुछ दिन व्यतीत कर वह लौट आये। अब वह दूर-दूर तक प्रख्यात हो गये। उनके दर्शनार्थ जन-समूह उमड़ने लगा। इससे उनकी भक्ति-साधना के मार्ग में अवरोध उपस्थित हो गया। उन्होंने चुपचाप द्वारका से विदा ले ली। मार्ग में कुछ पठानों ने उनकी पत्नी का अपहरण कर लिया; किन्तु स्वयं राम ने उनका उद्धार कर आक्रान्ताओं की हत्या कर दी।

वन में पीपा को एक क्रोधोन्मत्त व्याघ्र मिला। उन्होंने उसके गले में माला डाल कर उसे विधिवत राम का मन्त्र दे दिया जिसके परिणाम-स्वरूप वह क्षण-भर में ही शान्त हो गया। इसके पश्चात् उन्होंने उस व्याघ्र के सम्मुख मनुष्यों और पशुओं के भक्षण के अनौचित्य पर प्रवचन किया। इससे व्याघ्र में प्रायश्चित्त की भावना जाग्रत हो गयी और वह भविष्य में इस क्रूर कर्म की आवृत्ति न करने के संकल्प के साथ वहाँ से चला गया।

एक दिन पीपा नदी में स्नान करने गये जहाँ उन्होंने स्वर्णमुद्राओं से भरा एक पात्र देखा; किन्तु उन्होंने उसका स्पर्श तक नहीं किया। रात में इस बात का उल्लेख उन्होंने अपनी पत्नी से किया। कुछ चोर जो इस बात को सुन रहे थे, उन स्वर्णमुद्राओं की खोज में उस स्थान पर गये; किन्तु उन्हें उस पात्र में स्वर्णमुद्राओं के स्थान पर एक कुण्डलित सर्प दिखायी पड़ा। उन्होंने सोचा कि सन्त ने उनकी हत्या का षड्यन्त्र रचा था। वे सर्प-सहित उस पात्र को उनके घर में डाल आये। पीपा ने देखा कि वह पात्र पूर्ववत् स्वर्णमुद्राओं से भरा था। उन्होंने वे स्वर्णमुद्राएँ निर्धनों तथा भिक्षुओं के भोजनार्थ व्यय कीं।

पीपा के पास एक गाय थी जिसका दूध वे साधु-सन्तों को दे दिया करते थे। एक दिन चोरों ने यह गाय चुरा ली। वे अल्पायु बछड़े को अपने साथ लिये चोरों के पीछे उच्च स्वर में यह कहते दौड़े- "कृपया, इस बछड़े को भी अपने साथ लेते जाओ। यदि तुम इसे अपने साथ नहीं ले जाओगे, तो तुम्हें दूध नहीं मिल पायेगा।" उनके इन शब्दों से चोरों का हृदय द्रवित हो उठा और अपने कुकर्म पर पश्चात्ताप करते हुए उन्होंने उनको गाय लौटा दी।

एक बार पीपा और उनकी पत्नी श्रीधर नामक एक भक्त के दर्शन के लिए गये। श्रीधर नितान्त निर्धन थे। अतिथियों के स्वागतार्थ वह अपनी पत्नी के वस्त्र तक बेच देते थे। वे सभी भोजन करने बैठे। सीता ने कहा- "हे पवित्र सन्त, आपकी पत्नी कहाँ हैं?" श्रीधर जड़वत् बैठे रहे। वस्तुतः उनकी पत्नी अर्ध-वस्त्राच्छादित थीं। सीता उनकी अनुपस्थिति के कारण से परिचित हो गयीं। उन्होंने सोचा कि श्रीधर की पत्नी की भक्ति तथा सेवा की तुलना में उनकी भक्ति तथा सेवा सर्वथा नगण्य है। उन्होंने अपने वस्त्र का अर्धांश उन्हें दे दिया जिसे धारण कर वह उन लोगों के सम्मुख आ सकीं।

पीपा तथा सीता ने अपने जीवन का शेष भाग जप, कीर्तन, ध्यान, शास्त्राध्ययन तथा साधु-सन्तों एवं भक्तों की सेवा में व्यतीत किया।

पीपा तथा सीता शुचिता, भक्ति और सेवा की प्रतिमूर्ति हैं। आधुनिक राजाओं तथा रानियों को उनसे प्रेरणा ग्रहण कर वैसा ही आदर्शमय जीवन व्यतीत करना चाहिए जैसा उन्होंने व्यतीत किया था !

पीपा, सीता तथा उनके साथ ही उनके गुरु श्री रामानन्द भी महिमा-मण्डित हों जिन्होंने ज्ञानांजन से उन दोनों की आँखें खोली थीं!

नरसी मेहता

नरसी मेहता गुजरात-स्थित काठियावाड़ के जूनागढ़ के एक नागर ब्राह्मण-परिवार के सदस्य थे। उनका जन्म एक निर्धन परिवार में हुआ था। बाल्यावस्था से ही उनके हृदय में श्रीकृष्ण के प्रति अगाध भक्ति थी। वह अपने भाई के साथ रहते थे। वह सर्वदा भगवान् कृष्ण तथा गोपीलीला से सम्बन्धित गीत गाते तथा आनन्दातिरेक में नाचते रहते थे। वह गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों से विमुख रहते थे। इसके अतिरिक्त उनमें अर्थोपार्जन की बुद्धि भी नहीं थी जिसके फल-स्वरूप उनकी भाभी उनका उपहास तथा उनके प्रति दुर्व्यवहार किया करती थीं; किन्तु नरसी अपने जीविकोपार्जन के सम्बन्ध में कुछ सोचते तक नहीं थे। उन्हें इस बात का दृढ़ विश्वास था कि भगवान् उनकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहेंगे। उनके पूर्व-संस्कार ही उनके इस दृढ़ विश्वास का कारण थे। वह एक चिन्तामुक्त तथा सर्वदा प्रसन्न रहने वाले व्यक्ति थे। समुद्र-तट पर स्थित गोपीनाथ नामक स्थान पर वह तपस्या किया करते थे। भगवान् शिव की कृपा से उन्होंने भगवान् कृष्ण के दर्शन किये थे। घर लौट कर उन्होंने विवाह कर लिया। उनके श्यामलदास नामक पुत्र तथा कुँवरबाई नामक एक पुत्री थी।

नरसी मेहता मीराबाई के समकालीन थे। उनमें सख्य-भाव की प्रधानता थी। वह कृष्ण को इस प्रकार सम्बोधित करते थे मानो वे एक-दूसरे के प्रति समानता का व्यवहार करते हों। वह एक सरल-हृदय तथा स्पष्टवादी व्यक्ति थे। वह सर्व भूतों में और सर्वत्र भगवान् कृष्ण का दर्शन करते थे। उनमें पराभक्ति के भाव थे और उनकी चेतना ब्रह्माण्डीय थी। उन्होंने 'हरिमाला' शीर्षक से एक कविता की रचना की थी। कहा जाता है कि उनकी पुत्री का विवाह स्वयं श्रीकृष्ण के संरक्षण में अत्यधिक धूमधाम से सम्पन्न हुआ था। नरसी मेहता अत्यन्त निर्धन थे; किन्तु उस विवाह

के अवसर पर कुँवरबाई की सास को जो बहुमूल्य उपहार भेंट किये गये, उन्हें देख कर लोग आश्चर्य चकित रह गये।

नरसी मेहता के जीवन में अनेक चमत्कार हुए। उन्होंने कई एक अवसरों पर भगवान् कृष्ण के दर्शन किये। एक बार वह अपने भाई के साथ कहीं जा रहे थे। उन्हें बहुत भूख लगी थी; किन्तु मार्ग में उन्हें कहीं भोजन नहीं मिल सका। वहाँ कृष्ण ने एक गड़रिया बालक के वेश में उन्हें एक कुटिया में ले जा कर उनके सम्मुख सुस्वादु भोजन से भरा पात्र रख दिया। नरसी ने अपने रूढ़िग्रस्त भाई से यह कह कर भोजन करने का आग्रह किया कि स्वयं कृष्ण भगवान् यह भोजन दे गये हैं; किन्तु उनके भाई को इस बात पर विश्वास नहीं हुआ। अब उन दोनों ने अपनी यात्रा पुनः प्रारम्भ की। नरसी के भाई अपना पात्र उस कुटिया में ही छोड़ आये थे। वह उस कुटिया की ओर दौड़ पड़े; किन्तु उस स्थान पर उनका पात्र तो था, पर वहाँ न तो वह कुटिया थी न वह गड़रिया बालक था। यह सब उन कृष्ण की कृपा थी जो अपने इन गीतोक्त शब्दों की मर्यादा के रक्षणार्थ अपने भक्त की सेवा किया करते हैं :

"**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।**
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।" (अध्याय : ९/२२)

नरसी के भाई को नरसी के साथ वहाँ भोजन न करने का बहुत पश्चात्ताप हुआ।

एक अन्य अवसर पर नरसी अपने पिता का श्राद्ध कर रहे थे (श्राद्ध पितरों को प्रतिवर्ष दिये जाने वाले पिण्डदान को कहते हैं)। उस समय वहाँ घी की कमी हो गयी। नरसी घी खरीदने बाजार गये। मार्ग में उन्हें एक संकीर्तन-दल मिल गया। घी की चिन्ता छोड़ कर वह भी उस दल में सम्मिलित हो कर आनन्दातिरेक में हरि-भजन गाने तथा नृत्य करने में संलग्न हो गये। श्राद्ध तथा घी के विषय में उन्हें सारी बातें विस्मृत हो गयीं। उधर उनकी निर्धन पत्नी उत्सुकतापूर्वक उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। उसी समय दो चमत्कार हुए। कृष्ण अपने भक्तों पर इसी प्रकार कृपा किया करते हैं। पहला चमत्कार तो यह हुआ कि सूर्य अपने मार्ग पर पूर्णतः स्थिर हो गया। किसी को यह ज्ञात न हो सका कि वास्तव में कितना समय व्यतीत हो गया। दूसरा चमत्कार यह हुआ कि नरसी का रूप धारण कर स्वयं श्रीकृष्ण नरसी की पत्नी को घी दे गये जिसने देर के लिए नरसी, जो स्वयं कृष्ण थे, को एक हलकी झिड़की भी दे दी। सभी ब्राह्मणों को विधिवत् भोजन कराया गया और वे प्रसन्न-चित्त घर लौटे। इस प्रकार उस अनुष्ठान का समापन हुआ। इसके पश्चात् नरसी की पत्नी उस स्थान के प्रक्षालन तथा वस्तुओं को व्यवस्थित करने में संलग्न हो गयीं। उसी समय हाथ में घृत-पात्र लिये नरसी वहाँ आ गये और देर के लिए अपनी पत्नी से क्षमा माँगने लगे।

पत्नी तथा पुत्र की मृत्यु के पश्चात् नरसी और अधिक स्वतन्त्र हो गये। अब उनका समय पूर्णतः भजन-पूजन में व्यतीत होने लगा। अति-वर्णाश्रमी हो कर उन्होंने स्वयं को जातिगत प्रथाओं तथा शास्त्रीय विधानों से सर्वथा मुक्त कर लिया। वह मेहतरों तथा अन्य निम्न जातियों के घर जा कर भी कीर्तन करने लगे। नागर ब्राह्मणों ने उन्हें घृणा का पात्र समझ कर जाति-बहिष्कृत कर दिया। उन्होंने अपने एक भोज में उन्हें निमन्त्रित भी नहीं किया। एक चमत्कार इस अवसर पर भी हो गया। वहाँ प्रत्येक ब्राह्मण के पार्श्व में एक डोम, जो निम्नतर जाति का होता है, बैठा दिखायी पड़ने लगा। इस घटना से उन क्रुद्ध ब्राह्मणों को उनके समक्ष विनत हो जाना पड़ा और अब वे नरसी के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने लगे। उन्होंने नरसी को जाति में सम्मिलित कर यह घोषित कर दिया कि वह एक महान् भक्त हैं।

इस युग में नरसी से महान् भक्त कोई नहीं हुआ। उनकी भक्ति अप्रतिम कोटि की भक्ति थी। उन्होंने संसार को भक्ति की सम्यक् दिशा प्रदान की। इसी कारण वह आज भी हमारे मन और प्राण में बसे हुए हैं तथा इसी कारण एक निष्कपट वैष्णव का विवरण प्रस्तुत करने वाला उनका प्रेरणाप्रद गीत - "वैष्णव जन तो तेणे कहिये" आज तक सभी भक्तों द्वारा गाया जा रहा है।

नरसी महिमान्वित हों; हरि तथा उनका नाम महिमान्वित हों !

दादू

दादू व्यवसायतः धूनिया थे। उनका जन्म अहमदाबाद में लगभग १५४४ ई. में और उनकी मृत्यु लगभग १६०३ ई. में हुई। यह अकबर के शासन-काल की समाप्ति तथा जहाँगीर के शासन काल के प्रारम्भ का काल था। जब दादू की आयु बारह वर्ष की थी, तब उन्हें अजमेर-स्थित सांभर (Sambhur) भेज दिया गया। इसके पश्चात् वह कल्याणपुर चले गये। जब वह सैंतीस वर्ष के हुए, तब वह नरैना चले गये। नरैना सांभर से आठ मील तथा जयपुर से बीस मील दूर है। वहाँ आकाशवाणी के माध्यम से उन्हें स्वर्ग से चेतावनी देते हुए कहा गया कि वह अब धार्मिक जीवन व्यतीत करें। अतः वह नरैना से दश मील दर स्थित वाहेराना (Vaherana) पर्वत पर जा कर एकान्तवास करने लगे। कुछ दिनों के पश्चात् वह अन्तर्धान हो गये और वहाँ उनका कोई भी चिह्न प्राप्त नहीं हो सका। उनके अनुयायियों का विश्वास है कि वह ईश्वर में अन्तर्लीन हो गये थे।

दादूपन्थी ललाट पर किसी प्रकार का कोई विशिष्ट तिलक नहीं लगाते। वे किसी प्रकार की कोई माला भी नहीं पहनते। वे अपने पास एक सुमिरनी रखते और एक विशिष्ट प्रकार की सफेद टोपी पहनते हैं। इस टोपी में चार कोने और इसके पृष्ठभाग में लटकता हुआ एक पल्ला होता है।

दादूपन्थियों के निम्नांकित तीन संवर्ग हैं :

(१) **विरक्त**- ये मुण्डितशीश होते हैं। इनके पास केवल एक वस्त्र तथा एक जल-पात्र होता है।

(२) **नागा**-ये कुशल सैनिक तथा शस्त्रधारी होते हैं।

(३) **विस्तरधारी**- ये सामान्य गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हैं।

मारवाड़ तथा अजमेर में दादूपन्थियों का बाहुल्य है। नरैना इनका मुख्य उपासना-स्थल है। यहाँ इनके धर्मग्रन्थों को सुरक्षित रखा जाता है और उनका पूजन होता है। फरवरी मास में यहाँ एक मेला भी लगता है। पहाड़ी के जिस स्थान से दादू अन्तर्धान हुए थे, वहाँ एक छोटा-सा स्मारक बना दिया गया है। दादूपन्थियों के सिद्धान्त कई हिन्दी ग्रन्थों में अन्तर्विष्ट हैं। इन पुस्तकों में कबीर की रचनाओं के अनेक उद्धरण सन्निविष्ट हैं। दादूपन्थियों के पवित्र ग्रन्थों तथा कबीर की रचनाओं के सामान्य स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। दादूपन्थी कबीर के अनुयायियों से मित्रवत् व्यवहार करते हैं।

दादू लोदीराम के पुत्र थे। गरीबदास तथा मिस्कीनदास उनके शिष्य थे। दादू का देहान्त उनसठ वर्ष की आयु में हुआ। व्यवसायतः वह जुलाहा थे। उनकी आस्था कबीर के वैष्णववाद के प्रति थी। रामानन्द की शिष्य-श्रेणी में उनका छठा स्थान है।

कबीर, कमाल, जमाल, विमल और बुधन उनके पूर्ववर्ती थे। बुधन उनके गुरु थे।

दादू की वाणी तथा उनके गीत पुस्तक-रूप में संग्रहित हैं। इस पुस्तक में पाँच सहस्र रचनाएँ हैं। वाणियों में नैतिक प्रवचन हैं और गीत स्तोत्र या पवित्र भजन हैं। दादू के गीत उल्लास तथा दिव्य प्रेम के विस्फोट हैं। उन्होंने विश्व-प्रेम तथा शान्ति का उपदेश दिया।

दादू की भाषा सरल तथा शैली सर्व-सुलभ है। उनके शब्द संगीत से ओत-प्रोत हैं। यह संगीत मानव-मन की गहनता तक का स्पर्श कर लेता है।

दादू ने दिव्य जीवन की एकता का उद्घोष किया। उनका दर्शन तत्त्वतः व्यावहारिक था। सिद्धान्तों तथा आध्यात्मिक वाद-विवाद से वह दूर ही रहते थे।

अक्खा

अक्खा गुजरात के एक प्रख्यात् सन्त थे। व्यवसायतः वह स्वर्णकार थे। वह वाराणसी गये। वहाँ स्वामी ब्रह्मानन्द रात्रि में कुछ लोगों को वेदान्त की शिक्षा दिया करते थे। वेदान्त की इस पाठशाला में अक्खा का प्रवेश सम्भव न हो सका; किन्तु वह निराश नहीं हुए। वह रात्रि में स्वामी ब्रह्मानन्द के वास-स्थान के पीछे एक कूड़ेदान में छिप कर उनके प्रवचन सुनने लगे। उनका यह अभियान एक वर्ष तक चलता रहा। एक दिन जब स्वामी जी का एक विद्यार्थी उनके एक प्रश्न का उत्तर न दे सका, तो दीवाल के पीछे से अक्खा ने उच्च स्वर में उसका निर्भान्त उत्तर दे दिया। स्वामी जी इसे सुन कर उलझन में पड़ गये। उन्हें यह जानने की इच्छा हुई कि विशुद्ध उत्तर देने वाला यह व्यक्ति कौन है। अक्खा ने वहीं से कहा- "मैं अक्खा हूँ और गुजरात से यहाँ आया हूँ।" स्वामी जी ने कहा- "तुम भीतर आओ, अक्खा।" अक्खा ने भीतर जा कर उनको साष्टांग प्रणाम किया।

स्वामी जी ने पूछा- "अक्खा, तुम कौन हो और इस समय तुम यहाँ कैसे आ गये?" अक्खा ने कहा- "स्वामी जी, मैं एक स्वर्णकार हैं; किन्तु मुझमें मुमुक्षुत्व की प्रबल भावना है। मैं एक वर्ष से इस कूड़ेदान में छिप कर प्रतिदिन ध्यानपूर्वक आपका प्रवचन सुनता आ रहा हूँ। कृपया मुझे दीक्षा दीजिए।" स्वामी जी अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने उन्हें सुयोग्य अधिकारी समझ कर कैवल्य के रहस्यों में दीक्षित कर लिया। इस प्रकार अक्खा पूर्ण ज्ञानी हो गये। उनके ज्ञान-सम्बन्धी गीतों को संग्रहित कर उनको पुस्तक रूप में प्रकाशित कर दिया गया है और मुम्बई विश्वविद्यालय ने इस पुस्तक को एम. ए. कक्षा की पाठ्य-पुस्तक के रूप में स्वीकृत कर लिया है।

तिब्बत के मिलारेपा

मिलारेपा (Milarepa) तिब्बत के सुप्रसिद्ध योगी थे।

यह बाल्यावस्था से ही प्रापंचिक सत्ता के समस्त प्रारूपों के नश्वर तथा अनित्य स्वभाव और समस्त प्राणियों को आप्लावित किये रहने वाले जागतिक क्लेश के महार्णव के निहितार्थ से पूर्णतः परिचित हो चुके थे। उनके लिए यह संसार एक विशाल अग्निकुण्ड था जिसमें प्राणिमात्र का दहन किया जा रहा है। उनका संवेदनशील हृदय इस दुःख से इतना अभिभूत हो गया था कि वह ब्रह्मा तथा इन्द्र द्वारा भोग्य स्वर्गलोकों के आनन्द को सांसारिक ऐश्वर्य से प्राप्त आनन्द से भी तुच्छ समझते थे और इनके प्रति उनके मन में ईर्ष्या के भाव भी न थे।

दूसरी ओर वह शास्त्रोक्त शुचिता तथा निर्वाण अर्थात् आत्यन्तिक मुक्ति के दिव्य सौन्दर्य पर इतने मुग्ध थे कि वह अपने इस अभीप्सित पदार्थ की सम्प्राप्ति के लिए प्राणोत्सर्ग के लिए भी उद्यत रहते थे। उनमें श्रद्धा, कुशाग्र बुद्धि तथा सर्वभूतों के प्रति असीम प्रेम तथा सहानुभूति थी जिनसे उनके आध्यात्मिक अभियान की सफलता सुनिश्चित थी।

मन के वायवीय तथा आध्यात्मिक स्वभाव पर नियन्त्रण के अलौकिक ज्ञान की उपलब्धि के कारण उन्हें आकाश गमन की सिद्धि प्राप्त हो चुकी थी। वह आकाश में अबाध विचरण तथा शयन में समर्थ थे। इसी प्रकार वह अपने शरीर से अग्नि-स्फुलिंगों तथा जल-स्रोतों की सृष्टि कर सकते थे। इतना ही नहीं, वह अपने शरीर को किसी भी पदार्थ में परिणत करने में समर्थ थे। इससे नास्तिकों में ईश्वर के प्रति विश्वास की भावना जाग्रत होती थी और इसके फल-स्वरूप वह धर्म-मार्ग का अनुसरण करने लगते थे।

मिलारेपा चतुर्विध-ध्यान में निष्णात थे। इसके परिणाम-स्वरूप वह अपने दिव्य शरीर को एक ही साथ अधिष्ठातृ योगी के रूप में उन चौबीस धामों पर प्रक्षेपित कर सकते थे जहाँ देवगण आध्यात्मिक सम्पर्क के लिए एकत्र होते थे।

मिलारेपा देवताओं तथा महाभूतों पर प्रभुत्व-स्थापन में समर्थ थे जो उनके आदेश का अविलम्ब पालन करते थे। अलौकिक सिद्धियों में वह पूर्णतः दक्ष थे। बुद्धों के अगणित स्वर्गलोकों तथा आकाश में संक्रमण में वह समर्थ थे। अपनी अप्रतिम भक्ति के कारण उन्हें वहाँ के अधिपति बुद्धों तथा बोधिसत्त्वों से धर्म-विषयक परिसंवाद का सुअवसर प्राप्त हुआ करता था और इस प्रकार वहाँ उनके संक्रमण तथा अधिवास से स्वर्गलोक भी पवित्र हो जाया करते थे।

गोरखनाथ

आलन्दी के ज्ञानदेव की भाँति गोरखनाथ भी एक महान् योगी थे। गोदावरी-तट पर स्थित चन्द्रगिरि ग्राम में सूरज नामक एक ब्राह्मण रहते थे। उनकी पत्नी सरस्वती एक धर्मपरायण तथा सद्गुण-सम्पन्न महिला थीं। किन्तु निस्सन्तान होने के कारण ब्राह्मण-दम्पति बहुत दुःखी रहते थे। एक बार योगी मत्स्येन्द्रनाथ भिक्षा के लिए इनके घर आये। उन्हें देख कर उन धर्म-परायणा नारी को अपार हर्ष हुआ। उन्होंने उनकी श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक सेवा की। स्वयं को निस्सन्तान बताते हुए उनके समक्ष उन्होंने अपने इस दुर्भाग्य का भी उल्लेख कर दिया। योगी ने एक चुटकी पवित्र विभूति देते हए उन्हें आशीर्वाद दिया। कुछ दिनों के पश्चात् सरस्वती देवी ने एक पुत्र को जन्म दिया। पुत्र-जन्म के बारह वर्षों के पश्चात् मत्स्येन्द्रनाथ उनके घर आये और समुचित शिक्षा-दीक्षा के लिए उस बालक को अपने साथ लेते गये। उन्होंने उसे शिष्य-रूप में ग्रहण कर उसे तप के लिए बदरीनाथ भेज दिया जहाँ देवताओं तथा अप्सराओं ने उसे पथ-भ्रष्ट करने के लिए अनेक प्रयत्न किये; किन्तु वह समस्त प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करते हुए अपने अभियान में दृढ़तापूर्वक संलग्न रहा जिसके फल-स्वरूप उसे आश्चर्यजनक सिद्धियाँ प्राप्त हुई। मत्स्येन्द्रनाथ ने भी उसे अपनी विद्या तथा शक्ति प्रदान कर दी। यही बालक कालान्तर में गोरखनाथ नाम से विख्यात हुआ।

गोरखनाथ केवल वायु-पान कर बारह वर्ष तक तप करते रहे। उन्हें विस्मयकारी योग-शक्ति प्राप्त हुई। जब मत्स्येन्द्रनाथ ने हनुमान् के आदेशानुसार एक नारी-विशेष की सन्तानोत्पत्ति के लिए अपनी परकाया-प्रवेश की सिद्धि द्वारा एक राजा के मृत शरीर में प्रवेश किया, तब गोरखनाथ ने अपनी कामरूप नामक योग-शक्ति का प्रयोग कर एक नारी का रूप ग्रहण कर लिया। एक अन्य अवसर पर उन्होंने मिट्टी से एक खिलौना बनाया और उसे सजीव कर एक ग्राम-विशेष के बालकों को खेलने के लिए दे दिया। एक बार उन्होंने पर्वत के एक भाग को स्वर्ण बना कर उसे पुनः उसके पूर्व-रूप में परिणत कर दिया। उन्होंने एक शिला पर मूत्र-त्याग किया जिसके परिणाम-स्वरूप वह स्वर्ण बन गयी। एक बार गोदावरी-तट पर कुम्भ-मेले के अवसर पर अपनी योग-शक्ति से उन्होंने वहाँ एकत्र लोगों को उनका इच्छित एवं पुष्टिकर भोजन कराया। उसी मेले में उन्होंने अपनी अणिमा-सिद्धि द्वारा मशक का रूप ग्रहण कर लिया। एक अन्य अवसर पर उन्होंने अपनी योग-शक्ति द्वारा स्वयं को जला कर भस्म कर दिया

और इसके पश्चात् उन्होंने अपना पूर्व-रूप ग्रहण कर लिया। वह आकाश गमन तथा उसमें विचरण में समर्थ थे। उनकी सिद्धियों के बल पर उनसे अनेक चमत्कार हुए। राजा भर्तृहरि उनके शिष्य थे।

सन्त हरिदास

किसी निष्कपट सन्त का जीवन वस्तुतः धर्मानुमोदित विधि-निषेध का व्यावहारिक प्रदर्शन है। यह आध्यात्मिक जीवन में सम्पृक्त यथार्थ का जीवन्त दृष्टान्त है। उसका प्रत्येक क्रिया-कलाप शास्त्रों के आदेश-उपदेश को प्रामाणिक सिद्ध कर देता है। ऐसे लोग महान् सत्यों को महिमान्वित करते हैं जिससे अन्य लोग सोत्साह उनके आकांक्षी बन सकें।

हरिदास का जीवन उपर्युक्त तथ्य का एक अप्रतिम एवं अनुकरणीय दृष्टान्त है। हरिदास नाम-निष्ठा के मूर्त रूप थे। दिव्य नाम के प्रति उनकी आश्चर्यपद आस्था तथा अविचल निष्ठा को एक चमत्कार ही कहा जा सकता है। हिन्दू-धर्म से सम्बन्धित पवित्र ग्रन्थों तथा जनश्रुतियों में भगवान् के दिव्य नाम की शक्ति तथा क्षमता के विषय में जो कुछ भी निश्चयपूर्वक कहा जा चुका है, उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति हरिदास के कृतकृत्य जीवन में परिलक्षित होती है। वस्तुतः भक्त-शिरोमणि हरिदास ने यह सिद्ध कर दिया कि मनुष्य का जीवन केवल अन्न पर अवलम्बित नहीं है। भगवान् का नाम स्मरण भी उसके जीवन का पाथेय बन सकता है।

महात्मा हरिदास का जन्म बंगाल के जैसोर जनपद के बरहन नामक ग्राम में हुआ था। जन्मना वह मुसलमान थे। उनकी बाल्यावस्था में ही उनके माता-पिता का देहान्त हो चुका था। अनाथ हरिदास भगवान् के नाम का गुण-गान करते हुए नगर-भर में विचरण किया करते थे। उनके पास जल-पात्र (कमण्डलु) तक नहीं था। उनके दिन हरि-नाम के संकीर्तन में ही व्यतीत होते थे। वह चौबीस घण्टे में हरि-नाम का तीन लाख जप कर लेते थे और आश्चर्य की बात तो यह है कि उनका जप उपांशु न हो कर सस्वर हुआ करता था। विविक्तसेवी, वनवासी तथा एक दिन में तीन लाख हरि-नाम की सस्वर तथा सुमधुर आवृत्ति करने वाले हरिदास से लोग धीरे-धीरे परिचित होने लगे। लोग दूर-दूर से उनके दर्शन के लिए आने लगे; किन्तु कुछ दुर्जनों के लिए उनकी प्रसिद्धि असहनीय हो गयी। वे अकारण ही उनसे ईर्ष्या करने लगे।

इन दुर्जनों में निकटवर्ती कस्बे का भूमिपति रामचन्द्र खान भी था जो हरिदास के नाम को कलंकित करना चाहता था। उसने अनेक प्रलोभनों के माध्यम से उन सन्त को स्खलित करना चाहा, किन्तु उसकी एक न चली; क्योंकि स्वयं भगवान् उनके रक्षक थे। भगवान् के भक्तों का अहित करना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है। जब रामचन्द्र खान ने देखा कि उसके प्रलोभनों से हरिदास का स्खलन असम्भव है, तब उसने उनके भजन में अवरोध उपस्थित करने के लिए एक वेश्या को नियुक्त किया। वह इस तथ्य से अपरिचित था कि जो नित्य-प्रति हरि-नाम का संकीर्तन किया करता है, उसके लिए जागतिक सौन्दर्य नितान्त तुच्छ तथा घृणित है।

उस जन-शून्य वन में भी वह वेश्या हरिदास को विचलित करने में समर्थ न हो सकी। उनको प्रलोभित करने के उसके सारे प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हुए। वह उनको ईश्वर की उपासना तथा उसके प्रति उनकी अविचल श्रद्धा से विचलित नहीं कर पायी। उनमें त्याग तथा अनासक्ति के जो भाव थे, वे अद्भुत थे और उनका इन्द्रिय-निग्रह स्तुत्य था। कामिनी को आध्यात्मिक व्यक्ति के मार्ग का प्रबलतम अवरोध कहा जाता है; किन्तु हरिदास के लिए उनके प्रेम-पात्र ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु अभीप्सित न थी। वह पूर्ववत् पवित्र हरि-नाम-कीर्तन में संलग्न रहे :

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।।

चार दिन व्यतीत हो गये। वह नारी वहाँ प्रतिदिन आती रही; किन्तु वह अपनी कार्य-सिद्धि में असफल ही रही। वह उनसे जब कभी कुछ पूछती, वह उससे कह देते-कृपया कुछ देर प्रतिक्षा कीजिए। मुझे अपने जप की निर्धारित संख्या पूरी करनी है। इसके पश्चात् ही मैं आपसे कोई बात कर सकूँगा। वह वहाँ प्रतिदिन प्रातःकाल आ जाती और मध्याह्न तक बैठी रहती। इस बीच हरिदास नाम-संकीर्तन में संलग्न रहते। वह अधम नारी वहाँ प्रतिदिन आती और घण्टों बैठ कर उनके साथ हरि-नाम का जप करती रहती। वह वहाँ शाम को भी आती और आधी रात के बाद तक नाम-जप में संलग्न रहती। हरिदास का नाम-जप भी बिना किसी अवरोध के चलता रहता।

चार दिनों के पवित्र हरि-नाम के गुण-गान तथा सत्संग के कारण वह नारी पाप से पुण्य की ओर उन्मुख हो गयी। अब उसके मन में पश्चात्ताप की भावना जाग्रत हो उठी और वह अनुतप्त भाव से उनके चरणों पर गिर कर उनसे क्षमा-याचना करने लगी।

उसने इस निष्कपट भाव से अत्यधिक प्रभावित हो कर हरिदास ने उसे सान्त्वना प्रदान की। इसके पश्चात् उन्होंने उससे आश्वासन-सूचक शब्दों में बात करते हुए उसे दिव्य नाम की दीक्षा प्रदान कर दी। उन्होंने उसे हरिदासी नाम दिया जो आस-पास के लोगों में भी प्रचलित हो गया।

अपनी सारी सम्पत्ति निर्धनों में वितरित कर हरिदासी हरिदास के साधारण कुटीर में रहने लगी। हरिदास स्वयं शान्तिपुर चले गये। वे वहाँ के एक निकटवर्ती ग्राम फुलिया में एक कुटिया बना कर रहने लगे। वहाँ उन्होंने स्वयं को हरि-नाम के गुण-गान में पूर्णतः संलग्न कर लिया। वस्तुतः हरि का भक्त जहाँ-जहाँ भी जाता है, अपनी झोली में आनन्द-कुसुम लिये जाता है और स्वयं को भक्ति के अथाह सागर में डुबाये रहता है; अतः वह दुःख को नहीं प्राप्त होता।

जब गोराई नामक एक स्थानीय काजी उनकी प्रतिष्ठा तथा उनके प्रभाव से अवगत हुआ, तब उनके प्रति उसके मन में ईर्ष्या की अग्नि प्रज्वलित हो उठी। बहुत-कुछ सोचने-विचारने के पश्चात् उसने हरिदास के विरुद्ध राजकीय न्यायालय में एक आरोप-पत्र प्रस्तुत कर उन्हें गिरफ्तार कर लिया। मुकदमे की सुनवायी के पश्चात् हरिदास को यह दण्ड दिया गया कि उन्हें फूलिया की गलियों में सार्वजनिक स्थान पर कोडे लगाये जायें। न्यायालय द्वारा नियुक्त कोडे लगाने वाले उन्हें बन्दी बना कर उन पर कोडे बरसाते हुए बाजार में ले गये। इस हृदयहीन कशाघात के कारण हरिदास की पीठ से रक्त की धारा फूट निकली; किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि उस बन्दी सन्त के होठों से उसके प्रियपात्र का नामोच्चारण उस समय भी अनवरत रूप से होता रहा और इस नामोच्चारण के आनन्द के अतिरेक के कारण उन्हें कशाघात के देश की अनुभूति तक नहीं हुई।

इस प्रकार रक्तस्नात हरिदास को राजकीय भृत्य उस समय तक घसीटते रहे, जब तक वह इस राजाज्ञा की इस विभीषिका के कारण सड़क के किनारे गिर कर संज्ञाशून्य नहीं हो गये। उनको मृत जान कर भृत्यगण उन्हें गोराई के पास ले गये जिसने उन्हें नदी में फेंक देने का आदेश दिया; क्योंकि वह उसके मतानुसार कब्रगाह में दफनाये जाने के योग्य न थे।

पवित्र नदी के शीतल जल के प्रभाव से संज्ञाशून्य भक्त में चेतना का पुनः संचार हुआ और उसकी वेगवती धारा उनको बहा कर फुलिया के नदी-तट की सीढ़ियों तक पहुँचा गयी। इस घटना का प्रचार सर्वत्र हो गया और उनके दर्शन के लिए जन-समूह उमड़ पड़ा। यह बात गोराई के कानों तक पहुँच गयी और उसे अपने कुकृत्य के लिए घोर पश्चात्ताप होने लगा। वह निष्कलुष हृदय से घटना-स्थल पर शीघ्रातिशीघ्र पहुँच गया। वहाँ उनके चरणों पर गिर कर वह उनसे क्षमा-याचना करने लगा।

वास्तव में निष्कपट भक्तों की महिमा यही है कि उनके सत्संग से केवल उन लोगों का हृदय-परिवर्तन नहीं होता जो उन्हें अपने प्रेम या अपनी श्रद्धा का पात्र समझते हैं; अपितु इससे उनके शत्रुओं का भी हृदय-परिवर्तन हो जाता है। जिनके लिए भक्तों की क्षति अभिप्रेत होती है, उनके स्वभाव में भी उन भक्तों के सान्निध्य के कारण परिवर्तन तथा रूपान्तरण होने लगता है। भक्त हरि-नाम की मुक्ति-प्रदायिनी शक्ति का मूर्त रूप होता है। भक्त तुकाराम का उत्पीडक भी अन्त में उनका परम आज्ञाकारी भक्त बन गया था। इन बातों से यह निरपवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि 'जो किसी का निन्दक होता है, वह अन्ततोगत्वा उसी का प्रशस्ति-गायन करने लगता है।'

क्या दिव्य नाम की महिमा तथा शक्ति का वर्णन कभी सम्भव हो सका है? जब कोई सम्पूर्ण हृदय से दिव्य नाम की शरण में चला जाता है, तब क्या संसार की कोई भी शक्ति उसका अहित कर सकती है? वस्तुतः प्रकृति एक अजेय एवं अनाक्रान्त शक्ति के रूप में विरोधी शक्तियों से भक्त को सतत सुरक्षा प्रदान करती रहती है। वह उसे एक रहस्यमयी आन्तरिक शक्ति प्रदान कर देती है जिससे वह घोरतम यातना को भी मुस्कराते हुए सहन कर लेता है। वह शक्ति दुःख को शान्ति तथा आनन्द, घृणा को प्रेम और पाप को पुण्य में रूपान्तरित कर देती है।

अब सन्त हरिदास फुलिया के निकट एक गुफा में रहने लगे। जिस प्रकार पूर्णिमा की दीप्ति से रात्रि ज्योतिर्मयी हो उठती है, उसी प्रकार वहाँ भी उनके सन्त-सुलभ व्यक्तित्व से दिग्-दिगन्त उद्भासित हो उठा। उनके दर्शन के लिए उनके आश्रम में प्रतिदिन विशाल जन-समूह उमड़ने लगा; किन्तु वहाँ पहुँचने पर प्रत्येक आगन्तुक तत्काल ही एक तीव्र अनपेक्षित संवेदन से आक्रान्त हो उठता था। उनके दर्शनार्थियों के लिए यह एक कष्टप्रद परीक्षण का विषय बन गया। खोजबीन के पश्चात् अन्त में यह ज्ञात हुआ कि गुफा में एक विषधर सर्प की उपस्थिति के कारण ही दर्शनार्थियों को उस संवेदन-जन्य यन्त्रणा से ग्रस्त होना पड़ता था। उसके शरीर से निकलने वाले विषाक्त वाष्प से वहाँ का वातावरण अत्यधिक उष्ण हो उठता था। वहाँ एकत्र सभी भक्तों ने एकमत हो कर सन्त से उस स्थान के परित्याग का आग्रह किया; किन्तु हरिदास की ऐसी कोई इच्छा न थी, क्योंकि वह सर्प उनके लिए कष्टदायक नहीं था। तब भक्तों ने स्वयं अपने लिए उनसे ऐसा करने को कहा।

इसके पश्चात् हरिदास इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस विपत्ति से मुक्ति के लिए भगवान् के सर्वशक्तिमान् नाम की शरण में जाना हितकर होगा।

इस निर्णय के अनुसार उन्होंने एक संकीर्तन-दल की व्यवस्था की। इस दल ने कीर्तन का प्रारम्भ उत्कट उत्साह तथा ओजपूर्ण भाव से किया। जब इस रोमांचक कीर्तन के विजय-घोष से गुफा गूंज उठी, तब वहाँ एक विशाल तथा विस्मय-जनक सर्प की फुत्कार सुनायी पडने लगी और लोग उस सर्प को एकटक देखने लगे: किन्तु वह रंगता हुआ उस स्थान से सर्वदा के लिए चला गया। इस प्रकार उस दिव्य कीर्तन की शक्ति के माध्यम से भक्तों को उस दिन से उस कष्ट से मुक्ति प्राप्त हो गयी।

भगवान् के भक्तों का ऐसा ही प्रभाव होता है। इनसे नीलग्रीव भगवान् शिव भी भयभीत रहते हैं। सन्तों की नाम-साधना की यही महिमा है। इस विषय में हमें श्रीमद्भागवत में वर्णित देवों के इस मत से अवगत होना चाहिए:

"जो भगवान् के मधुर नाम का गुणगान करता है, जो उसके भक्तों को प्रिय है, जो स्वर्गलोक के सभी अधिपतियों अर्थात् ब्राह्मणों, आचार्यों तथा अन्य लोगों की सेवा करता है, वह निश्चित रूप से हमारे लिए पूजनीय है। तात्पर्य यह है कि हम देवता तो त्रिलोक के लिए पूजनीय हैं; किन्तु ऐसा भक्त हम लोगों के लिए भी पूजन-आराधन का पात्र है।"

आदिपुराण में श्रीकृष्ण अर्जुन के समक्ष इसका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं :

"जो लोग केवल मेरे भक्त हैं, वे मेरे सच्चे भक्त नहीं हैं। मेरे सर्वाधिक सच्चे भक्त तो वे हैं जो मेरे भक्तों के भक्त हैं।"

इस तथ्य पर विचार कीजिए। हरिदास को किसी एक जनशून्य स्थान पर रह कर गहन साधना में संलग्न रहना चाहिए था; किन्तु आधुनिक कृत्रिम वेदान्तियों के विपरीत वह प्राणिमात्र के दुःख से चिन्तित रहते थे। वह भगवान् के यथार्थ भक्त थे: क्योंकि वह भगवान् के भक्तों के भक्त थे।

अब सभी लोगों के प्रति उनकी समर्पण-भावना के एक अन्य दृष्टान्त पर विचार किया जाये। एक बार वह भगवान के नाम का सस्वर गुण-गान कर रहे थे। नाम का सस्वर गुणगान मौन गुण-गान से निम्नतर माना जाता है: किन्तु हरिदास को इसकी चिन्ता नहीं थी। वह कहा करते थे कि मौन गुण-गान केवल उनके लिए हितकर तथा प्रभावप्रद सिद्ध होगा, जब कि सस्वर गुण-गान की गूंज सभी प्राणियों के कानों में होती है और उससे उनके अतिरिक्त सहस्रों व्यक्तियों के उत्थान तथा मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। हरिदास की भक्ति-साधना की प्रत्येक प्रक्रिया के मूल में यही दिव्य तथा मानवतावादी अभिप्रेरक तत्त्व निहित था।

इस प्रकार भगवान् के दिव्य नाम की महिमा को प्रतिष्ठित कर सन्त हरिदास उनके उत्कट प्रेम के अथाह सागर में पूर्णतः निमज्जित हो गये। जब उन्होंने सुना कि गौरांग नवद्वीप में अवतरित हो कर समस्त भक्तों के हृदय पर भक्ति-सुधा का वर्षण कर रहे हैं, तब उनमें उनके सान्निध्य की इच्छा जाग्रत हो उठी। आनन्दातिरेक में नाचते तथा भगवान् का नाम-संकीर्तन करते हुए उन्होंने स्वयं को भगवान् के चरण-कमलों पर सर्वतोभावेन समर्पण कर दिया। उन्हें दिन-रात तथा काल की गति का भान तक नहीं रहा। सहस्र-सहस्र रवि-शशि की भाँति उनकी उत्कट भक्ति की ज्योति ने यथार्थ तत्त्व की उपलब्धि का एक महिमामय दृष्टान्त प्रस्तुत किया जिसे हम संस्कारविहीन होने के कारण उपेक्षित समझ रहे हैं। जैसा कि आज हम निरपवाद रूप से देख रहे हैं, हरिदास के जीवन की प्रत्येक घटना हमें केवल ईश्वर-साक्षात्कार के परिमण्डल की ओर नहीं उन्मुख करती; अपितु वह हमारे मार्ग पर हमें अपना साहचर्य प्रदान कर हमें प्रेम तथा पवित्रता के प्रकाश की ओर अग्रसरण की प्रेरणा प्रदान करती है, हमारे मार्ग के अवरोधों को नष्ट करती है और मायिक पाशों से हमारी रक्षा करती है।

जिसकी जिह्वा पर सर्वदा भगवान् का पवित्र नाम विद्यमान रहता है, भले ही वह अकुलीनों में भी अकुलीन हो, किसी भी उच्चकुलोत्पन्न व्यक्ति से पवित्र तथा श्रेष्ठ है। जो उनके महिमामय नाम का संकीर्तन अनवरत रूप में किया करता है. उसे समस्त तपो, पावन सकीर्तनों, यज्ञों, ध्यान की विविध विधाओं तथा सत्कर्मों के फल की सम्प्राप्ति तत्क्षण हो जाती है।

मुसलमान माता-पिता की सन्तान होते हए भी हरिदास वैष्णवों में एक रत्न की भाँति ज्योतिर्मय थे। वह इस पवित्र भूमि के हरि-भक्तों की आकाश-गंगा के एक दीप्तिमान नक्षत्र थे। मनुष्य का मूल्य निर्धारण केवल जन्म से ही नहीं, उसके कर्म से भी होता है। जब कोई व्यक्ति भगवान् के नाम का आश्रय ग्रहण कर लेता है, तब उसकी दृष्टि में शेष वस्तुएँ महत्त्वहीन हो जाती हैं। यज्ञ, धार्मिक अनुष्ठान, कर्म तथा ध्यान - इन सबका लत महिमामय भगवान् को प्रसन्न करना है, जब कि भगवान् का नाम स्वा भगवान् को उनके प्रत्यक्ष अवतरण के लिए विवश कर देता है। भगवान् के नाम-स्मरण तथा भगवद्-दर्शन में कोई भेद नहीं है!

भगवान् के दिव्य चरणों के प्रति आस्थावान् भक्त महिमा-मण्डित है। हमें उनका आशीर्वाद प्राप्त होता रहे जिससे हम उनके मार्ग तथा गन्तव्यः परिचित हो सकें !

दक्षिण भारत के सन्त

तिरुवल्लुवर

दो हजार वर्ष पूर्व चेन्नई (मद्रास) के मैलापुर (Mylapore) में वल्लुवर नामक एक जन्मजात सिद्ध तथा कवि रहते थे। स्थानीय लोगों में उनका तिरुवल्लुवर (Thiruvalluvar) नाम अधिक प्रचलित था जिसका अर्थ होता है वल्लुवा जाति का भक्त। वल्लुवा दलित होते हैं। उनका व्यवसाय नगाडे बजा कर लोगों को राजाज्ञा से अवगत कराना था। एक जनश्रुति के अनुसार तिरुवल्लुवर भगवान् नामक एक ब्राह्मण तथा आडि (Adi) नामक एक दलित स्त्री की सन्तान थे। ये दोनों पति-पत्नी थे।

तिरुवल्लुवर का जन्म पाण्ड्यों की राजधानी मदुरै में हुआ था। उन्हें ब्रह्मा का अवतार माना जाता है। उनकी पवित्र-हृदय पत्नी वासुकी एक पति-समर्पिता स्त्री थीं। वह एक आदर्श नारी थीं और अपने पति के आदेश का पालन करती थीं। तिरुवल्लुवर ने लोगों के समक्ष यह दृष्टान्त प्रस्तुत कर दिया कि मनुष्य गृहस्थाश्रम में रह कर भी विशुद्धता तथा पवित्रता से पूर्ण दिव्य जीवन व्यतीत कर सकता है। उनके समस्त ज्ञानवर्धक प्रवचनों तथा उपदेशों को तिरुक्कुरल (Thirukkural) नामक पुस्तक में संग्रहीत किया जा चुका है। उनमें से कुछ निम्नांकित हैं ::

> "जिस प्रकार सभी अक्षरों का प्रारम्भ 'अ' से होता है, उसी प्रकार सृष्टि का प्रारम्भ ईश्वर से होता है।"

***

> "पहले शास्त्रों का आद्योपान्त अध्ययन करो और इसके पश्चात् उनके आदेशानुसार आचरण करो।"

***

> "अनीचा का फूल सूंघते ही मुरझा जाता है। किन्तु आतिथेय की लेशमात्र उपेक्षा से भी अतिथि विचलित हो उठता है।"

***

**"मौत है कब्र में जा सो रहना,
जिन्दगी सुबह की अँगड़ाई है।"**

इन पदों की संख्या १३३० है जिनमें वेदों, उपनिषदों तथा षड्दर्शनों का सार-तत्त्व निहित है।

तिरुक्कुरल को सार्वजनीन बाइबिल कहा जाता है। यह गीता, कुरान तथा ज़ेन्द आवेस्ता के समकक्ष है।

कुछ जिज्ञासुओं ने तिरुवल्लुवर से पूछा- "महाराज, गृहस्थ तथा संन्यास-इन दो आश्रमों में कौन-सा आश्रम श्रेष्ठ है?"

तिरुवल्लुवर ने इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया। वह मौन रह गये। वस्तुतः वह उन लोगों को गृहस्थाश्रम की महिमा का उपदेश किसी दृष्टान्त के माध्यम से देना चाहते थे।

एक दिन तिरुवल्लुवर ठण्ढे चावल खा रहे थे। उन्होंने वासुकी से कहा- "वासुकी, चावल बहुत गरम हैं। इन्हें ठण्ढा करने के लिए पंखा ले आओ।" जब उन्होंने वासुकी से ऐसा कहा, तब वह कुएँ से पानी निकाल रही थी। वह डोर छोड़ कर पंखा लिये उनके पास पहुँच गयी। उन्होंने अपने पति से यह नहीं कहा कि ठण्ढे चावल गरम कैसे हो सकते हैं और इसके लिए पंखे की क्या आवश्यकता है। उन्हें तो पति के आदेश का पालन करना था जो उन्होंने कर दिया। किन्तु आश्चर्य की बात तो यह थी कि जल-पात्र कुएँ के भीतर बिना किसी आश्रय के अपनी पूर्वावस्था में ही अधर में लटका हुआ था। यह उनके सुदृढ़ पातिव्रत-धर्म की शक्ति से ही सम्भव हो सका था। जिज्ञासुओं ने इस घटना तथा वासुकी के उदात्त आचरण को आश्चर्यचकित हो कर देखा।

एक अन्य अवसर पर दोपहर में तिरुवल्लुवर ने अपनी पत्नी को बुला कर उससे कहा- "वासुकी, शीघ्रातिशीघ्र तुम एक दीपक ले आओ। मैं कपड़े में टाँका लगा रहा हूँ; लेकिन मुझे सुई का छिद्र नहीं दिखायी पड़ रहा है जिससे इसमें धागा डालना सम्भव नहीं हो पा रहा है।"

"मध्याह्न-काल में तुम्हें दीपक की क्या आवश्यकता है? तुम तो सुई के छिद्र को स्पष्ट रूप से देख सकते हो।" यह न कह कर उनकी पत्नी ने उनके आदेश का पालन कर दिया। जिज्ञासुओं को तिरुवल्लुवर के आदर्शमय जीवन तथा वासुकी के प्रशंसनीय आचरण से प्रचुर प्रेरणा प्राप्त हुई। उन्होंने सन्त से फिर कुछ न कहा। वे उनकी अनुमति ले कर वहाँ से पूर्णतः सन्तुष्ट हो कर चले गये। वे तिरुवल्लुवर तथा वासुकी के व्यावहारिक तथा अनुकरणीय जीवन से बहुत प्रभावित हुए। इससे उन्होंने यह शिक्षा प्राप्त की कि एक आदर्श गृहस्थ किसी भी तरह उस आदर्श संन्यासी से निकृष्ट नहीं है जो हिमालय की गुफाओं में बैठ कर निवृत्ति तथा तप के मार्ग का अनुसरण करता है। वहाँ जा कर उन लोगों को यह भी ज्ञात हुआ कि अपने-अपने देश, काल तथा परिस्थितियों में इनमें से प्रत्येक महान् है।

प्रिय पाठको, ऐसी नारियाँ अपने पति के हृदय-सिंहासन पर सर्वदा आसीन रहती हैं। निःसन्देह अब इनके दर्शन कठिनाई से ही हो पाते हैं। इसका कारण यह है कि वे स्वयं को विज्ञापित नहीं करतीं। फिर भी ऋषियों तथा सन्तों की हमारी इस धरती पर इनकी संख्या कम नहीं होगी। यदि हम इस प्रकार की नैतिक शुचिता को सम्पोषित-संवर्धित नहीं करेंगे, तो आधुनिक सभ्यता तथा वैज्ञानिक प्रगति के इस युग में हमारा पतन सुनिश्चित है। यदि आधुनिक पति तिरुवल्लुवर की भाँति व्यवहार करेगा, तो उसकी पत्नी कह देगी- "मेरा पति विक्षिप्त हो गया है। वह पहले से ही ठण्ढे चावलों को पंखे से फिर से ठण्ढा करने को कहता है।" इस व्यवहार के कारण पत्नियाँ अपने पतियों को बुरा-भला कह कर उनसे लड़ने को तैयार हो जायेंगी।

जिस घर में पत्नी निष्ठापूर्वक अपने पति की सेवा तथा पातिव्रत्य-धर्म का निर्वाह करती है, उस घर को पृथ्वी का स्वर्ग समझना चाहिए। इसके विपरीत जिस घर में पत्नी अपने पति से लड़ती-झगड़ती और उसके आदेश का अनादर करती है, वह निश्चित रूप से धरती का वास्तविक नरक है। पति-सेवा पूजा है। पतिव्रता नारियों को न किसी मन्दिर में जाने की आवश्यकता है, न किसी व्रत या तप करने की। उनके लिए तो पति की सेवा ही पूजा बन जाती है। वे पति-सेवा के माध्यम से ही ईश्वर-साक्षात्कार कर सकती हैं। पतियों को भी उदात्त गुण सम्पन्न तथा आदर्श पुरुष होना चाहिए। पत्नियों को किसी आचार्य से दीक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। उनके पति ही उनके गुरु या आचार्य होते हैं। पातिव्रत-धर्म का पालन करने वाली प्रशंसनीय नारियों की महिमा अक्षुण्ण रहे !

कनकदास

भगवान् किसी भक्त की जाति एवं उसके मत तथा वर्ण को नहीं देखते। वह उसके हृदय में झाँकते हैं। वह किसी व्यक्ति का मूल्यांकन बाह्य आचरण से न करके उसके हृदय, उसकी गुह्य अभिप्रेरणाओं तथा आकांक्षाओं से करते हैं। भारत के धार्मिक इतिहास में दलित समुदाय ने अपना विशिष्ट योगदान दिया है।

कनकदास दक्षिण भारत के दक्षिण कनरा (Kanara) जनपद में स्थित उद्धपि के एक महान् कृष्ण-भक्त थे। जन्मना अक्लीन होने के कारण उनका मन्दिर-प्रवेश वर्जित था। मन्दिर के पुजारी पूजा के लिए उनको मुख्य द्वार तक भी नहीं आने देते थे।

एक दिन मन्दिर की परिक्रमा करते समय उन्होंने मन्दिर के पीछे एक छोटी खिडकी देख ली। वह तत्क्षण उस खिडकी के सामने बैठ कर कृष्ण के गुण-गान में तन्मय हो गये। उनके संगीत के माधुर्य तथा भक्ति की गहनता से आकर्षित हो कर लोगों ने उन्हें घेर लिया। भगवान् कृष्ण उन्हें दर्शन देने के लिए वहाँ स्वयं उपस्थित हो गये। यह देख कर पुजारी विस्मित हो गये। आज भी तीर्थयात्रियों को वह खिड़की तथा स्थान दिखाया जाता है जहाँ कनकदास ने नाम-संकीर्तन किया था। दक्षिण कनरा के कई लोग आज भी कनकदास के उन आत्मोत्कर्षक गीतों को गा कर शक्ति, आनन्द तथा शान्ति प्राप्त करते हैं।

चिदम्बरम् के भगवान् नटराज के महान् भक्त, जिन्होंने दिव्य ज्योति से तादात्म्य स्थापित कर लिया था, एक दलित थे। चमार जाति के रैदास भी एक महान् सन्त थे। वह चित्तौड़ की महारानी मीराबाई के गुरु थे। जब वाराणसी के पण्डितों ने उनकी अकुलीनता के कारण उनके प्रति अत्यन्त घृणास्पद व्यवहार किया, तब रैदास ने उन्हें अपना शरीर दिखा दिया जिस पर उन पण्डितों ने एक रहस्यमय दीप्तिमान यज्ञोपवीत देखा।

आलवन्दार के शिष्य मरनार (Maranar), कुरल (Kural) के ख्याति-प्राप्त रचयिता तिरुवल्लुवर, तिरुप्पन आलवार तथा चोखामेला- ये सभी दलित सन्त थे। इनके सन्देश सार्वभौम थे। ये ईश्वर में निवास करते थे।

नाभा ने सन्तों के जीवन के सम्बन्ध में भक्त-माल नामक एक पुस्तक लिखी थी। वह स्वय एक महान् सन्त थे। उनका जन्म भी समाज की निम्नतर श्रेणी के एक परिवार में हुआ था।

उन दलित सन्तों की महिमा में वृद्धि होती रहे जो मानवता की सुख-शान्ति के लिए क्रियाशील रहे, जिन्होंने शाश्वत सत्य का प्रचार-प्रसार किया, जिन्होंने महिमा-मण्डित भारत के धार्मिक आख्यानों को समृद्ध किया हमारा मार्गदर्शन कर रहे हैं! उन लोगों ने अपने जीवन में जो कुछ किया है और जो हमारे हृदयस्थ हो कर आज भी अपने उपदेशों तथा उदाहरणों मे यदि आप लोगों ने अपने दैनिक जीवन में उसके शतांश का भी अभ्यास का लिया. तो आप दिव्य पुरुष, अतिमानव या सन्त के रूप में रूपान्तरित है जायेंगे।

हम कनकदास, नन्दा तथा रैदास का अभिनन्दन करते हैं।

नीलकण्ठ दीक्षितार

तीन सौ वर्ष पूर्व दक्षिण भारत में नीलकण्ठ दीक्षितार नामक एक महापुरुष रहते थे। वह प्रचण्ड मेधा के स्वामी, विलक्षण दार्शनिक, अप्रतिम भक्त तथा लब्ध-प्रतिष्ठ राजनेता थे। उनकी संवेदनशील बुद्धि अत्यन्त कुशाण थी। एक बार पढ़ लेने से ही उनके मस्तिष्क में सब-कुछ अंकित हो जाता था।

नीलकण्ठ दीक्षितार बौद्धिक क्षमता तथा आध्यात्मिक बोध के अप्रतिम प्रतीक अप्पय्य दीक्षितार के अनुज थे। अप्पय्य दीक्षित ने दार्शनिक विषय पर अनेक पुस्तकों की रचना की थी। उनको भगवान् शिव का अवतार माना जाता था।

पारिवारिक सम्पत्ति के विभाजन के समय जब अप्पय्य दीक्षितार ने नीलकण्ठ से उनके अंश के सम्बन्ध में पूछा, तब पूर्णप्रज्ञ तथा विवेकशील अनुज ने उनसे ज्ञान तथा उनके आशीर्वाद के अतिरिक्त अन्य किसी भी बस्तु की माँग नहीं की। अप्पय्य ने अत्यन्त प्रसन्न हो कर ज्ञान तथा आशीर्वाद के साथ-साथ उन्हें भौतिक सम्पदा भी प्रदान की।

एक दिन नीलकण्ठ परम्परागत तथा प्रभावोत्पादक शैली में देवी-माहात्म्य पर व्याख्यान दे रहे थे। उपस्थित श्रोताओं में पाण्ड्य-साम्राज्य के अधिपति तिरुमलै नायक भी थे। अगाध ज्ञान, प्रचण्ड मेधा तथा उदात्तता से सम्पृक्त उस किशोर के व्याख्यान को सुन कर वह स्तब्ध रह गये। उन्होंने नीलकण्ठ को अपना प्रधानमन्त्री तथा राजपण्डित बनाने की बात सोची।

उस समय वहाँ के प्रधानमन्त्री पद के लिए एक शर्त थी जो बहुत कठिन न होते हुए भी एक ऐसी प्रहेलिका के समान थी जिसको सुलझा पाना सरल नहीं था। इसके समाधान में वहाँ के कृतविद्य पुरुष भी असमर्थ हो जाते थे; किन्तु नीलकण्ठ के लिए यह अत्यन्त सरल सिद्ध हुआ। उन्होंने महाराजा के समक्ष इसका समाधान प्रस्तुत कर दिया।

राजकीय वैभव तथा हर्षोल्लास के वातावरण में भी वह किसी धर्मनिष्ठ व्यक्ति की भाँति सरल, किसी दार्शनिक की भाँति प्रशान्त, किसी एकान्तवासी की भाँति संयमी तथा किसी रहस्यवादी की भाँति समर्पित जीवन व्यतीत करते थे।

नीलकण्ठ के प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण में सुन्दरमूर्ति आसारी नामक एक मूर्तिकार ने तिरुमलै नायक की धर्मपत्नी की मूर्ति को पाण्डुमण्डपम्, जो अभी निर्माणावस्था में था, में प्रतिष्ठित करने के लिए उसका तक्षण कर दिया। वह इस कला में निष्णात था; लेकिन दुर्भाग्य से एक अवांछनीय घटना हो गयी। महारानी की मूर्ति के दक्षिण उरुप्रदेश का एक अल्पांश मूर्ति का परित्याग कर आकाश में विलीन हो गया और उस स्थान पर एक स्पष्ट रिक्ति के दर्शन होने लगे। मूर्तिकार ने पुनः प्रयत्न किया; किन्तु उसका प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हो गया। देश-काल को आक्रान्त करने वाली अन्तर्व्यापिनी दृष्टि वाले नीलकण्ठ ने मूर्तिकार को महारानी के उरुप्रदेश के एक तिल के सम्बन्ध में सब-कुछ बता दिया। यह सुन कर मूर्तिकार अत्यन्त उद्विग्न हो उठा और मूर्ति को उसकी पूर्वावस्था में ही छोड़ कर वहाँ से चला गया।

महाराजा इस घटना से पूर्णतः अवगत हो गये। उनका हृदय सन्देह, भ्रम तथा आक्रोश से बोझिल हो उठा और बुद्धि-विपर्यय के कारण उन्होंने नीलकण्ठ को बन्दी बनाने का आदेश दे दिया।

उस समय नीलकण्ठ अपनी उपास्य देवी जगज्जनी मीनाक्षी को कपूर की आरती दिखा रहे थे। देवी की कृपा तथा अपनी अन्तर्दृष्टि के कारण उनको महाराजा के मन में उठे उस झंझानिल और उनके आदेश का पूर्वाभास हो गया। उन्होंने आरती-पात्र में कुछ और कपूर डाल कर उसे अपनी आँखों में लगा लिया जिसके फल-स्वरूप वह अन्धे हो गये।

इस दुःखद घटना से अवगत होने पर महाराजा के ज्ञान-चक्षु खुल गये। अनुताप तथा पश्चात्ताप के सिन्धु में डूबते-उतराते वह निर्मल-हृदय नीलकण्ठ के पास जा कर उनसे क्षमा-याचना करने लगे। करुणा, माधुर्य तथा अनुकरणीय भक्ति-भाव से सम्पन्न नीलकण्ठ ने अपनी नेत्र-ज्योति की प्राप्ति तथा महाराजा को अनुताप और पश्चात्ताप से मुक्त करने के लिए स्व-रचित पाँच सौ पाँच पदों के माध्यम से अपने हृदय की सारी भावनाएँ जगज्जननी के चरणों पर उँडेल दीं।

उस दिन से नीलकण्ठ ने राजसभा से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। महाराजा तिरुमलै नायक ने पालमडै की जागीर उन्हें भेंट स्वरूप दे दी। पालमडै तिरुनेलवेली से चार मील की दूरी पर है।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में भक्ति-सुधा के पान से उन्मत्त सन्त नीलकण्ठ ने अनेक कृतियों का प्रणयन किया जो अकृत्रिम, प्रवाहमयी, भव्य, विद्वत्तापूर्ण तथा आन्तरिक भावनाओं से ओत-प्रोत थीं। उन्होंने संन्यास ले लिया तथा कुछ दिनों के पश्चात् वह समाधिस्थ हो गये।

पुरन्दरदास

पुरन्दरदास एक महान् सन्त तथा कवि थे। इसके अतिरिक्त वह एक महान् संगीतज्ञ भी थे; किन्तु अन्तरात्मा की संगीत-सुधा के पान के पश्चात् उन्होंने बाह्य संगीत की रोमांचकता से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया।

एक सन्त के रूप में पुरन्दरदास समस्त भारत के लिए पूजनीय थे। वह अन्य राज्यों के कबीर, सूरदास, गौराग, तुकाराम तथा त्यागराज-जैसे सन्तों की कोटि के सन्त थे।

सोलहवीं शताब्दी में विजयनगर के कर्नाटक साम्राज्य के गौरवपूर्ण दिनों में पुरन्दरदास अपने वचनामृत से लोगों को उपकृत कर रहे थे। बंगाल, महाराष्ट्र, मारवाड़, उत्तर प्रदेश तथा तमिल नाड़ में जिस प्रकार क्रमशः गौरांग. तुकाराम, मीराबाई, तुलसीदास तथा त्यागराज समादृत हैं, उसी प्रकार कर्नाटक में पुरन्दरदास को पूजनीय समझा जाता है।

गौरांग, वल्लभाचार्य तथा पुरन्दरदास समकालीन थे। पुरन्दरदास महाराष्ट्र-स्थित प्रसिद्ध तीर्थस्थान पण्ढरपुर के अधिष्ठातृ देवता भगवान् विठ्ठल के पूजक थे।

पुरन्दरदास का जन्म १४८४ ई. में आधुनिक पुणे नगर से पन्दरह मील दूर स्थित पुरन्दरगढ़ में एक समृद्ध ब्राह्मण परिवार में हुआ था। कृष्ण-भक्त होने के पूर्व उनको श्रीनिवास नायक के नाम से अभिहित किया जाता था। उन्होंने सरस्वती बाई से विवाह किया जो एक धर्म-परायणा तथा समृद्ध महिला थीं। संगीत के प्रति पुरन्दरदास का अनुराग उत्कट था और इस कला में वह निष्णात थे। वह विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। व्यवसाय से वह जौहरी तथा साहूकार थे। उनकी विपुल सम्पदा के कारण उन्हें 'नव कोटि नारायण' कहा जाता था।

समृद्ध होते हुए भी श्रीनिवास नायक महाकृपण थे। परोपकार में उनका एक पैसा भी खर्च नहीं होता था। संन्यासियों, ब्राह्मणों तथा निर्धन लोगों को वह कभी भी भोजन नहीं कराते थे। नायक की धर्म-निष्ठ तथा ईश्वरभीरू पत्नी सरस्वती अपने पति के भौतिकवादी तथा अधार्मिक स्वभाव के कारण मन-ही-मन अत्यन्त दुःखी रहती थी।

एक ब्राह्मण अपने पुत्र का यज्ञोपवीत-संस्कार कराना चाहता था। एक दिन पुरन्दरदास के घर जा कर उसने कुछ धन की याचना की। सरस्वती ने कहा कि उसकी अपनी सम्पत्ति के नाम पर उसके पास कुछ भी नहीं है। किन्तु उस वृद्ध ब्राह्मण ने उससे कहा कि वह अपनी नाक में हीरे की जो नथ पहने हुए है. उसे उसके माता-पिता ने दिया था और उसे वह अपने इच्छानुसार उसे दे सकती है। इस पर सरस्वती ने उस ब्राह्मण को वह नथ प्रसन्नतापूर्वक दे दी।

ब्राह्मण ने उस नथ को श्रीनिवास नायक के पास गिरवी रख कर ऋण की याचना की। नायक ने तत्काल समझ लिया कि वह नथ उनकी पत्नी की है। ब्राह्मण ने उनके किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। वह नायक की दुकान से उनसे यह कह कर चला गया कि वह अपने धन के लिए उनके पास शीघ्र ही आयेगा।

नायक उस नथ को अपनी लोहे की तिजोरी में रख कर शीघ्र ही अपने घर पहुँचे जहाँ उन्होंने सरस्वती से वह नथ ले आने को कहा। किंकर्तव्यविमूढ़ सरस्वती ने सोचा कि अब उसका पति उसे कठोरतापूर्वक प्रताड़ित करेगा; अतः उसने विष-पान कर आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया। वह विष-पान करने ही वाली कि उसे विष-पात्र में किसी वस्तु के गिरने का आभास हो गया। विष-पात्र से उस वस्तु को निकाल कर उसने आश्चर्य चकित हो कर देखा कि वह उसकी वही नथ थी जिसे उसने उस वृद्ध ब्राह्मण को दान-स्वरूप दिया था। उसने ईश्वर की इस महती कृपा के लिए उसे धन्यवाद देते हुए उस नथ को अपने पति के समक्ष रख दिया।

नथ को देख कर नायक स्तब्ध रह गये। वह तत्काल ही अपनी दुकान पर गये; किन्तु उन्हें उस लोहे की तिजोरी में वह नथ नहीं मिली। उन्होंने अपनी पत्नी को इस नथ से सम्बन्धित सारा वृत्तान्त बताने का आदेश दिया। सरस्वती ने सारी घटना का आद्योपान्त वर्णन कर दिया। अब नायक को इस सत्य की स्पष्ट अनुभूति हो गयी कि वह वृद्ध ब्राह्मण जो दुकान से जाने के बाद फिर कभी नहीं लौटा, ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई न था जो वहाँ उसके परीक्षण-प्रशिक्षण के लिए आया था। इस घटना से उनका स्वभाव पूर्णतः परिवर्तित हो गया। धन के प्रति उनकी आत्यन्तिक आसक्ति समाप्त हो गयी और वैराग्य की भावना से उनका हृदय पूरित हो उठा। अपनी सारी सम्पत्ति को परोपकार में दे कर उन्होंने गृह-त्याग कर दिया। वह तुंगभद्रा नदी के तट पर स्थित कर्नाटक की राजधानी विजयनगर चले गये।

उन दिनों कर्नाटक के अधिपति कृष्णदेव राज थे जिनकी ख्याति सुदूर-विस्तृत थी। उस समय व्यासराजा साम्राज्य के संरक्षक सन्त थे जो एक महान् कृतविद्य एवं रहस्यवादी थे। नायक उनके शिष्य हो गये। उन्होंने अपने जीवन के शेष चालीस वर्ष अपने गीतों के माध्यम से इस धरती पर भक्ति के प्रचार-प्रसार में व्यतीत किये। १५६४ ई. में अस्सी वर्ष की आयु में विजयनगर में उनका देहान्त हुआ।

पुरन्दरदास को नारद ऋषि का अवतार माना जाता है। संगीत की कर्नाटक शैली के वह जनक थे। राग-ताल का उन्हें विशद ज्ञान था। कर्नाटक साहित्य को उनका योगदान अप्रतिम तथा उनकी साहित्यिक शैली अत्यन्त उत्कृष्ट है।

भाषा पर अधिकार, अभिव्यक्ति का सौन्दर्य, कवि-सुलभ प्रतिभा तथा प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों का विशद ज्ञान - पुरन्दरदास में ये सभी गुण विद्यमान थे। इसके अतिरिक्त जहाँ तक स्वर-संगीत तथा लयबद्धता का सम्बन्ध है, उन्हें संगीत का युक्तियुक्त ज्ञान था। सार्थक भावों से समन्वित लयबद्ध गति को नाट्य कहते हैं। वह इस कला में भी दक्ष थे; किन्तु उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि तो यह थी कि वह स्वयं को अपरोक्षानुभूति से कृतकृत्य कर चुके थे।

पुरन्दरदास सन्तों की एक ऐसी पंक्ति को दीक्षित कर गये जो अपने आध्यात्मिक सन्देश से कर्नाटक को शताब्दियों तक लाभान्वित करती रही।

पुरन्दरदास ईश्वर को लक्ष्मीपति मानते थे। उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति ईश्वर के चरणों पर अर्पित कर दी। अपनी भौतिक सम्पदा के परित्याग के पश्चात् उन्हें आध्यात्मिक सम्पदा की सम्प्राप्ति हो गयी। यह आध्यात्मिक कोष एक पीढी से दसरी पीढी को प्राप्त होता रहा और इसमें ह्रास न हो कर वृद्धि ही होती गयी।

पुरन्दरदास अपने गीतों के माध्यम से भगवान् से निवेदन करते हैं :

अहंकार-अज्ञान-ग्रस्त था मेरा यौवन,
अगणित इच्छाओं से बोझिल मेरा जीवन,
प्रशमित हुई अभी तक भी कामाग्नि न मेरी,

एक बार भी किया नहीं हरि-नाम-स्मरण।

शिशु को क्षमा प्रदान किया करती है माता,
मुझको भी तुम क्षमा करो हे विश्व-विधाता,
दास बना कर अपना मन की शान्ति मुझे दो,
तुम समर्थ हो और दुःखी जन के हो त्राता।

तुम हो लक्ष्मी-पति, करते हो धन का वर्षण,
तुम्हीं आदि आचार्य तुम्हीं पृथ्वी-पति भगवन्,
पतित-पावनी सुरसरिता के तुम स्रष्टा हो,
तुमसे ही होता असहायों का परिरक्षण।

कूट-कूट कर मुझमें भरे हुए हैं दुर्गुण,
नहीं किया पर तुमने मेरा छिद्रान्वेषण,
तुमने मेरे पापों को है क्षमा कर दिया,
मुझ पर हुआ तुम्हारी दिव्य कृपा का वर्षण।

कृपा तुम्हारी मुझ अयोग्य पर,
अज्ञानी पर, कैसे करूँ प्रसन्न तुम्हें, किस विधि से सत्वर ?
कमल-सुशोभित नाभि-क्षेत्र है दिव्य तुम्हारा,
पूजन करूँ तुम्हारा मैं सुमनों से सुन्दर ?

रवि-शशि नेत्र तुम्हारे करते जग को ज्योतित,
रख दूँ पाद-पद्म पर क्या मैं स्वर्ण अपरिमित ?
पर धन-देवी स्वयं पार्श्ववर्तिनी तुम्हारी
गंगा-जल से करूँ तुम्हारा पद-प्रक्षालन ?

पर पदारविन्द से ही निःसृत गंगा-जल
तब क्या करूँ, पुरन्दर के उपास्य हे विठ्ठल ?
मैं क्या अर्पित करूँ चरण-कमलों पर पावन ?
वर दो, अक्षुण्ण रहे नाम जप-अभिक्रम अविरल ।

तायुमानवर

दो सौ तीस वर्ष पूर्व दक्षिण भारत के तंजावूर जनपद में स्थित वेदारण्यम् नगर में केटिल्य पिल्लै (Ketilya Pillai) नामक एक व्यक्ति रहते थे। वह बहुत विद्वान् तथा धर्मनिष्ठ थे। वह शिव मन्दिर के प्रबन्धक थे। उनकी प्रतिभा, विद्वत्ता तथा सद्‌गुणों से अवगत हो कर तिरुचिरापल्ली के राजा मुत्थु विजय रघुनाथ चोक्कलिंग नायक ने उन्हें अपनी चल-अचल सम्पत्ति का प्रबन्धक नियुक्त कर दिया। केटिल्य पिल्लै के चिदम्बरम् पिल्लै नामक एक पुत्र था जिसे उनके अग्रज ने अपना दत्तक पुत्र बना लिया। केटिल्य पिल्लै तिरुचिरापल्ली के तायुमानेश्वर-मन्दिर में प्रति दिन जा कर सन्तान प्राप्ति के लिए भगवान् से प्रार्थना करने लगे। सर्वशक्तिमान् भगवान् की कृपा से उनको एक

पुत्र की प्राप्ति हुई। उसने तायुमानेश्वर की कृपा से जन्म-ग्रहण किया था; अतः केटिल्य पिल्लै ने उसे भगवान् का नाम दे दिया।

बालक तायुमानवर अत्यन्त मेधावी था। उसने अल्पावधि में ही उपनिषदों, पुराणों, इतिहास, व्याकरण आदि का अध्ययन कर लिया। उस कृतविद्य बालक का पाण्डित्य अप्रतिम था। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात तिरुचिरापल्ली के राजा के आग्रह पर उसने चौदह वर्ष की अल्पायु में ही राजा एक अत्यधिक सुन्दर बालक था। वह आजानुबाह था जिसे हिन्दुओं में की सम्पत्ति के प्रबन्धक के रिक्त पद का कार्यभार ग्रहण किया। तायुमानवा महानता का प्रतीक समझा जाता है। तायुमानवर सत्यान्वेषी था। उसने राजसभा के पण्डितों को पराजित कर दिया और उन्हें सत्यान्वेषण के लिए राजसभा से बाहर भेज दिया। राजा तायुमानवर से अत्यधिक प्रसन्न हुआ।

'मेरी शंकाओं का निराकरण कर मुझे ज्ञान प्रदान करने वाला गुरु कब मिलेगा', यह विचार तायुमानवर को सर्वदा उद्वेलित किये रहता था। उन्हीं दिनों तिरुमूल नायनार की शिष्य-परम्परा के मौनगुरु स्वामी नामक एक सन्त तायुमानेश्वर के दर्शन के लिए तिरुचिरापल्ली आये। बालक तायुमानवर उनकी ओर आकर्षित हो गया और उनकी चरण-वन्दना कर छाया की भाँति उनका अनुगमन करने लगा। उसने मौनगुरु से अद्वैत दर्शन के विभिन्न जटिल विषयों पर वाद-विवाद तथा वार्तालाप किया। अब उसके मन में वैराग्य-भाव जाग्रत हो गया और वह अपने राजकीय उत्तरदायित्व के प्रति पूर्णतः विरक्त हो गया। यह देख कर राजा ने उसे उसके कार्य-भार से मुक्त कर दिया। इसके पश्चात् वह स्वयं उनका शिष्य हो गया।

विवाह के प्रति पूर्णतः उदासीन रहते हुए भी तायुमानवर ने अपने गुरु तथा अग्रज की प्रसन्नता के लिए विवाह कर लिया। उनके एक पुत्र था जिसका नाम कनगसभापति पिल्लै था। अपनी पत्नी की मृत्यु के पश्चात् गुरु के आदेशानुसार वह संन्यासी हो गये। गृह-त्याग के समय उनके पास एक कौपीन के अतिरिक्त और कुछ भी न था। वह योगाभ्यास करने लगे और उनका सारा समय ध्यान तथा समाधि में व्यतीत होने लगा। उन्हें प्रेरणा तथा साक्षात्कार की सम्प्राप्ति इन गीता को संग्रहित कर उन्हे पुस्तक रूप ने दिया। अरुलकर हई। उनके कण्ठ से अनेक प्रेरणाप्रद गीत निःसृत हए। उनके शिष्य अरुलयार ने को ज्ञान की रहस्यात्मक विधा में दीक्षित किया। इसके पश्चात् वह रामनाथपुरम् चले गये। वह निर्विकल्प समाधि में प्रविष्ट हए।

तायुमानवर स्वामी के आत्म-साक्षात्कार-सम्बन्धी गीत समस्त दक्षिण भारत में प्रतिदिन गाये जाते हैं। ये गीत उत्थापक, आत्मोद्दीपक, भव्य भावों से ओतप्रोत तथा चमत्कारपूर्ण हैं। उनमें सूक्ष्म दार्शनिक भाव गर्मित हैं जो श्रोताओं के अन्तस्तल में प्रविष्ट हो जाते हैं।

तायुमानवर वेदों की प्रतिमूर्ति थे। वह ईश्वर-साक्षात्कार के जीवन्त आश्वासन थे। अपने प्रवचन के लिए उन्होंने कभी किसी मंच का उपयोग नहीं किया। वह पूर्ण ज्ञानी तथा ब्रह्म के साथ तद्रूप थे। ब्रह्म के तात्विक स्वरूप से वह एक हो चुके थे। शंकर के सगुण-अपर ब्रह्म में लीन होने के कारण उन्हें दिव्य अष्ट गुणों की प्राप्ति हो चुकी थी।

ज्ञानी होने के कारण उनका तादात्म्य सर्वभूतों से स्थापित हो चुका था। उनके कार्यों तथा प्रकृति के नियमों में समरूपता होती थी। उनके कार्य वायु, वर्षा तथा सूर्य की किरणों की क्रियाशीलता के अनुरूप होते थे। यदि कोई ज्ञानी दश व्यक्तियों को अनिष्टमूलक अविद्या से मुक्त कर उन्हें ऊर्ध्वगामी बना देता है, तो उसके इस कार्य को लोक-संग्रह कहा जायेगा। सामाजिक तथा राजनैतिक कार्यों से ज्ञानी का कोई सम्बन्ध नहीं होता।

तायुमानवर स्वामी के जीवन-चरित्र तथा उपदेशों को ज्ञानबोधिनी, चेन्नै ने पाँच खण्डों में प्रकाशित किया गया है। उनके गीत ग्रामोफोन पर भी बजाये जाते हैं।

योगी मुकुन्द राय

योगी मुकुन्द राय एक असाधारण पुरुष थे जो लगभग सात सौ वर्ष पूर्व दक्षिण भारत-स्थित विजयनगरम् में रहते थे। विजयनगरम के राजप्रासाद में उपलब्ध अभिलेखों से हमें यही जानकारी प्राप्त हई है। विजयनगरम के तत्कालीन राजा जयपाल के दरबार में जब कोई महात्मा या संन्यासी आता यदि महात्मा उन्हें सन्तुष्ट करने में विफल हो जाता था, तो वह उसे सरोवर था, तब वे उससे कहा करते थे- मुझे ब्रह्म का दर्शन कराओ।" के उत्खनन-जैसे श्रमसाध्य कार्यों में संलग्न कर देते थे। राजा को ब्रह्म का दर्शन करा पाने में असमर्थ सैकडो साधु इस उत्खनन कार्य में लगे हुए थे।

'नारायण, जय नारायण, जय जय नारायण' इन शब्दों के माध्यम से हरि-नाम का गुण-गान करते हुए एक दिन योगी मुकुन्द राय भी दरबार की ओर चल पड़े। द्वार पर खड़े सिपाही ने उन्हें भीतर प्रविष्ट होने से रोकते हुए कहा कि वहाँ जाने पर उन्हें भी उत्खनन कार्य में लगा दिया जायेगा। योगी मुकुन्द राय ने कहा कि यदि उन्हें राजा के दर्शन हो जाते हैं, तो उन्हें उत्खनन कार्य पर कोई आपत्ति नहीं होगी। राजा ने उनसे भी वही प्रश्न किया जो अन्य महात्माओं से किया करते थे। मुकुन्द राय ने कहा- "हाँ, मैं निश्चित रूप से आपको ब्रह्म का दर्शन करा दूँगा। आप एक घोड़ा मँगाइए।" इसके पश्चात् उन्होंने राजा से घोड़े पर सवार हो जाने को कहा। राजा घोड़े पर चढ़े; किन्तु वह अभी उस पर बैठ भी नहीं पाये थे। उनका बायाँ पैर रकाब में था और उनका दाहिना पैर रकाब में न हो कर हवा में झूल रहा था। वह घोड़े के दूसरे पार्श्व में नहीं जा सका था। तभी योगी ने कोड़े का कठोरतापूर्वक घोड़े पर प्रहार कर दिया। इसके पश्चात् तत्क्षण राजा वहीं पर समाधिस्थ हो गये। वह सात दिनों तक समाधिस्थ रहे। घोड़ा भी वहीं पर शान्त भाव से खड़ा रहा। आठवें दिन जब राजा की समाधि भंग हुई, तब उसने उनको साष्टांग प्रणाम करते हुए कहा- "हे पूजनीय महापुरुष, हे मेरे गुरु, मैं आपका शिष्य हूँ। मैं आपकी किसी भी सेवा के लिए उद्यत हैं।" योगी ने कहा- "मुझे किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। आप इन साधुओं को उत्खनन कार्य से मुक्त कर दीजिए और भविष्य में इनको इस प्रकार पीड़ित तथा दास हूँ। मत कीजिए।"

योगी मुकुन्द राय ने राजा के लिए 'प्रेमामृत' तथा 'विचार-सिन्धु' नामक वेदान्त-विषयक दो पुस्तकें लिखीं। अध्ययन तथा गहन ध्यान के लिए उपयोगी ये दोनों पुस्तके आज भी उपलब्ध हैं।

परमहंस तैलंग स्वामी

परमहंस तैलंग स्वामी ने आन्ध्र प्रदेश में विशाखपत्तनम् जनपद-स्थित होलिया के एक ब्राह्मण-परिवार में जन्म-ग्रहण किया था। उनके पिता नृसिंहधर (Nrisinghadhar) बहुत परोपकारी सज्जन थे। वह अपनी विद्वत्ता के लिए भी विख्यात थे। नृसिंहधर तथा उनकी पत्नी, दोनों धर्म-परायण थे। बहुत दिनों तक ये लोग सन्तान-सुख से वंचित रहे, अतः नृसिंहधर ने अपना दूसरा विवाह कर लिया; किन्तु इस घटना से उनकी कोमल-हृदया प्रथम पत्नी मर्माहत हो उठी। वह एक अनुष्ठान का प्रारम्भ कर सन्तान प्राप्ति के लिए भगवान् शिव से प्रार्थना करने लगी। समय आने पर उसने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम शिवराम रखा गया। जब शिवराम केवल पाँच वर्ष का था, तभी उसके पिता का देहान्त हो गया। वेदों तथा शास्त्रों के अध्ययन के लिए उसे एक विद्वान् व्यक्ति के पास भेजा गया। माता की मृत्यु के पश्चात् शिवराम के जीवन में एक परिवर्तन आया और उसने संसार का परित्याग कर दिया। उसने भारत के विभिन्न पवित्र तीर्थस्थानों की यात्रा की। इस प्रकार का तीर्थाटन मध्ययुगीन संस्कृति तथा आध्यात्मिक शिक्षण का एक सुपरिचित अंग हुआ करता था। एक स्थान से दूसरे स्थान के इस परिभ्रमण-काल में उसे एक सन्त के दर्शन हुए जिनके व्यक्तित्व से वह इस सीमा तक प्रभावित हुआ कि वह शीघ्र ही उनका शिष्य बन गया और उनके साथ उसने समस्त भारत की यात्रा की। उसने सन्त से योग की विभिन्न विधाओं तथा ध्यान एवं साधना की अन्य

रहस्यमयी प्रक्रियाओं का प्रारम्भिक ज्ञान अर्जित किया। इसके पश्चात् लोग उसे गणपति स्वामी या तैलंग स्वामी के नाम से जानने लगे।

अपने गुरु के शरीर त्याग के पश्चात् तैलंग स्वामी रामेश्वरम् चले गये। वहाँ उन्होंने सभी जातियों के अनेक शिष्यों को एकत्र कर उन्हें प्रशिक्षित किया। एक अवसर-विशेष पर उन्होंने एक मृत व्यक्ति को पुनर्जीवित कर दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने लोगों के समक्ष फलित ज्योतिष से सम्बन्धित अनेक चमत्कारों के प्रदर्शन किये। इन घटनाओं से वह नगर में प्रख्यात हो गये और उनके दर्शन के लिए जन-समूह उमड़ने लगा, किन्तु इससे उनको असुविधा होने लगी; क्योंकि लोग अनावश्यक प्रश्नों द्वारा उनको कष्ट देने लगे। इस उत्पीड़न से मुक्ति के लिए वह योग के अध्ययन को स्थगित का रामेश्वरम् से नेपाल चले गये; किन्तु वहाँ भी लोग उनके एकान्त में विघ्न उपस्थित करने लगे। अतः वहाँ से वह तिब्बत चले गये। वहाँ उन्होंने मानसरोवर में अपनी इच्छा के अनुसार योगाध्ययन का समापन किया। योग की प्रक्रियाओं में पूर्ण दक्षता की प्राप्ति के पश्चात् वह वाराणसी चले आये जहाँ वह अपने जीवन के अन्तिम दिन तक रहे। वाराणसी आने के पश्चात् उन्होंने अपने शिष्यों के अतिरिक्त अन्य किसी से भी कोई बात न की। अपने शिष्यों द्वारा दिये गये अन्न-जल से ही वह सन्तुष्ट रहते थे। वह न तो किसी से किसी वस्तु की याचना करते थे, न दी हुई किसी वस्तु को अस्वीकार करते थे। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि वह विशुद्ध अर्थ में एक परमहंस हो गये थे।

एक बार तैलंग स्वामी ने तत्कालीन राज्यपाल की तलवार गंगा में फेंक दी। जब राज्यपाल ने उनसे अपनी तलवार माँगी, तब वह जल में कूद पड़े और वहाँ से दो तलवारें ले कर बाहर निकले। राज्यपाल यह नहीं समझ सके कि उन दो तलवारों में उनकी तलवार कौन-सी है।

एक बार कुछ दुष्टों ने उनके मुँह में चूने का पानी डाल दिया; किन्तु तैलंग स्वामी ने शंख पचार (Sankh Pachar) क्रिया द्वारा अपने गुदा-द्वार से इसे बाहर निकाल दिया।

परमहंस तैलंग स्वामी को दो सौ अस्सी वर्ष की आयु तक जीवित रहने का श्रेय प्राप्त है। वह एक उदार हृदय सन्त, पूर्ण तपस्वी एवं सरलता तथा मनोनिग्रह की प्रतिमूर्ति थे। प्रेम तथा नये युग की भावात्मक आध्यात्मिकता से उनका हृदय आप्लावित था। एक सन्त के रूप में वह अकृत्रिम दयालुता, परोपकार तथा उदार हृदयता के लिए सुप्रसिद्ध थे। उनके यहाँ सभी जातियों तथा मतों के शिष्यों, वे चाहे निम्नकुलोत्पन्न साधारण या अज्ञ जन ही क्यों न हों, को शरण प्राप्त होती थी। वह अपने शिष्यों को ईश्वर-प्रेम तथा मैत्री-भाव के जो उपदेश दिया करते थे, उनमें सद्गुरु की मेधा तथा कृपा के प्रत्यक्ष दर्शन होते थे।

मानवता को स्वामी जी की मुख्य देन धार्मिक दर्शन पर उनकी महान् कृति 'महावाक्य-रत्नावली' है।

पट्टिणत्थु पिल्लैयार

उन दिनों चोल राज्य के अन्तर्गत आधुनिक तंजावूर जनपद तथा निकटवर्ती कुछ अन्य भू-भाग आते थे। कावेरीपूमपट्टिनम् इसी राज्य में स्थित था। कहा जाता है कि यहाँ पट्टिणत्थु पिल्लैयार के रूप में कुबेर ने स्वयं अवतार ग्रहण किया था। पट्टिणत्थु के पास विपुल धन-राशि थी। उनका एक अन्य नाम तिरुवेंकडवर (Thiruvenkadavar) भी था। उनकी पत्नी का नाम शिवकला था। ये लोग निःसन्तान थे। उन्हीं दिनों भगवान् शिव के परम भक्त एक ब्राह्मण दम्पति, सरुमर (Sarumar) तथा सुशीला अपनी निर्धनता के कारण अत्यन्त चिन्ताग्रस्त रहते थे। एक रात भगवान् शिव ने स्वप्न में दर्शन दे कर उन्हें दूसरे दिन मन्दिर में जाने का परामर्श दिया और कहा कि उन्हें वहाँ एक शिशु मिलेगा। भगवान् ने उनसे यह भी कहा कि वे उस शिशु को तिरुवेंकडवर के पास ले जायें जहाँ

उन्हें प्रतिफल के रूप में प्रचुर मात्रा में अर्थ-प्राप्ति होगी। भगवान् के आदेशानुसार वे लोग उस शिशु को अगले दिन तिरुवेंकडवर के पास ले गये जहाँ उन्हें अत्यधिक धन मिला। शिशु का नाम मरुतप्पिरान (Maruthappiran) था। तिरुवेंकडवर तथा उनकी पत्नी ने उस शिशु का पालन-पोषण विधिवत् अपने पुत्र की भाँति ही किया।

जब मरुतप्पिरान की आयु सोलह वर्ष की हई, तब एक दिन उसने तिरुवेंकडवर से व्यापार करने के लिए समुद्र-पार जाने की अनुमति माँगी। तिरुवेंकडवर उसे उधर भेजना नहीं चाहते थे. फिर भी दुःखी मन से उसे उन्होंने समुद्र-पार जाने की अनुमति प्रदान कर दी। कुछ दिनों के पश्चात् मरुतप्पिरान अपने साथ ले जायी गयी समस्त पूँजी के विनिमय में केवल कुछ गोबर और बालू ले कर लौटा। जब वह घर के निकट आया, तब वह अपने एक नौकर को अपने पिता को देने के लिए एक पेटिका दे कर वहाँ से अदृश्य हो गया। पेटिका में गोबर और बालू देख कर उसके पिता को उसकी मूर्खता से घोर निराशा हुई। किन्तु जब गोबर के एक टुकड़े को तोड़ा गया, तब उसमें एक बहुमूल्य हीरा निकला और वह बालू स्वर्ण में परिणत हो गया। पेटिका से कुछ सुइयाँ तथा कागज का एक टुकड़ा भी निकला। कागज पर लिखा था-"ये टूटी सुइयाँ भी तुम्हारे साथ नहीं जायेंगी।" तिरुवेंकडवर के ज्ञान-चक्षु तत्क्षण खुल गये। वह समझ गये कि वह स्वयं भगवान् शिव थे। उन्होंने अपने मुख्य अधिकारी सेन्दनार (Sendanar) को अपनी सारी सम्पत्ति को फेंक देने का आदेश दे दिया। उन्होंने संन्यास की दीक्षा ग्रहण कर ली। वह पहले जिस नगर में रहते थे, उसी नगर में भिक्षा पर जीवन-यापन करने लगे। इस वस्तु-स्थिति से अवगत उनके सम्बन्धी बहुत दुःखी हुए। उनकी बहन तो इतनी दुःखी हुई कि उसने सोच लिया कि उसके भाई की इस दशा से श्रेयस्कर उसकी मृत्यु होगी। उसने उन्हें विष देने का विचार कर लिया। उसने मिष्टान्न में विष मिला कर उन्हें दे भी दिया। पट्टिणत्थु पिल्लैयार ने कहा- "किसी व्यक्ति का पाप स्वयं उस व्यक्ति को ही भस्म कर देता है; किन्तु इस मिष्टान्न से इस घर को ही भस्म होने दो।" उन्होंने वह मिष्टान्न अपनी बहन के घर की छत पर फेंक दिया और वह घर जल कर भस्म हो गया।

कुछ ही दिनों के बाद पट्टिणत्थ पिल्लैयार की माता का देहान्त हो गया। उन्होंने उनके दाह-संस्कार में कदली-स्तम्भ का उपयोग किया। उनकी ज्ञान-शक्ति से उन कदली- स्तम्भों से ही अग्नि प्रज्वलित हो गयी। वह वहाँ से पहले तिरुविडैमरुतूर और तत्पश्चात् तिरुवल्लूर चले गये। उन्होंने एक मृत व्यक्ति को पुनर्जीवित कर दिया। वह कोन्गुनाडु के प्रत्येक शिव-मन्दिर में गये। इसके पश्चात् वह तुलुव नाडु चले गये। तदुपरान्त वह चिदम्बरम् तथा कालहस्ति के सुप्रसिद्ध मन्दिरों में गये। वहाँ उन्होंने शिव के अनेक स्तोत्रों का गायन किया।

पट्टिणत्थु पिल्लैयार भद्रगिरि महाराजा के नगर में गये। वहाँ एक गणेश-मन्दिर में वह ज्ञान-निष्ठा में प्रविष्ट हो गये। उसी रात कुछ चोरों ने महाराजा के राजप्रासाद को लूट लिया और लौटते समय एक हीरक-जड़ित हार भगवान् गणेश को अर्पित कर दिया। पट्टिणत्थु पिल्लैयार भगवान् गणेश की प्रतिमा के बिलकुल निकट बैठे हुए थे। अतः वह हार उनके गले में आ गिरा। प्रातःकाल जब वहाँ पुलिस अधिकारी पहुँचे, तब उन्होंने देखा कि उस संन्यासी के गले में हार था। वे उन्हें चोर समझ कर महाराजा के पास ले गये जिन्होंने उन्हें सूली पर लटका देने का दण्ड दिया। स्वामी को सूली के स्तम्भके पास लाया गया; किन्तु उस समय भी वह मुस्करा रहे थे। उन्होंने यह शिव-गीत गाया - "मैं कुछ नहीं करता। तुम्हारे आदेश के बिना एक परमाणु भी गतिशील नहीं हो पाता। शरीर-ग्रहण के पश्चात् मुझसे कोई पाप नहीं हुआ है। अपने पूर्व-जन्म के पाप के कारण ही आज मुझे यह दिन देखना पड़ गया है।" इसी गीत की समाप्ति के पश्चात् तत्क्षण सूली के उस स्तम्भ में आग लग गयी। नौकरों ने इस विचित्र घटना की सूचना महाराजा को दे दी। महाराजा इस घटना से आश्चर्य के कारण स्तब्ध रह गये। वह नंगे पाँव दौड़ कर उनके चरणों पर जा गिरे। यह देख कर कि महाराजा ज्ञान के उपयुक्त अधिकारी हैं, स्वामी ने उनको तिरुविडैमरुतूर जाने का आदेश दिया।

पट्टिणत्थ पिल्लैयार ध्यान के लिए तिरुविडैमरुतूर के मन्दिर के पूर्वी द्वार के समीप बैठा करते थे। उधर भद्रगिरि महाराजा भिक्षाटन तथा गुरु-सेवा के पश्चात् मन्दिर के पश्चिमी द्वार के निकट बैठते थे। एक दिन एक छोटी कुतिया,

जो भूखी थी, भद्रगिरि के निकट आ कर दुम हिलाने लगी। कुतिया पर दया कर भद्रगिरि ने भिक्षान्न का शेषांश उसे दे दिया। इस प्रकार वह कुतिया कुछ दिनों तक उन्हीं के साथ रही। इस घटना से अवगत हो कर भगवान् पट्टिणत्थु पिल्लैयार के पास गये। उन्होंने स्वयं को क्षुधित बता कर उनसे भिक्षात्र की याचना की। पट्टिणत्थु पिल्लैयार ने कहा- "मुझ संन्यासी के पास एक कौपीन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उधर पश्चिमी द्वार पर एक गृहस्थ रहता है। आप उसके पास जाइए। भिक्षा अवश्य मिलेगी।" भगवान् शिव ने भद्रगिरि के पास जा कर पट्टिणत्थु पिल्लैयार के कथन की आवृत्ति कर दी। भद्रगिरि ने अत्यन्त उद्विग्न हो कर कहा- "इस पात्र तथा इस कुतिया ने ही मुझे गृहस्थ बना रखा है।" इतना कह कर उन्होंने विरक्त-भाव से उस पात्र को फेंक दिया; किन्तु वह पात्र कुतिया के शिर पर जा गिरा जिसके फल-स्वरूप वहीं पर उसका प्राणान्त हो गया। इसके पश्चात् भगवान् शिव अन्तर्धान हो गये।

कालान्तर में उस कुतिया ने काशी-नरेश की पुत्री के रूप में जन्म-ग्रहण किया। जब वह विवाह के योग्य हुई, तब राजा ने पुरोहितों से उसके विवाह की व्यवस्था करने को कहा। पुत्री ने कहा- "मेरे भाग्य में विवाह नहीं है। मेरे गुरु तिरुविडैमरुतूर के शिव-मन्दिर के पश्चिमी द्वार पर ध्यानस्थ हैं। मुझे मेरे गुरु के पास भेज दीजिए।" तब राजा उसे भद्रगिरि के पास ले गये। भद्रगिरि ने अपनी समाधि भंग कर अपनी योग-दृष्टि से देखा कि वह कुतिया उनके पास एक कन्या के रूप में पुनः आ गयी है। वह उसका हाथ पकड़ कर उसे अपने गुरु पट्टिणत्थु पिल्लैयार के पास ले गये। उन्होंने गुरु से पूछा- "क्या जो कुतिया मेरे भिक्षान्न का शेषांश ग्रहण किया करती थी, एक कन्या के रूप में जन्म-ग्रहण कर सकती है?" पट्टिणत्थ् पिल्लैयार ने कहा- यह सब भगवान् की इच्छा पर निर्भर है।" इसके पश्चात् उन्होंने शिव की प्रार्थना की। तत्क्षण एक प्रोज्ज्वल प्रकाश का आविर्भाव हआ और उस प्रकाश में वह कन्या तथा भदगिरि, दोनो अदृश्य हो गये। उनके साथ ही वह प्रकाश भी जाता रहा।

अन्ततः पट्टिणत्थ् पिल्लैयार तिरुवोट्टियूर चले आये। यह स्थान चेन्नई से बारह मील दूर है। वहाँ वह गडेरिया जाति के लडकों के साथ खेला करते थे। खेलते समय वह मानव-जीवन तथा अहंकार की अर्थहीनता का वर्णन करने वाला निम्नांकित गीत भी गाया करते थे :

"कीचु कीचु अम्बलम्,
कीय कीय अम्बलम्,
मच्चु मच्चु अम्बलम्,
माय माय अम्बलम्।।"

"Keechu Keechu Ambalam,
Keeya Keeya Ambalam,
Machu Machu Ambalam,
Maya Maya Ambalam."

जन्म ग्रहण करते ही शिशु 'कीचु कीचु' कह कर चिल्लाने लगता है। पूर्ण वयस्क होने पर जब उसे विश्वविद्यालय की उपाधि तथा कोई पद प्राप्त हो जाता है, तब वह अहंकार-ग्रस्त इधर-उधर भाग-दौड़ करने लगता है। इसे 'कीय कीय' कहते हैं। इसके पश्चात् उसके केश श्वेत हो जाते हैं और वह वार्धक्य को प्राप्त हो कर डगमगाते पैरों से चलने लगता है। यह 'मच्चु मच्चु' है। तत्पश्चात् उसकी मृत्यु हो जाती है। इसे 'माय माय' कहते हैं; किन्तु वह उस 'अम्बलम्' से वह अपरिचित ही रह जाता है जिसे चिदाकाश, निरपेक्ष सत्ता या परब्रह्म कहते हैं।

इसके पश्चात् पट्टिणत्थू पिल्लैयार ने तिरुवोट्टियूर में एक शिवलिंग का रूप ग्रहण कर लिया। इस समय वहाँ एक मन्दिर है जहाँ तीर्थयात्रियों का ताँता लगा रहता है। पट्टिणत्थ पिल्लेयार की गणना दक्षिण भारत के परम आदरणीय

सन्तों में की जाती है। उनके गीत अत्यन्त प्रेरणाप्रद हैं। वे पाठकों के मन में वैराग्य-भाव को शीघ्र ही जाग्रत कर देते हैं।

त्यागराज

त्यागराज दक्षिण भारतीय तेलुगु ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम रामब्रह्मम् था। पंचापकेसन तथा रामनाथन उनके भाई थे। त्यागराज के केवल एक पुत्री थी जिसका नाम सीतालक्ष्मी था। उसके एक पुत्र था जिसका नाम उसके एक पितामह के नाम पर त्यागराज रखा गया था।

त्यागराज दक्षिण भारत के एक महान् संगीतज्ञ सन्त थे। वह दक्षिण भारतीय संगीत के जनक तथा भगवान् राम के भक्त थे। उनके अधिकांश भक्ति-गीत भगवान् राम के स्तुतिपरक गीत हैं जो अत्यधिक प्रेरणाप्रद तथा आत्मोत्थान में सहायक हैं।

कहा जाता है कि त्यागराज ने भगवान् राम की स्तुति में चौबीस सहस्र कीर्तनों या गीतों की रचना की है। इनमें अधिकांश तेलुगु में तथा कुछ संस्कृत में हैं। आधुनिक युग के गायक उनके लगभग पाँच सौ गीत ही गाते हैं। जब भक्ति-गीतों का गायन श्रद्धा तथा निष्ठापूर्वक होता है, तब उनसे आत्मा तत्क्षण ही आध्यात्मिकता के उच्चतर शिखर की ओर आरोहण करने लगती है। इस स्थिति में वह भगवान् से तद्रूप हो जाते हैं जिससे उनको दिव्य सान्निध्य तथा भाव-समाधि की प्राप्ति हो जाती है।

त्यागराज का गायन तिरुवैयारु में देवी के मन्दिर में हुआ करता था। अपने दैनिक भिक्षाटन पर जाने के पूर्व वह देवी का पूजन किया करते थे। समग्र दक्षिण भारत के लोगों के लिए वह एक सुपरिचित सन्त थे। इसके अतिरिक्त अनेक राजा-महाराजा उनको अपने दरबारी संगीतज्ञ के पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे; किन्तु उन्होंने उंछ-वृत्ति ग्रहण कर ली थी और वह मात्र भिक्षान्न पर जीवन-यापन करते थे।

त्यागराज स्वामी एक अतिमानव थे। अनेक अवसरों पर उनको भगवान् राम के प्रत्यक्ष दर्शन हए थे। वह जिन विग्रहों का पूजन किया करते थे, एक बार उनको किसी ने नदी में फेंक दिया। एक वर्ष के पश्चात् त्यागराज ने स्वप्न में भगवान् राम का निर्देशन प्राप्त कर नदी के उस स्थान का पता लगा लिया जहाँ वे विग्रह बालुका-राशि में दबे हुए थे।

एक बार पुदुक्कोट्टै के तत्कालीन राजा ने गायकों की योग्यता का परीक्षण एक विचित्र विधि से किया। राजा ने उनके बीच एक बुझा हुआ दीपक रख कर अपनी कला में निष्णात उन गायकों को यह चुनौती दी कि वे बिना किसी अग्नि-शलाका या किसी अन्य साधन का उपयोग किये केवल एक गीत की शक्ति से उस दीपक को ज्योतित कर दें। त्यागराज स्वामी ने एक क्षण के लिए नारद का ध्यान कर ज्योतिः स्वरूपिणी राग में गीत गाया और दीपक स्वयं जल उठा। सभी लोग आश्चर्य चकित रह गये।

एक बार एक व्यक्ति तिरुपति की तीर्थ-यात्रा से लौटते समय एक मन्दिर के कुएँ में गिर कर डूब गया जिसे त्यागराज स्वामी ने पुनर्जीवित कर दिया। उन्हें भौतिक शरीर से अपनी आत्मा के निष्क्रमण की तिथि तथा घटिका का भी यथार्थ ज्ञान था। दिव्य ऋषि नारद ने उच्च कोटि के संगीत के प्रचार-प्रसार के लिए उन्हें 'स्वरार्णवम्' नामक एक पुस्तक दी थी।

त्यागराज में धन या समाज में किसी पद की कभी कोई आकांक्षा न थी। वह विनम्र थे। उन्होंने निर्धनता का चयन स्वयं ही किया था। एक बार तंजावूर के तत्कालीन अधिपति शरबोजी ने उनके पास एक सन्देश भेजा। सन्देशवाहक ने उनसे कहा- "कृपया, आप एक या दो ऐसे गीतों की रचना कर दीजिए जिनमें राजा का प्रशस्ति-गायन हो। इसके लिए वह आपको दश एकड़ भूमि तथा स्वर्ण से भरी एक पेटिका प्रदान करेंगे।" त्यागराज ने उत्तर दिया-"मैं कलुषित जीवन व्यतीत करने वाले राजा की चाटुकारिता के लिए अपने गीतों का प्रयोग क्यों करूं? उस अभिशप्त तथा घृणित स्वर्ण को धिक्कार है जो पाप तथा विषयासक्ति में लिप्त होने के लिए अभिप्रेरित करता है। उन्होंन कल्याणी में एक गीत गाया - "निधि चाला सुखमा। इस गीत का अर्थ है- "भगवान् राम की उपासना तथा स्वर्ण, इन दोनों में महत्तर सुख की प्राप्ति किससे होती है? हे मेरी अन्तरात्मा, तुम सत्य बोलो। दूध, मक्खन तथा दही एवं राम के ध्यान तथा भजनामृत के सार-तत्त्व में अधिक मधुर तथा स्वादिष्ट कौन है? मन की पवित्र गंगा में डुबकी या भ्रष्टाचार के पंकिल कूप में डुबकी, इन दोनों में अधिक स्वास्थ्यकर कौन है? अहंकार-ग्रस्त मनुष्य का प्रशस्ति-गायन तथा दयालु एवं सर्वशक्तिमान् परमात्मा का स्तुति-गान, इन दोनों में अधिक श्रेयस्कर कौन है?" त्यागराज की बातें सुनने के पश्चात् सन्देशवाहक के कण्ठ से एक भी शब्द नहीं निकला। वह मौन हो कर वहाँ से चला गया।

एक बार ट्रावनकोर के तत्कालीन महाराजा ने उनके पास अपने सन्देशवाहक को इसलिए भेजा कि वह उन्हें किसी भी प्रकार उनके पास ले आये। सन्देशवाहक ने त्यागराज को प्रलोभन देते हुए कहा कि महाराजा उन्हें विपुल धन-राशि तथा पद-प्रतिष्ठा प्रदान करेंगे। किन्तु त्यागराज ने उससे कहा- "मैं धन को मनुष्य की उन्नति में बाधक समझता हूँ। इससे मनुष्य को आनन्द की उपलब्धि नहीं हो पाती। इसके विपरीत यह उसकी दुर्गति का कारण बन जाता है। धन के लिए केवल अज्ञानी जन ही लालायित रहते हैं।" तत्पश्चात् उन्होंने सकाल भैरवि राग में गाये 'पदवि नी सद्भक्ति' शीर्षक गीत की उसके समक्ष व्याख्या करते हुए कहा- "जिस मनःस्थिति में मनुष्य राम के प्रति परोक्ष रूप से आस्थावान् होता है, वही जीवन की यथार्थ स्थिति है। संसार में ऐसे अनेक लोग हैं जो तोते की भाँति वेद-शास्त्रों तथा उपनिषदों की आवृत्ति कर सकते हैं; किन्तु ऐसे लोग इनके निहितार्थ के अनुसार जीवन-यापन नहीं कर पाते। क्या ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उन्हें अपनी यथार्थ स्थिति की प्राप्ति हो चुकी है? धरती पर ऐसे लोगों का अभाव नहीं है जिनके पास अपार धन तथा अनेक पत्नी-पुत्र हैं एवं जिन्हें महाराजाओं की मैत्री का भी सौभाग्य प्राप्त है। क्या ऐसे लोगों ने स्वयं को अपनी यथार्थ स्थिति में प्रतिष्ठित कर लिया है? समाज में तथाकथित प्रतिष्ठा का उपभोग करने वाला जो व्यक्ति अशुभ वासनाओं तथा घोर अज्ञान से आक्रान्त है. उसके विषय में क्या यह कहा जा सकता है कि उसे अपनी यथार्थ स्थिति की प्राप्ति हो चुकी है? नहीं, नहीं। जो राम के प्रति पूर्ण रूप से आस्थावान् है, जो भगवान् का भजन करता है और जिसे उनकी दिव्य कृपा की प्राप्ति हो चुकी है, केवल वही अपनी यथार्थ स्थिति में प्रतिष्ठित है।" सन्देशवाहक वहाँ से मौन हो कर चला गया।

कितना विशाल हृदय था त्यागराज का ! उन्होंने धन तथा पद-प्रतिष्ठा को सदैव तिरस्कृत किया। जो ईश्वर-साक्षात्कार के धन तथा आनन्द से कृतकृत्य है, उसके समक्ष त्रिलोक की सम्पदा भी नगण्य है। उदात्त आत्माओं की स्थिति अवर्णनीय है।

त्यागराज की समाधि कावेरी-तट पर स्थित तिरुवैयारु में है जो तंजावूर से सात मील की दूरी पर है। दक्षिण भारत के समस्त गायक यहाँ प्रतिवर्ष जनवरी मास में एकत्र हो कर अपार हर्ष के साथ उनके जयन्ती-समारोह का आयोजन करते हैं। १९४२ ई. की जनवरी में उनकी ९५ वीं जयन्ती मनायी गयी।

उन त्यागराज स्वामी की महिमा में वृद्धि होती रहे जिनके गीत श्रोताओं के हृदय में भक्ति, उल्लास तथा आनन्द का आरोपण करते हैं।

नन्दनार

नन्दनार दक्षिण भारत के एक दलितवर्गीय परिवार के सदस्य थे। वह विनम्रता, धैर्य तथा निष्कपटता की प्रतिमूर्ति एवं चिदम्बरम् के भगवान् नटराज के महान् भक्त थे। चिदम्बरम को दक्षिण काशी कहा जाता है। वहाँ एक विशाल मन्दिर है। भगवान शिव का एक अन्य नाम नटराज है। इस मन्दिर में इन्हीं की पूजा होती है। सर्वसाधारण को यह विश्वास है कि यदि कोई कुछ दिनों तक चिदम्बरम्-वास करे, तो उसके पाप नष्ट हो जायेंगे।

नन्दनार एक ब्राह्मण भूमिपति की भूमि पर भृत्य-रूप में कृषि-कर्म किया करते थे। एक दिन उन्होंने अपने स्वामी से भगवान् शिव के दर्शन के लिए चिदम्बरम् जाने की अनुमति माँगी। इस पर उस उद्धत भूमिपति ने उनको लांछित-अपमानित करते हुए कहा- "तुम जो नीच कुल में उत्पन्न दलित हो, ब्राह्मणों के आराध्य देवता शिव का पूजन करना चाहते हो? यहाँ से चले जाओ और जा कर अपने कुल देवताओं, भूत-प्रेतों का पूजन करो।" नन्दनार भगवान् नटराज के परम भक्त थे और श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक सदैव उनकी प्रार्थना किया करते थे। उनके बार-बार प्रार्थना करने पर उस ब्राह्मण भूमिपति ने उनसे कहा- "ठीक है। यदि तुम समय रहते २५० एकड़ भूमि पर धान का रोपण कर दोगे, तो मैं तुम्हें वहाँ जाने की अनुमति दे दूँगा।" इससे नन्दनार अत्यन्त निराश हुए। वह चिदम्बरम् में प्रति वर्ष होने वाले उत्सव में सम्मिलित होना चाहते थे; किन्तु कठिनाई यह थी कि उन्हें धान के रोपण का कार्य मात्र दो दिनों में ही पूरा करना था। अपने को धिक्कारते हुए वह सारी रात भगवान् नटराज की कृपा तथा उनके मार्गदर्शन के लिए उनकी प्रार्थना करते रहे। भगवान् नटराज ने एक चमत्कारपूर्ण विधि से अपने भक्त की सहायता कर दी। दूसरे दिन प्रातःकाल २५० एकड़ का सम्पूर्ण खेत धान के हरे-भरे पौधों से लहलहा रहा था। ब्राह्मण भूमिपति यह देख कर स्तब्ध रह गया और समझ गया कि नन्दनार एक महान् भक्त हैं। उसने शीघ्र ही उन्हें चिदम्बरम् जाने की अनुमति दे दी।

इस प्रकार नन्दनार को चिदम्बरम् जाने का सुअवसर प्राप्त हो गया; किन्तु वहाँ उन्हें एक अन्य समस्या से जूझना पड़ा। वहाँ के मन्दिर के ब्राह्मण पुजारी दीक्षितारों ने निम्न कुल में उत्पन्न होने के कारण उन्हें मन्दिर-प्रवेश की अनुमति नहीं दी। भगवान् नटराज ने उनके स्वप्न में प्रकट हो कर उनसे कहा- "पुरोहितो, तुम लोग विशुद्धिकरण के सारे आवश्यक अनुष्ठानों का आयोजन सम्पन्न करो। वह मेरा परम भक्त है। उसे मन्दिर में मेरे पूजन की अनुमति प्रदान करो।"

ब्राह्मणों ने भगवान् नटराज के आदेशानुसार सभी अनुष्ठानों को सम्पन्न कर नन्दनार को मन्दिर के गर्भ गृह में जाने की अनुमति प्रदान कर दी। वहाँ जा कर नन्दनार ने नटराज का पूजन-अर्चन किया। उस समय उनका हृदय दिव्यानन्द से परिपूर्ण था। शीघ्र ही वहाँ एक देदीप्यमान प्रकाश के दर्शन हुए और नन्दनार अन्तर्धान हो गये। भगवान् नटराज से उन्होंने तादात्म्य स्थापित कर लिया था।

भगवान् को उच्चकुलोत्पन्न ब्राह्मणों तथा निम्नकुलोत्पन्न दलितों में भेद-दर्शन नहीं होता। वह तो बस निष्कपट भक्ति के भूखे हैं। मन्दिर के ब्राह्मण पुरोहितों की अपेक्षा नन्दनार उनको अधिक प्रिय थे। भक्ति के क्षेत्र में जातिगत, सिद्धान्तगत तथा वर्णगत भेद के लिए कोई स्थान नहीं होता। भक्ति-भाव से परिपूर्ण कोई भी व्यक्ति भगवान् का प्रियपात्र है।

भद्राचलम् रामदास

भद्राचलम् के रामदास श्रीराम के परम भक्त तथा सन्त कबीर के समकालीन थे। वह हैदराबाद, दक्षिण भारत में भद्राचलम् के तहसीलदार थे। उनको गोपन्ना के नाम से भी जाना जाता था।

गोपन्ना एक नैष्ठिक वैष्णव आन्ध्र ब्राह्मण लिंगन्ना के पुत्र थे। लिंगन्ना राम-भक्त तथा उस क्षेत्र के एक लोकप्रिय व्यक्ति थे। उन दिनों हैदराबाद का शासक निजाम तानीशा था। वह अपने राज्य का शासन महान् अकबर की भाँति अत्यन्त धार्मिक सहिष्णुता के साथ करता था। उसके दो मन्त्री, अक्कन्ना तथा मादन्ना भी लिंगन्ना के ही नैष्ठिक ब्राह्मण परिवार के सदस्य थे।

हैदराबाद का यह तानीशा अपने पूर्व जन्म में वाराणसी का एक निर्धन ब्राह्मण था। यह क्षुधाग्रस्त ब्राह्मण वर्षों तक वाराणसी की गलियों में घूमता तथा अत्यधिक श्रद्धा-भक्ति के साथ भगवान शिव का पूजन-अभिषेक करता रहा; किन्तु उसे भगवान के दर्शन नहीं हो सके। इससे क्रुद्ध हो कर उस ब्राह्मण ने शिव-लिंग के ऊपर अपना पात्र फेंक दिया। भगवान् शिव ने उसके समक्ष प्रकट हो कर उससे कहा कि अपनी उत्कट भक्ति के कारण अपने अगले जन्म में वह एक राजकुमार के रूप में जन्म ग्रहण करेगा। उन्होंने यह भी कहा कि उसके स्वभाव में क्रोध के समावेश के कारण उसे मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकेगी। इसके पश्चात् भगवान् शिव ने उससे कहा कि अगले जन्म में जब वह शासक होगा, तब वह श्रीराम के रूप में दर्शन दे कर उसको पवित्र कर देंगे।

भद्राचलम् निजाम के राज्य के अन्तर्गत था (आजकल आन्ध्र प्रदेश के खम्मम् जिले में है) और एक तीर्थस्थान के रूप में दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। वहाँ राम, लक्ष्मण, सीता तथा हनुमान् का मन्दिर था। मध्य युग तक इसकी दशा सन्तोषजनक थी; किन्तु धीरे-धीरे यह जीर्णावस्था को प्राप्त होने लगा। इस प्रकार मूलतः पल्लवों द्वारा निर्मित इस मन्दिर का मुस्लिम आक्रमण के पश्चात् विध्वंस हो गया।

गोपन्ना की पत्नी का नाम कमलम्मा था। वह उसके साथ गोलकोण्डापल्ले में भगवान् का भजन-कीर्तन किया करते थे। एक दिन इनसे कबीरदास की भेंट हो गयी जिन्होंने भगवान् राम के प्रति उनकी आत्यन्तिक भक्ति देख कर उन्हें भगवान् राम के इस तारक-मन्त्र की दीक्षा दे दी :

"श्री राम राम रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने ।।"

उस समय से गोपन्ना ने कबीर द्वारा प्रदत्त मन्त्र के जप के साथ स्वयं को भगवान् के भजन-पूजन में पूर्णतः संलग्न कर दिया। पति-पत्नी दोनों प्रतिदिन नाम-स्मरण, कीर्तन तथा हरि-भजन में अपना जीवन व्यतीत करने लगे। इसके फल-स्वरूप उन्हें उन लोगों की शुभकामनाएँ प्राप्त होने लगीं जो उनके प्रति अपनी श्रद्धा पहले ही अर्पित कर चुके थे। अपने दिव्य उद्देश्यों के प्रचार-प्रसार में गोपन्ना जितना धन व्यय करते थे, वह उनकी आय के अनुरूप नहीं था।

एक दिन जब लोग अत्यन्त हर्षोल्लास के साथ रामनवमी पर्व के दशवें दिन का उत्सव मना रहे थे. गोपन्ना का अल्पवयस्क पुत्र गरम चावल के पानी से भरे पतीले में गिर गया जिसके परिणाम स्वरूप उसकी मृत्यु हो गयी। कमलम्मा ने दौड कर उसके शव को गोपन्ना तथा अन्य लोगों की अनभिज्ञता में चटाई में लपेट दिया। जब गोपन्ना भोजन समाप्त कर घर के भीतर पहुँचे, तब अपनी आन्तरिक वेदना को नियन्त्रित करने में असफल कमलम्मा फूट-फूट कर रोने लगी। पुत्र के शव को श्रीराम के विग्रह के समक्ष रख कर गोपन्ना उनकी प्रार्थना करने लगे। कुछ ही देर के बाद माता-पिता तथा वहाँ उपस्थित अन्य लोगों ने आश्चर्य चकित हो कर देखा कि बालक पुनर्जीवित हो गया है और उसे देखने से ऐसा लग रहा था मानो वह प्रगाढ़ निद्रा से जागा हो।

अब श्रीराम के प्रति रामदास की भक्ति में अधिकाधिक वृद्धि होती गयी और वह इसी जन्म में उनके दर्शन के लिए पूर्वापेक्षा और अधिक आतुर हो उठे। वह कबीर के पास गये। कबीर ने उनसे कहा कि भगवान् उन्हें अगली रात दर्शन देने वाले हैं। यह सुन कर रामदास घर लौट आये। घर आ कर उन्होंने अपने उस कमरे को कलात्मक विधि से सजाया-सँवारा जिसमें प्रभु का प्रवेश होने वाला था। वह उनकी प्रतीक्षा में सारी रात जागते रहे। अर्धरात्रि के पश्चात् उस कमरे में एक भैंसे ने प्रवेश किया और अपने शरीर पर लगे पंक से उस कमरे को भी पंकिल कर दिया। भैंसे के इस कुकृत्य से क्रुद्ध हो कर गोपन्ना ने अपने मुष्टिका-प्रहार से उसे बाहर निकल दिया। दूसरे दिन कबीर के पास जा कर उन्होंने उस घटना का वर्णन किया। सब-कुछ सुन कर कबीर ने उनसे कहा कि उन्होंने एक बहुमूल्य अवसर गँवा दिया है; क्योंकि उस भैंसे का रूप ग्रहण करके स्वयं भगवान् उनके कमरे में आये थे। यह सुन कर गोपन्ना को अत्यधिक पश्चात्ताप हुआ। कबीर ने उनसे कहा कि अपने मूर्खतापूर्ण कृत्य के प्रायश्चित्त के लिए उनको प्रतिदिन भद्राचलम् के मन्दिर की परिक्रमा करनी चाहिए। इस प्रकार गोपन्ना अपनी पत्नी के साथ भद्राचलम् में जा कर बस गये और वहाँ प्रतिदिन मन्दिर की परिक्रमा करने लगे।

भद्राचलम् में वह शान्तिमय सुखी जीवन व्यतीत करने लगे। उनका भक्ति-भाव भी निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता गया; किन्तु उनकी आय में वृद्धि के स्थान पर ह्रास होने लगा जिसके परिणाम स्वरूप वह जीविकोपार्जन के किसी साधन की खोज में लग गये। अर्थाभाव से विवश हो कर वह किसी नौकरी की आशा में अक्कन्ना, मादन्ना के पास गये। ये दोनों उनके चाचा थे और हैदराबाद में रहते थे। वहाँ उनकी आशा पूर्ण हुई। स्वयं तानीशा ने प्रसन्नतापूर्वक उन्हें भद्राचलम् का तहसीलदार नियुक्त कर दिया। तहसीलदार के पद पर नियुक्त हो कर गोपन्ना ने अपना कार्य-भार सँभाल लिया। उनके कार्य से निजाम पूर्णतः सन्तुष्ट था। स्थानीय लोग भी उनके कार्य से अत्यन्त हर्षित थे। अपने निष्पक्ष निर्णय तथा राजकोष में राजस्व जमा करने में अपनी नियमितता से उन्होंने निजाम का विश्वास जीत लिया और जनता के लिए भी वह परम आदरणीय हो गये; किन्तु राज्य के प्रति उनकी कर्तव्य-निष्ठा भगवान् राम के प्रति उनकी प्रगाढ़ भक्ति में कभी बाधक सिद्ध नहीं हुई।

एक दिन वह भद्राचलम् के मन्दिर की जीर्णावस्था से इस सीमा तक प्रभावित हुए कि उन्होंने मन-ही-मन इसके पुनर्निर्माण का निश्चय कर लिया। इसके लिए उन्होंने राज्य के राजस्व के उपयोग का भी संकल्प कर लिया। अपनी इस इच्छा से उत्प्रेरित हो कर उन्होंने जीर्णावस्था को प्राप्त उस मन्दिर को नया आकार-प्रकार देने में होने वाले व्यय के आकलन के लिए अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को आदेश दे दिया। इस आकलन के अनुसार इसमें अनुमानतः आठ लाख वरहा (Varahas) लग सकते थे। गोपन्ना को यह देख का आश्चर्य हुआ कि राजकोष में आवश्यकता से अधिक धन था। परिणाम की चिन्ता न कर उन्होंने मन्दिर के पुनर्निर्माण, देवताओं के लिए नये आभूषणों के क्रय तथा कुम्भाभिषेक के भव्य अनुष्ठान में होने वाले व्यय के लिए राजकोष के एक-एक पैसे के उपयोग का निश्चय कर लिया। परिश्रमी तथा उत्साही श्रमिकों के सहयोग ने मन्दिर के पुनर्निर्माण में समय-सम्बन्धी एक कीर्तिमान प्रस्तुत कर दिया। इसके पश्चात् गोपन्ना ने कुम्भाभिषेक का अनुष्ठान भव्य रीति से सम्पन्न किया। किन्तु इसके पश्चात् उन्होंने कोष को पूर्णतः रिक्त पाया। जैसा कि उनका पूर्वानुमान था, वह उस वर्ष समयानुसार राजस्व नहीं जमा कर पाये। इसके परिणाम स्वरूप भद्राचलम् तहसील पर साढे सात लाख बरहा का बकाया चढ़ गया। वहाँ उनके दो चाचा मन्त्री थे; किन्तु जब तानीशा ने इस बकाया धन को शीघ्रातिशीघ्र जमा करने को कहा, तब वे दोनों भी उनकी कोई सहायता न कर सके। अतः तानीशा ने उन्हें उस समय तक कठोर कारावास का दण्ड भोगने का आदेश दिया, जब तक वह बकाया धन जमा नहीं कर देते। उन्हें कारागृह में डाल दिया गया।

गोपन्ना कारागृह में बारह वर्ष तक पड़े रहे। इस बीच हृदयहीन जेलरों ने उन्हें असहनीय यन्त्रणाएँ दीं। उन पर कोड़े बरसाये गये और उनको कई दिनों तक भूखा रखा गया। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि उन्हें बारह वर्ष की इस अवधि में मृत्यु के अतिरिक्त सभी प्रकार के दण्ड भोगने पड़े।

कारागृह की यन्त्रणाओं तथा कठिनाइयों को सह पाने में असमर्थ गोपन्ना ने विषपान द्वारा इस नश्वर शरीर के परित्याग का निश्चय कर लिया। एक दिन अपने पार्श्व में विषपात्र रख कर वह भगवान् राम की प्रार्थना करने लगे। इसी बीच गत बारह वर्षों में गोपन्ना द्वारा झेली गयी विपत्तियों पर विचार कर भगवान् राम लक्ष्मण के साथ आधी रात को भद्राचलम् के तहसीलदार के सिपाहियों के रूप में तानीशा के व्यक्तिगत कक्ष में जा पहुँचे। दो सिपाहियों के आकस्मिक आगमन से चकित तानीशा ने अपनी पत्नी को किसी अन्य कक्ष में चले जाने को कहा और इसके पश्चात् उन सिपाहियों से पूछा कि वे कौन हैं और इस समय यहाँ उनके आकस्मिक आगमन का उद्देश्य क्या है? रामचन्द्र जी ने उसे अपना नाम रामसिंह तथा लक्ष्मण का नाम लक्ष्मणसिंह बताया। उन्होंने अपने-आप और लक्ष्मण को भद्राचलम् के तहसीलदार के सिपाही बताते हुए कहा कि राज्य का जो धन गोपन्ना पर बकाया था और जिसके लिए वह इतने दिनों तक कारावास का दण्ड भोगते रहे, वे उसी को चुकाने आये हैं। उन्होंने तत्क्षण उनकी मुक्ति की माँग भी कर दी।

तानीशा के सभी प्रश्नों के उत्तर देने के पश्चात् रामचन्द्र जी ने उसके समक्ष सोने की मोहरें उँडेल दीं। गोपन्ना को राज्य को जितना देना था, उसकी अपेक्षा इन मोहरों का मूल्य अधिक था। रामचन्द्र जी ने पहले से ही तैयार की गयी एक राजकीय रसीद तानीशा को उसके हस्ताक्षर तथा उस पर राजकीय मोहर लगाने के लिए दे दी जिससे बकाया धन के भुगतान को प्रमाणित किया जा सके। इसके साथ ही उन्होंने उसे एक कलम तथा उस रसीद पर अंकित करने के लिए राजकीय मुहर भी दे दी। वहाँ रोशनाई नहीं थी; किन्तु रामचन्द्र जी के अनुरोध पर उगलदान में पड़ी पान की पीक में कलम डाल कर तानीशा ने उस रसीद पर अपने हस्ताक्षर कर दिये। बकाया धन के भुगतान की रसीद प्राप्त कर तथा तानीशा से गोपन्ना की मुक्ति की माँग कर रामसिंह और लक्ष्मणसिंह अन्तर्धान हो गये। उन्होंने उसी रात तानीशा द्वारा हस्ताक्षरित रसीद कारागार में दण्ड भोग रहे गोपन्ना को दे दी। दूसरे दिन प्रातःकाल तानीशा ने गोपन्ना के प्रति किये गये अपने दुर्व्यवहार पर पश्चात्ताप करते हुए गोपन्ना से क्षमा-याचना की और उन्हें कारागार से ससम्मान मुक्त कर दिया। तत्पश्चात् उसने उनसे उन दिव्य सन्देशवाहकों के दर्शन कराने की प्रार्थना की जिनका गत रात्रि उसके व्यक्तिगत कक्ष में आकस्मिक आगमन हुआ था। गोपन्ना से अपने पूर्व-पद पर पुनः प्रतिष्ठित होने का आग्रह किया गया जिससे भद्राचलम् के निवासियों को अत्यधिक हर्ष हुआ। एक राजाज्ञा के अनुसार उन्हें उक्त पद पर स्थायी रूप से नियुक्त कर दिया गया। तानीशा, उसके परिवार तथा अन्य लोगों द्वारा गौरवान्वित हो कर गोपन्ना धूमधाम के साथ भद्राचलम् लौटे और वहाँ उन्होंने तहसीलदार का कार्य-भार ग्रहण कर लिया।

एक दिन जब लोग उन्हें मन्दिर में प्रार्थना करते देख कर आनन्द-विह्वल हो रहे थे, एक दिव्य वाणी द्वारा संसार को यह सूचित किया गया कि अब गोपन्ना को भक्त रामदास के नाम से अभिहित किया जायेगा। कुछ वर्षों तक शान्ति तथा आनन्द से परिपूर्ण जीवन व्यतीत करने के पश्चात् भद्राचलम के सन्त-तहसीलदार रामदास अक्षय शान्ति से पूर्ण ईश्वर के उच्चतम धाम में चले गये। इसके पश्चात् उनकी पत्नी तथा तानीशा को भी भगवान् राम की कृपा से शाश्वत शान्ति की उपलब्धि हई।

एक दिन रामदास ने कबीर से पूछा कि भगवान् राम का भक्त होते हुए भी उन्हें इतने कष्ट क्यों भोगने पड़े? कबीर ने उनके पूर्व-जन्म के एक रहस्य को अनावृत किया जिसके अनुसार अपने पूर्व जन्म में वह एक ब्राह्मण थे। उनके पास एक पालतू तोता था जिसे वह रात-दिन पिंजरे में बन्द रखते थे। मुक्त आकाश उसके लिए स्वप्न था। उनके प्रशिक्षण के फल-स्वरूप वह तोता राम-नाम की रट लगाता रहता था। उस तोते को पिंजरे में आबद्ध करने के कारण रामदास को बारह वर्षों तक कारागार की यन्त्रणा भोगनी पड़ी।

विल्वमंगल

विल्वमंगल के पिता रामदास एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे जो दक्षिण भारत में कृष्णवेणी नदी के तट पर स्थित एक छोटे से गाँव में रहते थे। उन्होंने विल्वमंगल को धार्मिक प्रशिक्षण दे कर उन्हें शास्त्रों के अध्ययन के लिए उत्प्रेरित किया; किन्तु विल्वमंगल की किशोरावस्था में ही उनका देहान्त हो गया। उनकी अनुपस्थिति में अब विल्वमंगल को नियन्त्रित करने वाला कोई नहीं रह गया जिसके फल-स्वरूप उनके चरित्र में नैतिक मूल्यों के लिए कोई स्थान न रहा। उनके सहचर भी दृष्ट प्रकृति के थे। उत्तराधिकारी होने के कारण पिता के देहान्त के पश्चात् अब उनकी सम्पत्ति के एकमात्र स्वामी वही थे।

एक दिन उन्होंने अपने मित्रों के साथ चिन्तामणि नामक एक नर्तकी का नृत्य देखा। वह उस पर आसक्त हो उठे। उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति उसे दे दी। वस्तुतः वह उसके दास हो गये।

एक दिन विल्वमंगल अपने पिता की पुण्यतिथि पर उनका श्राद्ध-कर्म कर रहे थे; किन्तु उस दिन भी वह चिन्तामणि का ही चिन्तन कर रहे थे। उसेको श्राद्ध-कर्म का निष्पादन निरुत्साह मन तथा असम्बद्ध विधि से ही किया। एक क्षण के लिए भी उसका पार्थक्य सहन नहीं हो पाता था। उन्होंने श्राद्ध-कर्म के प्रति उनके मन में श्रद्धा के भाव नहीं थे। उस पवित्र अवसर पर भी वह उसके दर्शन के लिए लालायित हो उठे : किन्तु एक नदी को पार कार के बाद ही उसके घर पहुंचा जा सकता था। अन्धकार छाया हुआ था औ झंझावात, मेघ गर्जन तथा तडित्पात के कारण मार्ग अत्यन्त दुर्गम हो गय था; किन्तु विल्वमंगल को इसकी चिन्ता न थी। वह किसी भी मूल्य पर उम नर्तकी से मिलने के लिए कटिबद्ध थे। नदी के पार जाने के लिए वे एक नाविक के पास गये; किन्तु उसने उनके अनुरोध को स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार का दिया। तब वह नदी में कूद गये। सौभाग्य से उन्हें एक महिला का शव मिल गया जिसे उन्होंने लकड़ी का कुन्दा समझ लिया और जिसके सहारे वह किसी प्रकार उस पार सुरक्षित रूप से पहुँच गये। वह नदी पार करने के प्रयास में पूर्णतः निर्वस्त्र हो गये थे। उन्होंने चिन्तामणि के घर पहुँच कर उसका द्वार खटखटाया। "काम अन्धा होता है" - यह कहावत पूर्णतः निर्भान्त है। कामातुर व्यक्ति में न भय होता है न लज्जा होती है : **"कामातुरानां न भयं न लज्जा।"**

चिन्तामणि को उस दिन विल्वमंगल के आने की आशा न थी; क्योंकि वह दिन उनके पिता के श्राद्ध का दिन था। अतः भीतर से द्वार बन्द कर वह सोने चली गयी थी। विल्वमंगल ने उसे बार-बार पुकारा; पर उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला। तब वह किसी वस्तु को रस्सी समझ कर उसके सहारे दीवाल पर चढ़ गये। किसी प्रकार उसके शयन कक्ष में जा कर उन्होंने उसे जगाया। चिन्तामणि उन्हें उस घृणित तथा कुत्सित दशा में देख कर स्तब्ध रह गयी। उनके शरीर से घृणास्पद दर्गन्ध आ रही थी। बाहर जा कर चिन्तामणि ने विशालकाय कोबरा सर्प देखा। विल्वमंगल ने इसी को रस्सी समझ लिया था। करुणा-विगलित स्वर में उसने उनकी भर्त्सना करते हुए कहा- "तुमको धिक्कार है। हे अभागे, तुम स्वयं को एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण का पुत्र समझते हो। कितनी लज्जा की बात है यह! तुमने अपने परिवार को कलंकित कर दिया है। इस पुण्य तिथि की पवित्रता की रक्षा करने के स्थान पर तुम आज इस घृणित दशा में मेरे पास आ पहुँचे। क्या तुम मूर्ख तथा घृणा के पात्र नहीं हो? मल-मूत्र से सम्पूरित मेरे इस अस्थि-चर्म-रक्त-निर्मित शरीर से क्यों सम्मोहित हो ? वह घृणित शव जिसके सहारे तुमने नदी को पार किया और जिसकी दुर्गन्ध अब तुम्हारे लिए असहनीय हो गयी है, अभी कल तक मेरे घृणित शरीर, जिससे तुम इतना अधिक प्रेम करते हो, से अधिक आकर्षक था। भगवान् सौन्दर्य के उत्स या यों समझ लो कि अप्रतिम सौन्दर्य के मूर्त रूप हैं। यदि तुम्हारे हृदय में उनके दर्शन की तीव्र इच्छा होती, तो तुम्हें बहुत पहले ही मुक्ति तथा शाश्वत आनन्द की प्राप्ति हो गयी होती।"

चिन्तामणि के इन शब्दों से विल्वमंगल का हृदय विगलित हो गया। उनकी आँखें खुल गयीं। उन्हें अपनी बाल्यावस्था के उन दिनों का स्मरण होने लगा, जब वह धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया करते थे। फिर उन्हें अपने पिता के प्रति अपनी श्रद्धा का स्मरण हुआ। वह फूट-फूट कर रो उठे। उनके ज्ञान-चक्षु खुल गये और अब उनमें

दिव्य प्रेम जाग्रत हो उठा। उन्होंने चिन्तामणि को हृदय से अपना गुरु मान लिया। उन्होंने कहा- "माँ तुमने मेरे भ्रम का निराकरण कर दिया है। मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ। तुम मेरी आध्यात्मिक गुरु हो।" उसकी चरण-वन्दना कर वह वहाँ से चले गये और भगवान् की खोज में इतस्ततः भ्रमण करने लगे।

कुछ दिनों के पश्चात् उन्होंने मार्ग में एक सौन्दर्य-मण्डित महिला को देखा। उनकी वासना जाग्रत हो उठी और उनका मन उद्वेलित हो गया। उनकी आँखें उस पर जा टिकी। उन्होंने उसके घर तक उसका अनुगमन किया किन्तु वह घर के भीतर जा कर अदृश्य हो गयी। वह उदास मुद्रा में बरामदे में बैठ गये। गृहपति वणिक था। उसने उनके पास जा कर वहाँ उनके आगमन का कारण पूछा। विल्वमंगल ने उसके समक्ष अपने आगमन के उद्देश्य का यथार्थ वर्णन कर दिया। उन्होंने उससे कहा कि वह उस महिला को उनके सम्मुख बस एक बार ला दे जिससे वह उसके मुख-मण्डल को देख कर स्वयं को तृप्त कर सकें। वणिक सज्जन था। वह विल्वमंगल के सन्तोष के लिए उसे ले आने के लिए भीतर चला गया। वह महिला उसकी पत्नी थी।

अब दयामय भगवान् विल्वमंगल की रक्षा के लिए वहाँ आ गये। उन्होंने उनके मन को ज्ञान तथा पश्चात्ताप की भावना से सम्पूरित कर दिया। विल्वमंगल निकटस्थ बेल-वृक्ष से दो काँटे तोड़ लाये। वह वणिक अपनी पत्नी को ले कर आ गया। विल्वमंगल ने उसे देखा और अपनी भर्त्सना करते हुए कहा- "हे दुष्ट नेत्र-युगल, तुम्हारे ही कारण मैं पथभ्रान्त हुआ। मैं इसके लिए तुम्हें कठोर दण्ड दूँगा।" यह प्रकरण ईसा के 'पर्वत पर के उपदेश' से मिलता-जुलता है जिसमें कहा गया है- "यदि तुम्हारे नेत्रों से अनिष्ट होता है, तो तुम उसे बाहर निकाल दो। यदि तुम्हारे हाथों से अनिष्ट होता है, तो उन्हें काट दो।" विल्वमंगल ने उन काँटों से अपनी आँखें फोड़ लीं जिसके फल-स्वरूप उनसे अविरत रक्त-वर्षण होने लगा; किन्तु विल्वमंगल आनन्दातिरेक में नृत्य करते हुए उच्च स्वर से भगवान् के नाम का कीर्तन करने लगे। भगवत्कृपा से अब उनका हृदय निष्कलुष हो गया था। भगवान् के दर्शन की उनकी लालसा अत्यधिक तीव्र हो गयी। उनका हृदय विरहाग्नि में जलने लगा। वह दिन-प्रति-दिन क्षीणकाय होते गये। उनके नेत्रों से अश्रु-वर्षण होता रहता और वह बिना अन्न-जल के वन में घूमते रहते।

एक बार भगवान् कृष्ण एक ग्वाल-बाल के रूप में उनके समक्ष प्रकट हुए। उन्होंने विल्वमंगल से कहा- "मैं आपके लिए कुछ मिष्टान्न तथा फल लाया हूँ। कृपया इसे स्वीकार कीजिए।" यह सुन कर विल्वमंगल को अत्यधिक हर्ष हुआ। उन्होंने उस बालक से पूछा- "प्रिय बालक, तुम्हारा नाम क्या है? तुम रहते कहाँ हो? करते क्या हो?" बालक ने उत्तर दिया- "प्रिय महोदय, मैं निकट ही रहता हैं। मेरा अपना कोई नाम नहीं है। आप मुझे किसी भी नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। मैं गायें चराता है। जो मुझसे प्रेम करते हैं. उनसे मैं भी प्रेम करता हूँ। मैं प्रतिदिन यहाँ आ कर आपको भोजन कराऊँगा।" बालक के सम्मोहक शब्दों से विल्वमंगल अत्यन्त आनन्दित हुए। वह यह नहीं जानते थे कि बालक स्वयं श्रीकृष्ण है। बालक ने उनका हृदय जीत लिया था। एक बार वहाँ पुनः आ कर उसने उनसे पूछा- क्या आप मेरे साथ वृन्दावन चल सकेंगे?"

वृन्दावन का नाम सुन कर विल्वमंगल को अपार हर्ष हुआ। उन्होंने कहा- "प्रियवर, मैं तो अन्धा हूँ। वृन्दावन कैसे जा सकूँगा?" बालक ने कहा- "प्रिय महोदय, आप इस लकुटी का एक सिरा पकड़ लीजिए। मैं इसका दूसरा सिरा पकड़ कर आपका मार्ग-दर्शन करता चलूँगा।" विल्वमंगल सहमत हो गये। भगवान् कृष्ण लकुटी के सहारे उनका पथ-प्रदर्शन करते रहे। वह कितने दयालु हैं! बालक ने कहा- "अब हम लोग वृन्दावन आ गये हैं।" विल्वमंगल ने इसे बालक की विनोद-वृत्ति ही समझा। उन्हें उसके शब्दों पर विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने उसे पकड़ लिया। उस चुम्बकीय स्पर्श से उनके ज्ञान-चक्षु खुल गये और वह रोमांचित हो उठे। उन्होंने अपने प्रेमपात्र भगवान् कृष्ण का देदीप्यमान मुख-मण्डल देख लिया। उन्होंने कहा- "भगवन्, मैं वर्षों के संघर्ष के पश्चात् आपको पाने में समर्थ हो सका हूँ। मैं अब आपको अपने से विलग नहीं होने दूँगा।" भगवान् कृष्ण ने एक कड़े झटके से अपने-आपको उनके बन्धन से मुक्त कर लिया।

विल्वमंगल ने कहा- "हे कृष्ण, तुमने अपने-आपको मेरे भुज-बन्धन से तो मुक्त कर लिया; किन्तु मैं तुमको चुनौती देता हूँ कि तुम स्वयं को मेरे हृदय से निकाल कर तो देखो। मैंने तुम्हें वहाँ भली-विधि प्रतिष्ठित कर लिया है।" भगवान् कृष्ण ने कहा- "मेरे प्रिय विल्वमंगल, मैं निर्विवाद रूप से तुमसे पराजित हो चुका हूँ। मुझे एकमात्र यथार्थ प्रेम की डोर से ही बाँधा जा सकता है। तुमने मुझे इसी डोर से बाँधा है। मैं इससे मुक्त कैसे हो पाऊँगा ! मैं तो तुम्हारा दास हूँ।”

भगवान् कृष्ण ने विल्वमंगल के नेत्रों पर अपनी उँगलियाँ फेर दीं जिससे उनको उनकी नेत्र ज्योति पुनः प्राप्त हो गयी। उन्होंने भगवान् के सौन्दर्य-मण्डित मुख-मण्डल को देखा और वह उनके चरण-कमलों के सम्मुख साश्रु-नयन अवनत-शिर हो गये।

भगवान् कृष्ण ने उन्हें उठा कर आलिंगनबद्ध कर लिया। नर्तकी बाला चिन्तामणि, वह वणिक तथा उसकी पत्नी - इनको भी भगवान् के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

विल्वमंगल, जिन्हें सूरदास भी कहा जाता है, ने अपने जीवन के शेष दिन भक्ति तथा भगवान् के नाम की महिमा के प्रचार-प्रसार में व्यतीत किये। उनके प्रेरणादायी गीतों को सम्पूर्ण भारत में गाया जाता है। अन्ततः वह शान्ति के शाश्वत तथा आनन्दमय परम धाम में चले गये।

योगी वेमन्ना

जन्म तथा प्रारम्भिक जीवन

भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं- "घोरतम पाप में लिप्त व्यक्ति भी ज्ञान की नौका द्वारा अपने पाप-सागर के पार उतर सकता है। उसके लिए कर्तव्यनिष्ठा तथा शाश्वत शान्ति पूर्णतः सम्भव है।" वेमन्ना, अरुणगिरि तथा सन्त आगस्टाइन के सम्बन्ध में यह कथन नितान्त सत्य है। अपनी युवावस्था में ये लोग पाप-कर्म में लिप्त रहे; किन्तु तत्पश्चात् उनकी गणना संसार के प्रख्यात सन्तों में होने लगी। इससे पापियों में इस उत्साह तथा आशा का संचार होता है कि वे भी महान् सन्त हो सकते हैं।

वेमन्ना का जन्म गोदावरी जनपद के एक समृद्ध परिवार में १८२० ई. में हुआ था। उनके अग्रज का नाम राजा अनु वेमा रेड्डी था। वेमन्ना रेड्डी जाति के थे।

राजा अन वेमा रेडी की पत्नी का नाम नरसम्मा था। वह सदाचारिणी, धर्मपरायणा, दयालु, परोपकारिणी तथा सत्यनिष्ठ महिला वेमन्ना की प्रथम गुरु थी। वेमन्ना के प्रति उसका व्यवहार अत्यन्त स्नेहसिक्त था। वेमन्ना भी उसका आदर माता की भाँति ही करते थे।

एक नर्तकी वेमन्ना की रखैल थी। दिन-रात वह उसी के घर में रहते थे; किन्तु नरसम्मा ने उन्हें उसके मोह-पाश से मुक्त करवा दिया। अतः उसको उनका गुरु कहना युक्तियुक्त ही है।

निष्क्रिय वेमन्ना समय के सदुपयोग की कला से नितान्त अनभिज्ञ थे; एक दिन वह राज्य के जौहरी की दुकान में पहुँच गये। वह अभिराम राज्य के लिए रत्नों का तक्षण कर रहा है। वेमन्ना ने कुछ दिनों तक उसके कार्य का पर्यवेक्षण किया। उनका यह पर्यवेक्षण कार्य कुछ दिनों तक इसी प्रकार चलता रहा। एक दिन वह दिन-भर दुकान

में ही रहे। उन्होंने अभिराम से वहाँ विलम्ब से आने का कारण पूछा। अभिराम ने कहा- "स्वामी, मैं ब्राह्ममुहूर्त में स्नान कर पूजन-अर्चन तथा ध्यान करता हूँ। अतः मैं आपसे विनम्र भाव से प्रार्थना करता हूँ कि देर से आने के लिए आप मुझे क्षमा करें।" वेमन्ना ने कहा- "मैं इसे किसी भी प्रकार सहन नहीं कर सकता। अपना यह सारा काम तुम कुछ पहले समाप्त कर लिया करो और यहाँ छह बजे आ जाया करो! इसके पश्चात् विलम्ब के लिए मैं तुम्हें किसी भी स्थिति में क्षमा नहीं करूँगा।"

वेमन्ना के इस कठोर अनुशासन से राजा भी अवगत हो गये। उन्होंने कहा- "कितनी विचित्र बात है! वेमन्ना विलम्ब से आने के लिए अभिराम की भर्त्सना करता है। वह उसे क्षमा नहीं कर सकता। किन्तु वह स्वयं रात-दिन वेश्या के घर में पड़ा रहता है।"

राजा की इस टिप्पणी ने वेमन्ना के अहंकार को आहत कर दिया। अब उन्होंने यह जानना चाहा कि अभिराम प्रातःकाल के प्रारम्भिक क्षणों में क्या किया करता है। उन्होंने निश्चय कर लिया कि यदि उसने अपनी प्रातःकालीन चर्चा के सम्बन्ध में मिथ्या विवरण दिया होगा, तो वह उसे दण्ड देंगे।

शिवयोगी द्वारा दीक्षा

वेमन्ना प्रातःकाल के प्रारम्भ में ही अभिराम के घर के निकट छिप कर बैठ गये और वहीं से उसकी गतिविधि का निरीक्षण करने लगे।

अभिराम ब्राह्ममुहूर्त में शय्या त्याग कर घर से एक मील दूर निकल गया। शौचादि से निवृत्त हो कर उसने एक तालाब में स्नान किया और सूर्य भगवान् को नैवेद्य अर्पित करने के पश्चात् पद्मासन पर बैठ कर एक घण्टे तक ध्यान किया। तत्पश्चात् निकट की ही वाटिका से फूल ले कर वह एक गुफा में एक सन्त को अपनी श्रद्धा अर्पित करने चला गया। सन्त को लोग लम्बिका शिवयोगी कहते थे।

योगी को साष्टांग प्रणाम करने के पश्चात् उसने उनके चरणों पर फूल अर्पित किये। योगी ने उससे कहा- "प्रिय शिष्य, मैं तुम्हारी सेवा तथा भक्ति से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम कल प्रातःकाल यहाँ आ जाना। मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा। कल मुझे इस नश्वर शरीर का परित्याग करना है।"

वेमन्ना ने छिपे-छिपे अभिराम तथा योगी के बीच का यह संवाद सुन लिया। अभिराम ने गुरु को धन्यवाद दिया। वह यह जान कर हर्ष-विह्वल हो गया कि वह अगले दिन दीक्षा ग्रहण करेगा। योगी से विदा ले कर वह दुकान में चला गया। उस दिन वेमन्ना ने उससे देर से आने का कारण नहीं पूछा। अभिराम को इससे बहुत आश्चर्य हुआ।

वेमन्ना ने दूसरे दिन शिवयोगी से स्वयं दीक्षा ग्रहण करना चाहा। उसने एक ऐसी योजना बनायी जिससे अभिराम अपने गुरु के पास न जा सके। उसने अपनी भाभी से कहा कि वह अभिराम को ऐसा आदेश दे जिससे कि वह दूसरे दिन दुकान पर ठीक छह बजे प्रातःकाल पहुँच जाये।

वेमन्ना की भाभी ने राजा से कहा- "मेरा कर्णफूल खो गया है। कृपया आप अभिराम को यह आदेश दीजिए कि वह प्रातःकाल तक कर्णफूल बना दे। यह मुझे आठ बजे तक किसी भी प्रकार मिल जाना चाहिए।" राजा ने ऐसा ही किया।

अभिराम द्विविधा में पड़ गया। यदि वह दूसरे दिन प्रातःकाल शिवयोगी के दर्शन नहीं करेगा, तो उसकी दीर्घकालीन सेवा अर्थहीन सिद्ध हो जायेगी। उसे गुरु का आदेश मानना चाहिए या राजा का, इस वैचारिक संघर्ष के

कारण उसका मन उद्वेलित हो उठा। गम्भीर चिन्तन के पश्चात् वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि उसे वही काम करना चाहिए जो उसके जन्म तथा व्यवसाय के आधार पर करणीय है। वह छह बजे दुकान में पहुँच गया। वहाँ कर्णफूल बना कर उसने रानी के पास भेज दिया।

वेमन्ना ब्राह्ममुहूर्त में ही उठ गये। पिछले दिन अभिराम ने जिस तालाब में स्नान किया था, उसी में उन्होंने स्नान किया, निकट की वाटिका से कुछ फूल चुने और उन्हें शिवयोगी के चरणों पर अर्पित कर उन्हें साष्टांग प्रणाम किया।

शिवयोगी ने पूछा- "तुम यहाँ किस लिए आये हो?" उन्होंने उत्तर दिया - "आदरणीय गुरुदेव, मेरे स्वामी अभिराम राजा के आदेशानुसार किसी आवश्यक कार्य से उधर ही रुक गये हैं। उन्होंने मुझे निर्देश दिया है कि मैं आपके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करूँ और यहीं रहूँ।"

शिवयोगी ने कहा- "जा कर देखो कि अभिराम आ रहा है कि नहीं।" वेमन्ना ने इधर-उधर देखने का बहाना करने के बाद उनसे कहा कि वह नहीं आ रहा है। कुछ देर की प्रतीक्षा के पश्चात् शिवयोगी ने पुनः कहा- "देखो कि वह आ रहा है या नहीं।" इस बार भी वेमन्ना ने वही उत्तर दिया। कुछ देर बाद शिवयोगी ने उससे तीसरी बार कहा- "एक बार और जा कर देखो।" वेमन्ना ने बाहर जा कर इधर-उधर देखने का बहाना किया और आ कर कहा कि वह नहीं आ रहा है।

शिवयोगी ने कहा- "अभिराम वास्तव में सर्वाधिक हतभाग्य व्यक्ति है। मैं उसे एक रहस्यमय मन्त्र की दीक्षा देना चाहता था। यह पहला दिन है जब वह यहाँ नहीं आ सका। इन कुछ वर्षों में वह यहाँ प्रतिदिन आता रहा। बड़ी विचित्र बात है। भाग्य कितना निर्मम है! फिर भी मैं आज तुम्हीं को दीक्षित करूँगा क्योंकि आज मैं इस नश्वर शरीर का परित्याग करने जा रहा है।" शिवयोगी ने वेमन्ना के कानों में अत्यन्त मन्द स्वर में एक मन्त्र का उच्चारण किया और इसके बाद उसकी जीभ पर बीजाक्षर रख दिया। उन्होंने उनके नेत्रों को दबाया। वेमन्ना ने देदीप्यमान् प्रकाश की एक झलक देखी जो सैकड़ों सूर्यों की दीप्ति से जगमगा रही थी। वह इसे देख कर स्तब्ध रह गये।

शिवयोगी ने तत्क्षण अन्तिम साँस ली। वेमन्ना अपने अपराध-बोध से दुःखी हो कर घर लौट आये। दुकान पर जा कर उन्होंने अभिराम के पैर पकड़ लिये। उन्होंने उसे साष्टांग प्रणाम कर उससे क्षमा-याचना की। अभिराम उनके इस व्यवहार से आश्चर्य चकित रह गया; क्योंकि इसके पूर्व उसके प्रति उनका व्यवहार कठोर, उद्धत तथा रुक्ष रहता था और देर से आने के कारण वह उसकी भर्त्सना भी किया करते थे। वेमन्ना ने उनके पैर तब तक नहीं छोड़े, जब तक उसने उन्हें क्षमा नहीं कर दिया।

इसके पश्चात् वेमन्ना ने, जो कुछ घट चुका था, उसका सारा विवरण अभिराम के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। उन्होंने उसके प्रति इस बात के लिए आभार भी व्यक्त किया कि उसने उन्हें बिना किसी शर्त के सहर्ष क्षमा कर दिया। उन्होंने अपनी एक कविता के माध्यम से उसके उदात्त गुणों का उल्लेख करते हुए अपने उस कुकृत्य के लिए पश्चात्ताप भी प्रकट किया जिसके कारण उसे शिवयोगी द्वारा दीक्षित होने के बहुमूल्य अवसर से वंचित रह जाना पड़ा। अपनी एक कविता में उन्होंने अपनी भाभी को अपना प्रथम गुरु, अभिराम को द्वितीय गुरु तथा शिवयोगी को आत्मगुरु माना।

जिस क्षण शिवयोगी ने वेमन्ना की जिह्वा पर बीजाक्षर का अंकन किया, उसी क्षण से वह एक अपौरुषेय कवि बन गये। उन्हें आध्यात्मिक ज्योति की सम्प्राप्ति हो गयी। योगी हो कर उन्होंने अनित्य वैषयिक आनन्द का परित्याग कर दिया। उनके उपदेश उनकी अनायास प्रणीत कविताओं में सन्निविष्ट है। उन्होंने अपनी कविताओं में अभिराम के नाम का उल्लेख करते हुए उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की और इस प्रकार उन्होंने उसकी स्मृति को अमरत्व प्रदान कर दिया। अपनी एक कविता में वह कहते हैं "महोदय जो कुछ हो चुका है, उसके लिए दुःखी होने की कोई

आवश्यकता नहीं है। मैं आपका अत्यन्त आभारी हूँ। अन्तरतः आप मेरे आराध्य हैं। मेरी सहस्र-सहस्र कविताओं का प्रणयन आपकी कृपा से ही सम्भव हो सका है। मेरे श्रद्धेय गुरु, मैं अवनत-शिर आपको प्रणाम करता हूँ।"

वेमन्ना की माता ने पुत्र के विवाह के लिए अथक प्रयत्न किये; किन्तु पुत्र की हठधर्मिता के आगे माता की एक न चली।

उनके चमत्कार

जब वेमन्ना की माता वाराणसी की तीर्थ-यात्रा के लिए प्रस्थान करने लगीं, तब वेमन्ना ने एक माला के बीच ताँबे का एक टुकड़ा बाँध कर उसे उनके गले में डाल दिया और कहा- "माँ, तुम्हारे यहाँ आ जाने पर यदि ताँबे का यह टुकड़ा स्वर्ण में परिणत हो जाये, तो तुम्हें इस तथ्य के प्रति पूर्णतः आश्वस्त हो जाना चाहिए कि पवित्र गंगा-जल से तुम्हारे समस्त पापों का मार्जन हो गया है। यही इसका मापदण्ड है। तुम निष्कपट भाव से ईश्वर की उपासना करती रहो।"

वेमन्ना की माता तीर्थयात्रा से एक वर्ष बाद लौटीं। वेमन्ना ने दौड़ कर उनको साष्टांग प्रणाम किया और उनसे कहा- "माँ, तुम मुझे वह स्वर्ण-मुद्रा दे दो। क्या ताँबे का वह टुकड़ा सोना बन गया है?" वेमन्ना की माता ने अपने गले में देखा; किन्तु ताँबे का वह टुकड़ा अपनी पूर्वावस्था में ही विद्यमान दिखायी पड़ा।

वेमन्ना ने कहा- "वाराणसी की तीर्थयात्रा में तुम्हें बहुत कष्ट झेलने पड़े। तुमने पवित्र गंगा में स्नान किया; किन्तु तुम्हें इस तथ्य के प्रति तीव्र श्रद्धा तथा विश्वास नहीं था कि तुम्हारे तीर्थाटन तथा गंगा-स्नान के कारण ताँबे का यह टुकड़ा स्वर्ण का हो जायेगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तुम्हारी भक्ति निष्कपट नहीं है। यदि तुम्हारे हृदय में उत्कट तथा यथार्थ भक्ति है, तो तुम्हार लिए प्रत्येक स्थान वाराणसी है। यदि भक्ति में निष्कपटता नहीं है, तो इस कष्टप्रद तीर्थाटन का उपयोग ही क्या है?"

माता के यह पूछने पर कि ताँबा सोना कैसे बन सकता है, वेमन्ना ने कहा- “पूजनीया माता, यथार्थ श्रद्धा से इस कार्य का निष्पादन सम्भव है। मैं तुम्हारे समक्ष इसका प्रयोग प्रस्तुत कर दूँगा।" इतना कह कर उन्होंने अपनी माता से ताँबे का वह टुकड़ा ले कर उस पर पानी छिड़क दिया और वह ताम्र-खण्ड तत्क्षण स्वर्ण में परिणत हो गया। उन्होंने उसे अपनी माता के हाथों में रख दिया। उनकी माता तथा वहाँ उपस्थित अन्य लोग इसे देख कर आश्चर्य चकित रह गये।

***

एक दिन वेमन्ना ताँबे का एक टुकड़ा ले कर अपने अग्रज राजा के पास गये। उन्होंने उनसे कहा- "पूज्य भाई, ताँबे का यह टुकड़ा ले कर मुझे इसके बदले में एक एकड़ भूमि दे दीजिए। मैं खेती करना चाहता हूँ।"

सांसारिक विद्या-बुद्धि से सम्पन्न लोग सन्तों तथा योगियों के क्रिया-कलाप को समझने में असमर्थ होते हैं। राजा ने हँसते हुए कहा- "वेमन्ना, कृषक बनने का तुम्हारा प्रस्ताव अत्यन्त विनोदपूर्ण है और इससे भी अधिक विनोदपूर्ण है भूमि का वह मूल्य जिसे तुम मुझे देने जा रहे हो।" रानी नरसम्मा ने अपने पति से कहा- "वेमन्ना की बातों को महत्त्वहीन मत समझिए। वह एक महान् योगी तथा भक्त हैं। उनका व्यवहार रहस्यमय है। वह आपको जो-कुछ भी दे रहे हैं, उसे ले कर उन्हें भूमि दे दीजिए।" राजा सहमत हो गये और वेमन्ना को एक एकड़ भूमि दे दी गयी।

वेमन्ना ने दो वृद्ध तथा क्षीणकाय बैल खरीदे। उनको देखने से ऐसा लगता था मानो बहुत दिनों से उनको पेट-भर चारा नहीं मिला हो। वेमन्ना खेत की जुताई करने लगे। कृषि-कर्म में नव-दीक्षित इस कृषक के विचित्र कार्य-कलाप पर लोग अट्टहास करने लगे। वेमन्ना ने उस खेत में कड़वे खरबूजे के बीज डाल दिये। समय आने पर उसमें प्रचुर पैदावार हुई।

एक दिन एक वृद्ध महिला ने वेमन्ना के पास आ कर कहा- "मैं अपने तीन पौत्रों के साथ भूखों मर रही हूँ। मुझे कुछ काम दीजिए।" वेमन्ना ने कहा- "इन खरबूजों को एकत्र कर इनकी ढेरी लगा दो। तुम्हें इसका पारिश्रमिक रात में मिल जायेगा।" वृद्ध महिला ने उनकी बात मान कर फलों की एक बड़ी ढेरी लगा दी। वेमन्ना ने उस दिन उसके पारिश्रमिक में उसे एक खरबूजा दिया। उस वृद्ध महिला को इससे हार्दिक दुःख हुआ। उसने मन-ही-मन सोचा- "मैं आज बच्चों को क्या खिलाऊँगी! वे भूखों मर रहे हैं। इस एक फल से क्या होगा ? दुःखी हो कर वह अपने घर लौट गयी। उसके दो अल्पवयस्क पौत्र उसे देखते ही उसके पास दौड़ कर आये। उन्होंने कहा- "दादी, आज तुमको कितना पारिश्रमिक मिला?" वृद्ध महिला ने उन्हें सारा वृत्तान्त कह सुनाया और एक पौत्र के हाथ पर वह खरबूजा रख दिया। यह देख कर पौत्र अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा। उसने कहा- "वृद्ध होते हुए भी मेरी दादी कठोर परिश्रम करती है। क्या इस कठोर परिश्रम के लिए उसे यही पुरस्कार दिया गया है।" उसने उस खरबूजे को फर्श पर दे मारा। इसके पश्चात् वह तत्काल ही संज्ञाशून्य हो कर गिर पड़ा। फर्श पर गिरे हुए खरबूजे से चमकते हुए दाने निकले थे जिससे उसकी आँखें चौंधिया गयी थीं और वह निःसंज्ञ हो गया था। कुछ ही क्षणों में उसकी चेतना लौट आयी।

वृद्ध महिला बिखरे हुए सभी दाने एक दुकानदार को दे कर उसके बदले मे चावल, दाल, घी तथा अन्य वस्तुएँ ले आयी। जब उसके पौत्रों ने प्रचुर मात्रा में खाद्य सामग्री देखी, तब उनकी प्रसन्नता की सीमा न रही।

दूसरे दिन वृद्ध महिला, उसके दोनों पौत्र तथा कुछ अन्य श्रमिक वेमन्ना के खेत में काम करने लगे। वेमन्ना ने शाम को पारिश्रमिक के रूप में उन्हें एक-एक फल दिया। उसमें से कुछ श्रमिक फल चुरा कर भी ले गये। श्रमिकों ने जब पारिश्रमिक में मिले फलों को काटा, तब उनमें से सोने के दाने निकले: लेकिन चुराये गये फलों से कड़वे बीज निकले।

***

एक दिन वेमन्ना अपने अग्रज राजा के पास गये। उन्होंने उनसे अपने खेत पर चल कर फलों की पैदावार देखने की प्रार्थना की। राजा उसके इस प्रस्ताव पर हँसने लगे। उन्होंने कहा- "तुम अपना काम स्वयं देखो और अपने फलों की पैदावार का उपभोग भी अपने ही आप करो।" इसके पश्चात् वेमन्त्रा ने अपनी भाभी से जा कर कहा कि उनके अग्रज ने उनके खेत में चलने के उनके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया है जिसके फल-स्वरूप वह बहुत दुःखी हैं।

नरसम्मा ने अपने पति के पास जा कर कहा- "अपने भाई के प्रस्ताव को अस्वीकार करना आपके लिए उचित नहीं था। उनको बहुत दुःख हुआ है। कृपया उनके खेत में जा कर उन्हें सन्तुष्ट कीजिए। वह योगी, भक्त तथा कवि हैं।"

राजा खेत में जा कर पैदावार देखने के वेमन्ना के प्रस्ताव से सहमत हो गये। वह मन्त्रियों तथा रानी के साथ खेत में गये। वेमन्ना ने उनको वहाँ फलों की दो बड़ी-बड़ी ढेरियाँ दिखा कर अपने हाथ से उनका स्पर्श कर दिया। उनके स्पर्श मात्र से उन ढेरियों के सारे फल सुनहरे हो गये। इसे देख कर सभी लोग आश्चर्य चकित रह गये।

***

एक अन्य अवसर पर वेमन्ना राजप्रासाद के भीतर चले गये। वहाँ रानी बैठी हई थी। उन्होंने अपने नखों से रानी के वक्षस्थल पर एक खरोंच लगा दी। इसके फल-स्वरूप उस अंग से रक्त-पात होने लगा। रानी को वेमन्ना का यह विचित्र व्यवहार सर्वथा निर्दोष प्रतीत हुआ। उसने सोचा कि निश्चित रूप से इसका कोई विशिष्ट प्रयोजन होगा। वह इस सत्य से परिचित थी कि वेमन्ना एक महान् योगी हैं।

दासियों द्वारा यह बात राजा के कानों तक जा पहुँची। उन्होंने रानी से उनके इस आचरण का कारण पूछा। रानी के उपयुक्त उत्तर से राजा की सारी शंकाएँ निर्मूल हो गयीं। सान्ध्य प्रहर में रानी राजप्रासाद के उद्यान में गयी जहाँ उसको एक नाग ने डस लिया। वह संज्ञाशून्य हो कर गिर पड़ी। दासियों ने राजप्रासाद में जा कर राजा को इसकी सूचना दी। राजा उस स्थान पर आये जहाँ रानी अचेतनावस्था में पड़ी हुई थी। राजप्रासाद के कविराज ने आ कर उन्हें विषहारिणी औषधि देने का प्रयत्न किया; किन्तु विष वक्षस्थल पर लगी खरोंच से बाहर निकलने लगा और रानी की चेतना लौट आयी। उसने वेमन्ना को इस प्राण-दान के लिए धन्यवाद दिया। राजा तथा रानी को प्रातःकाल की उस समस्या का समाधान प्राप्त हो गया। उन्होंने कहा कि वेमन्ना दूरदर्शी तथा भविष्य-द्रष्टा हैं।

**

एक दिन वेमन्ना की माता ने उनसे कहा- "प्रिय पुत्र, तुम धर्मनिष्ठ बनो और अपने अग्रज की भाँति ब्राह्ममुहूर्त में स्नान करने के पश्चात् ईश्वर की उपासना करो।" वेमन्ना ने कहा - "आदरणीय माता, मेरे अग्रज शारीरिक अशुद्धि के प्रक्षालन के लिए स्नान तथा अधिकाधिक धन की प्राप्ति के लिए जप तथा ईश्वर का पूजन-अर्चन करते हैं। उनमें यथार्थ श्रद्धा-भक्ति का अभाव है। तुम मेरे साथ तालाब चलो। वहाँ मैं अपनी स्नान-विधि का प्रदर्शन करूँगा।"

वेमन्ना अपनी माता को तालाब पर ले गये। वह तालाब में प्रविष्ट हो गये। इसके पश्चात् अपना पेट फाड़ कर उन्होंने आन्तरिक मल का प्रक्षालन कर दिया। तालाब से बाहर आने पर उनका पेट पूर्वावस्था को प्राप्त हो गया। उनकी माता के आश्चर्य की सीमा न रही। इसके पश्चात् वेमन्ना पलक झपकते वहाँ से अदृश्य हो गये। पुत्र के पार्थक्य के कारण माता को हार्दिक दुःख हुआ। वह धीरे-धीरे घर पहुँची। उन्हें यह देख कर अत्यन्त हर्ष हुआ कि वहाँ वेमन्ना बैठे हुए हैं।

**

वेमन्ना की छोटी बहन अपने विवाह के पश्चात् पति-गृह जाते समय अपने अग्रज के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करने तथा उनका आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए उनके पास आयी। उसने वेमन्ना को साष्टांग प्रणाम किया। उन्होंने उसे कुछ सड़े-गले फल दिये जो मणि-माणिक्य तथा हीरों में परिणत हो गये।

उनके अन्तिम दिन

वेमन्ना एक पर्यटक योगी हो गये। समस्त आन्ध्र प्रदेश का भ्रमण कर उन्होंने अपनी तेलुगु कविताओं का प्रचार-प्रसार किया। उनकी कविताओं के संग्रह में चार हजार कविताएँ संग्रहित हैं। इन कविताओं में अद्वैत वेदान्त के स्पष्ट दर्शन होते हैं। इनकी अधिकांश कविताएँ अनेकार्थक हैं। सरल शब्द-संयोजन, संवेदनशीलता, शैली की प्रांजलता, दृष्टि की तीक्ष्णता, विचार-गाम्भीर्य तथा गहन मनोभावों के सम्यक् चित्रांकन में उनकी कविताएँ तेलुगु साहित्य में अप्रतिम हैं। लोगों में जब तक तेलुगु भाषा का प्रचलन रहेगा, तब तक तेलुगु प्रदेश में वेमन्ना की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रहेगी।

अपने पर्यटन की परिसमाप्ति के पश्चात् वेमन्ना कतारुपल्ली में स्थायी रूप से रह कर अपने शिष्यों तथा अनुयायियों को अनुदेशित करते रहे। उन्होंने महासमाधि यहीं ली। जिस स्थान पर उनकी अस्थियों को भूमिसात किया गया था, उसके ऊपर उनके शिष्यों ने उनकी समाधि का निर्माण कर दिया। आज भी उस गाँव में उनकी जयन्ती धूम-धाम से मनायी जाती है और आज भी उस समाधि के निकट कुछ चमत्कार हो जाया करते हैं।

एक बार वेमन्ना की समाधि पर बिजली गिरी; किन्तु उससे वह क्षतिग्रस्त नहीं हो सकी। वेमन्ना एक बारह वर्षीय बालक का रूप ले कर अपने हाथ में बिजली लिये समाधि से बाहर आ गये। उनके शिष्य भी वहीं थे। उनमें से एक शिष्य ने उनकी अभ्यर्थना में एक शत-स्तोत्र का पाठ किया जिसमें संस्कृत के एक सौ श्लोक थे। इसके पश्चात् वेमन्ना समाधि में प्रविष्ट हो गये।

चमत्कारिक योगी, महान् भक्त एवं अपौरुषेय कवि तथा दार्शनिक बेमन्ना की महिमा वृद्धि को प्राप्त होती रहे और उनके आशीर्वाद से हम सब कृतकृत्य होते रहें!

जयदेव

मेधैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै -
र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुंजद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः ।।

"हे राधे! बादलों से नीले गगन तथा तमालवृक्षों की पंक्ति से श्याम (काली) इस रात्रि में घर से बहुत दूर निकल आये इस बालक को अब तुम ही इसके घर पहुँचाओ, इस प्रकार नन्द के आदेश से यमुना के तट पर चलते मार्ग के लता-कुंज और वृक्षों के नीचे राधा एवं माधव की एकान्त-क्रीड़ाएँ जय प्राप्त करती हैं" (गीतगोविन्द : १/१)।

जयदेव की अमरकृति 'गीतगोविन्द' की ये प्रारम्भिक पंक्तियाँ हैं। मूल पुस्तक संस्कृत में है तथा इसकी विषय-वस्तु राधा तथा कृष्ण का पारस्परिक दिव्य प्रेम है। इसके प्रणेता जयदेव एक महान् तथा प्रख्यात भक्त थे। वह पाँच सौ वर्ष पूर्व उत्कल-स्थित पवित्र नगरी जगन्नाथपुरी के निकटस्थ बिल्वगाम नामक ग्राम के निवासी थे। 'गीतगोविन्द' जयदेव की सर्वाधिक प्रशंसित काव्य-कृति है।

उनका जन्म

जयदेव के पिता नारायण शास्त्रियार एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। जयदेव की माता का नाम कमलाबाई था। वह एक धर्मपरायण तथा निष्ठावान महिला थीं। वर्षों तक वे लोग निःसन्तान रहे। शास्त्रियार सन्तान के इच्छुक नहीं थे; किन्त कमलाबाई मन-ही-मन सन्तान की कामना करती रहती थीं। उन्होंने अपनी इस कामना से अपने पति को अवगत नहीं होने दिया। वह भगवान् से निरन्तर प्रार्थना करती रहतीं कि उनकी कृपा से उन्हें एक सुन्दर सद्गुण-सम्पन्न पुत्र की प्राप्ति हो। लोगों द्वारा बन्ध्या कहे जाने पर उन्हें लज्जित होना पड़ता था।

एक रात नारायण शास्त्री ने स्वप्न में देखा कि भगवान् उनके समक्ष प्रकर हो कर कह रहे हैं कि उनकी पत्नी की इच्छा की पूर्ति होगी और उन्हें शीघ्र ही एक यशस्वी पुत्र की जननी होने का सौभाग्य प्राप्त होगा। शास्त्री ने अपने पत्नी को इस स्वप्न से अवगत कराने के बाद पूछा कि क्या उन्होंने सन्तान के लिए ईश्वर से प्रार्थना की थी। कमलाबाई का उत्तर स्वीकृति-सूचक था। नारायण शास्त्री को इस बात से अत्यन्त दुःख हुआ कि उसके स्वार्थपर प्रयोजन के

कारण उनके सारे जप-तप निष्फल हो गये। उन्होंने अपनी पत्नी से क्रुद्ध स्वा में कहा- "मूर्ख नारी, तुमको भगवान् से पुत्र के लिए प्रार्थना नहीं करनी चाहिए थी। तुम्हारे लिए आत्मा के शाश्वत आनन्द के लिए प्रार्थना करना श्रेयस्कर होता। तुमने अपने साथ-साथ मुझे भी नष्ट कर दिया।" उसी क्षण से उन दोनों के बीच संवादहीनता की स्थिति उत्पन्न हो गयी। कमलाबाई ने उनसे क्षमा-याचना की; किन्तु रुष्ट शास्त्री पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। एक-दो दिन तक वे दोनों निराहार भी रहे।

एक दिन उनके घर आ कर एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण ने उन दोनों के दुःख का कारण पूछा। उस ब्राह्मण के प्रयास से उनमें समझौता हो गया। उसने कहा- "यह भगवान् की ही इच्छा है कि तुम दोनों को एक ऐसे सदाचारी पुत्र की प्राप्ति हो जो भविष्य में एक महान् तथा यशस्वी सन्त हो।”

नारायण शास्त्री ने सोचा कि स्वयं भगवान् ही मानव-रूप में उनके घर आये थे। कुछ दिनों के पश्चात् कमलाबाई के एक पुत्र हुआ जो जयदेव के नाम से विख्यात हुआ।

नारायण शास्त्री वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करने के लिए अपनी पत्नी के साथ वन में चले गये।

उनका विवाह

जगन्नाथपुरी में देव शर्मा नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह भगवान् जगन्नाथ का परम भक्त था। किन्तु वह निःसन्तान था। एक दिन उसने भगवान् से प्रार्थना की- "भगवन् ! यदि तुम्हारी कृपा से मुझे सन्तान प्राप्ति हो जायेगी, तो मैं उनमें से प्रथम सन्तान को निश्चित रूप से तुम्हारे चरणों में अर्पित कर दूँगा। यह तुमसे मेरी निष्कपट हार्दिक प्रार्थना है। मेरी इस इच्छा की पूर्ति करने की कृपा करो।" इस निवेदन के पश्चात् वह घर लौट गया।

समय पर उस भक्त ब्राह्मण देव शर्मा की पत्नी ने एक कन्या को जन्म दिया। इसके पश्चात् देव शर्मा को कई सच्चरित्र तथा प्रतिभाशाली पुत्रों के पिता होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। एक दिन वह अपनी पत्नी के साथ अपनी पुत्री को ले कर भगवान् जगन्नाथ के मन्दिर में गया। उसने कहा- "भगवन्, आपकी कृपा से मेरी इच्छा की पूर्ति हो गयी। अपने वचन के अनुसार मैं अपनी इस प्रथम सन्तान को आपको अर्पित करता हूँ। आप इसे स्वीकार करने की कृपा कीजिए।" इसके पश्चात् वहाँ उपस्थित सारे पुजारियों को सारा वृत्तान्त बता कर वह घर लौट गया।

उस रात उसके स्वप्न में प्रकट हो कर भगवान् ने उससे कहा- "मैं तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हो कर तुम्हारी सन्तान को स्वीकार करता हूँ; किन्तु तुम अपनी इस कन्या का हाथ जयदेव को दे दो। वह मेरा परम भक्त है।" पुजारियों ने भी स्वप्न में यही देखा।

उन दिनों जयदेव गाँव की सीमा से बाहर एक पर्ण-कुटीर में रहते थे। वह वहाँ भगवान् जगन्नाथ का ध्यान किया करते थे। भौतिक दृष्टिकोण से उनको निर्धन ही कहा जा सकता था; किन्तु उनके मुख-मण्डल पर दृष्टिपात करने में यह स्पष्ट हो जाता था कि वह अत्यन्त सुखी है। एक दिन वहाँ देव शर्मा आये। उसने जयदेव के सम्मुख अवनत-शिर हो कर उनसे कहा- "भगवान जगन्नाथ के आदेशानुसार मैं अपनी कन्या पद्मावती को ले कर आपके पास आया है। इसे स्वीकार करने की कृपा कीजिए।" जयदेव ने उसकी इस भेंट को अस्वीकार करते हुए कहा कि अत्यन्त निर्धन होने के कारण इस कन्यादान को स्वीकार करने की क्षमता उसमें नहीं है। उनकी सहमति प्राप्त करने के लिए बहुत प्रयत्न किये गये; किन्तु जयदेव ने स्वयं को उस कन्या के लिए अनुपयुक्त मान कर उसे स्वीकार नहीं किया। देव शर्मा अपने कथन के सत्यापन के लिए पुजारियों को भी ले आया।

इसके पश्चात् उसने अपनी कन्या को अपने निकट खड़ी कर कहा- "मेरी प्रिय पुत्री, आज से यह तुम्हारे पति हैं। तुम को प्रतिदिन इनकी पूजा करनी चाहिए। पति-सेवा में संलग्न स्त्री को अक्षुण्ण सुख की प्राप्ति होती है।" इतना कह कर वह अपने घर चला गया।

कन्या जयदेव के निकट बहुत देर तक खड़ी रही। उन्होंने उससे कहा- "तुम्हारे माता-पिता तुम्हें यहाँ छोड़ कर चले गये। तुम इस भयावह वन में कैसे रह पाओगी?" पद्मावती ने कहा- "मेरे स्वामी, यह आप क्या कह रहे हैं! मेरे पिता ने मुझे आपके हाथों में सौंप दिया है और अब मैं आपकी हैं। मैं यहाँ अकेली नहीं हैं: क्योंकि आप सदैव मेरे साथ हैं।" पद्मावती के शब्दों को सुन कर जयदेव ने सोचा- "इसका कथन सत्य है। इसका परित्याग निश्चय ही मेरे लिए पाप होगा। मुझे विधि-सम्मत अनुष्ठान के पश्चात् इससे विवाह कर लेना चाहिए।" यह निश्चय कर उन्होंने पद्मावती से ब्राह्मणों में प्रचलित विधि के अनुसार विवाह के लिए उससे अपने साथ उसके माता-पिता के घर चलने को कहा।

पद्मावती ने कहा "मेरे पिता ने मुझे आपके आदेश के निर्विवाद पालन की आज्ञा दी है। अतः आपके आदेशानुसार आचरण करना मेरा सौभाग्य होगा। यह कह कर वह उनके पार्श्व में खड़ी हो गयी।

तत्पश्चात् जयदेव ने देव शर्मा की पुत्री से विवाह कर लिया। वह उदार थे तथा निर्धनों को अन्न और ब्राह्मणों को भेंट दिया करते थे। भोजन के समय उनके साथ कोई-न-कोई अतिथि अवश्य भोजन करता था। नारायण शास्त्री जो थोड़ा-बहुत धन छोड़ गये थे, वह अब निःशेष हो गया। इसके परिणाम-स्वरूप जयदेव ब्राह्मणों की परम्परागत वृत्ति के अनुसार भिक्षाटन द्वारा अन्न की व्यवस्था करने लगे। इस विपन्नावस्था में भी जयदेव पद्मावती के साथ सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे। अभावग्रस्त होने पर भी वह कुछ अतिथियों के साथ ही भोजन करते थे। उनका हृदय विशुद्ध प्रेम तथा श्रद्धा से सम्पूरित था। सभी लोग उनका सम्मान करते थे।

गीतगोविन्द

जयदेव ने 'गीतगोविन्द' नामक जिस भव्य तथा कालजयी काव्य की रचना की, उसमें राधा तथा कृष्ण के दिव्य प्रेम का वर्णन है। इस छोटे-से बिल्वगाम के निवासी इसके अष्टकों का गायन किया करते थे तथा वार्षिकोत्सव के अवसर पर इनका गायन भगवान् जगन्नाथ के सम्मुख हुआ करता था। 'गीतगोविन्द' की उदात्त संगीतमयी कविता से लोग स्तब्ध रह जाते थे। यह प्रशंसनीय कृति है। जयदेव का यश दिग्-दिगन्त में व्याप्त हो गया।

'गीतगोविन्द' के अर्धांश के प्रणयन के पश्चात् एक स्थान की पूर्ति के लिए उनको कुछ उपयुक्त शब्द नहीं सूझ रहे थे। वह पाण्डुलिपि को कमरे में रख कर स्नान के लिए चल गये।

भगवान् कृष्ण ने स्वयं जयदेव का रूप धारण कर पद्मावती से पाण्डुलिपि लाने को कहा। उसने उन्हें अपना पति समझ कर उनको पाण्डुलिपि दे दी।

भगवान् कृष्ण ने स्वयं अपनी लिपि में उस छन्द को लिख दिया। इसके पश्चात् वह तत्काल नदी-स्नान को चले गये।

कुछ देर बाद स्नान कर जयदेव घर लौटे और पाण्डुलिपि ले कर स्वयं-रचित कविता लिखने बैठ गये। किन्तु आश्चर्य चकित हो कर उन्होंने देखा कि किसी ने वह कविता उनकी पाण्डुलिपि में पहले ही लिख दी है। उन्होंने पत्नी से कहा- "यह कविता कौन लिख गया ? यह तो अत्यन्त सुन्दा है। मैं स्वयं ऐसा नहीं लिख सकता था।"

पद्मावती ने कहा- "अचानक आ कर आप ही इसे लिख गये और इसके पश्चात् स्नान करने चले गये।" जयदेव विस्मित हो गये। भगवान् कृष्ण ने उनके स्वप्न में प्रकट हो कर कहा- "जयदेव, वह कविता मैंने स्वयं ही लिखी है।" जागने पर जयदेव को हार्दिक आनन्द हुआ।

जब वहाँ का राजा 'गीतगोविन्द' की महिमा तथा प्रख्याति से अवगत हुआ, तब जयदेव से वह ईर्ष्या करने लगा; क्योंकि वह स्वयं कवि था। उसने एक अन्य 'गीतगोविन्द' की रचना कर डाली।

एक बार राजा जगन्नाथ के मन्दिर में आया। उस समय जयदेव अपनी पुस्तक 'गीतगोविन्द' की कविताओं का पाठ करते हुए नृत्य कर रहे थे। राजा ने उनसे पूछा- "तुम मेरी कविताएँ क्यों नहीं गा रहे हो?" जयदेव ने कहा- "भगवान् आपकी कविताओं से उतने प्रसन्न नहीं हैं जितने मेरी कविताओं से हैं। क्यों न इनका परीक्षण अभी कर लिया जाये!"

राजा ने दोनों रचनाओं को भगवान् के समक्ष प्रस्तुत करने का आदेश दिया। उसने भगवान् से प्रार्थना की- "इन दोनों रचनाओं में जो आपको सुन्दर तथा प्रियतर लगे, उसे आप शीर्ष पर रखने की कृपा कीजिए।" इसके पश्चात् सब लोग बाहर आ गये और द्वार बन्द कर दिया गया। कुछ देर बाद सब लोग भीतर प्रवेश करने लगे। सबसे पहले राजा ने द्वार खोला और देखा कि जयदेव की कृति उसकी कृति के ऊपर विद्यमान है।

यह देख कर राजा को हार्दिक दुःख हुआ। उसने अन्न-जल का परित्याग कर दिया। भगवान ने उसके स्वप्न में प्रकट हो कर उससे कहा- तुम्हें यह अनावश्यक दुःख क्यों हो रहा है? मेरे लिए 'गीतगोविन्द' से अधिक प्रिय अन्य कोई रचना नहीं है। मैं तुम्हारी रचना से भी प्रसन्न है; किन्तु तुम्हें इस सत्य से परिचित हो जाना चाहिए कि जयदेव का 'गीतगोविन्द' तुम्हारी रचना की अपेक्षा श्रेष्ठतर है। तुम सारे देश में 'गीतगोविन्द' का प्रचार-प्रसार करो।" निद्रा-त्याग के बाद राजा को स्फूर्ति प्राप्त हुई। वह जयदेव का परम भक्त हो गया। उसने पूर्ण मनोयोग से जयदेव रचित 'गीतगोविन्द' का अध्ययन कर देश-भर में इसका प्रचार-प्रसार किया।

एक बार विक्रय के लिए फल एकत्र करते समय एक महिला वन में मधुर स्वर में 'गीतगोविन्द' के गीत गा रही थी। भगवान् उसके कर्णप्रिय गायन से अत्यन्त प्रसन्न हुए। उसे सुनने के लिए वे वन में इतस्ततः घूमते रहे। उनके इस अरण्य-परिभ्रमण में कण्टकित झाड़ियों के कारण उनके वस्त्र फट कर तार-तार हो गये।

ब्राह्ममुहूर्त में मन्दिर के पुजारी तथा राजा ने देखा कि भगवान् का पीताम्बर पूर्णतः जीर्ण-शीर्ण हो गया है। वे पीताम्बर की इस जीर्णावस्था का कारण जानने में असमर्थ थे। उन्होंने इसके लिए भगवान् से प्रार्थना की।

भगवान् ने उनको स्वप्न में दर्शन दे कर कहा- "एक नारी वन में 'गीतगोविन्द' की पदावली गा रही थी। मैं उसे सुनने के लिए दौड़ा-दौड़ा वन में चला गया। मेरा पीताम्बर इसी दौड़-धूप में काँटों से उलझ कर फट गया।"

राजा तथा पुजारी ने जयदेव और उस नारी का गुण-गान किया। राजा ने अपने राज्य में बुला कर उसे अपरिमित धन दिया। राजा के सम्मुख वह प्रतिदिन 'गीतगोविन्द' की पदावली का गायन करती थी।

भगवान् अपने भक्तों के दास हैं। वे उनके लिए सब-कुछ करने को उद्यत रहते हैं।

डाकुओं ने जयदेव के हाथ-पैर काटे

एक दिन जयदेव के श्वसुर अपने दामाद को देखने आये। वह जयदेव के यहाँ कुछ दिन रुक गये। इसके पश्चात् वह कुछ दिनों के लिए पद्मावती को साथ ले कर अपने घर लौट गये। पद्मावती की माता अपनी पुत्री को देखना चाहती थी।

एक बार निकटवर्ती ग्राम के एक समृद्ध वणिक ने बिल्वगाम जा कर जयदेव से प्रार्थना की कि वह उसके घर में कुछ दिन अतिथि के रूप में रहें। जयदेव उससे सहमत हो कर उसके साथ चल पड़े। कुछ दिनों तक उसका आतिथ्य स्वीकार किया। तत्पश्चात् उस वणिक ने उनको बहुमूल्य भेंट प्रदान कर अपने रथ द्वारा उनके घर भेजा। इन दोनों गाँवों के बीच एक अल्प-विस्तृत वन था। वहाँ डाकुओं ने उन पर आक्रमण कर दिया। जयदेव ने उन्हें अपना सब-कुछ दे दिया। उन्होंने यह सब उन्हें बिना किसी प्रतिरोध के ही दिया था। इस कारण डाकुओं को यह सन्देह हो गया कि वह पुलिस को सूचित कर उन्हें दण्डित करवाने का प्रयत्न कर सकते हैं। अतः उन्होंने उनके हाथ-पैर काट कर उन्हें एक जल-विहीन कुएँ में डाल दिया।

जयदेव ने यह सारे कष्ट धैर्यपूर्वक सहन कर लिये। इतना ही नहीं, उन्होंने भगवान् से यह प्रार्थना की कि वे उन डाकुओं को उनके कुकृत्य के लिए क्षमा कर दें। उन्होंने स्वयं को भगवान् के हाथों में सौंप दिया। उन्होंने उनसे इसका परिवाद कभी नहीं किया। उन्होंने सोचा कि इस घटना से उनके किसी कुकृत्य का परिमार्जन ही हुआ है। उनको इस बात का पूर्ण विश्वास था कि उनके साथ जो-कुछ भी हुआ है, उसका उत्तरदायित्व उन डाकुओं पर नहीं है। इसका निष्पादन उनके हितार्थ स्वयं भगवान् ने किया था। निष्कपट भक्तों का यही भाव होता है। वे विरोध तथा विपत्ति के स्वागत के लिए सदैव तत्पर रहते हैं।

उस प्रान्त का शासक आखेट के लिए उधर ही गया हुआ था जिधर जयदेव असहाय पड़े हुए थे। प्यासा होने के कारण वह उस कुएँ के निकट यह देखने के लिए गया कि उसमें पानी है कि नहीं। किन्तु उसने देखा कि उस जलहीन कुएँ में एक क्षत-विक्षत मानव शरीर पड़ा हुआ है। उसने अपने नौकरों को उसे बाहर निकालने का आदेश दिया, जिसका पालन तत्क्षण किया गया। राजा ने जयदेव को अपने साथ ले जाने की व्यवस्था की। राजधानी जाते समय मार्ग में राजा ने जयदेव से उनका नाम पूछा। जब उसे ज्ञात हुआ कि वह सर्वत्र प्रख्यात जयदेव हैं, तब वह उनके चरणों पर गिर पड़ा। उसने उनसे प्रार्थना की कि वह उसे अपना शिष्य बना लें। उसने उन्हें अपना गुरु मान कर उनका पूजन किया। जयदेव को पालकी पर ले जाया जा रहा था। नगर में एक भव्य शोभा-यात्रा का आयोजन था जिसमें संगीत का कार्यक्रम भी चल रहा था। जयदेव को राज्य के मुख्य गुरु के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया।

जयदेव के सन्त-स्वभाव, उनकी धर्मनिष्ठा, उनके विशद ज्ञान, उनकी आध्यात्मिक उपलब्धि तथा हरि-इच्छा के प्रति उनके आत्म-समर्पण ने राजा को अत्यन्त प्रभावित किया। एक दिन राजा ने गुरु के पास जा कर संन्यास-दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की।

जयदेव ने कहा- "महाराज, संन्यास बाह्य परित्याग नहीं है। वास्तविक संन्यास का सम्बन्ध मन से होता है। पत्नी, पुत्र तथा सम्पत्ति के परित्याग से ही मनुष्य संन्यासी नहीं हो जाता; क्योंकि मानसिक रूप से वह इनके प्रति मोहासक्त रह सकता है। बाह्य संन्यास से अधिक लाभ नहीं होता। आप गृहस्थ संन्यासी का जीवन व्यतीत कीजिए। मैं भी इसी जीवन के लिए प्रयत्नशील हूँ। बाह्यतः आप राजा बने रहिए और अन्तरतः संन्यासी हो जाइए।"

जयदेव को गृहस्थ जान कर राजा को बहुत आश्चर्य हुआ। वह इस भ्रम में था कि जयदेव ने संसार का परित्याग कर दिया है। उसने सोचा कि जयदेव ने उन्हें जो परामर्श दिया था, उसमे एक महान् सत्य निहित है। उसने पद्मावती को ले आने के लिए कुछ दासियों को पालकी के साथ बिल्वगाम भेजा।

कुछ दिनों तक अपनी माँ के घर रहने के पश्चात् पद्मावती बिल्वगाम लौट गयी : किन्तु वहाँ अपने पति को न पा कर उसने सोचा कि उन्होंने उसका परित्याग कर संन्यास-ग्रहण कर लिया है। उसके पिता ने निकटस्थ सभी गाँवों में उनकी खोज की; किन्तु वह कहीं नहीं मिले। उसने सोचा कि जयदेव साधना करने के लिए वन में चले गये हैं। पिता के घर से लौटने पर पद्मावती ने अपने घर को नितान्त जनशून्य पाया। वहाँ उसके पति नहीं थे और उनकी खोज के लिए जो प्रयत्न किये गये थे, वे विफल हो चुके थे। किन्तु जब दासियों से उसने अपने पति के विषय में सुना, तब उसके हर्ष की सीमा नहीं रही। पद्मावती ने राजप्रासाद में जा कर अपने पति के दर्शन किये। उसने उनके पवित्र चरणों पर गिर कर उन्हें प्रेम तथा श्रद्धा के जल से प्रक्षालित किया। जयदेव ने उसे अपनी विकलांगता का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। अपने पति के क्षत-विक्षत शरीर को देख कर उसे घोर कष्ट हुआ। उसने भगवान् से प्रार्थना की- "मेरे पति के हाथ-पैर पूर्वावस्था को प्राप्त हो जायें, क्या इसके लिए भगवान् जगन्नाथ कुछ नहीं कर सकेंगे?" भगवान् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और उसके स्पर्श मात्र से जयदेव को उनके हाथ-पैर पुनः प्राप्त हो गये। वे दोनों राजा के संरक्षण में सुखपूर्वक रहने लगे।

कहानी का एक अन्य प्रारूप

राजा के लिए पद्मावती देवी लक्ष्मी की भाँति सम्माननीय थीं। वह अपनी माता से अधिक उनका आदर करता था। उसने अपने राज्य तथा इसके प्रतिवेश में इस आशय की घोषणा का आदेश दे दिया कि वह सभी मतों के प्रति आस्थावान् भक्तों का भव्य स्वागत किया जायेगा और उन्हें भेंट के रूप में प्रचुर मात्रा में धन दिया जायेगा। वहाँ जो भी साधु आता था, पहले जयदेव का दर्शन करता था। इसके पश्चात् जयदेव उसे राजा के पास भेज दिया करते थे। राजा के पास जाने वाले इन सभी साधुओं को बहुमूल्य भेंट दे कर सम्मानित किया जाता था।

जयदेव को कष्ट पहुँचाने वाले डाकुओं ने राजा के इस आतिथ्य सत्कार तथा उसकी दानशीलता की बात सुनी। वे संन्यासी का वेश धारण कर जयदेव के पास जा पहुँचे। उन्होंने उनको देखते ही पहचान लिया। जयदेव ने भी उनको पहचान लिया। दण्ड की आशंका से भयभीत हो कर वे राजप्रासाद से छिप कर बाहर निकल गये। जयदेव ने उनको बुलाने के लिए कुछ लोगों को भेज दिया जो उनको पुनः वहाँ ले आये। जयदेव उनके सम्मुख विनम्र भाव से अवनत-शिर हो गये। जब वहाँ राजा का आगमन हुआ, तब उन्हें निर्देश देते हुए उन्होंने कहा कि वह उन्हें साष्टांग प्रणाम तथा माल्यार्पण कर उनके प्रति सम्मानजनक व्यवहार करें। इसके पश्चात् उनको एक भव्य भवन में ले जा कर उनका इस प्रकार आदर-सत्कार किया गया कि मानो वे राज-परिवार के ही सदस्य हों। फिर भी वे वहाँ सुखी नहीं थे। उनके मन में प्रति क्षण मृत्यु-दण्ड का भय बना रहता था। अतः एक दिन उन लोगों ने कहा कि वे अपने निवास स्थान को जाना चाहते हैं। जयदेव ने उल्लसित मन तथा परिवाद-शून्य भाव से राजा से कहा- "मार्ग में एक विस्तृत वन है। इन अकिंचन पण्डितों के रक्षार्थ इनके साथ कुछ सैनिक भेज दीजिए। वन में दुर्दान्त डाकू भी रहते हैं।"

राजा ने उन डाकुओं को पर्याप्त वस्त्राभूषण तथा विपुल धन-राशि दे कर विदा किया। उनकी रक्षा के लिए उन्हें पाँच सैनिक भी दिये गये। मार्ग में विश्राम के लिए वे एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। बहुत देर के वार्तालाप के पश्चात् सैनिकों ने उनसे पूछा- "हम लोगों को आप लोग यह बताइए कि आप लोग कौन हैं और कविवर से आप लोगों का क्या सम्बन्ध है? उन्होंने आप लोगों की सहायता की तथा आप लोगों को पर्याप्त सुविधा प्रदान करने के लिए स्वयं राजा से अनुरोध किया।"

डाकू मुस्कराने लगे। उनमें से एक ने सैनिकों से कहा- "इन सबका कारण मैं तुम लोगों को बता रहा हूँ। एक दिन हम लोग भिक्षाटन के लिए कर्नाटक के राजप्रासाद के निकट बैठे थे। तभी वहाँ वह ब्राह्मण धन की खोज में आ गया। वहाँ उस लोभी तथा घृणित ब्राह्मण ने एक व्यक्ति के घर से कुछ धन चुरा लिया। वह व्यक्ति उस कवि को ले कर राज-दरबार में पहुँच गया। उस समृद्ध व्यक्ति ने राजा से कहा- "महाराज, वस्तुतः यह व्यक्ति ब्राह्मण है ही

नहीं। यह बहुत बड़ा चोर है। चोरी ही इसके जीविकोपार्जन का साधन है। इसने मेरे घर से धन चुराया है। मैं इसे अपने नौकरों द्वारा बँधवा कर महामहिम के समक्ष ले आया हूँ।" राजा ने एक दलित को बुला कर उससे कहा कि वह इसे इस देश की सीमा से बाहर ले जा कर इसकी हत्या कर दे। वह दलित उसे खींच कर उस देश से बाहर ले गया। वहाँ हम लोगों ने उसे असहायावस्था में क्रन्दन करते हुए पाया। हम लोगों ने उस दलित से आग्रह किया कि वह उसकी हत्या न करे। हम लोगों ने उससे यह भी कहा कि वह उसे देश के बाहर निकाल कर उसकी हत्या करने के स्थान पर केवल उसकी उँगलियाँ काट कर राजा के सम्मुख प्रस्तुत कर दे। किन्तु दलित से उस ब्राह्मण को देश से बाहर ले जा कर उसके हाथ-पैर काट डाले और उसके कटे हुए अंग को ले जा कर राजा के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। वह ब्राह्मण हम लोगों की अभ्यर्थना इस कारण कर रहा है कि हम लोगों ने उसे राजा के कठोर आदेश से मुक्त करवा दिया था।"

डाकू अभी कुछ और कहने ही जा रहा था कि आकाश में घोर गर्जन हुआ और उन सभी के शिर पर बिजली गिर पड़ी जिसके फल-स्वरूप वहीं उनकी मृत्यु हो गयी। राज्य कर्मचारी अचेतनावस्था में मूर्तिवत् वहीं खड़े-के-खड़े रह गये। जब उनकी चेतना जाग्रत हुई, तब वे उस लोमहर्षक दृश्य को देख कर स्तब्ध रह गये। इसके पश्चात् वे राजप्रासाद में गये। किन्तु राजा अभी तक जयदेव के घर से नहीं लौटा था। अतः राजा द्वारा उन डाकुओं को दी गयी सम्पत्ति को ले कर वह जयदेव के घर गये। उन्होंने हाथ जोड़ कर राजा से कहा- "महाराज, तड़ित्-पात के कारण उन पण्डितों की तत्काल मृत्यु हो गयी। आपने उन्हें जो धन तथा वस्त्र दिये थे. उन्हें ले कर हम आपकी सेवा में उपस्थित हैं।" राजा इस चमत्कारपूर्ण परिवर्तन को नहीं समझ सका। जो कुछ हो चुका था, वह उससे अनभिज्ञ ही रह गया। उसने व्यग्र हो कर पूछा- क्या हुआ? क्या हुआ? तब सैनिकों ने उन मृत व्यक्तियों तथा जयदेव की विकलांगता के सम्बन्ध में उनके द्वारा प्रस्तुत विवरण राजा को कह सुनाया।

यह सुन कर दयालु-हृदय जयदेव चिल्ला उठे। वह अपने क्षत-विक्षत अंगों को धरती पर पटकते हुए अत्यधिक पीड़ा के कारण सिसकने लगे; किन्तु उसी क्षण उनके हाथ-पैर अपनी सामान्य पूर्वावस्था को प्राप्त हो गये। (यह एक अन्य विवरण है।) किन्तु इस आश्चर्यजनक घटना को देख कर सभी लोग स्तब्ध रह गये। उन बर्बर लोगों की मृत्यु की सूचना से जयदेव को हार्दिक दुःख हुआ। जयदेव की दयनीय दशा से द्रवित हो कर भगवान् पुरुषोत्तम ने उनको उनके प्रारम्भिक हाथ-पैर दे दिये।

उक्त घटना की वास्तविकता के रहस्य के अनावरण के लिए व्यग्र राजा द्वारा बार-बार पूछे जाने पर जयदेव ने डाकुओं तथा उनके बीच हुई घटना का वृत्तान्त उनको आद्योपान्त कह सुनाया। राजा इस चमत्कारपूर्ण कहानी को सुन कर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा - "जयदेव, तुम संसार के सर्वाधिक सौभाग्यशाली प्राणी हो। तुम अद्वितीय हो। मुझे उस व्यक्ति के प्रत्यक्ष दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है जो अपने मित्रों तथा शत्रुओं के प्रति समान व्यवहार करता है। मैं एक तुच्छ प्राणी हूँ; किन्तु इस बात के लिए मैं अपने को सौभाग्यशाली समझता हूँ कि तुमसे मेरा व्यक्तिगत सम्बन्ध है।"

जयदेव के पुनः पुनः प्रशस्ति-गायन के पश्चात् राजा राजप्रासाद में चला गया। वहाँ उसने अपनी पत्नी, अपने पुत्रों तथा मन्त्रियों को उस अद्भुत घटना से सम्बन्धित सारी बातें बतायीं।

पद्मावती का पातिव्रत्य

एक दिन वृद्धावस्था के कारण राजा के भाई का देहान्त हो गया। उसकी धर्मनिष्ठ पतिव्रता पत्नी ने पति का अनुगमन करने के लिए सती होने का निश्चय कर लिया। राजा-रानी इस दृश्य को देखने के लिए घटना-स्थल पर गये। उसी समय पद्मावती भी अग्नि में प्रविष्ट होने को तत्पर उस नारी के दर्शन के लिए वहाँ आ गयी। रानी ने उससे पूछा- "पद्मावती, क्या तुम यहाँ सती को देखने आयी हो ?" पद्मावती ने कहा- "छिः छिः ! यह कैसी पतिव्रता है जो अपने

पति की मृत्यु की सूचना मिलते ही जल कर भस्म नहीं हई! पति की मृत्यु के पश्चात् काष्ठ में प्रज्वलित अग्नि में जलने के प्रयास से क्या लाभ! पति की मृत्यु की सूचना पाते ही यदि पत्नी ने प्राणों का परित्याग नहीं किया, तो पति के प्रति उसकी श्रद्धा, उसका प्रेम तथा उसकी पवित्रता, ये सभी अर्थहीन ही हैं।"

रानी ने कहा- "तुम क्या कह रही हो? क्या तुम इस सत्य के प्रति आश्वस्त हो कि तुम्हारे ये शब्द तुम्हारे विषय में कभी निर्भान्त सिद्ध हो सकेंगे? यह कैसे सम्भव हो सकता है? एक दिन मैं तुम्हारी परीक्षा लूँगी। मुझे उस अवसर की प्रतीक्षा है।"

एक दिन राजा के मन में पुरुषोत्तम के दर्शन की इच्छा जाग्रत हुई। वह अपने मित्र जयदेव के साथ मन्दिर गया। उसने जयदेव के साथ वह रात मन्दिर में ही व्यतीत की।

प्रातःकाल के पूर्व क्षणों में ही रानी ने पद्मावती को बुलाया। पद्मावती ने वहाँ शीघ्रातिशीघ्र पहुँच कर पूछा कि वह नगण्य नारी उसकी क्या सेवा कर सकती है? रानी घोर दुःख के कारण छाती पीट-पीट कर रोने लगी। उसने पद्मावती से कहा- "राजा कल तुम्हारे पति के साथ भगवान् पुरुषोत्तम के दर्शन के लिए मन्दिर गये। किन्तु मैं तुमसे यह किस मुँह से कहूँ कि वहाँ तुम्हारे पति का देहान्त हो गया। अपने अभिन्न मित्र की मृत्यु से मर्माहत राजा अभी तक मन्दिर से नहीं लौटे हैं। मुझे यह दुःखद समाचार वहाँ से लौटे हुए सेवको से मिला।"

रानी के इन शब्दों से पद्मावती को मर्मान्तक पीडा हई। पहले वह फर्श प गिर निःसंज्ञ हुई और तत्पश्चात् उसका देहान्त हो गया।

राजा तथा जयदेव मन्दिर से लौटे। राजप्रासाद में प्रवेश के पश्चात् उन लोगों ने देखा कि पद्मावती फर्श पर मृत पड़ी हई है। राजा ने अपनी पत्नी से पूछा- "पद्मावती को क्या हो गया?" रानी ने कहा- "मैं पद्मावती के पातिव्रत्य की परीक्षा ले रही थी। जब आपके छोटे भाई की पत्नी चिता पर आरूढ़ होने जा रही थी, तब उसने उन पर कटाक्ष किया था। आज मैंने विनोद में ही उससे कह दिया कि उसके पति का देहान्त हो गया। उसी क्षण चेतनाशून्य हो कर वह गिर पड़ी और तत्पश्चात् उसका देहान्त हो गया। आप इसके लिए मुझे क्षमा कीजिए।"

राजा ने अप्रसन्न मुद्रा में रानी से कहा- "मैं तुम्हारा परित्याग करता हूँ। तुम जहाँ चाहो वहाँ चली जाओ।" जयदेव ने उन्हें शान्त करते हुआ कहा- "रानी निर्दोष है। भावुकता तथा उत्तेजना के वशीभूत हो कर लोग कभी-कभी झूठ बोल देते हैं।" इतना कह कर उन्होंने अपने हाथ में पद्मावती के हाथों को ले कर भगवान् कृष्ण का ध्यान किया। इसके पश्चात् वह उनकी महिमा का गुण-गान करने लगे। कुछ ही क्षणों के पश्चात् पद्मावती भी उठ कर अपने पति के साथ भगवान् का प्रशस्ति-गान करने लगी। रानी ने उसके चरणों पर गिर कर उससे क्षमा-याचना की।

जयदेव के अन्तिम दिन

जयदेव ने प्रतिज्ञा की कि वह जीवन पर्यन्त गंगा में ही स्नान करेंगे। वह अब वृद्ध हो गये थे। एक दिन गंगा-स्नान के पश्चात् लौटते समय वह मूर्च्छित हो कर गिर पड़े। कुछ देर बाद उनकी मूर्च्छा भंग हुई। राजा ने उनके लिए एक पालकी की व्यवस्था कर दी; किन्तु जयदेव ने इसे स्वीकार नहीं किया। जयदेव की तपस्या तथा भक्ति के कारण गंगा कमल के पुष्पों के साथ उनके घर के कुएँ में स्वयं प्रकट हो गयीं।

जो विनम्र, निष्कपट, अकृत्रिम स्वभाव तथा कृष्ण के महानतम भक्त थे, जिनमें संग्रह-वृत्ति का सर्वथा अभाव था, जिन्हें कृष्ण के ध्यान में सदैव आनन्दानुभूति हुआ करती थी, जो एक पूर्णपुरुष तथा क्षमाशीलता की प्रतिमूर्ति थे, उन जयदेव का महिमामय जीवन ऐसा ही था। संन्यास के रहस्य से परिचित होने के कारण वह पत्नी के साथ रहते

हए भी संन्यासी थे। वह जानते थे कि इन्द्रिय-निग्रह के पश्चात् जो मनःस्थिति होती है, वही संन्यास है। उनका जीवन इस बात का एक दृष्टान्त है कि गृहस्थाश्रम में भी ईश्वर-साक्षात्कार सम्भव है।

हम सबके लिए प्रेरणाप्रद जयदेव की महिमा उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो।

विद्यारण्य

श्री आदि शंकराचार्य भगवत्पाद से प्रारम्भ शंकराचार्यों की क्रम-परम्परा के अनुसार श्री विद्यारण्य इक्कीसवें शंकराचार्य थे। विजयनगर साम्राज्य तथा वेद-विद्या उन्हीं की ऐहिक तथा आध्यात्मिक सृष्टि हैं।

महान् मध्व तत्कालीन समाज में परिव्याप्त दुर्व्यवस्था, अराजकता एवं दैन्य के स्थान पर हिन्दू-संस्कृति के पुनरुद्धार तथा हिन्दू-प्रभुसत्ता की स्थापना के प्रबल आकांक्षी थे। अपनी इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए वह किष्किन्धा के निकट ऋष्यमूक पर्वत की एक शीतल गुहा में देवी बाला के आशीर्वाद की प्राप्ति के लिए तप कर रहे थे। तप के प्रति उनके दृढ़ निश्चय के कारण देवी उनकी भाव-समाधि में उनके समक्ष प्रकट हो गयीं। उन्होंने उनसे जो-कुछ कहा, उसका तात्पर्य यही था कि उनकी हार्दिक इच्छा की पूर्ति उनके आगामी जन्म में ही हो पायेगी। यह सुन कर उस महान् योगी ने संन्यास-ग्रहण का लिया। संन्यास का अर्थ ही होता है दूसरा जन्म-ग्रहण। उन्होंने देवी का पुनः आह्वान किया। एक किंवदन्ती के अनुसार वहाँ लगभग तीन घण्टों तक स्वर्ण, मणि-माणिक्य तथा मोतियों का वर्षण होता रहा और महान् मध्व संन्यासी विद्यारण्य के रूप में परिणत हो गये। वह हिन्द-साम्राज्य की स्थापना कब कैसे तथा कहाँ करें, इसके लिए उन्हें आवश्यक निर्देश भी प्राप्त हो गये।

तुगभद्रा के उत्तरी तट पर अनेगन्डि नामक एक स्थान था। अतः यह स्थान विरूपाक्ष मन्दिर के चतुर्दिक होने के कारण नदी के दक्षिण तट पर पड़ता था। उस महान् सन्त ने अपने योजनानुसार अपने विद्यानगर का निर्माण किया। जब वह तपस्या कर रहे थे, तब दो गड़ेरिये उनकी सेवा किया करते थे। ये दोनों सहोदर भाई थे जो उनके लिए प्रतिदिन दुग्धादि आवश्यक सामग्री की व्यवस्था करते थे। उन्होंने उन्हें हुक्का तथा बुक्का नामों से अभिहित कर वहाँ का राजा बना दिया और अपने भाई को मन्त्रि-पद प्रदान कर वह स्वयं साम्राज्य के सामान्य प्रशासन की देख-रेख करने लगे। उनके उदात्त आध्यात्मिक व्यक्तित्व के कारण लोग उन्हें निर्ममेन्द्र कहा करते थे। जिस पवित्र मण्डप में बैठ कर निर्ममेन्द्र आध्यात्मिक साधना किया करते थे, उसके अवशेष को हम्पी नामक स्थान पर तुंगभद्रा नदी के गर्भ में आज भी देखा जा सकता है। हम्पी गुन्टकल-बंगलौर रेलवे लाइन के होसपेट स्टेशन से आठ मील दूर है। इसी प्रकार महान् विरूपाक्ष मन्दिर की दक्षिणी परिक्रमा पर निर्ममेन्द्र की इष्टदेवी बाला की वेदिका को भी देखा जा सकता है। हमारी आर्य-संस्कृति की भाँति हम्पी के नाम पर आज उसका ध्वंसावशेष मात्र शेष रह गया है जो अति-विस्तृत है। विद्यारण्य द्वारा निर्मित अविस्मरणीय विद्यानगर का चित्र भव्यता में अद्वितीय है।

भारतीय तथा विदेशी साक्ष्यों के अनुसार अट्ठारह मील लम्बा तथा दश मील चौड़ा यह विस्मयजनक नगर आयताकार रूप में अवस्थित था। तुंगभद्रा नदी को विभिन्न सरणियों में इस प्रकार अपवर्तित कर दिया गया था कि नगर के कोने-कोने में शुद्ध तथा स्वच्छ जल उपलब्ध था। नगर-निर्माण-योजना निदर्दोष, स्वास्थ्य-सम्बन्धी उपक्रम उत्तम, व्यापार समुन्नत तथा शान्ति-व्यवस्था अनुकरणीय थी। नागरिक सच्चरित्र, न्याय प्रिय, विनम्र तथा अतिथि-सत्कार में कुशल थे। महान् चक्रय ने इसे इसके स्वर्णिम काल में देखा था। कैथोलिक पादरी सन्त फ्रान्सिस जेवियर हिन्दू राज्य की महानता से विस्मित हो गया था। वह इससे इस सीमा तक प्रभावित हुआ कि उसे यहाँ के निवासियों के धर्मान्तरण सम्बन्धी अपनी महत्त्वाकांक्षा की विफलता का पूर्वाभास मिलने लगा। उसने अपने अभियान को केवल दक्षिणी भाग तथा कोरोमण्डल के तटीय क्षेत्रों तक ही सीमित रखा। यह नगर रामानुज तथा मध्व के सम्प्रदायों के धर्माध्यक्षों का विश्राम स्थल बन गया; क्योंकि विद्यानगर स्पष्ट रूप से सभ्यता का स्रोत-स्थान था।

इस भव्य नगर की स्थापना के पश्चात् निर्ममेन्द्र दक्षिण में शंकराचार्य की आध्यात्मिक पीठ श्रृंगेरी चले गये। वहाँ वह वेद-भाष्य के अपने पूर्व-निर्दिष्ट लेखन-कर्म में संलग्न हो गये। महान् वेदव्यास ने वेदों का जिस रूप में संहिताकरण किया था, उससे हम परिचित हैं। शताब्दियाँ बीतीं और हिन्दू-पराक्रम व्यवहारतः लुप्त हो गया। मंच पर विधर्मियों का केवल अवतरण ही नहीं हुआ, अपितु उन्होंने लोगों पर अपने प्रभुत्व-स्थापन के अभियान का प्रारम्भ भी कर दिया। हूणों तथा तुर्कों के आक्रमण के पूर्व ही प्राचीन वैदिक शाखाओं के अनेकानेक अनुयायियों को पलायित होना पड़ा था। धर्मान्ध तथा उन्मत्त मुसलमान हिन्दू-सभ्यता तथा संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ स्मारकों को विनष्ट कर रहे थे। किन्तु इस परिस्थिति में भी विजयनगर साम्राज्य उत्थान को प्राप्त हुआ जिसके परिणाम-स्वरूप लोगों को असुरक्षा की भावना से मुक्ति प्राप्त हुई। किन्तु देश की संस्कृति की पुनःप्रतिष्ठा का कार्य अभी शेष ही रह गया था। इस अभियान की सफलता के लिए विद्यारण्य साठ वर्ष की आयु में भी उद्यत हो गये। कहा जाता है कि वह इसके पश्चात् भी नब्बे वर्षों तक जीवित रहे।

श्री मध्व, जो संन्यास-ग्रहण के पश्चात् विद्यारण्य के नाम से विख्यात हुए, का जन्म १३५० ई. में कुण्डीराम, बेल्लारि में हुआ। उनके पिता का नाम मायन (Mayana) तथा उनकी माता का नाम सुमति था। मध्व के दो भाई थे। इनमे सायन (Sayana) अनुज तथा बोधनाथ अग्रज थे। भारद्वाज गोत्रीय मध्व का सम्बन्ध यजुर्वेद तथा बोधायन-सूत्र से था। ब्रह्मचर्याश्रम में उनका प्रवेश आठ वर्ष की आयु में हआ। वह इस आश्रम में गुरु सर्वज्ञ विष्णु के संरक्षण में छत्तीस वर्षों तक रहे। इस अवधि में उन्होंने चारों वेदों का सांगोपांग अध्ययन कर इनके दबोध तथा गुह्य अंशों के रहस्योदघाटन में स्वयं को निष्णात सिद्ध कर दिया।

विद्यारण्य के निष्ठावान् शिष्य बुक्का अर्थात् बुक्कन्न राजा ने उनसे चारों वेदों की भाष्य-रचना की प्रार्थना की और इसके लिए अपने गुरु तथा परामर्शदाता को समस्त राजकीय साधन उपलब्ध करा दिये। वेदों के एक नये भाष्य की विद्यारण्य की यह योजना इतनी महत्त्वपूर्ण तथा श्रमसाध्य थी कि वह कार्य एक व्यक्ति के लिए असम्भव था। अतः विद्यारण्य ने अपने निर्देशन में कार्य करने के लिए भारत के प्रत्येक भाग के वेदज्ञ पण्डितों से उनके सहयोग की याचना की। उनके इस आह्वान पर विजयनगर में सहस्रों कृतविद्य जन पहुँच गये। उनके आगमन से विजयनगर की सांस्कृतिक गरिमा में प्रचुर वृद्धि हुई। हम्पी में विरूपाक्ष, विट्ठलस्वामी तथा हजार रामास्वामी के प्रस्तर निर्मित मण्डपों से हम उन सुविस्तृत सभा-भवनों की परिकल्पना कर सकते हैं जिनमें विद्वज्जन विचार-विमर्श के लिए एकत्र हुआ करते थे। वहाँ इस प्रकार के अनेक भवन थे जिनमें कमल-मण्डप के अवशेष को आज भी देखा जा सकता है। यह एक भव्य संरचना थी। इन भवनों के अतिरिक्त वहाँ सहस्रों लोगों को शरण देने में समर्थ अनेक शान्त-शीतल गुफाएँ भी थीं। इन सबसे हम उन पण्डितों की संख्या का सरलतापूर्वक अनुमान कर सकते हैं जो हमारी लुप्त संस्कृति के पुनरुद्धार में संलग्न थे। विद्वज्जनों की भौतिक सुख-सुविधा के लिए सम्राट् स्वयं प्रयत्नशील रहते थे। उनके इस कार्य से वैदिक पुरुत्थान के अभियान को शक्ति प्राप्त होती थी। वेदों के पूर्व भाष्यकार कुछ वेद-मन्त्रों के अभिप्राय के सम्बन्ध में किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके थे; किन्तु विद्यारण्य ने इन मन्त्रों के निहितार्थ को सर्वथा स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया।

मध्व विद्यारण्य द्वारा प्रणीत प्रथम ग्रन्थ 'जैमिनीय न्यायमाला' है। इनके दसरे ग्रन्थ का नाम है 'नैयायिक न्यायमाला'। इसके पश्चात् उन्होंने यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता तथा इसी वेद के ब्राह्मणों तथा आरण्यकों पर भाष्य लिखे।

भावस्वामी ने 'बोधायन गृह्य सूत्र का भाष्य किया था। इसे अधिक परिष्कृत तथा परिमार्जित रूप से प्रस्तुत करने के लिए विद्यारण्य ने 'बोधायन गृह्य सूत्र' पर अपना एक स्वतन्त्र भाष्य लिखा।

श्री विद्यारण्य ने यजुर्वेद के अध्वर्यु काण्ड, ऋग्वेद के मन्त्रों, संगीतमय सामवेद तथा अथर्ववेद के यज्ञ का निरूपण करने वाले अंशों का भाष्य लिखा। इसके पश्चात् उन्होंने धर्म-सूत्रों, पाराशर-स्मृति तथा गीता-भाष्य की ओर ध्यान

दिया। वह अमरकोश-जैसे किसी शब्दकोश की रचना के लिए भी प्रख्यात हैं। उन्होंने ज्योतिष तथा औषधि-विज्ञान से सम्बन्धित पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। इन ग्रन्थों में 'गीता-भाष्य' तथा 'अमरकोश' अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं।

जहाँ तक विशुद्ध तथा विशद ज्ञान का सम्बन्ध है, लोगों के मतानुसार उनका ऋग्वेद-भाष्य एक चमत्कारपूर्ण कृति है। उन्होंने इस भाष्य की जो भूमिका लिखी है, वह पाठकों की बुद्धि को तीक्ष्णता प्रदान करती और उनकी बोध-शक्ति को जाग्रत करती है।

पाश्चात्य जगत् के लिए इसका सर्वप्रथम अनुवाद मैक्स मूलर ने किया। इसके पश्चात् फ्रेन्च तथा जर्मन भाषाओं में भी इसके अनुवाद हुए। इस तथ्य से परिचित होने के पश्चात् ही हम स्वयं को इस भाष्य के सम्बन्ध में कुछ कह पाने की स्थिति में पा सकते हैं कि इसमें डेढ़ लाख श्लोक हैं तथा इसमें धरती पर विद्यमान सभी मनोगम्य पदार्थों का विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के लेखन के लिए उनको मुख्यतः यास्क के निरुक्त तथा पूर्ववर्ती भाष्यकारों-स्कन्द, नारायण, उद्‌गीत और वेंकट माधव की कृतियों पर निर्भर होना पड़ा था।

ऋग्वेद तथा इस पर विद्यारण्य का भाष्य सुविचारित तथा बहुआयामी अनुसन्धान के विषय रहे हैं। सुविस्तृत सागर की भाँति इनसे हमें अमूल्य रत्नों की सम्प्राप्ति होती है; किन्तु इसके रहस्य से हम अभी तक पूर्णतः परिचित नहीं हो सके हैं। ऋग्वेद पर विद्यारण्य के भाष्य के सम्पादन के लिए आधुनिक विद्वानों को पचीस वर्षों तक परिश्रम करना पड़ा।

प्रख्यात वैदिक विद्वानों ने व्याकरण, भूगोल, खगोल विद्या, औषधि-विज्ञान, ज्यामिति तथा वास्तुकला के क्षेत्र में विद्यारण्य के असाधारण पाण्डित्य की पुष्टि की है। श्रृंगेरी के विशाल मन्दिरों का अप्रतिम सौन्दर्य, शिल्प तथा इनके निहितार्थ उनकी शिल्प तथा मन्त्रशास्त्र में गहरी पैठ के साक्षी हैं। वस्तुतः विद्यारण्य ही श्रृंगेरी के गौरव तथा इसकी गरिमा के स्रष्टा थे। यह गरिमा आज भी अक्षुण्ण है। विद्यानगर के विध्वंस-काल में मुसलमानों ने विद्यारण्य के विशाल पुस्तकालय को जला कर भस्म कर डाला। तालीकोटा के युद्ध के पश्चात् विद्यानगर के विघटन के कारण हुई अस्त-व्यस्तता के फल-स्वरूप जब श्रृंगेरी के शंकराचार्य को अन्यत्र जाने को विवश होना पड़ा, तब अनेक पाण्डुलिपियाँ खो गयीं। इनमें कई पाण्डुलिपियाँ मौलिक थीं।

श्री विद्यारण्य ऐसे महान् सन्त थे जिन्होंने वेदों के रहस्य तथा इनकी दुर्बोधता को पूर्णतः अनावृत तथा सरल-सुबोध कर दिया। अपने इस कृत्य से उन्होंने परवर्ती पीढ़ी को वह क्षमता प्रदान की जिससे वह प्राचीन आर्य-संस्कृति का अमृत-पान कर गौरवपूर्ण तथा सम्मानजनक जीवन व्यतीत कर सके। उत्तर में उज्जैन से दक्षिण में कन्याकुमारी तक तथा पश्चिम में द्वारका से पूर्व में पुरी तक, विशेषतः गंगा, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी तथा ताम्रपर्णी-जैसी पवित्र नदियों के तटीय क्षेत्रों में कृतविद्य ब्राह्मणों के उपनिवेश स्थापित हो चुके थे।

इस विस्तृत विवरण का एकमात्र उद्देश्य निर्ममेन्द्र को इस गौरव-गाथा का प्रणेता सिद्ध करना है जिनकी हम सांस्कृतिक सन्तान हैं। विद्यारण्य का ऋग्वेद-भाष्य, व्याकरण पर उनकी उत्कृष्ट कृति, अपनी इष्टदेवी बाला के सम्बन्ध में रचित 'विद्यार्णवम' नामक ग्रन्थ में मन्त्र-शास्त्र का विवेचन. उपनिषदों के दर्बोध सिद्धान्तों से समन्वित 'ब्रह्मगीता' तथा शक्ति-उपासना की भक्ति-साधना से सम्बन्धित 'सौभाष्य रत्नाकरम् - जैसे ग्रन्थ हम लोगों में अधिकांश के लिए बोधगम्य नहीं है। अतः इन्हे सामान्य जन के अध्ययन हे लिए अनुमोदित नहीं किया जा सकता। किन्तु उनकी सांस्कृतिक सन्तान होने के नाते उनके 'पंचदशी', 'शंकर विजयम् (भगवत्पाद श्री आदि शंकराचार्य का जीवनवृत), 'पाराशर स्मृति' की व्याख्या और अन्ततः उनकी अद्वितीय साहित्यिक उपलब्धि 'ऋग्वेदभाष्य' जैसे अपेक्षाकृत सुबोध ग्रन्थों में गर्भित उनके ज्ञान का अमृत-पान हमारा कर्तव्य है।

विद्यारण्य की महिमा अमर रहे !

अप्पय्य दीक्षितार

पानीपत के समरांगण के
अग्नि-भस्म से
सृष्टि हुई थी मुगल राज्य की।
उन्हीं दिनों
रंगराजुध्वारी के घर में
जन्म लिया उस शिशु ने जिसकी
शंख-ध्वनि से
दिशा-दिशा गूँजित हो गयी, हुए उद्‌बुद्ध सभी जन।
न्यायोचित आक्रोश भरा उनके प्राणों में,
जो थे वेदों के, उपनिषदों के संरक्षक,
मोह-पाश से सबको मुक्त कर दिया उसने।
करुण विलाप-श्रवण में हुए
समर्थ सभी जन ।
भारत के परितप्त आत्म को भेद,
पुरातन गौरव से जो
मिथ्या तुष्टि प्राप्त होती थी सबको,
अब न छलेगी किसी व्यक्ति को।
सन्त तथा कृतविद्य मनीषी,
महाप्राण अप्पय्य दीक्षित ने
'मा फलेषु कदाचन' का उद्‌घोष कर दिया।
शेष रह गया कर्म,
उसी का वरण करें हम।
दाय में मिला जो है,
उसके परिरक्षण के लिए किया अभिप्रेरित सबको।
दर्शन में निष्णात सन्त का
किया वरण वैदुष्य-महादेवी ने तत्क्षण,
और अमर्ष-ग्रस्त हो गये सभी वे
जो थे तथाकथित पण्डित उस युग के।
पर ज्ञानाकांक्षी जन-मन की
श्रद्धा के वे पात्र बन गये।
शिव-स्तोत्र के गाये गीत उन्होंने
जिनमें स्वर-लालित्य मनोहर-मधुरिम ।
उस कविवर के गीतों के पीयूष का वर्षण
भक्त जनों के कण्ठों में अब भी होता है।
विद्वज्जन के लिए विद्वत्तापूर्ण विधा से
चतुर्वेद का पर्यालोकन करके उनके सिद्धान्तों को

ईर्ष्यामयी दृष्टि से अकलुष तथा अनाहत
ग्रन्थों में गुम्फित कर डाला,
जिनसे परिचित हुए सभी जन ।
एक बार पहुँचे अप्पय्य तिरुपति के मन्दिर,
मन्दिर का महन्त रुष्ट हो गया,
गरज कर बोला उनसे
"वर्जित शैव-प्रवेश यहाँ है,
इस परिसर से बाहर जाओ।"
सन्त को हुआ रोष,
उन्होंने शान्त भाव से,
गुह्य शक्ति से एक रात में
शिव-विग्रह में
लक्ष्मी-पति की प्रतिमा को परिणत कर डाला।
क्षमा-याचना की महन्त ने।
उसके आग्रह पर वह विग्रह
पूर्व रूप में हुआ प्रतिष्ठित ।

दीक्षितार ऐसे ही सन्तों में थे,
वे थे शंकर के अवतार जिन्हें सब
ज्ञानी, मेधावी होने के कारण
देते हैं सम्मान अभी तक।

अप्पय्य दीक्षितार का जन्म १५५४ ई. में उत्तर आर्काट जनपद-स्थित आर्णि (Ami) के निकट अडयपालम् में उत्तर प्रौस्थपाद नक्षत्र समुदाय में प्रमादि वर्ष की कन्या राशि में हुआ। उनके पिता का नाम रंगराजुध्वारी था। नामकरण-संस्कार के समय अप्पय्य को विनायक सुब्रह्मण्यम् नाम से अभिहित किया गया। आचार्य दीक्षितार या अच्छन्न दीक्षितार उनके अनुज थे। अप्पय्य ने गुरु राम कवि के संरक्षण में पवित्र धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया। उन्होंने अल्पायु में ही चतुर्दश विद्याओं में दक्षता प्राप्त कर ली। इसको एक चमत्कार ही कहा जायेगा।

राज्य के मुख्य पण्डित रंगराजा के देहान्त के पश्चात् वेल्लूर के राजा चिन्नबोम्मा ने अप्पय्य तथा अच्छन्न दीक्षितार को अपनी राजधानी में आमन्त्रित किया। किन्तु दीवान ताताचारी शैवों को फूटी आँखों भी नहीं देख सकता था। भगवान् शिव के उपासकों को वह हेय तथा निन्दनीय समझता था। अप्पय्य भगवान् शिव की लीला तथा महिमा का गुण-गान करते थे।

अप्पय्य अत्यन्त मेधावी थे। वह तर्कशास्त्र में निष्णात थे। इसके अतिरिक्त उनको व्याकरण, तत्त्वशास्त्र तथा ज्ञान-विज्ञान की अन्य विधाओं में भी दक्षता प्राप्त थी। वह सर्वशास्त्र मर्मज्ञ थे। वेदान्त की उनकी व्याख्या अप्रतिम थी। वह सब लोगों की शंकाओं का समाधान करते थे और दूर-दूर तक प्रख्यात थे। तंजावूर, कालहस्ति तथा तिरुपति के राजा उनको आमन्त्रित किया करते थे।

विवाह

रत्नखेत श्रीनिवास दीक्षितार जो संस्कृत के बहुश्रुत विद्वान् तथा कांचीपुरम् की कामाक्षी देवी के उपासक थे, चोल साम्राज्य की राजसभा के मुख्य पण्डित थे। चोल सम्राट् ने एक दिन उनसे पूछा- "पण्डित जी, आज कौन-सा दिन

है?" पण्डित जी ने उनके प्रश्न के उत्तर में कहा - "आज पूर्णिमा है।" किन्तु वास्तव में उस दिन शुक्ल पक्ष का प्रथम दिन था। उनका उत्तर सुन कर सब लोग हँस पड़े जिससे वह बहुत दुःखी हुए। वह कामाक्षी देवी के परम भक्त थे। देवी उन पर सदैव कृपालु रहती थीं। श्रीनिवास ने उनसे प्रार्थना की। देवी ने उनके समक्ष प्रकट हो कर उन्हें अपना एक कर्णफूल दिया और कहा वह इसे आकाश में फेंक दें। श्रीनिवास ने ऐसा ही किया। वह कर्णफूल पूर्णचन्द्र का आकार ग्रहण कर आकाश में देदीप्यमान हो उठा। राजा, मन्त्रिगण तथा अन्य लोगों ने इस चमत्कार को आश्चर्य चकित हो कर देखा। राजा ने उन्हें स्वर्ण-सिंहासन पर आसीन किया तथा मणि-माणिक्य से अलंकृत कर उन्हें श्रद्धापूर्वक सम्मानित किया।

श्रीनिवास को ज्ञात हुआ कि अप्पय्य एक महान् विद्वान् हैं। उन्होंने उन्हें परास्त करना चाहा। उन्होंने कामाक्षी देवी का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए उनके प्रसादन के निमित्त कांचीपुरम् के लिए प्रस्थान किया। वहाँ उन्होंने कठोर तप किया। देवी ने उनके समक्ष प्रकट हो कर वर माँगने को कहा। इस पर श्रीनिवास ने कहा - "आप समस्त कलाओं को मेरी जिह्वा पर अवस्थित कर दें जिससे मैं अप्पय्य को पराजित कर सकूं। वह आप ही की कृपा से महान् विद्वान् तथा वक्ता हो सका है। सारे संसार में मै प्रख्यात है। मेरी यह प्रख्याति सुरक्षित रहे, इसके लिए आप मेरी सहायता कीजिए।"

देवी ने कहा- "हे भक्त, अप्पय्य सामान्य प्राणी नहीं है। वह भगवान् शिव का साक्षात् अवतार है। मैं भी तुम्हारा प्रतिरूप है। अप्पय्य के प्राणिग्रहण की व्यवस्था कर तुम उसके श्रद्धेय श्वसुर हो जाओ। तुम्हारी साथ विवाद में मत उलझो। उसके साथ अपनी पुत्री मगलाम्बिका के कामना की पूर्ति इसी विधि से हो सकेगी।"

उस समय भगवान शिव ने अप्पय्य के स्वप्न में प्रकट हो कर उनसे कहा- "हे वत्स, तुम काचीपुरम् जाओ। श्रीनिवास विवाह में तुम्हे अपनी कन्या प्रदान करेगा।"

अप्पय्य तत्काल कांचीपुरम् जा कर रहने लगे। वहाँ श्रीनिवास अपनी पुत्री के साथ उनके वास-स्थान पर पहुँचे। अप्पय्य ने अर्घ्य, पाद्य तथा आसनादि से उनका विधिवत् सम्मान किया। श्रीनिवास ने उनसे कहा- "देवी ने मुझे आदेश दिया है कि मैं तुमसे अपनी कन्या का विवाह कर दूँ। तुम इससे विवाह कर ख्याति, सम्पत्ति तथा शान्ति प्राप्त करो।"

मंगलाम्बिका से विवाह कर अप्पय्य गृहस्थ जीवन व्यतीत करने लगे। देश के विभिन्न भागों से जितने भी विद्यार्थी उनके पास आते थे, वे सबको शिक्षा प्रदान करते थे। राजा ने उनसे धर्म की शिक्षा ग्रहण की। अप्पय्य ने संस्कृत विद्या का दूर-दूर तक प्रचार-प्रसार किया।

अप्पय्य की दो पुत्रियाँ थीं। कनिष्ठ पुत्री मंगलाम्बा भगवान् शिव की अनन्य भक्त थी। नीलकण्ठ अप्पय्य का पौत्र था।

सोमयज्ञ

अप्पय्य को दीक्षितेन्द्र भी कहा जाता था। उन्होंने चन्द्रमौलीश्वर के प्रसादन के लिए सोमयज्ञ का अनुष्ठान किया। काचीपुरम् में उन्होंने वाजपेययज्ञ का भी अनुष्ठान किया जिसमे सतरह अश्वों की बलि दी गयी। कुछ पण्डितों का आरोप था कि यज्ञ में हिंसा होती है; किन्तु अप्पय्य ने वहाँ उपस्थित सभी लोगों को यह दिखा दिया कि वेद-मन्त्रों के पाठ से वहाँ का कण-कण पवित्र हो गया था और उन अश्वों को मुक्ति प्राप्त हो गयी थी। दर्शकों ने देखा कि अश्व अपने स्थूल शरीर का परित्याग कर स्वर्गारोहण कर रहे हैं और सिद्धों, चारणों तथा गन्धर्वों द्वारा उनका प्रशस्ति-गायन हो रहा है। उन अश्वों ने आकाश से अप्पय्य का गुण-गान करते हुए कहा - "आप ही की कृपा से हमें स्वर्ग-प्राप्ति का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।" इसके पश्चात् पण्डितों को अपनी शंका का समाधान प्राप्त हो गया।

अनेक राजा अप्पय्य के यहाँ आ कर उनको अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते और उनका आशीर्वाद प्राप्त करते; किन्तु अपने मन्त्री ताताचार्य की मन्त्रणा द्वारा उद्घान्त वेल्लोर का राजा चिन्नबोम्मा उनके यहाँ नहीं जाता था; किन्तु कुछ दिनों के पश्चात् वाजपेययज्ञ में अपनी अनुपस्थिति पर उसे घोर पश्चात्ताप हुआ। अब वह अप्पय्य के असाधारण गुणों तथा विशिष्ट आध्यात्मिक महिमा से अवगत हो चुका था। वह उन्हें अपने राज्य में लाना चाहता था। उनको आमन्त्रित करने के लिए उसने उनके पास कई पण्डितों को भेजा। अप्पय्य उसके आमन्त्रण को स्वीकार कर वेल्लोर गये। चिन्नबोम्मा ने उनका विधिवत् स्वागत-सत्कार किया और उनके लिए 'सर्वतो भद्रम्' नामक आश्रम का निर्माण कर दिया। उसने उनको अपना प्रधानमन्त्री बना दिया। ताताचार्य के मन में उनके प्रति अत्यधिक ईर्ष्या के भाव जाग्रत हो उठे।

ताताचार्य के कुकर्म

ताताचार्य से उत्प्रेरित कुछ लोगों के अभिचार के कारण रानी रोगग्रस्त हो गयी। अप्पय्य ने उन्हें रोग-मुक्त कर दिया। ताताचार्य के कारण अप्पय्य को अनेक कष्ट उठाने पड़े। उसने विष्णु-मन्दिर के पुजारी को उनको विष देने के लिए घूस दी। पुजारी ने चरणामृत में विष मिला कर अप्पय्य को दे अप्पय्य ने भगवान् हरि से प्रार्थना की जिसके परिणाम स्वरूप वह विष में रूपान्तरित हो गया।

ताताचार्य ने अप्पय्य की हत्या की योजना बनायी। उसने उन्हें एक लिखा जिसमें उनसे आधी रात को चिन्नबोम्मा से मिलने की प्रार्थना की गय पत्र में चिन्नबोम्मा के जाली हस्ताक्षर थे। ताताचार्य ने सेनानायक को अगर की हत्या के लिए सशस्त्र सैनिकों को भेजने का आदेश दिया। उधर आगर निर्धारित समय पर राजा से मिलने चल पडे। सैनिक उनकी हत्या के लिए तैया थेः किन्तु अप्पय्य को देखते ही वे हाथों में तलवार लिये अपने स्थान पर है स्तम्भवत् बद्धमूल हो गये।

एक बार अप्पय्य ने विरिचिपुरम में मार्गसहाय उत्सव में सम्मिलित के लिए अपने शिष्यों के साथ प्रस्थान किया। मार्ग में ताताचार्य द्वारा निदर डाकुओं ने उन्हें घेर लिया। स्वयं ताताचार्य उन डाकुओं के साथ था। अप्य ने उनको शिक्षा देने का निश्चय किया। उनकी आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं जिनसे जल कर वे सभी डाकू भस्म हो गये; किन्तु दयालु-हृदय अपाय ने अपने हाथों से उस भस्म का स्पर्श कर उन्हें पुनर्जीवित कर दिया। ता ताताचार्य ने उनको इस प्रकार सम्बोधित किया- "भगवन्, मैं महान् पापी है मैंने आपको बहुत कष्ट दिया है। मैं आपके चरणों में अवनत-शिर हूँ। आप हे मेरे एकमात्र शरणदाता हैं। मुझे क्षमा कर मेरी रक्षा कीजिए।" ताताचार्य ने से ही अप्पय्य के चरणों पर आत्म-समर्पण किया, वैसे ही उसके समस्त पापों क प्रक्षालन हो गया। वह अप्पय्य का अभिन्न मित्र बन गया और उनके प्रति उसके सारे वैर-भाव समाप्त हो गये। अप्पय्य ने उसको पक्षितीर्थ में ज कर अड़तालीस दिनों तक ईश्वरोपासना करने का आदेश दिया। ताताचार्य ने उनके इस आदेश का पालन किया। उसने वहाँ के मन्दिर का पुनर्निर्माण भी किया।

तीर्थयात्रा

अप्पय्य ने अड्यपालम् में एक मन्दिर का निर्माण किया और अपने दैनिक पूजन-अर्चन के लिए उसमें कालकण्ठेश्वर के विग्रह को प्रतिष्ठित कर दिया। उन्होंने नन्दिपर्वत, मध्यार्जुन, पंचनदम् (तिरुवैयारु), मदुरै, रामेश्वरम्, शिवगंगा, जम्बुकेश्वरम्, श्रीरंगम्, श्वेथारण्य, कांचीपुरम्, काशी, वेदारण्यम्, मात्रुभूतेश्वरम्, चिदम्बरम्, विरुदाचलम्, तिरुवन्नामलै, विरिचिपुरम् तथा अन्य तीर्थस्थानों की यात्रा की।

एक बार अप्पय्य की पत्नी, उनके प्रशंसकों तथा अन्यान्य लोगों ने उनसे उनके यथार्थ स्वरूप के प्रदर्शन की प्रार्थना की। अप्पय्य तत्क्षण समाधिस्थ हो गये। उनके शरीर से एक द्युतिमान् पुरुष, जो स्वयं भगवान् शिव थे, का उद्भव हुआ जो रुद्राक्ष, विभूति तथा विभिन्न दिव्य शस्त्रास्त्रों से अलकृत था।

चमत्कार

एक बार अप्पय्य तीव्र ज्वर से ग्रस्त हो गये। राजा चिन्नबोम्मा उन्हें देखने आया। अप्पय्य ने अपने ज्वर को एक मृग-चर्म में स्थानान्तरित कर दिया। वह मृग-चर्म ज्वर के कारण काँपने लगा। राजा यह देख कर स्तब्ध रह गया।

एक चमत्कार कांचीपुरम् में हुआ। वहाँ अप्पय्य ने पशुबन्ध यज्ञ का अनुष्ठान किया। आश्चर्य की बात तो यह है कि वे सभी पीताम्बर तथा अन्य आभूषण जिन्हें यज्ञाग्नि में हवि के रूप में अर्पित कर दिया गया था, उन्हें वरदराज की मूर्ति में आवेष्टित देखा गया। इसके अतिरिक्त यज्ञ-कुण्ड की अग्नि ने आकाश में ऊर्ध्वारोहण करते हुए अप्पय्य की महिमा के गीत गाये और उनके द्वारा हवि के रूप में अर्पित सारे पीताम्बर उनको भेंट-स्वरूप दे दिये। तंजौर के राजा नरसिंह तथा अन्यान्य लोग इसके साक्षी थे।

अप्पय्य के समकालीन

श्री रत्नाकर दीक्षितार, सार्वभौम कवि, ताताचार्य, समरपुगव दीक्षितार नरसिंह स्वामी, दोड्याचार्य, विजयेन्द्र, व्यास भट्ट, पराशर भट्ट, वरनन्दि भट्टोजी, नीलकण्ठ दीक्षितार (अप्पय्य दीक्षित के भाई का पौत्र), गुरु राम कवि, गोविन्द दीक्षितार, नारायण अध्वारी, राजचूड़ामणि दीक्षितार, अतिव यज्वा, वीरराघव या बालकवि, गिरवन योगेन्द्र (नीलकण्ठ दीक्षितार के मन्त्रगुरु) तथा वेंकटेश्वर माखी आदि अप्पय्य के समकालीन थे।

अन्तिम दिन

अप्पय्य कुछ दिनों तक चिदम्बरम् में रहे। उन्होंने कहा कि उनका पौत्र नीलकण्ठ मदुरै जा कर पाण्ड्य सम्राट् का मन्त्री होगा और शिवाद्वैत का प्रचार-प्रसार करेगा।

मार्गशीर्ष मास की चैत्र पूर्णिमा को बहत्तर वर्ष की आयु में अप्पय्य रे चिदम्बरम् के नटराज के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लिया।

उनका जीवन तथा उनकी कृतियाँ

श्री शंकराचार्य भगवान् शिव के अवतार थे। उन्होंने बाल्यावस्था में है। संन्यास-ग्रहण कर लोगों को इस चतुर्थ आश्रम अर्थात् संन्यास की महिमा तथा महत्ता से अवगत कराया था। उसी प्रकार श्रीमद् अप्पय्य दीक्षितार भगवान् शिव के अंशावतार थे। उन्होंने द्वितीय आश्रम अर्थात् गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो कर इस आश्रम के लोगों के समक्ष मुक्ति-प्राप्ति के प्रबल माध्यम के रूप में प्रस्तुत किया। निवृत्तिमार्गी होते हुए भी शंकराचार्य ने प्रवृतिमात अर्थात् कर्म को उपेक्षणीय नहीं माना। 'साधना पंचक' में वे कहते हैं- **"वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वानुष्टीयताम्"** अर्थात्-वेदों के पठन-पाठन के साथ इसके समादेशानुसार कर्म भी करो। श्रीमद अप्पय्य संन्यास की उपेक्षा नहीं की। वह अनेक वेदान्त-ग्रन्थों के प्रणेता हैं जिनमें समस्त उपनिषदों के सारतत्त्व निहित हैं। उन्होंने अनेक सुपात्र जनों को निवृत्तिमार्ग की दीक्षा दी; किन्तु दृष्टान्तों तथा शास्त्रों के उद्धरणों के प्रमाण प्रस्तुत कर उन्होंने द्वितीय तथा तृतीय आश्रमों के प्रति उत्तरदायित्व वहन के पश्चात् ही चतुर्थ आश्रम में प्रवेश को समुचित बताया।

श्री शंकराचार्य शिव के अवतार थे, इस कथन की पुष्टि के लिए हमें 'शिवरहस्य' में यह उद्धरण मिलता है, **"चतुर्भि सह शिष्यैस्थ शंकरोवतारिष्यति"** अर्थात् "शंकर चार शिष्यों के साथ अवतार-ग्रहण करेंगे।" इसी प्रकार दीक्षितार के सम्बन्ध में भी हमें ऐसा ही शास्त्र-सम्मत उद्धरण मिलता है, **"दीक्षितोपि भवेत् कश्चित् चैवाच्छान्दोग्यवंशजा।"**

अप्पय्य के अवतार-ग्रहण के मूल में अनेक कारण तथा प्रयोजन विद्यमान थे। प्रथम प्रयोजन शास्त्र-सम्मत ब्रह्मचर्याश्रम से प्रारम्भ हो कर क्रमानुसार अन्य आश्रमों द्वारा इस धर्म-सम्मत मार्ग के अनुगमन के माध्यम से सनातन धर्म की स्थापना था। द्वितीय प्रयोजन था अद्वैत वेदान्त का प्रचार-प्रसार। द्वैत तथा विशिष्टाद्वैत मतों की आलोचनात्मक पृच्छा के माध्यम से व्यास-रचित ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य में प्रतिपादित अद्वैत दर्शन की श्रेष्ठता का पुनः प्रतिष्ठापन तृतीय प्रयोजन था। अप्पय्य दीक्षित ने दक्षिण भारत में शैव-मत को नव-स्फूर्ति तथा अभीविन्यास प्रदान किया। उन्होंने लोगों को भक्ति-मार्ग के अनुसरण के लिए अभिप्रेरित किया। स्वयं को दृष्टान्त-रूप में प्रस्तुत कर उन्होंने नास्तिकों का मत-परिवर्तन किया और उनमें वैदिक अनुदेशों तथा शिव-भक्ति के प्रति अभिरुचि जाग्रत की। इतना ही नहीं, आगे बढ़ कर उन्होंने अपनी 'शिवार्कमणि दीपिका' नामक कृति में यहाँ तक कह दिया कि वैयक्तिक या सगुण ईश्वर की कृपा से ही लोग वेदान्त-दर्शन के प्रति आकर्षित हो सकेंगे।

श्री अप्पय्य शांकर-दर्शन के यथातथ्य प्रतिपादन में अप्रतिम थे। उन्होंने शंकर के कालजयी ब्रह्मसूत्र-भाष्य तथा उनके अन्य वेदान्त-मतों में प्रतिपादित स्थापनाओं से पाठकों को पूर्णतः अवगत करा दिया। जिन लोगो अप्पय्य दीक्षितार द्वारा लिखित मूल सस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन किया है. ने इस कथन से अवश्य सहमत होंगे।

अन्य धर्मों तथा दर्शनों के प्रति अप्पय्य दीक्षितार के मत सर्वथा निष्पल थे। उनके 'चातुर्मत सारसंग्रह नामक ग्रन्थ के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वैत. विशिष्टाद्वैत तथा शुद्धाद्वैत आदि मतों के प्रति वह पूर्वाग्रह-ग्रा नहीं थे। देवताओं के प्रति भी उनका कोई पूर्वाग्रह नहीं था।

किसी विशेषण से असम्पृक्त रोमांचकारी शब्द 'दीक्षितेन्द्र' से किसी अन्य का नहीं, मात्र श्री अप्पय्य दीक्षितार का बोध होता है।

अप्पय्य दीक्षितार एक सौ चार से अधिक पुस्तकों के प्रख्यात लेखक तथा संस्कृत भाषा तथा साहित्य की सभी विधाओं के सुयोग्य प्रतिनिधि हैं। उन्होंने मुख्यतः अपने वेदान्त-सम्बन्धी ग्रन्थों से महान् ख्याति अर्जित की। उनकी लेखनी से वेदान्त के प्रति आस्थावान् सभी मतों को अद्वितीय निर्भान्र प्रमाणों तथा प्रोत्साहन की सम्प्राप्ति हुई। उनके वेदान्त-ग्रन्थों में 'चातुर्मत सार संग्रह' में द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शिवाद्वैत तथा अद्वैत- इन चार महान् सम्प्रदायों द्वारा प्रतिपादित मतों की निष्पक्ष तथा न्यायपूर्ण समीक्षा की गयी है जिससे वह ग्रन्थ अत्यधिक प्रख्यात हुआ है। कविता, अलंकारशास्त्र तथा दर्शन, संस्कृत वाङ्मय की इन सभी विधाओं में अप्पय्य दीक्षित अपने समकालीन पण्डितों की तुलना में श्रेष्ठतर थे। उनके पश्चात् दशकों तक उनकी यह वरिष्ठता अक्षत रही और आज भी वह उसी रूप में विद्यमान है। उनके ग्रन्थ 'कुवलयानन्द'पा उनके समकालीन तथा प्रतिद्वन्द्वी पण्डितराज जगन्नाथ ने अपनी कृति 'रसगंगाधर' के माध्यम से कुछ आक्षेप किये; किन्तु विद्यार्थियों के बीच उसकी लोकप्रियता पर कोई आँच नहीं आयी। शिव-स्तुति-सम्बन्धी उनकी कविताएँ शिव के उपासकों के लिए अत्यन्त श्रद्धास्पद है। दीक्षितार ने वेदान्त पर 'परिमल' नामक भाष्य भी लिखा जो उनके पाण्डित्य का एक जीवन कीर्ति स्तम्भ है।

अप्पय्य दीक्षितार ज्ञान के सभी क्षेत्रों में एक विवादास्पद विद्वान के रूप में प्रसिद्ध थे। उनकी महानता का विशिष्ट लक्षण अपने विरोधी के सर्वोच्च हथा अकाट्य विचारों का यथासम्भव स्पष्ट प्रस्तुतिकरण था। 'चातुर्मत सार संग्रह' में उनकी यह दक्षता अपने उत्कृष्टतम तथा उच्चतम रूप में परिलक्षित होती है। तत्त्वतः यह इसके चार अध्यायों- द्वैत, विशिष्टाद्वैत. शिवाद्वैत तथा अद्वैत में वर्णित है। बादरायण-रचित ब्रह्मसूत्र पर चम्पूशैली में लिखित यह ग्रन्थ एक जीवन्त वर्णन है जिसका विषय-निरूपण अनेक अधिकरणों में किया गया है। अपनी इस कृति में अप्पय्य दीक्षितार

ने वेदान्त के प्रत्येक मत की व्याख्या उस मत के सर्वश्रेष्ठ कृतविद्य प्रतिपादक की व्याख्या के अनुरूप की है। इसमें उनके वैयक्तिक अभिप्राय का लेशमात्र भी परिलक्षित नहीं होता।

'चातुर्मत सार संग्रह' के प्रत्येक अध्याय को भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित किया गया है। द्वैत की व्याख्या करने वाले अध्याय को 'न्यायमुक्तावली' कहा गया है। द्वितीय अध्याय में रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत की व्याख्या की गयी है और इसे 'न्यायमयूखमालिका' कहते हैं। तृतीय अध्याय में श्रीकान्त के दर्शन तथा चतुर्थ में श्री शंकर के मत की व्याख्या की गयी है जिसे क्रमशः 'न्यायमणिमाला' तथा 'न्यायमंजरी' कहा जाता है।

अप्पय्य दीक्षितार की पाण्डित्यपूर्ण कृति 'शिवार्कमणि दीपिका' तथा 'परिमल', जिनमें शिवाद्वैत की मीमांसा की गयी है, के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों दर्शनों की व्याख्या में अप्पय्य की मेधा पूर्णतः समर्थ थी। वह सुस्पष्ट शब्दावली में द्वैत तथा विशिष्टाद्वैत मतों का प्रबल विरोध करते हैं। द्वैत-मत का खण्डन करने वाला उनका ग्रन्थ 'माधवतन्त्र-मुखमर्दन' अत्यधिक प्रभावप्रद है। इसी प्रकार वह अपनी एक अन्य कृति 'रामानुजशृंगभंग' में अपनी मौलिक तथा पाण्डित्यपूर्ण परिपक्वता के साथ रामानुज की स्थापनाओं के समक्ष प्रश्नचिह्न खड़ा कर देते हैं। इसके साथ ही अप्पय्य ने 'न्यायमुक्तावली' तथा 'न्यायमयूखमालिका' जैसे ग्रन्थों की भी रचना की जो इन दोनों मतों को इनके कृतविद्य अनुयायियों से भी अधिक कौशल के साथ निरूपित करते हैं। वह अपनी स्थापनाओं की सिद्धि तो करते ही हैं. इसके साथ ही वह अपने विरोधियों के मतों का भी निष्पक्ष एवं साधिकार निरूपण करते हैं।

न्यायमंजरी आद्योपान्त एक पद्यबद्ध रचना है। इसके कम-से-कम दो श्लोकों में ब्रह्मसूत्र के प्रत्येक अधिकरण के निहितार्थ को व्यक्त कर दिया गया है। इनमें से एक पूर्व पक्ष को और दूसरा सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है। अप्पय्य दीक्षितार तथा शंकर के ब्रह्मसूत्र भाष्यों में साम्य के दर्शन होते हैं। 'न्यायमंजरी' की विशिष्टता इसका ३८६ कण्डिकाओं में विभाजन तथा इसमें विभिन्न १८२ छन्दों का प्रयोग है। इनमें से अधिकांश छन्द दुष्प्राप्य हैं और इन्हें उच्चस्तरीय ग्रन्थों में नहीं पाया जाता।

अप्पय्य दीक्षित प्रचण्ड मेधा के स्वामी थे। लोगों में आज भी उनके लिए आदर की भावना विद्यमान है। अपने जीवन काल में भी वह लोगों के सम्मान के पात्र रहे। एक बार वह उस गाँव में गये जो उनकी पत्नी का जन्म स्थान था। उनके प्रति अपनत्व की भावना रखने में गर्व का अनुभव करने वाले ग्रामीणों ने उनका भव्य स्वागत किया। लोग इस समाचार से हर्षोन्मत्त हो उठे थे कि उनके बीच महान् दीक्षितार का आगमन होने वाला है। उनके प्रत्याशित आगमन के पूर्व लोगों में केवल उन्हीं की चर्चा होती रही। अन्ततः वह शुभ दिन भी आया, जब अपने विशिष्ट अतिथि व्याघ्र-पुरुष दीक्षितार के दर्शन के लिए एकत्र जन-समूह ने उनका भव्य स्वागत किया। एक वृद्ध महिला अपने कौतूहल की शान्ति के लिए हाथ में लाठी लिये इस दृश्य के अवलोकनार्थ वहाँ चली आयी। इस आयु की महिलाओं को ऐसे अवसरों के लिए जो सुविधाएँ प्राप्त हैं, उनके कारण वह उनके निकट पहुँच गयी। उसने उनको कुछ क्षणों तक स्थिर दृष्टि से देखा। तत्पश्चात् उसके स्मृति-पटल पर एक व्यक्ति का अस्पष्ट चित्र उभरा। उसने अपनी स्मरण-शक्ति के प्रति पूर्णतः आश्वस्त हो कर निश्चयपूर्वक कहा- "मैंने इस व्यक्ति को कहीं-न-कहीं अवश्य देखा है।" उसने दीक्षितार से पूछा- क्या तुम अच्छ (Achha) के पति नहीं हो?" उस महान् पण्डित ने अपने स्मित संकेत के माध्यम से उसके अनुमान को निन्ति बता दिया। महिला निराश हो गयी। उसका सारा उत्साह जाता रहा। अपने घर लौटते समय वह कहती गयी- "अच्छ के पति के लिए यहाँ इतनी चहल-पहल क्यों ?" इस घटना को अमरत्व प्रदान करते हुए अप्पय्य ने यह कविता लिखी "अस्मिन ग्रामे अच्छ प्रसिद्धा" अर्थात इस ग्राम में अच्छ का नाम ही प्रसिद्ध तथा अग्रगण्य है।

अप्पय्य दीक्षितार को भगवान् शिव का एक अवतार माना जाता है। जब वह दक्षिण भारत के तिरुपति मन्दिर में गये, तब वैष्णवों ने उनके मन्दिर-प्रवेश पर रोक लगा दी; किन्तु दूसरे दिन प्रातःकाल उन्होंने देखा कि मन्दिर की

विष्णु-मूर्ति शिव-मूर्ति में परिवर्तित हो गयी। महन्त इस अप्रत्याशित घटना से स्तब्ध रह गया। उसने क्षमा-याचना करते हुए उनसे प्रार्थना की कि वह उस विग्रह को विष्णु-मूर्ति का पूर्व रूप प्रदान करने की कृपा करें।

काव्य के क्षेत्र में दीक्षितार पण्डितराज जगन्नाथ के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। शांकर वेदान्त के सैद्धान्तिक पक्ष के प्रति उनका कोई स्वतन्त्र दृष्टिकोण नहीं था। किन्तु वल्लभ के अनुयायियों के साथ जयपुर तथा अन्य स्थानों पर उनका उग्र वाद-विवाद हुआ। शंकर के अनुयायियों के पारस्परिक सैद्धान्तिक मतभेद के सम्बन्ध में अप्पय्य दीक्षितार-रचित सिद्धान्तलेश नामक लघु पुस्तिका एक सर्वाधिक प्रशंसनीय कृति है। निःसन्देह भारत में अब तक जिन महान् तथा ज्वलन्त आध्यात्मिक नक्षत्रों का उदय हुआ है, उनमें अप्पय्य दीक्षितार को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। उनके जीवन-वृत्त का विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं है; किन्तु उनकी महानता की सिद्धि के लिए उनकी कृतियों का साक्ष्य ही पर्याप्त है।

शंकर के पश्चात् संसार ने श्री अप्पय्य की कोटि का कोई मेधावी, योगी, भक्त तथा कृतविद्य नहीं देखा।

भगवान् शिव के अवतार अप्पय्य दीक्षितार की महिमा में निरन्तर वृद्धि होती रहे और हम सबको उनका आशीर्वाद प्राप्त हो !

सदाशिव ब्रह्म

सदाशिवेन्द्र सरस्वती एक प्रख्यात संन्यासी तथा जन्मजात सिद्ध थे। उनका जीवन-काल अठारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ था। वह तिरुचिरापल्ली जनपद स्थित करूर नगर में रहते थे। सामान्यतः लोग उन्हें सदाशिव ब्रह्म के नाम से जानते थे।

सदाशिव जन्मतः एक तेलुगु ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम सोमनाथ योगी, उनकी माता का नाम शान्ता तथा स्वयं उनका नाम शिवरामकृष्ण था। उनका जन्म मदुरै में हुआ था। वह एक अत्यन्त मेधावी छात्र थे। उन्होंने संस्कृत में दक्षता प्राप्त कर प्रस्थानत्रयी तथा षड्दर्शन का अगाध ज्ञान प्राप्त किया। तिरुविसनल्लूरु में उन्होंने रामभद्र शास्त्री का शिष्यत्व ग्रहण कर वेदान्त का अध्ययन किया।

छात्र-जीवन में ही सदाशिव का विवाह हो गया। एक दिन उनकी माता को यह सूचना मिली कि उनकी पुत्र-वधू वयःसन्धि को प्राप्त हो गयी; अतः उस दिन उन्होंने कुछ अतिरिक्त स्वादिष्ट भोजन की व्यवस्था की। सदाशिव जब अपने गुरु के घर से लौटे, तब उन्हें अपने घर में भोजन के लिए दो घण्टे तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। उन्होंने मन-ही-मन सोचा- "गृहस्थ का जीवन अत्यन्त दयनीय है। अभी मेरे वैवाहिक जीवन का प्रारम्भ भी नहीं हुआ कि मुझे दो घण्टे तक उपवास करना पड़ा। अभी तो यह मेरे वैवाहिक जीवन के दुःखों का श्रीगणेश मात्र है; किन्तु इतने से ही मुझे अपने वैवाहिक जीवन के भावी दुःखों का एक अस्पष्ट आभास तो मिल ही जाता है। मेरे लिए इतना ही पर्याप्त है।" इस विचार के पश्चात् वह गृहस्थ जीवन के परित्याग का निश्चय कर घर से गुरु की खोज में निकल पड़े।

परम शिवेन्द्र सरस्वती सदाशिव के गुरु थे जिनके निर्देशन में उन्होंने योगाभ्यास किया। लोगों के साथ वाद-विवाद में वह प्रायः उत्तेजित हो जाया करते थे। इसकी उलाहना के लिए कुछ लोग उनके गुरु परम शिवेन्द्र सरस्वती के यहाँ गये। उन्होंने कहा- "सदाशिव, तुम अपना मुँह बन्द कब रखोगे?" सदाशिव ने तत्क्षण आजीवन मौन-व्रत-धारण की शपथ ग्रहण कर ली। इसके पश्चात् वह कुछ दिनों तक एक परिव्राजक परमहंस की भाँति परिभ्रमण करते रहे।

सदाशिव ने अपना अधिकांश समय कोयम्बतूर जनपद में अमरावती तथा कावेरी नदियों के मनोरम तट पर ध्यान में व्यतीत किया। एक बार कावेरी के बालुकामय तट पर ध्यानरत सदाशिव समाधिस्थ हो गये। अकस्मात् नदी में बाढ़ आ गयी जिसने उन्हें बहा कर बालुका-राशि में दबा दिया। वर्षा ऋतु की समाप्ति पर जब एक श्रमिक तट पर एक गड्ढा खोद रहा था, उसका फावड़ा रक्त-रंजित हो गया। यह देख कर वह स्तब्ध रह गया। उनसे अपने कुछ मित्रों के सहयोग से उस स्थान के चारों ओर एक बहुत गहरा गड्ढा खोदा जिसमें उसने सदाशिव को बहुत गहराई में दबा पाया। उनको बार-बार हिलाने-डुलाने पर ही उनकी चेतना पुनः जाग्रत हो पायी। वह वहाँ से शान्त भाव से इस प्रकार चले गये जैसे वहाँ कुछ हुआ ही न हो।

सदाशिव ब्रह्म को देहाध्यास नहीं था। वह नग्नावस्था में भी घूमने लगते थे। एक दिन वह इसी अवस्था में एक नवाब के शिविर में प्रविष्ट हो गये। उस शिविर में कुछ महिलाएँ भी थीं। नवाब क्रोधोन्मत्त हो उठा। उसने तलवार से उनका एक हाथ काट दिया; किन्तु सन्त उसके इस निष्ठुर कृत्य से सर्वथा अप्रभावित रहे। उन्होंने इस बात पर भी कोई ध्यान नहीं दिया कि उनका एक हाथ काटा जा चुका है। वह पूर्ववत् ही इधर-उधर घूमते रहे। नवाब हतप्रभ हो गया। उसे यह ज्ञात हो गया कि यह निर्वस्त्र व्यक्ति एक महान् सन्त है। इसके पश्चात् सदाशिव जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ वह उनका अनुगमन करता रहा। बहुत दिनों के बाद सन्त ने इस बात पर ध्यान दिया कि एक मुसलमान उनका अनुगमन कर रहा है। सदाशिव ने उस मुसलमान से पूछा- "तुम मेरे पीछे-पीछे क्यों आ रहे हो?" नवाब ने कहा- "श्रद्धेय सन्त जी, मुझसे एक घोर अपराध हो गया है। कृपया, मुझे क्षमा कीजिए।" सदाशिव ने कहा- "महोदय, आपसे मेरा कोई अनिष्ट नहीं हुआ है। क्या मैं जान सकता हूँ कि आपसे क्या अपराध हुआ है?" नवाब ने कहा- "महाराज, आप नग्नावस्था में मेरे शिविर में प्रविष्ट हो गये थे। उस समय वहाँ मेरे साथ मेरी पत्नी तथा पुत्रियाँ भी थीं। आत्यन्तिक क्रोध के वशीभूत हो कर मैंने आपका एक हाथ काट दिया था। मुझे यह ज्ञात नहीं था कि आप एक महान् सन्त हैं।" यह सुनने के बाद ही सदाशिव को यह ज्ञात हुआ कि उनका एक हाथ काटा जा चुका है। इससे यह स्पष्टतः परिलक्षित हो जाता है कि जब उनका हाथ काटा गया, तब उनको देहाध्यास नहीं था। उन्होंने दूसरे हाथ से अपने अशक्त हाथ का स्पर्श किया जो अपनी पूर्वावस्था में उनके शरीर से पुनः संयुक्त हो गया। यह चमत्कारिक घटना कितनी अद्‌भुत थी! आश्चर्य चकित नवाब ने उनसे उनके आशीर्वाद की याचना की। सदाशिव उसको आशीर्वाद दे कर पूर्ववत् परिभ्रमण पर निकल पड़े। सन्तों में उनके उत्पीड़कों के प्रति भी मात्सर्य के भाव नहीं होते। वे कृपा-सिन्धु होते हैं। उनकी हत्या करने को उद्यत लोगों को भी उनका आशीर्वाद प्राप्त होता है।

बच्चे उनके साथ खेला करते थे। एक दिन उन्होंने सन्त से कहा- "स्वामी जी, आप हमें मदुरै ले चलिए। हम आज रात मन्दिर में होने वाला भव्य समारोह देखना चाहते हैं।" उन्होंने उन बच्चों को अपने शिर, अपनी पीठ तथा अपने कन्धों पर चढ़ने का संकेत किया। इसके पश्चात् बच्चों ने देखा कि वे मदुरै में मन्दिर के सामने खड़े हैं। उन्होंने समारोह के आनन्द का उपभोग किया। सदाशिव ब्रह्म उनको प्रातःकाल के पूर्व ही घर ले कर चले आये।

एक बार कुछ लोग उनको लाठियों से पीटने आ गये; किन्तु उन लोगों ने अपने हाथ हिलाने में स्वयं को असमर्थ पाया। एक बार चिदम्बरम् में उन्होंने उबलता हुआ शीरा पी लिया। एक लड़की सर्प-दंश से मर चुकी थी; किन्तु उन्होंने उसे पुनर्जीवित कर दिया।

लोगों द्वारा उनको एक ही समय में एकाधिक स्थानों पर देखा जाना सदाशिव के लिए कोई असामान्य बात नहीं थी।

सदाशिव ने संस्कृत में कई ग्रन्थों की रचना की। इनमें 'ब्रह्मसूत्रवृत्ति' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने बारह उपनिषदों के लिए दीपिकाओं की भी रचना की। अद्वैतरसमंजरी, आत्मविद्याविलास, सिद्धान्तकल्पवल्ली, सुतसंहिताश्रम, योग-सूत्रवृत्ति आदि उनकी गौण कृतियाँ हैं। आत्मविद्या-विलास बासठ श्लोकों की एक लघु कविता है। इस पुस्तक में एक आत्म-साक्षात्कार-प्राप्त योगी की महानता का वर्णन है। यह सम्मोहक पुस्तक मन को

अभिभूत कर देती है। सदाशिव की रचनाएँ पाठकों को उद्‌बुद्ध कर उनको दिव्य ज्योति तथा भव्यता के उत्तुंग शिखर पर आरूढ़ कर देती हैं।

सदाशिव ने करूर के निकटस्थ ग्राम नेरूर के ब्राह्मणों से कहा कि वह एक विशेष दिन को समाधिस्थ हो जायेंगे। उन्होंने यह भी कहा कि उस दिन काशी का एक ब्राह्मण वहाँ एक बाण-लिंग ले कर आयेगा जिसे उनकी समाधि के पार्श्व में निर्मित एक मन्दिर में प्रतिष्ठापित कर देना होगा। इस निर्देश के अनुसार ब्राह्मण सन्त के लिए एक गड्ढा खोद कर उस दिन की प्रतीक्षा करने लगे। उन लोगों को यह देख कर घोर आश्चर्य हुआ कि काशी से एक ब्राह्मण बाण-लिंग ले कर वहाँ आ पहुँचा है। सदाशिव उस गड्ढे में उतरे और निर्विकल्प समाधि में प्रविष्ट हो कर ज्योतियों की ज्योति परब्रह्म के साथ तद्रूप हो गये। ब्राह्मणों ने उस समाधि का विधिवत् पूजन कर उसके पार्श्व में एक मन्दिर का निर्माण किया जिसमें उस बाण लिंग को प्रतिष्ठित कर दिया गया। आज भी प्रतिवर्ष जयन्ती के अवसर पर सहस्रों लोग उनके समाधि-स्थल पर एकत्र हो कर इस समारोह को भव्य रूप प्रदान करते हैं। सदाशिव ने एक ही साथ चारों स्थानों नेरूर, काशी, ओंकार तथा कांचीपुरम् में महासमाधि ग्रहण की।

सदाशिव ब्रह्म एक महान् सिद्ध, एक श्रेष्ठ सन्त तथा एक परिपक्व योगी थे। वस्तुतः वह इन तीनों के समन्वित रूप तथा एक आध्यात्मिक रत्न थे। वह एक अवधूत तथा अति-वर्णाश्रमी थे। जाति-भेद के प्रति उनकी आस्था नहीं थी। वह किसी के भी हाथ से अन्न ग्रहण कर लेते थे। वह समदर्शी थे और उन्हें एक ही आत्मा का सर्वत्र दर्शन होता था। वह अपने अभीप्सित स्थानों का भ्रमण किया करते थे। वह निर्भय तथा निष्काम थे। उन्होंने भौतिक समृद्धि की कभी कोई इच्छा नहीं की। वह सम्राटों के सम्राट्, राजाओं के राजा तथा योगियों के योगी थे। वह ज्ञान के प्रकाश स्तम्भ तथा मुमुक्षुओं के लिए एक भव्य दीप-स्तम्भ थे।

अप्पय्याचार्य

अप्पय्याचार्य का जन्म पत्तमडै में लगभग १८३० ई. में हुआ था। लोग उन्हें अप्पय्य शिवम् भी कहते थे। वह अति-समृद्ध भूमिपति पण्णै सुब्बैय्यर के पौत्र तथा पी. एस. वेंगु अय्यर के अग्रज थे। पी. एस. वेंगु अय्यर डा. पी. वी. कुप्पुस्वामि अय्यर के पिता थे। अप्पय्याचार्य की देहयष्टि सौन्दर्य-मण्डित तथा सुगठित एवं उनका व्यक्तित्व तेजोमय था।

वह संस्कृत के उद्भट विद्वान् होने के साथ-साथ अनुभव-ज्ञानी, सिद्ध सन्त तथा भगवान् शिव के परम भक्त थे। उन्होंने धर्म तथा दर्शन पर अनेक ग्रन्थों की रचना की। इसके अतिरिक्त उन्होंने गीता, उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य भी लिखे।

थियोसोफिकल सोसायटी, अड्यार से सम्बद्ध तथा मुम्बई से प्रकाशित 'हेरिटेज' के सम्पादक स्वर्गीय कृष्णशास्त्रिगल उनके शिष्य थे। उन्होंने अपनी मासिक पत्रिका में उनकी कई रचनाएँ प्रकाशित कीं। 'कल्याण कल्पतरु' में उनकी एक संक्षिप्त जीवनी प्रकाशित हुई थी।

अप्पय्याचार्य अन्तर्मुखी थे। नारायनम्मालपुरम् में ताम्रपर्णी नदी के तट पर रह कर उन्होंने वर्षों तक ध्यान-योग की कठोर साधना की। उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व से असंख्य लोग प्रभावित हए। प्रचार तथा प्रसिद्धि से दूर रह कर उन्होंने सदैव एकाकी जीवन व्यतीत किया। आत्म-विज्ञापन से वह कोसो दूर रहे। उनके प्रशंसकों, शिष्यों तथा भक्तों में कई एक अति-समृद्ध थे: किन्तु वह अपनी निर्धनता से ही सन्तुष्ट रहे। कभी-कभी वह उंछवृत्ति तथा कीर्तन के लिए अन्यत्र चले जाते थे। वह भगवान् शिव की भाँति तेजोमय थे। उनके संस्कृत-गीत लोगों के लिए मर्मस्पर्शी होते थे।

वह शंकर की भाँति मेधावी एवं मन्नारगुडि के राजु शास्त्रिगल तथा अडयपालम् के अप्पय्य दीक्षितार की भाँति प्रख्यात थे। पवित्र धर्मग्रन्थों का उनका ज्ञान अत्यन्त गहन था। उनके पास विभिन्न क्षेत्रों के लोग धर्म तथा विवादास्पद धार्मिक स्थापनाओं के विषय में परामर्श लेने के लिए आया करते थे।

लगभग १९०० ई. में सत्तर वर्ष की आयु में अप्पय्याचार्य ने महासमाधि में प्रवेश किया।

मेधावी, द्रष्टा, भक्त, सन्त, महान् लेखक, कवि तथा महर्षि अप्पय्याचार्य की महिमा में निरन्तर वृद्धि होती रहे !

आप सबको उनका आशीर्वाद प्राप्त हो !

पोतना

पोतना १४०० ई. तथा १४७५ ई. के बीच की अवधि में आन्ध्र प्रदेश के कडपा जनपद-स्थित ओन्टिमिट्टा गाँव में रहते थे। मूलतः वह निरक्षर थे। किसी विद्यालय की औपचारिक शिक्षा उन्हें प्राप्त नहीं हो सकी थी। एक बार जब वह अपने पशुओं को चरा रहे थे, योगी जितानन्द से उनकी भेंट हो गयी जिन्होंने उन्हें दीक्षा प्रदान कर दी। इसके फल-स्वरूप उन्हें बौद्धिक उदबोधन के साथ-साथ आध्यात्मिक ज्ञान की भी प्राप्ति हुई।

तेलुगू प्रदेश में पोतना का स्मरण अत्यधिक आदर तथा सम्मान के साथ किया जाता है। तेलुगु पदावली में लिखित पोतना 'भागवतम्' उनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। 'नारायणशतकम्', 'भोगिनीदण्डकम्' तथा 'वीरभद्रविजयम्' उनकी अन्य कृतियाँ हैं।

पोतना का जन्म एक निर्धन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके माता-पिता के नाम क्रमशः लक्षम्मा तथा केशना थे। निर्धन होते हुए भी पोतना अतिथियों के आदर-सत्कार में सदैव तत्पर रहते थे। वह अपनी दैनिक सुख-सुविधा के प्रति सर्वथा उदासीन रहते थे।

पोतना सन्त-कवि थे। वह भगवान् राम के उपासक तथा आदर्श भक्त थे। भगवान् राम ने उनके समक्ष स्वयं प्रकट हो कर उन्हें तेलुगु में भागवतम् की रचना का आदेश दिया था।

महापण्डित तथा राजकवि श्रीनाथ उनके चचेरे भाई थे। एक दिन वह पालकी में बैठ कर पोतना से मिलने गये। उस समय पोतना अपने खेत में बैठ कर भागवतम् लिख रहे थे और उनका पुत्र मल्लना हल चला रहा था। श्रीनाथ ने पालकी के अग्रभाग के वाहकों को पालकी छोड़ देने का आदेश दिया। वह पोतना को यह दिखाना चाहते थे कि वह इस स्थिति में भी पालकी को गतिमान रखने में सक्षम हैं। पोतना ने अपने पुत्र को हल में संलग्न दो बैलों में से एक को हल से विलग करने का आदेश दिया; किन्तु हल एक बैल के बल पर ही चलता रहा। इसके पश्चात् श्रीनाथ ने पालकी के पृष्ठभाग के वाहकों को भी पालकी छोड़ देने का आदेश दिया; किन्तु इसके बाद भी पालकी की गति में कोई अन्तर नहीं आया। इसके पश्चात् पोतना ने अपने पुत्र को हल से दूसरे बैल को भी विलग करने का आदेश दिया; किन्तु इस स्थिति में भी हल पूर्ववत् चलता रहा। यह देख कर श्रीनाथ ने अपनी अहंकार-जन्य धृष्टता के लिए पोतना से क्षमा-याचना की।

श्रीनाथ ने पोतना को भागवतम् को राजा को समर्पित करने का परामर्श दिया। उन्होंने उनसे कहा कि इससे उनको पुरस्कार-स्वरूप प्रचुर धन राशि की प्राप्ति होगी जिसके फलस्वरूप उनके दारिद्य का निराकरण हो जायेगा।

श्रीनाथ ने राजा को यह सूचना दे दी कि पोतना ने राजा को अपने ग्रन्थ भागवतम् के समर्पण के प्रति अपनी सहमति प्रदान कर दी है। इस सुखद समाचार से राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। वह उत्सुकतापूर्वक पोतना के आगमन की प्रतीक्षा करता रहा; पर पोतना उसके पास कभी नहीं गये।

पोतना ने राजा के उस पुरस्कार को तृणवत् समझ कर अपना ग्रन्थ राम को समर्पित कर दिया। इससे राजा अत्यन्त क्रोधित हुआ। वह उन्हें विभिन्न प्रकार से उत्पीड़ित करने लगा। उसने उन्हें पकड़ने के लिए कई सैनिक भेजे; किन्तु भगवान् ने वाराह का रूप ग्रहण कर उन सभी सैनिकों की हत्या कर दी। इसके पश्चात् राजा ने अपने भृत्यों को उनका घर जलाने का आदेश दिया; किन्तु हनुमान् द्वारा उनके घर की तथा भगवान् के चक्र द्वारा उनके ग्रन्थ की रखवाली के कारण कोई अनिष्ट नहीं हो पाया। इसके विपरीत स्वयं राजप्रासाद ही जल कर भस्म हो गया।

पोतना को गाँव से निष्कासित कर दिया गया था। राजा की सम्पत्ति तथा उसके राज्य का विनाश हो गया। अब उसे अपने अमानवीय कृत्यों पर पश्चात्ताप होने लगा। उसने पोतना को पुनः बुला कर उनसे क्षमा-याचना की तथा उन्हें धन दे कर भेंट स्वरूप उनको उनका गाँव भी दे दिया।

श्रीनाथ ने 'भागवतम्' के उस अध्याय की आलोचना की जिसमें गजेन्द्र के उद्धार का वर्णन है। उनका प्रश्न था कि भगवान् हरि अपने शंख के अभाव में गजेन्द्र के परित्राण में कैसे प्रवृत्त हो गये। पोतना ने अब उन्हें एक सीख देने की सोची। उन्होंने श्रीनाथ के पुत्र को एक सुरक्षित स्थान पर रख कर उनसे कहा कि उनका पुत्र कुएँ में गिर पड़ा है। श्रीनाथ उस समय भोजन कर रहे थे।

यह सुनते ही वह भोजन छोड कर बिना हाथ-मुँह धोये कुएँ की ओर दौड़ पडे। पोतना ने उनसे कहा- "रस्सी या किसी अन्य उपकरण के बिना आहे अपने पुत्र की रक्षा कैसे कर सकते हैं?" इसके पश्चात् उन्होंने उनसे कहा कि उनका पुत्र सुरक्षित है। उन्होंने उनको यह भी बता दिया कि यह सब केवल इसलिए किया गया था कि वह इस तथ्य से परिचित हो सकें कि उनको जितरी चिन्ता अपने पुत्र के कुएँ में गिरने की बात सुन कर हुई थी, उससे अधिक चिन्ता गजेन्द्र की पुकार पर भगवान् को हुई थी और इस स्थिति में परित्राण के लिए किसी साधन पर सोच पाना भी असम्भव था। यह बात श्रीनाथ के अन्तर्मन में बैठ गयी। वह इससे समुचित शिक्षा ग्रहण कर भगवान् के भक्त हो गये।

पोतना ने अपना शेष जीवन प्रभु की सेवा में व्यतीत कर शाश्वत आनर के लोक की प्राप्ति की।

महिला सन्त

मदालसा

मदालसा ज्ञानी थी। उसने अपने सभी पूत्रों को भी ज्ञानी बना दिया। अपने बच्चों को पालने में झूलाते समय वह गाया करती थी: "**शुद्धोऽसि बद्धोऽसि निरंजनोऽसि संसारमायापरिवर्जितोऽसि** - हे वत्स, तुम विशुद्ध हो, बुद्ध हो, निरंजन तथा जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त हो।" बच्चे माता के दुग्ध के साथ-साथ वेदान्त की इस शिक्षा को भी आत्मसात् कर समय आने पर सन्त हो गये।

सभी नारियों को मदालसा के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए अपनी सन्तान को सत्य तथा न्याय के मार्ग के अनुगमन के लिए प्रशिक्षित करना चाहिए।

मीराबाई

मीरा को राधा का अवतार कहा जाता है। उसका जन्म संवत १५५७ अथवा १४९९ ई. में राजस्थान-स्थित मारवाड़ के एक छोटे राज्य मेड़ता के निकटस्थ कुर्खी गाँव में हुआ था। वह रतनसिंह रणथोर की पुत्री तथा मेड़ता के दूदा जी की पौत्री थी। मेड़ता के रणथोर विष्णु के परम भक्त थे। मीरा का पालन-पोषण वैष्णव-मत-प्रभावित वातावरण में हुआ था जिसके फल-स्वरूप वह भगवान् कृष्ण के भक्ति-मार्ग की ओर उन्मुख हो गयी। चार वर्ष की अल्पायु में ही उसमें धार्मिक प्रवृत्ति के दर्शन होने लगे। एक बार उसके निवास-स्थान के सम्मुख से कोई बारात जा रही थी। दूल्हा आकर्षक परिधान धारण किये हुए था। बालिका मीरा ने उसे देख कर अपनी माँ से बाल-सुलभ सहजता से पूछा- "माँ. मेरा दुल्हा कौन है?" मीरा की माँ मुस्करा उठीं। उन्होंने कुछ विनोदपूर्ण तथा कुछ गाम्भीर्य-मिश्रित भाव से श्रीकृष्ण की प्रतिमा की ओर संकेत करते हुए कहा- "मेरी प्रिय मीरा, यह सुन्दर प्रतिमा ही तुम्हारा दूल्हा है।"

अब बालिका मीरा कृष्ण की प्रतिमा से अत्यधिक प्रेम करने लगी। उसके समय का अधिकांश प्रतिमा के प्रसाधन में ही व्यतीत होता था। वह प्रतिमा का पूजन करती, उसके साथ सोती, उसके चतुर्दिक् नृत्य करती और उसके सम्मुख मधुर गीत गाती। प्रतिमा के साथ उसका वार्तालाप भी होता था।

मीरा के पिता ने मेवाड़-स्थित चित्तौड़ के राणा कुम्भा के साथ मीरा के विवाह का आयोजन किया। मीरा एक कर्तव्यपरायण पत्नी थी। वह अपने पति के आदेश का निष्ठापूर्वक पालन करती थी। गृह-कार्य से मुक्त हो कर वह प्रतिदिन भगवान् कृष्ण के मन्दिर में चली जाती तथा पूजन के पश्चात् उनकी प्रतिमा के समक्ष गायन तथा नृत्य किया करती। वह लघु विग्रह उठ कर मीरा का आलिंगन करता, वंशी बजाता तथा उसके साथ वार्तालाप करता था। ईर्ष्यादि सांसारिक कालुष्य से ग्रस्त राणा की माँ तथा राजप्रासाद की कुछ अन्य महिलाएँ मीरा के इस आचरण को उचित नहीं समझती थीं। मीरा के प्रति उनके मन में आक्रोश के भाव थे। मीरा की सास प्रायः उसकी भर्त्सना किया करती तथा उसे दुर्गा की पूजा करने के लिए विवश किया करती थी; किन्तु मीरा का निश्चय सुदृढ़ था। उसने कहा- "मैंने अपना जीवन अपने प्रेमी भगवान् कृष्ण को अर्पित कर दिया है।"

मीरा की ननद उदाबाई एक षड्यन्त्र रच कर निर्दोष मीरा की निन्दा करने लगी। उसने राणा को सूचित किया कि मीरा कुछ लोगों से गुप्त रूप से प्रेम करती है और उसने मीरा को उसके प्रेमियों के साथ मन्दिर में स्वयं देखा है। उसने राणा से यह भी कहा कि यदि वह उसके साथ कभी रात को मन्दिर में चलें, तो वह उन्हें उसके प्रेमियों को

दिखा भी देगी। उसने राणा से यहाँ तक कह डाला कि मीरा ने अपने आचरण से चित्तौड़ के राणा-परिवार की प्रतिष्ठा को कलंकित कर दिया है। राणा कुम्भा क्रोधोन्मत्त हो उठे। हाथ में तलवार लिये वह मीरा के आवास के आन्तरिक कक्षों की ओर दौड पड़े। सौभाग्य से मीरा अपने कक्ष में नहीं थी। राणा के एक दयालु सम्बन्धी ने उन्हें शान्त करते हुए कहा- "राणा, शीघ्रता मत करो। आवेश में कुछ करने से तुमको भविष्य में पश्चात्ताप करना होगा। घटनाओं के सतर्कतापूर्ण निरीक्षण के पश्चात् ही बास्तविकता के सम्बन्ध में किसी निष्कर्ष पर पहुँचो। मीरा एक महान् भक्त महिला है। जो कुछ तुमने सुना है, वह उसके विरुद्ध निन्दा का एक मिथ्या अभियान भी हो सकता है। मीरा के सर्वनाश के लिए कुछ ईर्ष्यालु महिलाओं की यह एक दुरभिसन्धि भी हो सकती है। इस समय तुम शान्त रहो।" राणा कुम्भा अपने सम्बन्धी के इस विवेकपूर्ण परामर्श के प्रति सहमत हो गये। राणा की बहन उन्हें आधी रात को मन्दिर में ले गयी। जब राणा द्वार खोल कर मन्दिर के भीतर गये, तब उन्होंने वहाँ मीरा को एकाकी पाया। वह आनन्दातिरेक में कृष्ण भगवान् के विग्रह से वार्तालाप कर रही थी। कह डाला कि मीरा ने अपने आचरण से चित्तौड के राणा-परिवार की प्रतिष्ठा

राणा ने मीरा से कहा- "मीरा, तुम इस समय किससे बात कर रही हो? अपने प्रेमी को मेरे सामने ले आओ।" मीरा ने उत्तर दिया- "मेरे हृदय को चुराने वाला स्वामी यहीं बैठा है।" इतना कह कर वह मूर्च्छित हो गयी। कुछ लोगों ने यह मिथ्या प्रचार कर दिया कि मीरा साधुओं से निःसंकोच मिला-जुला करती है। निःसन्देह उसके हृदय में साधुओं के प्रति आदर तथा सम्मान की भावना थी और वह उनसे बिना किसी झिझक के मिलती-जुलती थी। मीरा ने इस अर्थहीन अपकीर्ति की ओर कभी कोई ध्यान नहीं दिया। वह सर्वदा अडिग तथा अक्षुब्ध रही।

राणा तथा उनके सम्बन्धियों द्वारा मीरा को कई प्रकार से उत्पीड़ित किया गया। उसके प्रति वही व्यवहार किया गया जो हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद के प्रति किया था। हरि ने प्रह्लाद की रक्षा की। इसी प्रकार श्रीकृष्ण मीरा की रक्षा के लिए सदैव तत्पर रहे। एक बार राणा ने एक टोकरी में एक नाग बन्द कर मीरा के पास इस सन्देश के साथ भेजा कि इसमें फूलो का हार है। मीग स्नान से निवृत्त हो कर पूजा करने बैठ गयी। इसके पश्चात् जब उसने टोकी खोली, तब उसे उसमें श्रीकृष्ण की एक मनोहर मूर्ति तथा फूलों का एक हा मिला। इसके पश्चात् राणा ने उसके पास विष का एक प्याला भेज कर उसे अमृत बताया। मीरा ने उसे भगवान को अर्पित कर दिया और तत्पश्चात् इसे प्रसाद-रूप में स्वयं ग्रहण कर लिया। यह उसके लिए वास्तविक अमृत था। इसके पश्चात् राणा ने उसके शयन के लिए कण्टकों की शय्या भेजी। मीरा अपनी पूजा समाप्त कर उस पर सो गयी और आश्चर्य की बात तो यह है कि कण्टकों की वह शय्या गुलाब के फूलों की शय्या में रूपान्तरि हो गयी।

अपने पति के सम्बन्धियों द्वारा इस प्रकार उत्पीड़ित तथा अभिशंसित मीरा ने तुलसीदास जी को एक पत्र भेज कर यह पूछा कि इस स्थिति में क्या करना उचित होगा। उसने पत्र में लिखा था- "साधुओं के साथ रहने के कारण मेरे सभी सम्बन्धी मुझे प्रताड़ित करते हैं जिसके कारण मैं अपनी भक्ति-साधना विधिवत् नहीं कर पाती। अपने बाल्यकाल से ही मैंने गिरिधा गोपाल को अपना सखा मान लिया है और उनके साथ मैं घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हो चुकी हूँ। मैं इस सम्बन्ध को तोड़ नहीं सकती।"

तुलसीदास ने उस पत्र के उत्तर में लिखा- "जो लोग राम तथा सीता की पूजा नहीं करते, उन्हें शत्रु समझ कर उनका परित्याग कर दो, भले ही वे तुम्हारे निकटतम सम्बन्धी ही क्यों न हों। भगवान् की सान्निध्य प्राप्ति के लिए प्रह्लाद ने अपने पिता का परित्याग किया, विभीषण ने अपने भाई रावण का परित्याग किया, भरत ने अपनी माता का परित्याग किया, बलि ने अपने गुरु तक का परित्याग किया और व्रज की गोपियों ने अपने पतियों का परित्याग किया। ऐसा करने के पश्चात् इन लोगों के आनन्द में वृद्धि ही हई। पवित्र-हृदय सन्तों का कहना है कि भगवान के प्रति अत्रक्ति तथा प्रेम ही सत्य तथा शाश्वत है। अन्य सारे सम्बन्ध मिथ्या तथा क्षणिक हैं।”

एक बार अकबर तथा उसकी राज-सभा के संगीतज्ञ तानसेन छद्मवेश में मीरा के उत्प्रेरक भक्ति-गीत सुनने के लिए चित्तौड आये। मन्दिर में प्रवेश कर उन लोगों ने मीरा के आत्मोद्दीपक गीत सुने जिनसे उनका हृदय लुप्त हो गया। वस्तुतः अकबर उन गीतों से अत्यधिक प्रभावित हुआ। वहाँ से चलने से पूर्व उसने मीरा के पावन चरणों का स्पर्श किया और प्रतिमा के सम्मुख भेट-स्वरूप पन्ने का एक हार रख दिया। किसी प्रकार राणा को भी यह ज्ञात हो गया कि अकबर ने छद्मवेश में मन्दिर में प्रविष्ट हो कर मीरा के चरणों का स्पर्श करने के पश्चात् भेंट-स्वरूप उसे एक हार प्रदान किया था। वह क्रोधाग्नि में जल उठे। उन्होंने मीरा से कहा- "तुम नदी में डूब मरो जिससे संसार भविष्य में तुम्हारा मुख न देख सके। तुमने मेरे परिवार को कलंकित कर दिया।"

मीरा पति की आज्ञा शिरोधार्य कर गोविन्द, गिरिधर, गोपाल-हरि के इन नामों का स्मरण करते हुए नदी में डूबने के लिए निकल पड़ी। मार्ग में वह उल्लसित हो कर गीत गाती तथा नृत्य करती रही। नदी के तट पर पहुँच कर जब उसने उसमें कूदने के लिए अपना पैर उठाया, तब पीछे से एक हाथ ने उसे पकड़ लिया। पीछे मुड़ कर देखने पर उसे अपने प्रियतम कृष्ण के दर्शन हुए। वह मूर्च्छित हो गयी। कुछ क्षणों के उपरान्त उसकी आँखें खुलीं। भगवान् ने मुस्कराते हुए उससे कहा- "मेरी प्रिय मीरा, तुम्हारा पति एक नश्वर प्राणी है जिससे अब तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं रहा। अब तुम पूर्णतः स्वतन्त्र हो। हृदय को प्रमुदित करो। तुम मेरी हो। अब तुम व्रज के कुंज-वनों तथा वृन्दावन की गलियों की ओर शीघ्र प्रस्थान करो। मेरी बच्ची, तुम मेरी खोज वहीं करो। शीघ्रता करो।" इसके पश्चात् वे अन्तर्धान हो गये।

मीरा ने उस दिव्य आह्वान का शीघ्र ही अनुसरण किया। वह राजस्थान की तप्त बालुकामयी भूमि पर नंगे पाँव चल पड़ी। मार्ग में महिलाओं, बालक-बालिकाओं तथा भक्त जनों ने श्रद्धापूर्वक उसका स्वागत-सत्कार किया। वृन्दावन पहुँचते ही उसे उसके मुरलीधर के दर्शन हो गये। क्षुधा की शान्ति के लिए वह वृन्दावन में भिक्षाटन करती और गोविन्द-मन्दिर में जा कर अपने आराध्य का पूजन करती। तबसे यह मन्दिर अधिकाधिक प्रख्यात हो गया और अब तो यह एक तीर्थस्थान बन गया है। उसके भक्त उसके दर्शनार्थ चित्तौड़ से वृन्दावन आये। राणा कुम्भा एक भिक्षुक के वेश में उससे मिल्ने वृन्दावन आये और उसके समक्ष स्वयं को अनावृत करते हए उन्होंने अपने पूर्व-कुकर्मों तथा निर्मम कृत्यों के लिए पश्चात्ताप किया। मीरा शीघ्र ही अपने पति के चरणों पर अवनत-शिर हो गयी।

वृन्दावन के वैष्णवों में जीव गोस्वामी शीर्षस्थ थे। मीरा उनका दर्शन करना चाहती थी। उन्होंने उसकी इस इच्छा को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने मीरा को इस आशय की सूचना दे दी कि वह अपने समक्ष किसी भी नारी को आने की अनुमति नहीं देंगे। मीराबाई ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा- "वृन्दावन का प्रत्येक व्यक्ति नारी है। एकमात्र गिरिधर गोपाल है यहाँ पुरुष हैं; किन्तु आज मुझे ज्ञात हुआ कि यहाँ उनके अतिरिक्त एक अस पुरुष भी है।" मीरा के इन शब्दों से जीव गोस्वामी को लज्जित होना पड़ा। वर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मीरा एक महान् भक्त महिला है। शीघ्र ही उसके पास पहुँच कर उन्होंने उसे समुचित सम्मान प्रदान किया।

मीरा दूर-दूर तक प्रख्यात हुई। अगणित राजकुमारियाँ तथा महारानिर्ण इस धरती पर आर्या और चली गयीं। इस संसार के रंग-मंच पर अनेक रानियों, राजकुमारियों तथा महारानियों का अवतरण हुआ और वे काल के गर्भ में विलीन हो गयीं; किन्तु चित्तौड की महारानी का स्मरण हम आज भी करते हैं। इसका कारण क्या है? क्या इसका कारण उसका सौन्दर्य है? क्या वह मात्र अपने कवित्व-कौशल के लिए स्मरणीय है? नहीं। इसका कारण उसकी त्याग, भगवान् के प्रति उसकी अनन्य भक्ति तथा ईश्वर-साक्षात्कार है। वह श्रीकृष्ण के सम्मुख आ कर उनसे बात करती थी। अपने उस प्रियतम कृष्ण के साथ-साथ भोजन करती तथा उनके प्रेम-रस का पान करती थी। उसकी आत्मा उसके प्रियतम तथा उसके अनुभवों के गीतों की स्रोत उसके अन्तर्तम से निःसृत हुआ है। उसने कृष्ण के चरणों पर आत्म-समर्पण तथा उनके प्रति प्रेम के गीत गाये हैं।

मीरा का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था। उसे अखिल ब्रह्माण्ड में कृष्ण के दर्शन होते थे। उसके लिए वृक्ष, पत्थर, लता, फूल, पक्षी ये सभी कृष्णमय थे। धरती पर जब तक कृष्ण का नाम रहेगा, तब तक मीरा का नाम भी रहेगा।

मीरा सन्त, दार्शनिक तथा मनीषी थी। वह बहुमुखी प्रतिभा की स्वामिनी तथा उदारचरित्र महिला थी। ऐसे किसी व्यक्ति की खोज अत्यन्त दुष्कर है जो उसके समकक्ष हो। उसके असाधारण तथा चमत्कारपूर्ण सौन्दर्य से प्रदीप्त व्यक्तित्व में एक विलक्षण आकर्षण था। वह एक राजकुमारी थी; किन्तु अपने उच्च पद की गरिमा के अनुरूप उसे जो सुख-सुविधा तथा विलासोपकरण उपलब्ध थे, उनका परित्याग कर उसने अपने लिए निर्धनता, तप, त्याग तितिक्षा तथा वैराग्य के जीवन का चयन कर लिया। मीरा एक सुकुमार युवती थी; फिर भी वह विघ्न-बाधाओं के बीच आध्यात्मिक मार्ग पर अपनी संकटमयी यात्रा पर निकल पड़ी। इस बीच उसने अपने सम्मुख उपस्थित विराट् अवरोधों का प्रतिरोध साहस तथा निर्भीकता के साथ किया। दृढ़ संकल्प वाली मीरा अपने निश्चय पर सदैव अटल रही।

मीरा के गीत पाठकों के मन में आस्था, साहस, भक्ति तथा ईश्वर-प्रेम का संचार करते हैं। वे जिज्ञासुओं को भक्ति-मार्ग पर अभिप्रेरित कर उनके मन में एक अद्‌भुत रोमांच की सृष्टि कर देते हैं जिससे हृदय द्रवित हो उठता है।

मीरा का ऐहिक जीवन आपत्तियों तथा अशान्ति से ग्रस्त रहा। उसे उत्पीड़ित किया गया। लोगों से उसे कष्ट-ही-कष्ट मिले; किन्तु उसकी भक्ति तथा उसके आराध्य कृष्ण की कृपा से उसके अपराजेय ओज तथा मस्तिष्क के सन्तुलन का स्खलन कभी न हो सका। राजकुमारी होते हुए भी उसे भिक्षाटन करना पड़ा और कभी-कभी तो उसे मात्र जल से ही जीवन-निर्वाह करना पड़ा। उसका जीवन पूर्ण त्याग तथा भगवान के प्रति आत्म-समर्पण का जीवन था।

मीरा में रागानुरागा अथवा रागात्मिका भक्ति थी। वह लोगों की आलोचना तथा शास्त्रीय अनुदेशों पर कभी कोई ध्यान नहीं देती थी। वह जन-पथ पर नृत्य किया करती थी। उसे शास्त्र-विहित पूजन-अर्चन का ज्ञान नहीं था। कृष्ण के प्रति उसमें सरल-सहज अनुरक्ति थी। उसने साधन भक्ति का अभ्यास नहीं किया था। बाल्यावस्था से ही वह कृष्ण पर अपने प्रेम-रस का वर्षण करती आ रही थी। कृष्ण उसके पति, पिता, उसकी माता, उसके सखा, सम्बन्धी तथा गुरु थे। कृष्ण ही उसके प्राणनाथ थे। मीरा ने भक्ति के प्रारम्भिक चरणों को अपने पूर्व-जन्म में ही निष्पन्न कर लिया था।

निसर्गतः मीरा एक निर्भीक महिला थी। उसका स्वभाव निष्कपट था। उसके आचरण में प्रफुल्लता, शालीनता तथा सुरुचि के दर्शन होते थे। उसने स्वयं को गिरिधर गोपाल की प्रेम-गंगा में डुबो दिया था। उसके होठों पर सर्वदा गिरिधर गोपाल का नाम रहता था। स्वप्न में भी वह स्वयं को श्रीकृष्ण में विलीन कर दिया करती थी।

अपने दिव्योन्माद में मीरा सार्वजनिक स्थान पर नृत्य करने लगती थी। उसमें काम-भाव नहीं था। उसकी उदात्त अवस्था को शब्दों में उपयुक्त विधि से आबद्ध कर पाना असम्भव है। वह प्रेम-सिन्धु में डूबी रहती थी। उसे शरीर तथा प्रतिवेश का अध्यास नहीं था। किसी भी व्यक्ति के लिए उसकी भक्ति की गहनता का माप करना असम्भव था। उसके महाभाव को समझने में कौन समर्थ था? उसके विशाल हृदय के विस्तार का माप करना किसके लिए सम्भव था?

मीरा की भक्ति-सुरभि से देश-देशान्तर तक सुगन्धमय हो उठे। उसके सम्पर्क में जो भी आया, वह उसके प्रेम-सिन्धू की बलवती लहर से प्रभावित हो गया। वह गौरांग की भाँति प्रेम तथा निष्कपटता की प्रतिमूर्ति थी। उसका हृदय भक्ति का मन्दिर तथा उसका मुख-मण्डल प्रेम का कमल-कुसुम था। उसकी दृष्टि में दयालुता, बातों में प्रेम, उसके प्रवचन में प्रफुल्लता, भाषण में शक्ति तथा गीतों में उत्साह था। वह कितनी चमत्कारपूर्ण महिला थी! उसका व्यक्तित्व कितना आश्चर्यजनक था और उसके रूप में कैसी सम्मोहकता थी।

जीवन का दुःसह भार लिये इस संसार में घोर परिश्रम करने वाले जिन लोगों की शिराएँ क्लान्त-श्रान्त हो चुकी हैं, उन भग्न-हृदय लोगों के लिए मीरा के रहस्यवादी गीत उपशामक औषधि की भाँति हैं। उसके गीतों का मधुर संगीत श्रोताओं पर अपना सौम्य-सुखद प्रभाव छोड़ जाता है। वह उनकी विसंगति तथा विस्वरता का निराकरण कर उन्हें सुख की नींद सुला देता है। मीरा की भाषा में इतनी शक्ति है कि एक घोर नास्तिक का हृदय भी उसके भक्ति-गीतों से द्रवीभूत हो जायेगा।

मीरा ने संसार के रंगमंच पर अपने निर्दिष्ट कर्तव्य का पालन कुशलतापूर्वक किया। उसने लोगों को ईश्वर-प्रेम की ओर उन्मुख किया। उसने अपने पारिवारिक संकटों के झंझावातग्रस्त सिन्धु में अपनी नौका का कुशलतापूर्वक परिचालन करते हुए स्वयं को चरम शान्ति तथा अबाधित निर्भीकता के दूसरे तट अर्थात् उत्कटतम प्रेम के दिव्य राज्य में पहुँचा दिया। वह एक नारी थी। फिर भी उसके व्यक्तित्व में कितनी निर्भीकता तथा कितना साहस था! किशोरावस्था से ही वह उत्पीड़न सहती रही; किन्तु उसने कभी इसका प्रतिवाद नहीं किया। उसने संसार के मर्मभेदी उपहास तथा उसकी व्यंगात्मक आलोचनाओं को वीरतापूर्वक सहन किया। वह संसार पर अपनी अमिट छाप छोड़ गयी। उसकी कीर्ति-गाथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहेगी।

वृन्दावन से मीरा द्वारका चली गयी। वहाँ वह रणछोड़ जी के मन्दिर में भगवान कृष्ण की प्रतिमा में अन्तर्लीन हो गयी।

साकूबाई

महाराष्ट्र में कृष्णा नदी के तट पर क्रार (Krar) नामक एक गाँव है। उस गाँव में एक ब्राह्मण अपने पुत्र, अपनी पत्नी तथा पुत्रवधू के साथ रहता था। पुत्रवधू का नाम साकूबाई था।

साकूबाई पण्ढरपुर के भगवान् कृष्ण की परम भक्त थी। उसके ओठों पर सदैव भगवान् का नाम रहता था। वह आज्ञाकारिणी, विनम्र, निष्कपट तथा सद्गुण-सम्पन्न महिला थी। उसकी सास निर्दयी, आत्मश्लाघी तथा प्रस्तर-हृदय थी। ब्राह्मण तथा उसके पुत्र को इस महिला के कठोर नियन्त्रण में रहना पड़ता था। साकूबाई के प्रति उसका व्यवहार अत्यन्त कटु था।

साकूबाई अपने पारिवारिक कर्तव्यों का पालन अत्यन्त कुशलतापूर्वक करती थी; किन्तु कठोर परिश्रम करने पर भी उसको अपनी सास के हाथों प्रताड़ित होना पड़ता था। उसको वह पर्याप्त भोजन तक नहीं देती थी। साकूबाई को बासी या पर्युषित अन्न से ही क्षुधा शान्ति करनी पड़ती थी; किन्तु वह धैर्यपूर्वक सब-कुछ सहन करती जाती थी। प्रतिवाद के लिए उसका मुँह कभी नहीं खुलता था। उसके पति पर उसकी सास का कठोर नियन्त्रण था; अतः उससे वह अपनी व्यथा-कथा भी नहीं कह सकती थी। वह मन-ही-मन कहा करती थी-"मैं भगवान् के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ; क्योंकि यदि मैं किसी हितकर परिवार की वधू होती, तो मैं उनका स्मरण नहीं कर पाती।"

एक दिन पड़ोस की एक महिला ने साकूबाई से कहा- "बहन, मुझे तुम पर दया आती है। क्या तुम्हारे माता-पिता नहीं हैं? यह कैसी बात है कि उनमें से कोई तुमको देखने तक नहीं आता।" साकूबाई ने मुस्करा कर कहा- "मेरे माता-पिता पण्ढरपुर में रहते हैं। भगवान् कृष्ण मेरे पिता और रुक्मिणी मेरी माता हैं। इनके असंख्य पुत्र-पुत्रियाँ हैं। इसी कारण इन दोनों ने मुझे विस्मृत कर दिया है; किन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है कि वे एक दिन मेरे कष्ट निवारण के लिए मेरे पास अवश्य आयेंगे।”

पण्ढरपुर एक पवित्र तीर्थ-स्थान है। आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी को वहाँ एक बृहद् मेले का आयोजन हुआ करता है। भगवान् विट्ठल के दर्शन के लिए वहाँ विभिन्न स्थानों से लोग एकत्र होते हैं। वे हाथ में छोटी-छोटी पताकाएँ लिये क्रार गाँव से हो कर पण्ढरपुर पहुँचते हैं। वे मार्ग में हरि-कीर्तन करते. झाँझ-सितार बजाते और नृत्य करते हुए चलते हैं।

साकूबाई ने भक्तों के एक दल को देखा। इस दल के साथ पण्ढरपुर जाने की उसकी इच्छा प्रबल हो उठी; किन्तु परिवार के लोग उसे इसकी अनुमति नहीं दे सकते थे। फिर भी वह तीर्थयात्रियों के उस दल में सम्मिलित हो गयी।

पड़ोस की एक महिला ने साकूबाई को उस दल में सम्मिलित होते देख कर उसकी सास को यह सूचना दे दी। उसकी सास ने अपने पुत्र को उसे लौटा लाने का आदेश दिया। पुत्र उसके बालों को पकड़ कर उसे घसीटते हुए घर ले आया। मार्ग में उसे अपमानित करते हुए उस पर कई बार पदाघात भी किया।

ब्राह्मण, उसकी पत्नी तथा उसके पुत्र ने साकूबाई को एक खम्भे में बाँध दिया। साकूबाई ने भगवान् से प्रार्थना की- "हे पण्ढरपुर के विठ्ठल, मैंने स्वयं को तुम्हारे चरण-कमलों में आबद्ध करना चाहा था; किन्तु यहाँ मुझे एक रस्सी से बाँध दिया गया है। मेरा शरीर बन्धन में है; किन्तु मेरा मन स्वतन्त्र है जो तुम्हारे चरण-कमलों पर दृढ़ रूप से स्थिर है। मुझे मृत्यु या शारीरिक यन्त्रणा से कोई भय नहीं है। मैं किसी भी मूल्य पर तुम्हारा दर्शन करना चाहती हूँ। मेरे माता-पिता, मेरे गुरु तथा मेरे रक्षक तुम्हीं हो? हे कृपानिधान, क्या तुम मेरी इस विनम्र प्रार्थना को स्वीकार नहीं करोगे?"

अन्तर्मन की प्रार्थना को भगवान् सुन लेते हैं। उन्होंने इस प्रार्थना के प्रति अपनी प्रतिक्रिया शीघ्र ही व्यक्त कर दी। साकूबाई की पुकार ने भगवान् कृष्ण को मर्माहत कर दिया और वे विचलित हो उठे। उन्होंने एक नारी का रूप ग्रहण किया और साकूबाई के समक्ष जा कर कहा- "प्रिय बहन, मैं पण्ढरपुर जा रही हैं। क्या तुम्हें वहाँ नहीं चलना है?" साकूबाई ने कहा- "इस खम्भे से बँधी होने के कारण मैं वहाँ कैसे जा सकूँगी ? वैसे मेरी वहाँ जाने की प्रबल इच्छा है।"

उस नारी ने कहा- "बहन, मैं तुम्हारी सखी हूँ। मैं इस खम्भे से तुम्हारे स्थान पर स्वयं अपने को बाँध लेती हूँ। अब तुम पण्ढरपुर जा सकती हो।" उसने साकूबाई को बन्धनमुक्त कर स्वयं अपने-आपको खम्भे से बाँध लिया और भगवान् की कृपा से साकूबाई ने स्वयं को एक क्षण में ही पण्ढरपुर में पाया। उसके आनन्द की सीमा न रही। उसने मन-ही-मन कहा- "भगवान की कृपा से मैं कृतकृत्य हो गयी। मैं मात्र उस रज्जु-बन्धन से मुक्त न हो कर जीवन के बन्धन से भी मुक्त हुई हूँ। आज मैं कितनी प्रसन्न हूँ!"

भगवान् साकूबाई का रूप ग्रहण कर अपने भक्त के दास हो गये। त्रिलोक के जिन स्वामी के नाम स्मरण से माया के बन्धन विच्छिन्न हो जाते हैं, वे उस दिन एक भक्त के प्रति अपने अनुग्रह के कारण एक स्तम्भ से स्वयं आबद्ध हो गये। कितने दयालु हैं वे ? ब्राह्मण, उसकी पत्नी तथा उसके पुत्र ने नयी साकूबाई को पूर्ववत् अपमानित-प्रताड़ित किया; किन्तु भगवान् को इससे प्रसन्नता ही हुई।

पन्दरह दिन बीत गये। इस बीच नयी साकूबाई को भोजन का एक ग्रास तक नहीं दिया गया। अब पति को कुछ सोचने पर विवश होना पड़ा। उसने सोचा-"यदि इसकी मृत्यु हो जाती है, तो लोग मुझे गालियाँ देने लगेंगे। सब लोगों को यह ज्ञात है कि मेरे माता-पिता क्रूर-हृदय हैं। इस स्थिति में मुझे कोई दूसरी पत्नी भी नहीं मिल सकेगी।" उस पर उसे दया आ गयी और अपने निर्मम कृत्यों पर उसे पश्चात्ताप भी हुआ। उसने उसे बन्धन-मुक्त कर उससे कहा- "प्रिय साकू, मैंने तुम्हारे प्रति क्रूरतापूर्ण व्यवहार किया है। मेरे माता-पिता के कारण भी तुम्हे बहुत कष्ट भोगने पडे है। अब तुम मुझे क्षमा करने की कृपा करो और स्नान करने के पश्चात् भोजन कर लो।" अवनत शिर नयी साकूबाई

ने एक समर्पिता पत्नी की भाँति, यह सब-कुछ सुना। भगवान् ने सोचा कि यदि वह वहाँ से शीघ्र अन्तर्धान हो जाते हैं, तो साकूबाई के लौटने पर ये लोग उसके प्रति और अधिक कटु व्यवहार करेंगे; अतः उन्होंने वहाँ रुक कर साकूबाई की भाँति उस परिवार की सेवा करते रहने का निश्चय कर लिया।

साकूबाई (भगवान्) ने स्नान कर स्वादिष्ट भोजन बनाया और उन तीनों ने भोजन किया। साकू (भगवान्) ने अन्त में भोजन किया। उन सभी लोगों ने साकू की पाकशास्त्रीय कला की भूरि-भूरि प्रशंसा की। यह पहला अवसर था जब साकू ने वही भोजन किया जो परिवार के अन्य लोगों ने किया था। साकू ने सास के पाँव दबाये और पारिवारिक कर्तव्य का सन्तोषजनक रूप से पालन किया। अब वह ब्राह्मण, उसकी पत्नी तथा पुत्र- ये सभी साकू से अत्यन्त प्रसन्न थे।

वास्तविक साकू ने पण्ढरपुर पहुँच कर चन्द्रभागा नदी में स्नान किया। तत्पश्चात् उसने विट्ठल अर्थात् भगवान् कृष्ण का दर्शन किया। उसने निश्चय कर लिया कि वह पण्ढरपुर का परित्याग कभी नहीं करेगी। वह दिव्य आनन्द में मग्न हो गयी। तत्पश्चात् वह संज्ञाशून्य हो कर धरती पर गिर पड़ी और तत्क्षण उसका देहान्त हो गया।

क्रार के निकटस्थ किवल गाँव का एक ब्राह्मण उस दिन उस मन्दिर में ही था। उसने साकूबाई को पहचान कर अपने कुछ मित्रों के सहयोग से उसका दाह-संस्कार कर दिया।

इस बात से भगवान् कृष्ण की अर्धांगिनी रुक्मिणी किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयीं। उनके स्वामी क्रार में रह कर मृत साकूबाई, जिसका दाह-संस्कार तक हो चुका था, का उत्तरदायित्व वहन कर रहे थे। उन्होंने सोचा- "मैं अपने स्वामी को क्रार से किस प्रकार लौटा सकती है?" उन्होंने अपनी योग-शक्ति से एक नूतन साकूबाई की सृष्टि कर दी।

रुक्मिणी ने नयी साकूबाई के स्वप्न में प्रकट हो कर उससे कहा- "प्रिय साकू, तुमने पण्ढरपुर न छोड़ने की शपथ ग्रहण की थी। जिस शरीर में रह कर तुमने यह शपथ ग्रहण की थी, उसका दाह-संस्कार किया जा चुका है; किन्तु मैंने तुम्हें एक नया शरीर प्रदान कर दिया है। अब तुम अपने गाँव लौट जाओ। तुम भगवान् का आशीर्वाद प्राप्त कर चुकी हो।"

साकूबाई अपने गाँव लौट गयी। वह नदी के तट पर अपनी उस बहन से मिली। उसने उससे कहा- "मैंने तुम्हारी सहायता से ही भगवान् के दर्शन किये हैं। मैं तुम्हारी कृतज्ञ हूँ। जो कुछ मुझे तुमसे प्राप्त हुआ है, उसके प्रतिदान में मैं तुम्हें दे भी क्या सकती हूँ?"

भगवान् ने साकू को घड़ा देते हुए कहा कि वह उसे अपने घर पहुँचा दे। इतना कह कर वे वहाँ से चले गये। साकू पानी का घड़ा लिये अपने घर जा कर गृह-कार्य में पूर्ववत् संलग्न हो गयी। उसे यह देख कर बहुत आश्चर्य हुआ कि अब उसके प्रति उसके सास-ससुर तथा पति के व्यवहार में बहुत अन्तर आ गया है। दूसरे दिन किवल गाँव का वह ब्राह्मण साकूबाई की मृत्यु की सूचना देने क्रार आया; किन्तु वहाँ यह देख कर वह स्तब्ध रह गया कि साकूबाई अपने गृह-कार्य में संलग्न है। उसने साकूबाई के ससुर से कहा- "पण्ढरपुर में तुम्हारी पुत्र-वधू का देहान्त हो गया था और मैंने कुछ मित्रों के सहयोग से उसका अन्तिम संस्कार कर दिया था। मेरे विचारानुसार आपके घर में उसका प्रेत आ पहुँचा है।" में

साकूबाई के श्वसुर तथा पति ने कहा- "साकूबाई सर्वदा यहीं रही है। वह पण्ढरपुर कभी नहीं गयी। आपने किसी अन्य महिला के शरीर का दाह-संस्कार किया होगा।"

किवल के ब्राह्मण ने कहा- आप अपनी पुत्र-वधू को बुला कर पूछिए कि वह पण्ढरपुर गयी थी कि नहीं।”

ब्राह्मण ने साकूबाई से पूछा- साकू, तुम सत्य तथा निर्भीकता के साथ यह बताओ कि क्या तुम पण्ढरपुर गयी थी? जो कुछ भी हुआ है, उसे यथार्थतः बता दो।"

साकू ने कहा-पण्ढरपुर जाने की मेरी प्रबल इच्छा थी। जब मुझे खम्भे से बाँध दिया गया, तब एक महिला, जो मुझसे बहुत मिलती-जुलती थी. ने आ कर मुझे बन्धन-मुक्त कर दिया। इसके पश्चात् उसने मेरा स्थान ग्रहण कर मुझे पण्ढरपुर जाने को कहा और मैं वहाँ चली गयी। वहाँ भगवान् विठ्ठल के समक्ष मेरी चेतना लुप्त हो गयी। एक रात रुक्मिणी ने मुझसे स्वप्न में कहा- "तुम्हारे शरीर का दाह-संस्कार तो हो चुका है; किन्तु मैंने तुम्हें एक नया शरीर तथा नया जीवन प्रदान कर दिया है। अब तुम अपने गाँव चली जाओ।" वहाँ से आते समय मैंने उस महिला को नदी के किनारे देखा। उसने मुझे घर ले जाने के लिए पानी का घड़ा दिया और इसके पश्चात् वह चली गयी। अब मैं निश्चित रूप से यह कह सकती हूँ कि वह महिला स्वयं भगवान् कृष्ण अर्थात् भगवान् पाण्डुरंग थे। आप लोग भगवान् के दर्शन से कृतार्थ हो गये।"

अब उस ब्राह्मण, उसकी पत्नी तथा उसके पुत्र को भी यह विश्वास हो गया कि वह महिला निश्चित रूप से पण्ढरपुर के भगवान् थे। भगवान् के प्रति अपने दुष्कृत्य के कारण उन्हें बहुत दुःख हुआ। भगवान् के सम्पर्क के कारण वे तीनों पवित्र हो गये और उनका हृदय-परिवर्तन हो गया। अब उन्होंने भक्तिपूर्वक भगवान् का पूजन-अर्चन प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने कहा- "भगवन, हम लोगों को क्षमा कीजिए। हम लोगों ने आपकी भक्त साकूबाई के प्रति नृशंस व्यवहार किया है। आपके प्रति भी हम लोगों से दुर्व्यवहार ही हुआ है। हे कृपा-निधान, आप हम सबको क्षमा कीजिए। हम सब आपके चरण कमलों की वन्दना करते हैं। हम लोगों की रक्षा कीजिए।" वे सब साकूबाई की भी पूजा करने लगे।

मुक्ताबाई

निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपान तथा मुक्ताबाई ये विठ्ठल पन्त तथा रुक्माबाई की चार सन्तानें थीं। ये लोग पुणे के निकट आलन्दी में रहते थे निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान तथा मुक्ताबाई को क्रमशः भगवान् शिव, श्रीकृष्ण, ब्रह्मा तथा सरस्वती या आदि शक्ति का अवतार माना जाता है।

विठ्ठल पन्त बाल्यावस्था से ही सत्यान्वेषी थे। गृह-त्याग कर वह काशी चले गये जहाँ उन्होंने संन्यास-ग्रहण कर लिया। जब विठ्ठल पन्त के गुरु को यह ज्ञात हुआ कि उनका नव-दीक्षित शिष्य विवाहित है और उसकी युवा पत्नी भी जीवित है, तब उन्होंने विठ्ठल पन्त को घर जा कर गृहस्थ-जीवर व्यतीत करने का आदेश दिया। विठ्ठल पन्त घर लौट कर अपनी पत्नी के साथ रहने लगे। यहाँ उनके तीन पुत्रों तथा एक पुत्री ने जन्म-ग्रहण किया। विठ्ठल पन्त तथा उनके परिवार के लोगों के प्रति गाँव के लोगों का व्यवहार अत्यन्त कटु था। इस कष्टप्रद तथा अपमानित जीवन के कारण भग्न-हृदय दम्पति का असमय ही देहान्त हो गया और इस प्रकार अल्पायु में ही उनकी सन्तान अनाथ हो गयी।

निवृत्तिनाथ ने अपने अल्पवयस्क भाइयों तथा अपनी बहन का पालन-पोषण किया। गहनीनाथ निवृत्तिनाथ के, निवृत्तिनाथ ज्ञानदेव के तथा ज्ञानदेव सोपान एवं मुक्ताबाई के गुरु थे। ये सभी पण्ढरपुर के विठ्ठल के भक्त, पूतात्मा तथा धर्मनिष्ठ थे।

ज्येष्ठतम पुत्र निवृत्ति का अभी यज्ञोपवीत-संस्कार होना था। वह संन्यासी के पुत्र थे; अतः ब्राह्मणों ने उनके यज्ञोपवीत-संस्कार का अनुष्ठान करना अस्वीकार कर दिया। ज्ञानदेव ने एक भैंसे के शरीर पर अपना हाथ रखा और वह भैंसा उनके हाथों के दिव्य स्पर्श के कारण वेद-मन्त्रों का पाठ करने लगा। इस घटना से ब्राह्मणों के भ्रम

का निवारण हो गया और उनकी आँखें खुल गयीं। उन्होंने उनको यह दिखा दिया कि यथार्थ ब्राह्मणत्व किसी पूर्व-निर्धारित कर्म-काण्डीय व्यवस्था या सिद्धान्त पर आधारित न हो कर आन्तरिक पवित्रता तथा सच्चरित्रता पर आधारित है।

एक बार चांगदेव एक शेर पर बैठ कर उन प्रख्यात भाइयों को देखने गये। ज्ञानदेव भी उनसे कम नहीं थे। यह योगी थे। अपने भाई-बहन के साथ वह जिस घर में बैठे थे, वह घर ही उन चारों को लिये हए चांगदेव के स्वागत के लिए चल पड़ा। अब चांगदेव को लज्जित हो कर उनके समक्ष अवनत शिर होना पड़ा। उन्होंने ज्ञानदेव की महत्ता को स्वीकार कर लिया। ज्ञानदेव ने इक्कीस वर्ष की आयु में सजीव समाधि ली। एक गुफा में प्रविष्ट हो कर उन्होंने प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा दिया। 'ज्ञानेश्वरी' नामक उनका गीता-भाष्य एक कालजयी भाष्य है।

मुक्ताबाई आजीवन कुमारी रही। वह एक सिद्ध महिला थी। वह चांगदेव की गुरु थी। एक दिन मुक्ताबाई अपने भाइयों के साथ आश्रम में बैठी हुई थी। चांगदेव कहीं से उधर ही आ रहे थे। मुक्ताबाई विधिवत् वस्त्र धारण किये हुए थी; किन्तु चांगदेव को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो वह बिलकुल नग्नावस्था में हो। वह घूम कर दूसरी ओर चल पड़े। मुक्ताबाई ने उनसे कहा कि अभी वह सिद्धावस्था को प्राप्त नहीं हो सके हैं, क्योंकि अभी उनमें लिंग-भेद तथा लज्जा-भाव विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त वह प्रत्येक भूत में ईश्वर-दर्शन में भी अक्षम हैं। इस प्रकार मुक्ताबाई से चांगदेव को एक अमूल्य शिक्षा प्राप्त हुई। उन्होंने गहन साधना कर इस दुर्बलता से मुक्ति प्राप्त कर ली।

एक बार पण्ढरपुर के मन्दिर में अत्यधिक संख्या में भक्त एकत्र हुए। चांगदेव, गोरा कुम्हार, रोहीदास, नामदेव, चोखामेला तथा सव्ता के अतिरिक्त वहाँ अन्य कई भक्त आये हए थे। मुक्ताबाई ने नामदेव का ज्ञानवर्धन करना चाहा। उसने कुम्भकार गोरा कुम्हार से उन सभी सन्तों का परीक्षण करने को कहा। कुम्भकार को पात्र के स्पर्श से उसकी परिपक्वता का ज्ञान हो जाता है। गोरा कुम्हार ने सभी सन्तों के शिर का स्पर्श किया। जब उन्होंने नामदेव से शिर का स्पर्श किया, तब नामदेव चिल्ला उठे। गोरा कुम्हार ने तत्क्षण कह दिया- "यह पात्र अभी पूर्णतः परिपक्व नहीं हो पाया है।"

नामदेव दौड़ कर कृष्ण के पास गये और उस सभा में जो कुछ हुआ था, उसका विवरण उन्होंने उनके समक्ष प्रस्तुत कर दिया। श्रीकृष्ण ने उनसे कहा- "हाँ, नामदेव, अभी तुम कच्चे अर्थात् अपरिपक्व हो। तुम्हें आत्यन्तिक बोध की सम्प्राप्ति अभी नहीं हो सकी है। तुम खेचर स्वामी के पास जा कर उनसे दीक्षा ग्रहण करो।"

मुक्ताबाई ने आठ वर्षों की अवधि में सहस्रों लोगों को प्रबुद्ध किया और इसके पश्चात् वह शाश्वत आनन्द के परम धाम में चली गयी।

रबिया

हजरत रबिया एक महान् इस्लाममतावलम्बी महिला सन्त थी। उसका हृदय पवित्रता तथा धर्मनिष्ठा से ओत-प्रोत था। वह कठोर तपस्या किया करती थी। उसके हृदय में दिव्य प्रेम की अग्नि प्रज्वलित होती रहती थी और वह स्वयं को दिव्यता में अन्तर्लीन किये रहती थी। बाल्यावस्था में ही उसके हृदय में भक्ति-भाव का अंकुरण हो चुका था।

रबिया का जन्म बसरा में ७१७ ई. में हुआ था। वह एक निर्धन परिवार की सन्तान थी। उसकी तीन बड़ी बहनें थीं। उसके जन्म के कुछ ही दिनों के पश्चात् अकाल में उसके माता-पिता का देहान्त हो गया। मातृ-पितृ-हीन रबिया एक ऐसे व्यक्ति के हाथ आ गयी जिसने उसे एक धन-धान्य-सम्पन्न व्यक्ति के हाथों बेच दिया और इस प्रकार रबिया गुलाम बना दी गयी।

अपनी बाल्यावस्था में एक बार जब रबिया सड़क पर घूम रही थी, उसके निकट एक व्यक्ति आ पहुँचा। उससे भयभीत हो कर रबिया वहाँ से भाग गयी, किन्तु ऐसा करते समय वह गिर पड़ी जिससे उसकी कलाई टूट गयी। उसने धूल में अवनत-शिर हो कर कहा- "भगवान्! मैं मातृ-पितृ-हीन अनाथ तथा एक निर्धन गुलाम हैं। मेरी कलाई टूट गयी है; किन्तु मैं इस कारण दुःखी नहीं हूँ। मैं तो केवल तुमको प्रसन्न रखना चाहती हूँ। मुझे यह जान कर अत्यन्त हर्ष होगा कि तुम मुझसे प्रसन्न हो।"

रबिया को अपने स्वामी के यहाँ कठोर परिश्रम करना पड़ता था जिसका पारिश्रमिक उसे उपवास के रूप में मिलता था। वह दिन-भर भूखी रहती और रात का अधिकांश समय प्रार्थना तथा ध्यान में व्यतीत करती।

एक रात रबिया के स्वामी को कुछ शब्द सुनायी पडे। उसने खिडकी से देखा कि आँगन में रबिया अवनत शिर हो कर भगवान् से प्रार्थना कर रही है-"मेरा हृदय तुम्हारे सम्मुख सदैव अनावृत है और मेरी आँखें सदा तुम्हीं पर लगी रहती हैं। मैं तुम्हारी उपासना में सदैव लीन रहना चाहती हूँ; किन्तु तुमने मुझे गुलाम बना दिया है। इस स्थिति में मैं कर भी क्या सकती हूँ। मेरे लिए तुम्हारी निरन्तर सेवा किस प्रकार सम्भव है? गुलाम होने के कारण मैं तुम्हारी उपासना केवल रात में ही कर सकती हूँ।"

उसके स्वामी ने रबिया के शिर पर ज्योति देखी जिससे सारा घर दीप्तिमय हो उठा। वह आश्चर्यचकित हो उठा। उसने सोचा कि रबिया एक धर्मनिष्ठ महिला है। दूसरे दिन प्रातःकाल उसने रबिया को मुक्त कर उससे क्षमा-याचना की। इसके पश्चात् उसने शहर को छोड़ दिया। वह मरुभूमि में जा कर एक पर्णकुटी में रहने लगी।

कुछ दिनों के पश्चात् वह बसरा आ गयी जहाँ वह मृत्यु पर्यन्त रही। मृत्यु के समय उसकी आयु नब्बे वर्ष थी।

रबिया एकान्तप्रिय थी और उसका जीवन सरल, सहज तथा अकृत्रिम था। उसके दिन निर्धनता में व्यतीत हुए; किन्तु उसने इसके विरुद्ध कभी कोई प्रतिवाद नहीं किया। उसके शिष्यों में समृद्ध लोगों का अभाव नहीं था; किन्तु वह आजीवन अपनी जीर्ण-शीर्ण कुटिया में ही रही। उसके पास मात्र दो-तीन भग्न मृत्तिका पात्र और दो वस्त्र-खण्ड थे। वह प्रायः उपवास किया करती तथा दिन-रात इबादत और ध्यान में लीन रहती। स्त्री-पुरुष उसके आशीर्वाद के लिए उसकी कुटिया में आते और उससे आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण करते। उसके पास विवाह के कई एक प्रस्ताव आये; किन्तु उसने कह दिया - "मैं स्वयं को ईश्वर को समर्पित कर दिया है और अब मुझे मानवीय सम्बन्धों की कोई कामना नहीं है। मैं ईश्वर से सम्बद्ध हो चुकी है। इस स्थिति में मुझे सहचरण के लिए पति की क्या आवश्यकता है? ईश्वर से सम्बन्ध-विच्छेद की कल्पना भी मेरे लिए दुःखद है।"

चमत्कार

रबिया के ईश्वर-प्रेम तथा उसकी उपासना का लक्ष्य अन्य कोई प्राप्तव्य न हो कर स्वयं ईश्वर ही था। वह अपनी इस मान्यता पर अत्यधिक बल देती थी। वह ईश्वर की उपासना किसी पुरस्कार की आशा या दण्ड के भय से नहीं करती थी। रबिया के अनुसार ईश्वर प्रियतम है। उसने संसार को बताया कि प्रेमी को अपनी प्रत्येक वस्तु का परित्याग कर उस 'दिव्य इच्छा' (Divine Will) के हाथों स्वयं को सर्वांशतः सौंप देना चाहिए। उसे उसके चरणों पर अपनी इच्छा को भी विसर्जित कर देना होगा। उसमें मुक्ति की कामना भी शेष नहीं रहनी चाहिए।

एक बार जब रबिया मक्का के निकट गयी, तब काबा अपने स्थान का त्याग कर उसके स्वागत के लिए उसके पास आ गया। रबिया ने कहा- "मुझे तो इस घर के निवासी के दर्शन की इच्छा है। इस घर से मेरा क्या लेना-देना?"

एक बार रबिया तीर्थाटन पर जा रही; किन्तु मार्ग में ही उसका ऊँट मर गया और वह कारवाँ से पीछे रह गयी। तभी एक चमत्कार हुआ और ऊँट पुनर्जीवित हो गया।

एक बार जब घर में अँधेरा था, कुछ सूफी उसके यहाँ आ गये। रबिया ने अपनी उँगली पर फूंक मारी और घर में रात-भर प्रकाश छाया रहा। जब वह पहाड़ियों में चलती थी, तब पशु-पक्षी उसके चतुर्दिक एकत्र हो जाते थे।

जीवन की कुछ झाँकियाँ

एक बार सूफियों की एक सभा में हसन ने कहा- "जो अपने ईश्वर द्वारा दण्ड दिये जाने पर धैर्य धारण नहीं किये रहता, वह अपने दावे के प्रति गम्भीर नहीं है।" रबिया ने कहा- "मुझे उसके शब्दों से अहंकार की गन्ध आती है। शकूक ने कहा- "जो अपने ईश्वर के दण्ड के लिए उसके प्रति कृतज्ञ नहीं है, उसमें निष्कपटता नहीं है।" रबिया ने सोचा कि इससे भी कुछ अधिक बुद्धि-सम्मत बात होनी चाहिए। तब मलीह दीनार ने कहा- "ईश्वरीय दण्ड भोगते समय जिसे आनन्द की अनुभूति नहीं होती, वह निष्कपट नहीं है।" रबिया ने कहा- "यह भी पर्याप्त नहीं है।" तब उन लोगों ने रबिया से अपना विचार प्रकट करने को कहा। उसने कहा- "जिसे ईश्वरीय दण्ड का विस्मरण नहीं होता, वह निष्कपट नहीं है।"

रबिया ने एक ऐसे व्यक्ति को देखा जो अपने शिर के चारों ओर पट्टी बाँधे हुए था। पूछने पर उसने बताया कि उसके शिर में पीड़ा है। रबिया ने उसकी आयु पूछी। उसने बताया कि उसकी आयु तीस वर्ष है। रबिया ने उससे पुनः पूछा- "क्या तुम्हारे जीवन का अधिकांश पीड़ा और कष्ट में ही व्यतीत हुआ है?" उसने उत्तर दिया- "नहीं। यह पहला अवसर है जब मेरा शिर पीड़ाग्रस्त हुआ है।" रबिया ने कहा- "ईश्वर ने तुम्हारे शरीर को तीस वर्षों तक स्वस्थ और सन्तुष्ट रखा; किन्तु इस पर कभी तुमने उसके प्रति कृतज्ञता की पट्टिका नहीं बाँधी, लेकिन अपने शिर की अल्पकालीन पीड़ा के लिए तुमने उसके विरुद्ध परिवाद की पट्टिका बाँध ली।"

एक दिन रबिया ने एक व्यक्ति को वस्त्र खरीदने के लिए पैसे दिये। वह चला गया; किन्तु शीघ्र ही लौट कर उसने रबिया से पूछा- "वस्त्र किस रंग का होना चाहिए?" रबिया ने कहा- "जब रंग का प्रश्न आ गया, तब तुम मुझे पैसे लौटा दो। रंग इन्द्रियों का विषय है।" उसने उस व्यक्ति से पैसे ले कर टाइग्रिस नदी में फेंक दिये।

एक दिन लोगों ने देखा कि रबिया एक हाथ में आग और दूसरे हाथ में पानी की बाल्टी लिये दौड़ रही है। लोगों ने उससे पूछा- "तुम कहाँ जा रही हो?" रबिया ने कहा- "मैं स्वर्ग में आग लगाने और नर्क की आग बुझाने जा रही हूँ जिससे तीर्थयात्रियों के लिए ये दोनों आवरण नष्ट हो जायें, उनके अभिप्राय की पूर्ण सिद्धि हो जाये तथा स्वर्ग की आशा एवं नर्क के भय के अभाव में ही ईश्वर के भक्त उसका दर्शन कर सकें।"

रबिया से पूछा गया कि वह ईश्वर की उपासना क्यों करती है? उसने उत्तर दिया- "क्या इसके उत्तर में मेरा इतना ही कह देना पर्याप्त नहीं होगा कि मुझे उसकी उपासना के लिए ही हाथ दिये गये हैं। उसकी उपासना के कारणों की व्याख्या के लिए किसी अन्य अभिप्रेरक के साक्ष्य की आवश्यकता नहीं है।" एक अन्य अवसर पर रबिया ने कहा- "मैंने नर्क के भय के कारण ईश्वर की सेवा नहीं की है। यदि मेरी सेवा के मूल में भय की भावना विद्यमान है, तो मुझे किराये का एक अधम टट्टू ही समझा जायेगा। मैंने स्वर्ग-प्राप्ति की आशा में भी उसकी सेवा नहीं की है। यदि मैंने ऐसा किया होता, तो मुझे एक कृतघ्न सेवक समझा जाता। मैंने उसकी सेवा किसी पुरस्कार के लोभ में भी नहीं की है। मैंने उसके प्रति अपने प्रेम के कारण ही उसकी सेवा की है।"

एक समृद्ध व्यक्ति ने रबिया को कुछ धन देना चाहा। रबिया ने कहा- "मैं सांसारिक वस्तुओं की माँग तो सारे संसार के अधिपति ईश्वर से भी नहीं कर सकती; फिर मैं उस व्यक्ति से कुछ क्यों माँगू जिसका इस पर कोई अधिकार नहीं है।"

एक अन्य व्यक्ति ने रबिया के लिए एक घर बना कर उससे उसमें रहने का आग्रह किया। रबिया ने वहाँ जा कर उस घर के अलंकरण की बहुत प्रशंसा की; किन्तु इतना कह कर वह शीघ्र ही लौट गयी- "मुझे भय है कि मैं इस घर के प्रति आसक्त हो कर अपने संकल्प से स्खलित हो जाऊँगी। मेरी एकमात्र इच्छा स्वयं को ईश्वर की सेवा में अर्पित कर देना है।"

रुग्ण होने पर रबिया ने कभी कोई परिवाद नहीं किया। एक बार किसी व्यक्ति ने रोग-मुक्ति के लिए उसे ईश्वर की प्रार्थना करने का परामर्श दिया। उसने उससे पूछा- "क्या मेरे रोग के मूल में तुम्हें ईश्वर की इच्छा के दर्शन नहीं होते?" उसने कहा- "होते हैं।" रबिया ने कहा- "तब तुम मुझे वैसा करने को क्यों कहते हो जो उसकी इच्छा के विपरीत है? अपने प्रियतम का विरोध उचित नहीं होता।"

किसी ने रबिया से पूछा- "सेवक ईश्वर के प्रति निष्कपट आत्म-समर्पण कब करता है?" उसने कहा- "जब विपत्ति में प्राप्त दुख और समृद्धि में प्राप्त सुख अभिन्न हो जायें, तब समझ लेना चाहिए कि निष्कपट आत्म-समर्पण हो चुका है।"

कुछ सूफियों ने कहा- "द्वार उसी के लिए खुलता है जो इस पर दस्तक देता है।" रबिया ने कहा- "तुम कब तक दस्तक देते रहोगे? इसे खोलेगा कौन? इसे बन्द किसने किया है?"

किसी ने रबिया से पूछा- "आपकी इच्छा क्या है?" उसने कहा- "मैं सेविका हूँ। एक सेविका को इच्छा से क्या लेना-देना है? यदि मुझे किसी वस्तु की इच्छा हो और ईश्वर की इच्छा मेरी इस इच्छा के प्रतिकूल हो, तो यह पारस्परिक विश्वास के अभाव का ही प्रतीक होगा। उसी की इच्छा में तुम्हारी इच्छा का पर्यवसान होना चाहिए। तभी तुम उसके सच्चे सेवक हो सकोगे।"

रबिया की उक्तियाँ

संसार से घृणा करो: क्योंकि जब तुम इसको हेय दृष्टि से देखते हो, तो यह अत्यधिक सुखद प्रतीत होता है।

***

यदि सेवक को स्वामी के सान्निध्य की इच्छा है, तो सेवक के पास स्वामी के अतिरिक्त और कुछ नहीं होना चाहिए।

***

जिस प्रकार तुम अपने दुष्कर्मों को छिपाते हो, उसी प्रकार अपने सत्कर्मों को भी छिपाओ।

आवडयक्काल

भगवद्भक्तों में सामान्यतः यह धारणा प्रचलित है कि भगवान् शिव ने इस संसार में कालडि के श्री जगद्गुरु आदि शंकराचार्य के रूप में तथा माता पार्वती ने शेन्कोट्टाई की श्रीमती आवडयक्काल के रूप में अवतार ग्रहण किया

था। माता पार्वती के अवतार ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट रूप से यह सिद्ध करना था कि इस कलियुग में भी नारियाँ आत्म-साक्षात्कार में समर्थ हैं।

आवडयक्काल दक्षिण भारत-स्थित शेन्कोट्टाई के एक धर्मनिष्ठ शैव वडम दम्पति की सन्तान थी। बाल्यावस्था से ही उसमें उच्चतर मानसिकता के दर्शन होने लगे थे। स्वेच्छया वह कोई काम नहीं कर पाती थी। इसके लिए उसे किसी अभिप्रेरक की आवश्यकता हुआ करती थी। जो भी अन्न-वस्त्र उसे मिल जाता था, उससे उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाया करती थी। जहाँ उसको जाने का आदेश मिलता, वहाँ वह चली जाती और जिस काम में उसे संलग्न होने को कहा जाता, उसमें वह संलग्न हो जाती थी। बाल्यावस्था में ही उसका विवाह एक ब्राह्मण कुमार के साथ कर दिया गया।

उपयुक्त आयु को प्राप्त होने पर उसकी सुहागरात का आयोजन किया गया। उसकी सम्बन्धी महिलाएँ उसे उस अवसर के अनुकूल सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित कर वधू-कक्ष में पहुँचा आयीं और तत्पश्चात् कक्ष बाहर से बन्द कर दिया गया। उसका शय्यासीन पति उसे देख रहा है। कुछ क्षणों के पश्चात् वह शय्या पर पड़ी फूलों की माला उठा कर सूँघने लगा; किन्तु उस माला में एक विषधर नाग था जिसने उसे तत्काल डस लिया। इसके परिणाम स्वरूप वह मूच्छित हो गया और इसके कुछ ही क्षणों के पश्चात् उसका देहान्त हो गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल प्रचलन के अनुसार घर की महिलाओं ने वधू-कक्ष का द्वार खोला। उनको यह देख कर आश्चर्य हआ कि आवडै उस स्थान पर अभी भी मूर्तिवत् खडी है जहाँ गत रात्रि वे उसे छोड गयी थीं। उससे पूछा गया कि वह अब तक वहीं क्यों खडी है ? उत्तर में उसने कहा- "तुम लोगों ने मुझे यहीं खडे रहने को कहा था।" जब उन महिलाओं की दृष्टि उसके पति पर पड़ी, तब वे संशयग्रस्त हो उठीं। शय्या के पास जा कर उन्होंने देखा कि उसका देहान्त हो चुका है। वे इसे आवडै का दुर्भाग्य समझ कर उसे तथा उसके मृत पति को कक्ष से बाहर ले आयीं।

पति के अन्तिम संस्कार की विधिवत् समाप्ति के पश्चात् आवडै का मुण्डन कर दिया गया और उसके आभूषण उतार कर उसे श्वेत वस्त्र दे दिये गये; किन्तु आवडै पर अपने पति की मृत्यु की कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। उसे विधवा घोषित कर दिया गया। विधवा शब्द अमंगल का प्रतीक है। अब उसे अपने कक्ष से वहिर्गमन तथा किसी उत्सव में सम्मिलित होने से वंचित कर दिया गया। आवडै को ब्राह्ममुहूर्त में स्नान के लिए नदी की ओर जाना पड़ता था; क्योंकि घर के अन्य लोगों के शय्या-त्याग के पूर्व उसके लिए वहाँ से लौट आना अनिवार्य था।

एक दिन प्रातःकाल आवडै स्नान के लिए नदी में गयी। स्नान के पूर्व उसने दन्त-प्रक्षालन के लिए नदी से आम का एक पत्ता उठा लिया। वह ज्यों-ही उस पत्ते को अपने दाँतों के पास ले गयी, उसे एक इन्द्रियातीत अनुभव हुआ।

ऐसा हुआ कि उसी दिन जगत्-प्रसिद्ध सन्त सदाशिव ब्रह्म के गुरुभाई सन्त अय्यवाल एक पीपल के वृक्ष के नीचे बैठ कर ध्यान कर रहे थे। उसी दिन नदी के तट पर उन्होंने आम के पत्ते से दन्त-प्रक्षालन कर उसे नदी में फेंक दिया था। आवडै ने उसी पत्ते का उपयोग किया था। जिस क्षण वह सन्त के उच्छिष्ट पत्र को अपने मुँह में ले गयी, उसी क्षण उसकी आत्म-ज्योति को आवृत करने वाले कश्मल का प्रहाण हो गया और वह आत्म-साक्षात्कार से कृतकृत्य हो गयी। वह तत्काल पीपल के नीचे ध्यानस्थ सन्त के चरणों में पहुँच गयी।

उसने सन्त अय्यवाल को साष्टांग प्रणाम किया और सन्त ने उसके शिर पर हाथ रख कर अर्थात् उसे हस्त-दीक्षा दे कर कहा - "ब्रह्म सत्यम्।" आवडै का हृदय प्रदीप्त हो उठा। वह समाधिस्थ हो गयी अर्थात् वह उस अवस्था को प्राप्त हो गयी जिसे दिव्य चेतना कहते हैं। इसके कुछ क्षणों के उपरान्त सन्त पूजा के लिए उसे एक शिव लिंग दे कर वहाँ से चले गये।

उसी क्षण आवडै की जिह्वा पर सरस्वती का वास हो गया और उसके कण्ठ से दिव्य तथा प्रेरणादायी गीतों के माध्यम से उसके अतीन्द्रिय अनुभव निःसृत होने लगे। उसने अपने असाधारण ज्ञान से सभी नगरवासियों को चमत्कृत कर दिया। वह जो कुछ कहती थी, जो कुछ गाती थी, उससे उसकी आन्तरिक दीप्ति का ही रेखांकन होता था। लोगों ने यह सोच कर कि वह विक्षिप्त हो गयी है, उसे उसके कमरे में बन्द कर दिया।

इस बीच आवडै के माता-पिता का देहान्त हो गया। इससे उसकी गति-विधि पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रह गया। वह तत्क्षण अपने कमरे का द्वार खोल कर इस उन्मुक्त संसार में आ गयी जो उसका स्व-गृह था। अब युवावस्था को प्राप्त वह आवडै ज्ञान-गीत गाते और लोगों में ज्ञान-ज्योति को विकीर्ण तथा सम्प्रेषित करते इतस्ततः एकाकी विचरण करने लगी।

एक बार आवडै तिरुवनन्तपुरम् गयी। तालाब में स्नान कर उसने लिंग-पूजन करना चाहा। वहाँ का राजा उसके बेल-पत्र द्वारा नियमित लिंग-पूजन से परिचित था। उसने उसकी पूजा के लिए एक टोकरी स्वर्ण-निर्मित बेल-पत्र भेज दिये। तालाब में स्नान कर आवडै उसके तट पर उन स्वर्ण-निर्मित बेल-पत्रों से पूजा करने लगी। जैसा प्रचलन है, पूजा की समाप्ति के पश्चात् उन स्वर्ण-निर्मित बेल-पत्रों को निर्माल्य (अर्पित पुष्प-पत्रादि) समझते हुए उसने उन्हें तालाब में डाल दिया। यह सुन कर राजा स्तब्ध रह गया। आवडै के महान् त्याग तथा पर-वैराग्य से वह पूर्णतः परिचित हो गया। आवडै के लिए स्वर्ण तथा बेल-पत्र में भेद-दर्शन असम्भव था।

तिरुवनन्तपुरम् से आवडै धार्मिक सम्प्रदायों के पीठाधीश्वरों के एक सम्मेलन में चली गयी। वहाँ उसने अपने ज्ञान-गर्भित प्रवचन से श्रोताओं को मन्त्र-मुग्ध करते हुए सभी मतों की एकता को सिद्ध किया। प्रारम्भ में उसके मुण्डित शीश की ओर संकेत कर लोगों ने उसे 'मौट्टै' (Mottai) शब्द से सम्बोधित किया। प्रत्युत्तर में उसने कहा- "कौन है मौट्टै? क्या यह मेरा शरीर है? क्या यह मेरा मन है? क्या यह मेरा प्राण है? क्या यह मेरा जीव है? क्या यह मेरा आत्मा है? मैं कौन हूँ? मैं मौट्टै कैसे हो सकती हूँ?" अन्ततः वे लोग उसके दिव्य ज्ञान के लिए उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उसके चरणों के समक्ष अवनत शिर हो गये।

एक अन्य अवसर पर किसी राजा ने आवडै को अपनी राजसभा में बुला कर उसके समक्ष उससे अपने विवाह का प्रस्ताव प्रस्तुत कर दिया। उसने कहा- "तुम एक सुन्दर युवती हो। तुमको इस प्रकार स्वच्छन्द विचरण नहीं करना चाहिए। तुम मेरी रानी बन कर राजप्रासाद में राज-सुख तथा शक्ति का उपभोग करो।" आवडै ने उसके प्रस्ताव की स्वीकृति का स्वाँग करते हुए उससे कहा कि उसे पहले उसके प्रश्नों के उत्तर देने होंगे; किन्तु उसके प्रश्न इतने उदात्त तथा भव्य थे कि राजा को उसके समक्ष लज्जित हो जाना पड़ा। उसने आवडै से ज्ञान-दीक्षा ग्रहण कर ली।

आवडै ने अपने गुरुदेव श्री अय्यवाल के पुनः दर्शन किये। वह उनकी शिष्य-मण्डली में सम्मिलित हो गयी। उस दल की वह एकमात्र महिला सदस्य थी। सन्त के शिष्य उसके प्रति दुर्व्यवहार करते थे और उसे अन्तेवासिनी न मान कर आश्रम की उच्छिष्ट-भोजी कुतिया समझते थे। श्री अय्यवाल ने उन्हें एक शिक्षा देनी चाही।

एक दिन श्री अय्यवाल के सभी शिष्य नौका द्वारा कावेरी नदी के मध्य स्थित बालू के एक टीले पर जा कर ध्यान करने लगे। अय्यवाल नदी-तट पर थे। शीघ्र ही शिष्यों को नदी के जल-स्तर में वृद्धि का आभास होने लगा। वे संकट का पूर्वानुमान कर वहाँ से लौटने की बात सोचने लगे। उधर आवडै गहन समाधि में लीन थी। अन्य शिष्यों ने उसका परीक्षण करना चाहा। वे उसे वहीं छोड़ कर चले गये। जल तीव्र गति से ऊपर उठता जा रहा था। शीघ्र ही ऐसा प्रतीत होने लगा कि आवडै डूब जायेगी। समाधि से उठने पर उसने देखा कि अन्य सभी लोग वहाँ से जा चुके हैं। उसने अपने गुरुदेव की ओर देखा। गुरुदेव ने अपने हाथ उठा कर उससे सांकेतिक भाषा में कहा- "वहीं खड़ी रहो।" आवडै ने उनके आदेश का पालन किया और इसके पश्चात् जो चमत्कार हुआ, वह अवर्णनीय है। आवडै वहाँ

तीन दिनों तक खड़ी रही और उफनती बाढ़ ने उस स्थान का स्पर्श तक नहीं किया जहाँ उसके पैर टिके थे। तीन दिन के पश्चात् जब नदी का पानी पूर्ववत् सामान्य स्तर पर पहुँच गया, तब वह वहाँ से चली गयी।

इस घटना के साथ-साथ ऐसी ही अन्य घटनाओं से आश्रम का प्रत्येक अन्तेवासी उस नारी सन्त की महानता से परिचित हो गया। इसके पश्चात् श्री अय्यवाल ने भी उसकी महिमा को गुप्त रखना उचित नहीं समझा। लोग आशीर्वाद के लिए उसके पास आने लगे। उसके कण्ठ से दिव्य संगीत की धारा निःसृत होती रही और उसके गीतों से उपनिषदों का दिव्य ज्ञान प्रवाहित होता रहा।

सूफी सन्त

जलालुद्दीन रूमी

जलालुद्दीन रूमी एक प्रख्यात फारसी मनीषी, सन्त तथा कवि थे। उनका जन्म ३० सितम्बर १२०७ ई. में बल्ख में हुआ था। उनके पिता बहाउद्दीन वलाद एक नैष्ठिक तथा सुसंस्कृत व्यक्ति थे। वह एक सुप्रसिद्ध अध्यापक तथा एक महाविद्यालय के प्राचार्य थे।

वह परिवार अन्ततः बल्ख छोड़ कर कोरिया (Qoriya) में बस गया।

जलाल में बाल्यावस्था से ही विलक्षण प्रतिभा तथा अतिमानवीय शक्ति के दर्शन होने लगे थे। बाल्यावस्था में विलक्षण प्रतिभा की सम्प्राप्ति इस सत्य की ओर संकेत करती है कि बालक का पुनर्जन्म हुआ है। अनेक जन्मों में अर्जित विपुल अनुभवों के संचयन के माध्यम से विलक्षण मेधा तथा अलौकिक प्रतिभा से सम्पन्न होने के लिए मनुष्य को अनेक जन्म ग्रहण करने पड़ते हैं।

छह वर्ष की अल्पायु में ही जलाल को आश्चर्यजनक इलहाम तथा अनुभव होने लगे थे। उन्होंने अद्‌भुत सिद्धियों का प्रदर्शन किया था। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् जलाल अध्यापक हो गये। असाधारण मेधा के स्वामी होने के कारण उनके पास अध्ययन के लिए विभिन्न क्षेत्रों से विद्यार्थी आने लगे।

कुछ दिनों के पश्चात् जलाल ने विवाह कर लिया। उन्होंने कोरिया में यशस्वी सुफी सन्त तथा अपने गुरु शम्स तबरेज के दर्शन किये। जलाल को देख कर शम्स तबरेज अत्यधिक प्रसन्न हुए। उन्होंने उनको सूफी-मत से सम्बन्धित आध्यात्मिक उपदेश-अनुदेश दिये।

सूफी-मत तथा वेदान्त में सादृश्य के दर्शन होते हैं। सूफी सन्त का हृदय विशाल होता है। उसकी प्रेम-परिधि में सम्पूर्ण मानवता का समावेश हो जाता है। वह समस्त नाम-रूपों में भगवान् के दर्शन करता है। उसकी दृष्टि ब्रह्माण्डीय होती है और वह अपने प्रेम-पाश में सभी को आबद्ध कर लेता है। वह दया का सागर होता है और उसका प्रेम असीम होता है। वह प्रेम की प्रतिमूर्ति होता है।

धार्मिक विषयों में जलाल अत्यन्त सहिष्णु थे। वह समदर्शी थे तथा उनका प्रेम सार्वभौम था। उनके शिष्यों में कुछ ईसाई भी थे।

दीवानी शम्सी तबरेज़ (Diwani Shamsi Tabriez) तथा मसनवी-इ-मनावी (Masnavi-i-Ma'navi) नामक उनकी दो सुप्रसिद्ध कृतियाँ अत्यन्त प्रेरणाप्रद, मर्मस्पर्शी तथा आत्मोद्दीपक हैं। जलाल के ग्रन्थों की प्रत्येक पंक्ति से दिव्य प्रेम की वीणा के स्वर झंकृत होते हैं। दिव्य प्रेम के निरन्तर विकास तथा ईश्वर से तादात्म्य-स्थापन की विधि के सम्बन्ध में इनमें स्पष्ट निर्देशों का उल्लेख किया गया है।

जलालुद्दीन रूमी को मौलाना की उपाधि से विभूषित किया गया था। धनवान् तथा निर्धन, सम्भ्रान्त तथा सामान्य-वह सभी लोगों के लिए आदरणीय थे। उनकी कविताओं का पाठ असंख्य लोगों द्वारा किया जाता है। उनके प्रति यूरोपियन विद्वानों के मन में भी गहन श्रद्धा के भाव हैं। वे उनको फारसी सूफियों में सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी तथा रहस्यवादी कवियों में महानतम कवि मानते हैं। उनके अनुसार वह एक उच्चतर सम्बोधि-प्राप्त महान् सन्त थे।

जलाल के सारभूत उपदेश निम्नांकित हैं-

"धर्मनिष्ठ तथा लघ्वासी बनो। निद्रा तथा जागरण की मात्रा को सन्तुलित रखो। अल्पभाषी तथा सदाचारी बनो। समस्त दुर्गुणों को नष्ट करो। कामुकता का मूलोच्छेदन करो। अपमान तथा आघात को धैर्यपूर्वक सहन करो। कुसंगति से दूर रहो। ज्ञानी मनीषियों से सम्पर्क स्थापित करो। लोगों के लिए हितकर बनो। सिद्धियों को आध्यात्मिक मार्ग का अवरोध समझ कर उनसे दूर रहो।"

जलालुद्दीन का देहान्त कोरिया में सन् १२७३ ई. में हुआ।

मन्सूर

मन्सूर को बगदाद का सन्त कहा जाता है। वह बगदाद के खलीफा हारुन-अल-रशीद के समकालीन थे। यह चार सौ वर्ष पूर्व की बात है। वह एक धर्मनिष्ठ, सदाचारी तथा निर्धन मुसलमान फकीर थे। वह अनवरत ध्यान का अभ्यास करते थे और उनको समस्त नाम-रूपों में ईश्वर के दर्शन होते थे। वह परमात्मा के विराट् तथा ब्रह्माण्डीय स्वरूप-दर्शन में सक्षम थे। उन पर दिव्य ज्योति का अवतरण होता था और उन्हें आत्म-साक्षात्कार हो चुका था। वह विशुद्ध आत्मा से तादात्म्य स्थापित कर चुके थे। उन्होंने संसार के सामने **'अनल हक'** के सिद्धान्त का उद्‌घोष किया। **'अनल हक'** का अर्थ है- 'मैं ईश्वर हूँ।' ईश्वर के दिव्य रस-पान से उन्मत्त मन्सूर जहाँ-कहीं भी जाते थे, **'अनल हक'** का उद्‌घोष करते थे। मन्सूर के 'अनल हक' एवं वेदान्तियों के **'सोऽहम्', 'शिवोऽहम्' या 'अहं ब्रह्मास्मि'** में पर्याप्त साम्य के दर्शन होते है। मुसलमानों ने मन्सूर को नास्तिक या काफिर करार दिया। वे उनको पाखण्डी कहा करते थे।

मन्सूर एक भद्र व्यक्ति थे। अतः मौलवियों तथा मुल्लाओं को उन पर दया आती थी और वे उन्हें इस बात का विश्वास दिलाना चाहते थे कि उनका 'अनल हक' का जयघोष नितान्त भ्रामक है। इसके लिए उन्होंने अथक प्रयत्न किये; किन्तु वह अपनी आस्था से विचलित नहीं हो सके। तब मौलवियों ने उन्हे सार्वजनिक स्थान पर फाँसी देने का फतवा जारी कर दिया। एक स्तम्भ में उनके हाथ-पैर बाँध दिये गये। जल्लाद उनका शिर काटने को उद्यत खडे थे। उनको अन्तिम बार अपने मत-परिवर्तन तथा **'अनल हक'** के उदघोष के परित्याग का आदेश दिया गया। उनसे कहा गया कि वह अपने जीवन तथा अपने विश्वास में से किसी एक का चयन कर लें किन्तु मन्सूर अपने विश्वास पर अटल रहे। दर्शक उनके इस निर्णय से स्तब्ध रह गये।

पहले मन्सूर के पैर काटे गये; किन्तु मन्सूर ने मुस्कराते हुए **'अनल हक'** का उदघोष किया। इसके पश्चात् उनके नेत्र-गोलकों को बाहर निकाल दिया गया; फिर भी वह मुस्कराते हुए 'अनल हक का जयघोष करते रहे। इसके पश्चात् उनके हाथों की बारी थी। दर्शक मन्सूर के प्रति दयार्द्र हो उठे। उन लोगों ने मौलवियों से उनकी मुक्ति की प्रार्थना की। तभी लाखों लोगों ने 'अनल हक' का उद्‌घोष कर दिया। अब मन्सूर को अत्यधिक सन्तोष हुआ। किन्तु मौलवियों ने लोगों की प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया और उनका शिर काट दिया गया। उनके धड़ से निकलने वाले रक्त ने भी 'अनल हक' का उद्‌घोष किया। उनके शरीर को जला दिया गया जिसकी भस्म ने भी **'अनल हक'** का उद्‌घोष किया।

कुछ दिनों के बाद मौलवियों को भी अपने कुकृत्य पर पश्चात्ताप हुआ। अब उन्हें इस बात का पूर्ण विश्वास हो चुका था कि उनके हाथों एक सन्त की नृशंस हत्या हुई थी; किन्तु अब पर्याप्त देर हो चुकी थी। मौलवियों को इस बात का स्पष्ट अनुभव हो चुका था कि मन्सूर के शरीर के भस्म को जाने पर भी उनकी आत्मा विद्यमान थी। रक्त तथा भस्म द्वारा 'अनल हक' के उद्‌घोष से वे आश्चर्यचकित रह गये थे। अपने **'अनल हक'** के सिद्धान्त के प्रतिष्ठापन के लिए

मन्सूर को बहुत महँगी कीमत चुकानी पड़ी; किन्तु इस महँगी कीमत के कारण उन्होंने अपने नाम तथा इसके साथ-साथ 'अनल हक' को भी अमरत्व प्रदान कर दिया। मन्सूर का देहान्त चार सौ वर्ष पूर्व हुआ था; किन्तु उनके 'अनल हक' की गूंज संसार में आज भी विद्यमान है। संसार में एक भी ऐसा मुसलमान नहीं मिलेगा जो उस महान् सन्त के जीवन से अनभिज्ञ हो, जो अपने हाथों तथा नेत्र-गोलकों से वंचित होने के बाद भी अपने सिद्धान्त के प्रति आस्थावान् बना रहा।

महान् मन्सूर लोगों के हृदय में आज भी जीवित हैं। सन्तों के इतिहास के किसी भी आख्यान में कोई भी ऐसा सन्त नहीं मिलेगा जो उस मन्सूर के समकक्ष हो जिसे अपने विश्वास के लिए सर्वाधिक महँगी कीमत चुकानी पड़ी थी।

मन्सूर महिमान्वित हों !

शम्स तबरेज़

शम्स तबरेज़ मुलतान के एक अन्य ब्रह्मज्ञानी थे। मुलतान प्रह्लाद की जन्मभूमि है। मन्सूर भी यहीं रहते थे। यह नगर 'ग, ग, ग, ग' के लिए प्रसिद्ध है। इन चारों 'ग' से गरमी, गर्द (धूल), गदा (फकीर) और गोरस्थान (मकबरा) का बोध होता है।

शम्स तबरेज़ का जीवन-काल चार सौ वर्ष पूर्व का था। वह एक हिन्दू संन्यासी थे। वह अपने नाम के आगे पुरी शब्द लगाते थे। दशनामी संन्यासियों का एक समुदाय भी अपने नाम के आगे पुरी शब्द लगाता है। स्वपक्षीय सिद्ध करने के लिए मुसलमानों ने उन्हें शम्स तबरेज़ नाम से अभिहित कर दिया था। तत्कालीन बादशाह के लिए वह एक अवांछित तत्त्व थे। इसका कारण यह था कि वह **'अनल हक'** का जप किया करते थे।

एक दिन जब शम्स तबरेज़ बहुत भूखे थे, किसी ने उन्हें कच्चे मांस का एक टुकड़ा दे दिया। मांस के इस टुकड़े को भूनने के लिए उन्होंने पड़ोसियों से आग माँगी : किन्तु बादशाह के दण्ड के भय के कारण किसी ने उन्हें आग नहीं दी। तब शम्स तबरेज ने गोस्त के उस टुकड़े का रुख सूर्य की ओर कर आदेश को शीघ्र ही भून दो।" सूर्य ने तत्काल नीचे आ कर उस मांस-पिण्ड को भून दिया- "हे सूर्य, मैं बहुत भूखा है। तुम धरती पर उतर कर मांस के इस टुकड़े दिया जिसे शम्स तबरेज ने सानन्द उदरस्थ कर लिया। सूर्य की शरीर झुलसाने वाली किरणों के कारण मुलतान-वासियों के साथ-साथ वहाँ का बादशाह भी ताप-ग्रस्त हो गया। भयभीत बादशाह ने उनके समक्ष अवनत शिर हो कर कहा- "हे स्वामी, मुझे क्षमा कीजिए और सूर्य को अपने पूर्व-स्थान को जाने को कहिए। यदि ऐसा नहीं हुआ, तो हम लोगों का शीघ्र ही प्राणान्त हो जायेगा।" शम्स तबरेज ने तब सूर्य को आदेश दिया- "तुम अपने आदि स्थान को लौट जाओ।" सूर्य ने उनके आदेश का पालन किया।

ज्ञानी स्वयं ही ईश्वर होता है और अपने सत्संकल्प से सब-कुछ कर सकता है। धनहीन होने पर भी वह राजाओं का राजा है। सम्राटों के सम्राट् संन्यासी के समक्ष एक तुच्छ बादशाह सर्वथा नगण्य है।

बादशाह के आदेशानुसार जब शम्स तबरेज़ की त्वचा को उनके शरीर से विलग किया जा रहा था, तब भी वह हँसे जा रहे थे।

बुल्लेशाह

बुल्लेशाह एक सूफी सन्त थे। उनकी गणना पंजाब के महान् सन्तों में की जाती है। वह सूफी सन्त मियाँ मीर के शिष्य थे।

सूफी-मत के दर्शन तथा वेदान्त में साम्य के दर्शन होते हैं। सूफी-मत में प्रेमी तथा 'प्रेम-पात्र' के पारस्परिक सम्बन्ध को रेखांकित किया जाता है। सूफी में धर्मान्धिता नहीं होती। वह वेदान्ती की भाँति शान्त तथा अनुद्विग्न होता है। वस्तुतः वह एक सन्त होता है जो प्रेम तथा दया से परिपूर्ण होता है।

बुल्लेशाह बुखारा के निकटस्थ नगर बल्ख के बादशाह थे। उनका विवाह हो चुका था और वह विपुल धन-सम्पत्ति के स्वामी थे; किन्तु भौतिक सम्प्राप्ति उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने में असमर्थ थी। ऐहिक पदार्थों के सम्मोहन उनके लिए अर्थ-शून्य थे। उनका हृदय विवेक तथा वैराग्य के भाव से ओत-प्रोत था। उनके जीवन में कृत्रिमता तथा कपट के लिए कोई स्थान नहीं था। उनके विचार उदात्त तथा भव्य थे। वे ईश्वर-साक्षात्कार, निरपेक्ष स्वातन्त्र्य, पूर्णता तथा शाश्वत आनन्द के आकांक्षी थे।

बुल्लेशाह को दिव्य आह्वान हुआ और उनके हृदय में आध्यात्मिकता की अग्नि प्रज्वलित हो उठी। ऐहिक जीवन की अर्थहीनता से वह परिचित हो गये। उन्हें इस सत्य का सम्यक् बोध हो गया कि यहाँ जो कुछ भी है, अनित्य तथा क्षणभगर है। उनमें सत्संग तथा साधू-सन्तों के साहचर्य की इच्छा जाग्रत हो उठी और वैराग्य की दीप्ति से उनका हृदय आलोकित हो गया।

एक दिन बुल्लेशाह ने सन्त मियाँ मीर की महानता की गौरव-गाथा सुनी। वह उसी समय अपने स्थान पर अपने पत्र को बल्ख का बादशाह नियुक्त कर सैकडों परिचारकों तथा एक वजीर के साथ सन्त की कटिया की ओर चल पड़े। यह कुटिया लाहौर से तीन मील पूरब में थी। सन्त की कुटिया में प्रवेश करते ही उनके ईश्वर-प्रेम में वृद्धि होने लगी तथा प्रेम और भक्ति से उनका हृदय ओत-प्रोत हो उठा। उनको सन्त के दर्शन की इच्छा हुई। इसके लिए उन्होंने वहाँ के लोगों से प्रार्थना भी की; लेकिन उनकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी गयी।

बुल्लेशाह ने सन्त के चरण-कमलों पर आत्म-समर्पण करने का निश्चय कर लिया। उन्होंने अपने परिचारकों तथा वजीर से बल्ख लौट जाने को कहा। इसके पश्चात् अपने साथ लायी हुई समस्त सम्पत्ति को वितरित कर वह सूफी फकीर को गये। उस हिम-शीतल शिशिर ऋतु में भी उनके पास मात्र एक कम्बल रह गया।

इस प्रकार राजोचित गरिमा तथा वैभव के स्वामी बुल्लेशाह निर्धनता का वरण कर एक अकिंचन भिक्षुक हो गये। अब उन्होंने सन्त के दर्शन के लिए अनुनय-विनय की। मियाँ मीर ने उनके पास यह सन्देश भेजा कि अभी इसके लिए उचित अवसर नहीं आया है। उन्होंने बुल्लेशाह को रावी नदी के तट पर रहने वाले एक फकीर के पास जा कर बारह वर्षों तक कठोर आत्म-संयम और आत्मानुशासन का जीवन व्यतीत करने का आदेश दिया। इसके पश्चात् ही वह मियाँ मीर के दर्शन कर सकते थे।

आदेश का पालन करते हुए बुल्लेशाह रावी नदी के तट पर रहने वाले फकीर के पास जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने बारह वर्ष तक सात्त्विक भोजन ग्रहणण करते हुए योग का कठोर अभ्यास किया।

बुल्लेशाह ने आत्म-शोधन कर अपने कालुष्य का निराकरण कर दिया जिसके परिणाम स्वरूप उनका हृदय दिव्य गुणों से पूरित हो गया। अब निरपेक्ष सत्य की सम्प्राप्ति के लिए उनका मन एकाग्र, प्रखर तथा सूक्ष्म हो गया। फकीर ने उनसे कहा- "बुल्लेशाह, अब तुम परिपक्व हो गये हो। मियाँ मीर के दर्शन के लिए अब तुम यहाँ से शीघ्र प्रस्थान करो। वह सहर्ष दर्शन दे कर तुम्हें और अधिक आध्यात्मिक निर्देश देंगे। देर न कर वहाँ के लिए शीघ्रातिशीघ्र प्रस्थान करो।"

बुल्लेशाह ने तत्काल मियाँ मीर की कुटिया के लिए प्रस्थान किया। मियाँ मीर ने स्नेह तथा प्रेम के साथ उनका स्वागत किया। इसके पश्चात् उन्होंने बुल्लेशाह को निरपेक्ष सत्य के रहस्यों में दीक्षित कर उन्हें आशीर्वाद दिया। उन्हें बुल्लेशाह के रूप में एक ऐसा उपयोगी माध्यम प्राप्त हो गया जो मानव के उच्चतर कल्याण के लिए प्रयुक्त उनके अभियान को गति प्रदान करने में समर्थ था।

एक बार मौलवियों ने उनसे पूछा कि वह कौन है? बुल्लेशाह ने 'अनल हक' अर्थात् "मैं 'वह' हूँ" कह दिया। मौलवी उनको गिरफ्तार कर तत्क्षण नवाब के पास ले गये जिससे उन्हें दण्डित किया जा सके। नवाब ने उन्हें सन्त समझ कर मुक्त कर दिया।

एक अन्य अवसर पर बुल्लेशाह ने स्वयं को सम्राट् घोषित कर दिया। इससे मौलवी अत्यन्त रुष्ट हो गये। वे उन्हें नवाब के पास ले गये। बुल्लेशाह ने नवाब को समझाते हुए कहा कि उनका साम्राज्य आत्मा के अन्तर्गत है जो असीम, अन्तहीन तथा नित्य है। नवाब सन्त की आध्यात्मिक महानता तथा दीप्ति के प्रति पूर्णतः आश्वस्त हो गया। उसने घोषित कर दिया कि कोई भी व्यक्ति इस सन्त की चर्चा में नतो किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप करेगा, न इन्हें श्रुब्ध करेगा । यदि कोई व्यक्ति इसआज्ञा का उल्घन करेगा, तो उसे कठोर दण्ड दिया जायेगा ।

बुल्लेशाह की कविताओं में अद्वैत के सार-तत्व निहित हैं ।

ईसाई रहस्यवादी

सन्त आगस्टाइन

गीता (११-३०, ३१) में भगवान् कृष्ण कहते हैं- "यदि कोई घोर दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरी पूजा करता है, तो उसे धर्मात्मा ही समझना चाहिए; क्योंकि उसका निश्चय उचित एवं उपयुक्त है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और उसे चिरस्थायी शान्ति प्राप्त हो जाती है। हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन, इस बात को तुम निश्चित रूप से समझ लो कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता।"

सन्त आगस्टाइन के विषय में भी भगवान् का यह कथन सत्य है। अपने समस्त पापों के लिए पश्चात्ताप करते हुए उसने निष्कलुष जीवन-यापन का दृढ़ निश्चय कर लिया और वह भी एक महान् तथा प्रख्यात सन्त हो गया।

आरेलियस आगस्टाइन एक रोमन अफ्रीकन था। उसका जन्म १३ नवम्बर ३५४ ई. में अफ्रीका में रोमन प्रदेश की राजधानी कार्येज के निकटस्थ थगास्टे (Thagaste) नामक एक छोटे गाँव में हुआ था। उसका पिता पैट्रिसियस (Patricius) एक निर्धन व्यक्ति था; किन्तु निर्धन पिता का पुत्र होते हुए भी वह कार्थेज विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण होता रहा। उसकी प्रौढ़ावस्था के प्रारम्भ में ही उसके पिता का देहान्त हो गया।

आगस्टाइन वक्तृत्व-कला का शिक्षक हो गया। इस क्षेत्र में उसने प्रचुर ख्याति तथा विपुल सम्पत्ति अर्जित की। सन् ३८३ ई. में अफ्रीका छोड़ कर वह मिलान विश्वविद्यालय में छन्द-शास्त्र का प्राचार्य हो गया। पादरी एम्ब्रोसे से उसका परिचय यहीं हुआ।

आगस्टाइन ने अपनी युवावस्था में स्वेच्छाचारी जीवन व्यतीत किया। वह अपनी प्रशंसा का अभिलाषी था और भौतिक पदार्थ उसके प्रिय विषय थे: किन्तु इसके पश्चात् उसने आकांक्षाओं तथा असंयम का परित्याग कर ईसा के चरणों पर आत्म-समर्पण कर दिया। तत्पश्चात् अफ्रीका लौट कर उसने अपना सारा धन निर्धनों में वितरित कर दिया। उसने एक आश्रम की स्थापना की जहाँ वह अपना समय प्रार्थना. ध्यान तथा अध्ययन में व्यतीत करने लगा। वह एक महान् भक्त हो गया।

आगस्टाइन पहले पुरोहित (Priest) और तत्पश्चात् ३९५ ई. में धर्माध्यक्ष (Bishop) हो गया। उसके जीवन का शेषांश अफ्रीका के एक छोटे नगर हिप्पो में व्यतीत हुआ। ४३० ई. में जब बर्बर तथा कलाकृति-विध्वंसक आक्रान्ताओं ने हिप्पो पर घेरा डाला, तब वह नगर में ही था। उसने अपने लोगों का परित्याग कर पलायन करना स्वीकार नहीं किया। घेरे के तृतीय मास में वह रोग-ग्रस्त हो गया। उसने अपने मित्रों से अपने शयन कक्ष की दीवार पर सुस्पष्ट अक्षरों में बाइबिल के पश्चात्ताप-सम्बन्धी स्तोत्रों (Penitential Psalms) को अंकित करने को कहा जिससे वह उन्हें अपनी शय्या से ही पढ़ सके। नगर पर उन बर्बर आक्रान्ताओं के अधिकार के कुछ ही दिनों पूर्व उसका देहान्त हो गया।

आगस्टाइन असंख्य लोगों का प्रेम-पात्र था। वह अपने मित्रों से सर्वथा घिरा रहता था। बाल्यावस्था में उसमें सन्त के लक्षण नहीं थे। वह खेल-कूद का रसिया था। वह गम्भीरतापूर्वक भगवान से प्रार्थना किया करता था कि उसे विद्यालय में प्रताड़ित न होना पड़े; किन्तु उसकी प्रार्थना स्वीकृत नहीं होती थी। अतः वह प्रार्थना की उपयोगिता के प्रति शंकालु हो उठा। उसकी सन्त-स्वभाव माता मोनिका ने उसके हृदय में ईश्वर के प्रति श्रद्धा तथा ईसा के नाम के प्रति प्रेम जाग्रत करने का प्रयत्न कियाः किन्तु आगस्टाइन आध्यात्मिक विषयों पर कम ही ध्यान देता था।

विश्वविद्यालय में उसकी गणना सर्वाधिक मेधावी तथा योग्यतम छात्रों में की जाती थी। वह विधि के प्रति आजीवन आस्थावान् रहा। उसकी बुद्धि किसी भी विषय के अर्थ ग्रहण में कुशाग्र, अन्वेषक तथा विश्लेषक थी।

आगस्टाइन स्वयं को मुख्यतः यौन सम्बन्धी पापों के दो प्रलोभनों के लिए अभिशंसित करता था। अठारह वर्ष की आयु में वह एक पुत्र का पिता बन गया था। एडियोडेटस की माँ से उसका सम्बन्ध था; किन्तु उसके प्रति उसकी आसक्ति की अवधि अत्यल्प ही रही। उसका हृदय-परिवर्तन हो गया और वह सत्य की प्राप्ति के लिए लालायित हो उठा। उसने प्राचार्य के पद का परित्याग कर दिया। उसने दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की। वह निःस्पृह तथा सर्वसंकल्पत्यागी हो गया। सन्त पाल की रचनाएँ उसके लिए आनन्दप्रद थीं। वह एकान्तप्रिय था। उसने थगास्टे के निकट एक आश्रम की स्थापना की जो मठ-चर्या की आगस्टाइन द्वारा अनुमोदित प्रणाली का एक प्रतिमान था। उस आश्रम में रहने वालों को किसी व्रत-विशेष का पालन नहीं करना पड़ता था।

आगस्टाइन एक सरल-सहज मिताहारी व्यक्ति था। वह इस सत्य से परिचित हो चुका था कि सम्पत्ति ईश्वर-साक्षात्कार के मार्ग में एक प्रबल अवरोध है। अतः वह अपनी समग्र सम्पत्ति का परित्याग कर निष्कपटता तथा आत्म-संयम के मार्ग का अनुसरण करने लगा।

आगस्टाइन ने बाइबिल के अनेक खण्डों पर भाष्य लिखे। 'द ट्रिनिटी' तथा 'द सिटी आफ गाड'- उसकी ये दो कृतियाँ रचनात्मक धर्म-विज्ञान की महान् कृतियाँ हैं। हिप्पो का धर्माध्यक्ष होने के दो-एक वर्ष बाद उसने 'कनफेशन्स' नामक ग्रन्थ लिखा। यह रोमांचक ग्रन्थ उसकी आत्मकथा है। 'ट्रिनिटी' उसके तीस वर्षों के श्रम का परिणाम है। इसकी गणना ईसाई-धर्म-सिद्धान्त के श्रेष्ठ ग्रन्थों में की जाती है। 'सिविटस डेट' उसकी महानतम कृति है जो हमारे समक्ष उसके आन्तरिक आध्यात्मिक जीवन की शान्ति तथा आनन्द की झाँकी प्रस्तुत करती है। उसको 'द सिटी आफ गार्ड' लिखने में तेरह वर्ष लगे। उसके ग्रन्थों, उसके पत्रों तथा उसके धर्मोपदेशों के माध्यम से उसके प्रभविष्णु और उदात्त विचारों का प्रचार-प्रसार समस्त रोमन साम्राज्य में हो गया। वस्तुतः ईसाइयत इनसे आज तक प्रभावित होती आ रही है।

आगस्टाइन बत्तीस वर्ष की आयु में ईसाई धर्म में दीक्षित हुआ। उसका धर्मान्तरण उसके लिए एक नया जन्म था। इसने उसके जीवन की समस्त योजनाओं को एक नयी दिशा प्रदान कर उसकी वैयक्तिकता के केन्द्र को स्थानान्तरित कर दिया। उसने 'कनफेशन' नामक अपना ग्रन्थ ईसाई धर्म में दीक्षित होने के दश वर्ष बाद लिखा। उसकी प्रार्थनाएँ जो उसके भावोद्‌गार हैं, स्वयं ईश्वर को सम्बोधित की गयी हैं। ये एक अनुतापी निष्कपट हृदय के पश्चात्ताप, आश्चर्य, विस्मय, श्रद्धा, कृतज्ञता, हर्ष तथा प्रेम की दीर्घ पुकार हैं।

आगस्टाइन अपने पापों को किस प्रकार स्वीकार करता है, इस पर ध्यान दीजिए- "मैं तुम्हारी करुणा के प्रेम और तुम्हारे लावण्य के माधुर्य में ही जाग्रत होता हूँ जिससे निर्बल बलवान् हो उठता है। मेरे शुभ कर्मों के मूलाधार तुम्हीं हो। मैं अपने पापों को आशा-मिश्रित एक गुप्त वेदना के साथ एक गोपनीय उल्लास से उत्फुल्ल हो कर केवल तुम्हारे समक्ष नहीं स्वीकार करता हूँ। मैं इसे उन आस्तिकों, अपने हर्ष के भागीदारों, नश्वरता के अपने सहभागियों, अपने मित्र नागरिकों तथा अपने उन सहचारी तीर्थयात्रियों के सम्मुख भी स्वीकार करता हूँ जो पहले जा चुके हैं या जो मेरे सहचर के रूप में इस यात्रा का प्रारम्भ करने वाले हैं।"

आगस्टाइन इसका प्रारम्भ इस प्रकार करता है "हे प्रभु, तुम महान् हो। तुम परम पूजनीय हो; तुम्हारी शक्ति महान् और तुम्हारी प्रज्ञा असीम है।"

और, इसका अन्त इस प्रकार होता है- "अब जब सब-कुछ किया जा चुका है, मुझे आशा है कि तुम्हारे पवित्र नगर में मैं विश्राम करूँगा। तुम चिर शान्त हो। हमें तुमसे कुछ प्रश्न करने हैं, तुमसे कुछ प्राप्त करना है और तुम्हार द्वार

पर दस्तक देनी है। इस प्रकार हमें वहाँ कुछ उपलब्ध होगा और हमारे लिए तुम्हारे द्वार उन्मुक्त हो जायेंगे। आमीन !"

आगस्टाइन स्वयं को अभिशंसित करते हुए कहता है हे प्रभु, मेर तथाकथित उदारपन्थी कला से सम्बन्धित ग्रन्थ लिखे। मैं घृणित अनक्ति का अधम दास हैं। मैंने स्व-रचित इन ग्रन्थों को स्वयं पढ़ा तथा समझा है; किन्त इन सबसे मुझे उपलब्ध ही क्या हुआ? तुम्हारे दिव्य प्रकाश के सम्मुख मो शरीर का पृष्ठभाग ही रहा और मैं तुमसे विलग हो कर वेश्याओं के यहाँ अपनी शक्ति तथा सम्पत्ति का अपव्यय करता रहा। हे प्रभु, मेरी उन पुष्कल क्षमताओं से मुझे क्या उपलब्ध हुआ जिनका कभी कोई सदुपयोग ही न हो सका?"

किसी व्यक्ति की यह मनःस्थिति तभी होती है, जब उसमें यथार्थ वैराग्य तथा विवेक के भाव जाग्रत होते हैं।

यहाँ आगस्टाइन के आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभवों के कुछ विवरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं जो उसकी देवत्व-प्राप्ति तथा भगवद्-दर्शन के जीवन्त साक्षी हैं। वह कहता है-

"हे प्रभु, तुमने हमारी सृष्टि स्वयं अपने लिए की है और जब तक तुममें हमारा पर्यवसान नहीं हो जाता, तब तक हमारा हृदय अशान्त तथा अधीर ही रहेगा।

"मेरी आत्मा का भवन संकीर्ण है। हे प्रभु, मेरे गुप्त दोषों का मार्जन करो। गुप्त रूप से ही सही, मेरे कर्णधार तो तुम्हीं हो। स्वयं को तुमसे विलग करने के पश्चात् जब मैं तुम्हारे मार्ग का परित्याग कर गर्वोन्नत-शिर स्व-चयनित मार्ग का अनुसरण कर रहा था, तब भी मुझ पर तुम्हारी कृपा-दृष्टि बनी रही। तुमने मेरा पथ-प्रदर्शन किया, तुमने कभी मेरा परित्याग नहीं किया और तुमने मेरे प्रति सुखद आश्चर्यप्रद व्यवहार किया। हे प्रभु, अपने कोमलतम तथा कृपालु हाथों से मेरे हृदय का शान्ति-प्रदायक स्पर्श करते हुए तुमने मुझे समुचित विधि से निर्देशित किया।

"मैं ईश्वरीय झाँकी के अवर्णनीय माधुर्य का रसास्वादन करता हैं। ईश्वर के समीपतर होना मेरे लिए शुभ है। मैं उस पावन पूरी के आशीर्वाद के सुफल का उपभोग कर रहा है जो निष्कलुष देवदतों के ऊपर स्थित है।

"ईश्वर प्रकाश तथा दिव्य आनन्द है। जो शुभ है, उससे वह प्रेम करता है। उसके शाश्वतत्व तथा यथार्थ जीवन में कोई भेद नहीं है। ईश्वर के सत्य में शाश्वत प्रकाश तथा उसकी उत्तमता में नित्य आनन्द विद्यमान है। जब आत्मा अपने-आपको ईश्वर को समर्पित कर देती है, तब स्वयं यज्ञ बन जाती है जिससे वह भौतिक आकांक्षाओं का परित्याग तथा स्वयं को नित्य प्रेम में रूपान्तरित कर उसकी प्रेमाग्नि से प्रदीप्त हो सके और उसके दिव्य सौन्दर्य को प्राप्त कर उसकी प्रेम-पात्र बन सके।"

उस सन्त आगस्टाइन की महिमा में वृद्धि हो जो गीता के श्रीकृष्ण के उन उपदेशों के उदाहरण के रूप में हमारे सम्मुख आज भी विद्यमान है जिनमें कहा गया है- "यदि तुम सभी पापियों में भी घोरतम पापी हो, तो भी तुम ज्ञान की नौका से इन सभी पापों का सन्तरण कर लोगे। यदि घोर पापी भी अनन्य भाव से मेरी पूजा करता है तो वह शाश्वत शान्ति को प्राप्त हो जाता है।" सन्त आगस्टाइन दुःखी तथा निराश लोगों के हृदय में आशा का संचार कर उन्हें आध्यात्मिकता के मार्ग पर अग्रसरण की प्रेरणा प्रदान करता है।

उत्तम आध्यात्मिक संस्कारों के साथ जन्म ग्रहण करने वाले किसी व्यक्ति को यदि ईश्वर-साक्षात्कार हो जाता है, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है; किन्तु यदि आगस्टाइन, अरुणगिरि, रत्नाकर, जगाई, मधाई तथा वेमन्ना-जैसे व्यक्तियों को भी ईश्वर-साक्षात्कार की उपलब्धि हो जाती है. तो इससे विस्मित होना ही पड़ता है। इन परवर्ती लोगों के लिए इस मार्ग का अनुसरण अत्यन्त संघर्षमय तथा दुष्कर होता है।

असीसी का सन्त फ्रान्सिस

सन्त फ्रान्सिस को असीसी का नगण्य निर्धन व्यक्ति कहा जाता है। उसका जन्म इटली के असीसी नगर मे ११८२ ई. में हुआ था। उसके पिता का नाम बेर्नाडोन (Bernardone) था जो असीसी का एक अत्यन्त समृद्ध व्यापारी था। उसकी माता का नाम पैका (Pica) था। फ्रान्सिस एक सुदर्शन बालक था। कोमल हृदय तथा प्रसन्न-चित्त होने के कारण उसके अनेक मित्र थे। सम्भ्रान्त तथा कुलीन व्यक्तियों के सभी पुत्र उसके सहचर थे।

फ्रान्सिस का पालन-पोषण आमोद-प्रमोद तथा विलासिता में हुआ। अमर्यादित सुखोपभोग में उसने अपनी सम्पत्ति के अधिकांश का अपव्यय कर दिया। वह स्थानीय राजकुमारों के साथ मद्यपान किया करता था।

एक दिन फ्रान्सिस अपने मित्रों के साथ आमोद-प्रमोद में संलग्न था। तभी वहाँ एक भिक्षुक भिक्षा के लिए आ पहुँचा। कोमल हृदय फ्रान्सिस की जेब में जो कुछ भी था, उसे उसने उस भिक्षुक को दे डाला। उसके सहचर उसकी इस दानशीलता का उपहास करने लगे। इस पर उसके मन में अनासक्ति का उदय होने लगा। उस भिक्षुक को देख कर वह सांसारिक जीवन की निर्धनता तथा इसके दुःख-दैन्य पर सोचने को विवश हो उठा। अब वह निर्धनों को अत्यधिक धन देने लगा। उसके पिता ने यह सोच कर कि वह धन का अपव्यय कर रहा है, उसकी भर्त्सना की।

कुछ दिनों के पश्चात् फ्रान्सिस किसी गम्भीर रोग से पीड़ित हो कर महीनों तक रोग-शय्या पर पड़ा रहा। मृत्यु उसके निकट आ चुकी थी; किन्तु ईश्वर ने उसकी प्राण-रक्षा कर दी, क्योंकि उसे एक विशिष्ट अभियान का निष्पादन करना था। अब फ्रान्सिस की प्रकृति में आमूल परिवर्तन हो गया। वह प्रकाश तथा मार्ग-दर्शन के लिए ईश्वर से प्रार्थना करने लगा जिससे उसका भविष्य निष्कलुष बना रहे। उसे भगवान् ईसा की झलक दिखायी पड़ी और उसने अपनी पुरानी जीवन-पद्धति का परित्याग करके अपने जीवन को मानवता की सेवा में अर्पित करने तथा सरल-सहज जीवन व्यतीत करने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

स्वस्थ होते ही फ्रान्सिस ने अपने इस दृढ़ निश्चय की सूचना अपने माता-पिता को दे दी। उनको पुत्र के इस निश्चय से निराशा हई और वे उससे क्रुद्ध हो गये। फ्रान्सिस अपने पुराने स्वभाव का परित्याग कर ईश्वर की सेवा में तत्पर हो गया। उसने अपने धन-वस्त्रादि सारे सामान निर्धनों में वितरित कर दिये। फ्रान्सिस के प्रति उसके पिता का आक्रोश जाग्रत हुआ और उसने उससे पूछा- "मेरे प्रति तुम्हारी यही कृतज्ञता है? मैंने घोर परिश्रम से प्रचुर धन अर्जित किया जिसे तुम इन तुच्छ तथा नगण्य लोगों पर लुटा रहे हो।"

फ्रान्सिस के मित्रों ने उसका उपहास किया और उसके पिता ने उसे घर से निकाल बाहर किया। फ्रान्सिस को एक भिक्षुक का जीवन व्यतीत करने के लिए विवश होना पड़ा। उसके पुराने मित्रों ने उस पर कीचड़ तथा पत्थर फेंके; किन्तु वह धैर्यपूर्वक सब-कुछ सहन करता रहा। वह मोटा वस्त्र धारण करने लगा तथा उसका भोजन साधारण हो गया।

फ्रान्सिस असीसी की एक पर्वतीय गुफा में दो वर्षों तक प्रार्थना तथा ध्यान में तल्लीन रहा। कभी-कभी कुछ दयालु लोग उसे भोजन दे देते थे; किन्तु उसे अधिकतर निराहार ही रहना पड़ता था।

फ्रान्सिस शरीर को 'गर्दभ भाई' कहा करता था। वह अपने इस 'गर्दभभाई' को पूर्ण अनुशासन तथा नियन्त्रण में रखता था। कभी-कभी वह इसे अन्न-जल से भी वंचित कर देता था। अतीत में जो इसका प्रिय तथा विशिष्ट भोजन था, वह अब इसके लिए दुष्प्राप्य हो गया।

फ्रान्सिस विनम्र था। उसे ईश्वर-निर्मित सभी प्राणियों से प्रेम था। वह पशु-पक्षियों से प्रेम करता था। वह पद-दलित तथा जाति-बहिष्कृत लोगों को प्यार करता था। वह पशु-पक्षियों तथा सभी प्राणियों को भाई-बहन समझता था।

फ्रान्सिस ने गाँव-गाँव जा कर ईश्वर प्रेम का उपदेश दिया। उसने अपने सेवा-व्रत में सम्मिलित होने के लिए इच्छुक लोगों को आमन्त्रित किया। असीसी का बर्नार्ड नामक एक समृद्ध व्यक्ति उसके साधु-स्वभाव के प्रति अत्यधिक आकर्षित हुआ। वह फ्रान्सिस का प्रथम अन्यायी था। उसने ईश्वर की वेदी पर अपनी सारी सम्पदा अर्पित कर दी। ग्यारह अन्य लोग भी फ्रान्सिस के साथ हो गये। उन्होंने अपना सारा धन निर्धनों में वितरित कर दिया। फ्रान्सिस तथा उसके अनुयायी लोगों को अपने उपदेश, शिक्षण तथा आशीर्वाद से लाभान्वित करते हुए समस्त इटली का भ्रमण करते थे। वे लोग रुग्ण व्यक्तियों की परिचर्या भी करते थे।

फ्रान्सिस की दयालुता तथा उसके प्रेम की गाथा का प्रचार समस्त यूरोप में हो गया और अब उसे सन्त फ्रान्सिस के नाम से अभिहित किया जाने लगा। लोग उसे असीसी का नगण्य निर्धन व्यक्ति कहते थे। वह लोगों के हृदय में सर्वदा के लिए विद्यमान हो गया।

सन्त फ्रान्सिस के अनुयायियों की संख्या में वृद्धि होती गयी। उसने 'आर्डर आफ मेन्डिकेन्ट फ्रायर्स' (Order of Mendicant Friars) अथवा 'फ्रान्सिस्कन्स' (Franciscans) नामक धर्म-संघ की स्थापना की। इस संघ के सदस्यों को निर्धनता तथा प्रेम का व्रत ग्रहण करना पड़ता है।

सन्त फ्रान्सिस का देहान्त १२२८ ई. में हुआ। सन्त फ्रान्सिस के अनुयायियों ने असीसी की पहाड़ी पर एक सुन्दर चर्च का निर्माण किया। सन्त फ्रान्सिस को यह पहाड़ी अत्यधिक प्रिय थी। सन्त फ्रान्सिस का प्रभाव तथा उनके तपोमय जीवन की पावन सुरभि अनन्त काल तक अक्षुण्ण रहेगी।

वह सन्त फ्रान्सिस महिमान्वित हो जो असीसी का निर्धन नगण्य व्यक्ति होने पर भी एक यशस्वी सन्त था !

सन्त फ्रान्सिस जेवियर

सन्त जेवियर का जन्म स्पेन के एक छोटे राज्य नवाने में १५०६ ई. में हुआ था। जब उसकी आयु नौ वर्ष थी, तब उसके पिता का देहान्त हो गया था। उसके दो अग्रज सैनिक थे। सैनिक जीवन फ्रान्सिस की रुचि के अनुकूल नहीं था। वह पेरिस विश्वविद्यालय में प्राचार्य होना चाहता था।

१५२५ ई. में उसने पेरिस विश्वविद्यालय में प्रवेश किया जहाँ वह ग्यारह वर्षों तक रहा। उस क्रीड़ा-प्रेमी सुन्दर व्यक्ति की मुखाकृति आकर्षक थी। १५३० ई. में उसने कला में उपाधि ग्रहण की। वह चर्च में किसी पद का अभिलाषी था।

जेवियर एक भाषाविद् था। लैटिन, स्पेनिश, फ्रेन्च, पोर्चुगीज तथा बास्क्यू -वह इन पाँच भाषाओं का ज्ञाता था। वह एक बहुश्रुत दार्शनिक तथा महान् धर्मशास्त्री था। उसके व्यक्तित्व में भावुकता तथा संवेदनशीलता का आधिक्य था। उसमें कपट तथा स्वार्थ की भावना नहीं थी। वह विनम्र तथा स्पष्टवादी था।

इग्नेशियस लायला एक भूतपूर्व विकलांग सैनिक था। उसका एक पैर तोप के गोले से उड़ गया था और अब वह 'चर्च आफ क्राइस्ट' का 'नाइट' (Knight) था। उसने विश्वविद्यालय में फ्रान्सिस जेवियर से बात की। वह प्रायः कहा करता था- "मास्टर फ्रान्सिस, यदि आत्मज्ञान-शून्य व्यक्ति समस्त संसार का अधिपति भी हो जाये. तो उसको उपलब्ध ही क्या होगा ?" जेवियर को उसके साहचर्य तथा उसके साथ वार्तालाप से आनन्द प्राप्त होता था; किन्तु वह सांसारिक

जीवन की महत्त्वाकांक्षाओं का परित्याग करना नहीं चाहता था। वह एक युवा तथा सुयोग्य प्राचार्य था। जब अरस्तू पर उसका भाषण होता था, तब उसे सुनने के लिए लोग बहुत बड़ी संख्या में एकत्र हो जाते थे। उसका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल था। प्रसिद्धि तथा प्रतिष्ठा उससे दूर नहीं थी; किन्तु इग्नेशियस के ये शब्द, "यदि आत्मज्ञान-शून्य व्यक्ति समस्त संसार का अधिपति भी हो जाये, तो उसको उपलब्ध ही क्या होगा, उसके कानों में सर्वदा गूंजते रहते थे।

इमेशियस के शब्दों के अर्थपूर्ण अभिप्राय पर गहन चिन्तन करते रहने के पश्चात् फ्रान्सिस जेवियर ने अपनी सारी महत्त्वाकांक्षाओं, पद-प्रतिष्ठा तथा सम्पत्ति का परित्याग कर दिया। विश्वविद्यालय के प्राचार्य का पद अब उसके लिए आकर्षक नहीं रह गया। उसने निर्धनता तथा पवित्रता के मार्ग का अनुसरण करते हुए क्राइस्ट के चरणों पर अनन्य भाव से आत्म-समर्पण का निश्चय कर लिया। उसके अन्तर्तम में विवेक-वैराग्य का उदय हुआ और जागतिक पदार्थ उसको सम्मोहित करने में असमर्थ हो गये। उसका मन निश्चित रूप से ईश्वरोन्मुख हो गया। उसने इग्नेशियस को पथ-प्रदर्शक तथा आध्यात्मिक आचार्य के रूप में स्वीकार कर लिया। वह अपने समय का अधिकांश प्रार्थना तथा ध्यान में व्यतीत करने लगा। उसने यरुसलम की तीर्थ-यात्रा की।

जेवियर ने अपना सर्वस्व निर्धनों में वितरित कर दिया। वह साधारण तथा मोटे वस्त्र धारण करने लगा। हाथ में दण्ड तथा कन्धे पर एक लबादा ले कर उसने पैदल ही वेनिस के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में उसे अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ा। उसने फ्रान्स की वर्षा तथा जर्मनी की कठोर शीत को सहन किया। वह तुषार मण्डित अल्पाइन पर्वत से हो कर यात्रा कर रहा था।

जब जेवियर अल्पाइन के बरफानी मार्ग से हो कर जा रहा था, तब उसके साथ किसी राजदूत का सचिव भी था। वह अपने घोड़े से गिर कर उस विशाल तुहिन-राशि में दब गया जो एक फिसलन-भरी अधोन्मुखी शिला पर संचित हो गयी थी। उसके नीचे तीव्र जल-प्रवाह था। सचिव के मित्रों में उसकी प्राण-रक्षा के प्रयास का साहस नहीं था; किन्तु जेवियर ने उसके जीवन को अपना जीवन समझ कर उसके त्राण के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा दी। कितना विशाल हृदय था जेवियर का !

जेवियर १५३७ ई. में वेनिस पहुँचा। वह यात्रा की कठिनाइयों से श्रान्त हो गया था। उसने वेनिस में अपने सेवा-कार्य को प्रारम्भ कर दिया। उसने चिकित्सालय में असाध्य रोगों से ग्रस्त कई रोगियों की परिचर्या की। उसने लोगों को ईसा के प्रेम से अवगत कराया। कारागार में जा कर उसने बन्दियों की सेवा तथा उनके साथ ईश्वर की प्रार्थना की। इसके पश्चात् वह रोम की ओर पैदल ही चल पड़ा। उधर अनवरत रूप से मूसलाधार वर्षा हो रही थी। देश में इतना पानी भर गया था कि यात्रा में कहीं-कहीं पानी उसके वक्षस्थल तक आ जाता था; किन्तु जेवियर सर्वदा प्रफुल्ल-चित्त रहा। गाँव-गाँव में जा कर उसने लोगों को ईसाइयत की शिक्षा दी। उसने लोगों से किसी भी वस्तु की याचना नहीं की। उसने उनकी भेंट को भी स्वीकार नहीं किया। उसके इन कार्यों से लोग अत्यधिक प्रभावित हुए। वे सोचते थे कि जेवियर निःस्वार्थ भाव तथा उदार हृदय से लोगों के लाभ तथा उनकी मुक्ति के लिए कार्यरत है।

जेवियर रोगग्रस्त हो गया। रुग्णावस्था की इस अवधि में उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अपने दीर्घकालीन कष्ट तथा रोग के कारण वह निष्प्रभ तथा विरूप हो गया। उसकी आयु उन दिनों केवल बत्तीस वर्ष थी; किन्तु इसी आयु में वह शव की भाँति श्रीहीन हो गया था।

१५४१ ई. में जेवियर ने समुद्र के मार्ग से लिस्बन से भारत के लिए प्रस्थान किया। उस समय उसके पास तीन-चार जीर्ण-शीर्ण वस्त्र तथा दो पुस्तकें थीं; किन्तु उन जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों में भी वह किसी राजकुमार की भाँति सुदर्शन तथा भव्य प्रतीत हो रहा था और उसके व्यक्तित्व में लोगों को आध्यात्मिकता के दर्शन हो रहे थे।

पुर्तगाल के सम्राट् जान ने जेवियर के लिए जहाज में प्रथम श्रेणी के टिकट की व्यवस्था कर दी; किन्तु जेवियर डाक्टर, सेवक, परिचारक, ईसाइयत का शिक्षक तथा रसोइया-इन सभी का काम करने लगा। वह यथासम्भव यात्रियों की प्रत्येक सेवा के लिए तत्पर रहता था। वह जहाज के अपने प्रथम श्रेणी के कक्ष को एक रुग्ण यात्री को दे कर स्वयं रस्सियों के ढेर पर सोने लगा। वह निर्धन तथा रुग्ण यात्रियों के वस्त्र-प्रक्षालन करता था। वह राज्यपाल के साथ भोजन करने का अधिकारी था; किन्तु वह सामान्य लोगों की पंक्ति में बैठ कर भोजन करता था। उसके लिए उत्तम भोजन की व्यवस्था थी: किन्तु वह उसे रोगियों में वितरित कर दिया करता था। वह रोगियों के शरीर तथा वस्त्रों का प्रक्षालन करता था और उन्हें अपने हाथ से खिलाता था। वह अत्यधिक रुग्ण व्यक्तियों को हर्षोल्लास तथा त्वरित रोग-मुक्ति का आश्वासन प्रदान करता था।

१५४२ ई. में जेवियर भारत के समुद्र-तट पर उतरा और गोवा पहुँचा। तब उसकी आयु छत्तीस वर्ष थी। यात्रा में सतत कष्ट-सहन तथा बहुधा ज्वर-ग्रस्त रहने के कारण उसका शरीर दुर्बल हो गया था; किन्तु उसका हृदय आन्तरिक ऊर्जा, उत्साह, मानवता की सेवा की प्रबल इच्छा तथा असीम प्रेम का अक्षय स्रोत था।

जेवियर पोताश्रय के निकट एक अस्पताल में रहा। वह गम्भीर रूप से रोग-ग्रस्त व्यक्तियों की रोग-शय्या के अधोभाग के नीचे फर्श पर इसलिए सोता था कि आवश्यकता पड़ने पर वह उनकी सेवा के लिए तत्काल उपलब्ध हो सके।

यथार्थ सेवा यही है और यही है वास्तविक सुमन जिसे ईश्वर की वेदिका पर अर्पित किया जा सकता है। आध्यात्मिक मार्ग के अनुसरण के नव-दीक्षित आकांक्षियों को अपने हृदय में जेवियर के आश्चर्यजनक सेवा-भाव को ग्रहण कर कर्मयोग के मार्ग पर जेवियर के पदचिह्नों का अनुगमन करना चाहिए। केवल इसी प्रकार की सेवा से मानव-हृदय विशुद्ध, मृदुतर एवं दिव्य प्रकाशः तथा भगवत्कृपा की प्राप्ति में समर्थ होता है।

जेवियर गाँव-गाँव घूम कर कुष्ठरोगियों, बुभुक्षितों तथा बन्दियों के लिए भिक्षा माँगा करता था। इस प्रकार उसने प्रचुर धन एकत्र कर लिया जिससे निस्सहाय व्यक्ति स्थायी रूप से लाभान्वित हुए।

जेवियर के पुराने वस्त्र अत्यधिक जीर्ण-शीर्ण हो गये थे। उसको रेशमी वस्त्र दिये गये; किन्तु उसने उन्हें नहीं लिया।

वह बन्दियों को ईसाइत के धार्मिक अनुष्ठानों से अवगत कराने जेल में जाता था और विद्यालय के छात्रों को प्रार्थना तथा ईसाई-मत के धमदिशों की शिक्षा दिया करता था।

एक अवसर पर उसने छतरी का उपयोग किया। उसकी विलासिता की एकमात्र सामग्री यह छतरी ही थी। वह जीर्ण-शीर्ण चोगा पहन कर नंगे पाँव घूमा करता था। उसने समुद्र-तट पर पैंतालिस चर्चों के निर्माण में योगदान दिया। कभी-कभी वह पेड़ पर बैठ कर छह हजार श्रोताओं के समक्ष स्थानीय भाषा में भाषण दिया करता था। उसने ईसाई धर्म में अनेक लोगों को दीक्षित किया।

जेवियर कष्ट-सहन का अभ्यस्त था। वह ग्रीष्म में किसी बड़े जनपद की ज्वलित मरुभूमि पर पैदल ही गमनागमन किया करता था। उसका आहार अत्यल्प तथा नीरस हुआ करता था। वह दिन में केवल एक बार चावल-दाल लेता था और मद्यपान नहीं करता था। वह रात में केवल दो-तीन घण्टे सोता था।

जेवियर मलक्का तथा श्रीलंका भी गया। इसके पश्चात् १५४९ ई. में उसने जापान के लिए प्रस्थान किया। वह उधर मन में उत्कट आशा सँजोये गया था; किन्तु पुर्तगालियों की निर्ममता के कारण उसका यह अभियान विफल रहा।

उसने सर्वप्रथम याजिरो नामक एक जापानी को धर्मान्तरित किया; किन्तु वह बहुत कम जापानियों का ही धर्मान्तरण कर पाया।

जेवियर भारत लौट आया। उसने चीन में भी ईसाई धर्म का प्रचार करना चाहा: किन्तु जहाज में स्थान प्राप्ति के लिए उसे कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। वह रोग-ग्रस्त हो गया और उसे निराहार तथा निराश्रित रहना पड़ा । सेन्ट जान द एवान्जलिस के महोत्सव के दिन उसने बाइबिल के कुछ स्तोत्रों का पाठ करते हुए शरीर-त्याग कर दिया । वह इस धरती पर केवल पैंतालिस वर्ष ही रह पाया ।

सिक्ख गुरु

गुरु नानक

सिक्ख धर्म के संस्थापक गुरु नानक का जन्म पंजाब में रावी तट पर स्थित तलवन्डी नामक गाँव में हआ था। उनको पंजाब तथा सिन्ध का पैगम्बर कहा जाता है। तुप्ता तथा मेहता कालू क्रमशः उनके माता-पिता थे। बाल्यावस्था से ही वह मननशील तथा धार्मिक प्रकृति के थे और अपना समय ध्यान तथा आध्यात्मिक साधना में व्यतीत किया करते थे।

गुरु नानक के पिता ने अपने पुत्र के मन को विषयोन्मुख करने का अथक प्रयत्न किया। उन्होंने उनको कृषि-कर्म में संलग्न करने का प्रयास किया; किन्तु नानक की रुचि इस ओर नहीं थी। वह खेत में जा कर भी ध्यान करने लगते थे। जब उनसे उनकी निष्क्रियता का कारण पूछा गया, तब उन्होंने कहा- "मैं निष्क्रिय नहीं हूँ। मैं अपने खेत की रखवाली कर रहा हूँ। मेरा शरीर एक खेत, मन हलवाहा, सदाचार कृषि-कर्म तथा शील इस खेत के अभिसिंचन के लिए प्रयुक्त जल है। मैंने अपने इस खेत में भगवान् के पवित्र नाम का बीज वपन किया है।" नानक के पिता को इससे घोर निराशा हुई। उन्होंने पुनः एक बार सांसारिक विषयों की ओर आकृष्ट करने के लिए बहुविध प्रयत्न किये; पर उनके हाथ असफलता ही लगी।

नानक का विवाह जनपद गुरदासपुर स्थित बटाला गाँव के निवासी मुला की पुत्री सुलक्षणी के साथ हुआ था। उनके दो पुत्र थे। यह सांसारिक सम्बन्ध किसी भी रूप में उनकी आध्यात्मिक खोज में कोई अवरोध नहीं उपस्थित कर सका। नानक को सुलतानपुर के नवाब के भण्डार-गृह का प्रभारी नियुक्त किया गया। वहाँ उन्होंने अपने कार्य का निष्पादन अत्यधिक समुचित विधि से किया। उन्होंने अपने लिए कुछ रख कर शेषांश को परोपकार में वितरित कर दिया।

नानक ने भण्डार गृह के प्रभारी के कार्य-भार से स्वयं को मुक्त का लिया। इसके पश्चात् निर्धनों में अपनी सारी सम्पत्ति वितरित कर वह फकीर हो गये। अब वह एकान्त में रह कर कठोर तप तथा गहन ध्यान करने लगे। वह जो ईश्वर-प्रेरित भजन गाया करते थे, उनको सिक्खों की पवित्र पुस्तक 'आरि ग्रन्थ' में संकलित कर लिया गया है जो आज तक सुरक्षित हैं।

चौंतीस वर्ष की आयु में नानक एक सार्वजनिक उपदेशक हो गये। मर्दाना उनका प्रथम शिष्य था। उनके उपदेश लोगों के लिए अत्यन्त प्रभावप्रद होते थे। नानक ने कुछ दिनों तक एक परिव्राजक का जीवन भी व्यतीत किया। बाबर उनसे बहुत प्रभावित था और उन्हें अत्यधिक सम्मान की दृष्टि से देखता था। नानक मक्का, मदीना, श्रीलंका, म्यांमार, तुर्की, अरब, बगदाद, काबुल, कन्धार और श्याम तक गये। वहाँ उन्होंने सर्वत्र अपने धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार किया। उन्होंने लोगों को सदाचार, बन्धुत्व तथा पारस्परिक सत्कार का जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया। उन्होंने शिक्षा दी- "ईश्वर का नाम-स्मरण करते रहो। उससे प्रेम करो। एक ही ईश्वर की भक्ति करो। अपने मित्रों की सेवा करो। ईश्वर सर्वस्व है। उसकी सदैव प्रार्थना करो। उसका तादात्म्य-लाभ करो।" नानक हिन्दू-मुसलिम एकता के लिए प्रयत्नशील रहे।

मक्का, हसन अब्दुल तथा अन्य स्थानों पर नानक ने अनेक चमत्कारों का प्रदर्शन किया। वह एक सुधारक थे। उन्होंने प्राणिमात्र के प्रति प्रेम तथा शान्ति का सन्देश दिया। वह उदार तथा सहिष्णु थे। उनमें सैद्धान्तिक और जातिगत भेद की भावना नहीं थी।

उनके द्वारा गायी गयी रहस्यवादी कविताएँ 'जपूजी' में संग्रहित हैं। इसमें सिक्खों की प्रातःकालीन प्रार्थनाएँ सम्मिलित हैं। 'सोहिला' सन्ध्याकालीन प्रार्थनाओं का संग्रह है। उसमें नानक ने ईश्वर-साक्षात्कार के विविध मार्गों की ओर संकेत किया है। उन्होंने जीवन की अनेक जटिल समस्याओं पर भी स्पष्ट प्रकाश डाला है।

नानक के अनुयायियों के लिए 'वाहे गुरु गुरु-मन्त्र है। 'ग्रन्थ साहिब' सिक्खों का पवित्र ग्रन्थ है। इसमें प्रथम पाँच गुरुओं की वाणियाँ संकलित हैं। इसके अतिरिक्त इसमें कबीर आदि विभिन्न समकालीन सन्तों की कुछ वाणियाँ संग्रहित हैं। बाद में दशवें गुरु गोविन्द सिंह द्वारा इनमें नौवें गुरु की वाणियों को भी सम्मिलित कर लिया गया। गुरु नानक की वाणियों का रचना-भण्डार बृहद् है।

जीवन के अन्तिम काल में नानक करतारपुर में बस गये थे। १५३८ ई. में उनहत्तर वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया। गुरु अंगद उनके उत्तराधिकारी हुए।

गुरु अंगद

गुरु अंगद (लाहिना) का जन्म १५०४ ई. में पंजाब के फिरोजपुर जनपद में स्थित मुक्तसर के निकटस्थ सरायमत्ता में हुआ था। सरायमत्ता को आजकल सरायनागा कहा जाता है। लाहिना फेरू नामक एक व्यवसायी के पुत्र थे। वह खत्री थे। उन्होंने खीवी (Khive) नामक एक महिला से विवाह किया जिससे उनके अमरो नामक एक पुत्री तथा दासू (Dasu) और दातू (Datu) नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए।

लाहिना ज्वालामुखी की देवी दुर्गा के भक्त थे। वह देवी के मन्दिर में नियमित रूप से प्रतिवर्ष जाते थे। एक दिन उन्होंने खदूर के जोधा नामक एक सिक्ख को गुरु नानक की ये पंक्तियाँ गाते हुए सुना- "उस ईश्वर का सतत स्मरण करते रहो जिसकी उपासना से तुम्हें आनन्द प्राप्त होगा। दष्कर्म का सर्वथा परित्याग कर दो। अपनी दृष्टि में शुभकर्मी बनो। पासे इस प्रकार फेंको जिससे ईश्वर के समक्ष तुम्हे कुछ खोना न पड़े। नहीं, नहीं, तुम पासे इस प्रकार फेंको जिससे तुम्हें कुछ लाभ हो सके।" लाहिना के लिए यह गीत मर्मस्पर्शी सिद्ध हआ। उन्होंने जोधा से उस गीत के रचयिता का नाम पूछा। उनको ज्ञात हुआ कि नानक जोधा के गुरु है। इसके बाद करतारपुर जा कर उन्होंने गुरु नानक के दर्शन किये। अब उनमें दर्गा पूजन की इच्छा नहीं रही। उन्होंने नानक की सेवा का निश्चय कर लिया।

एक अवसर पर लाहिना ने गुरु को खेत में घास के तीन गट्ठरों को उठा पाने में असमर्थ देखा। गुरु उन गट्ठरों को अपनी गायों के लिए ले जाना चाहते थे जो घर पर थीं। घास भीगी तथा कीचड़ से सनी थी। गुरु-पुत्र श्रीचन्द तथा लक्ष्मणदास एवं वहाँ उपस्थित अन्य सिक्खों ने भी उन गट्ठरों को ले जाने में अपनी अस्वीकृति व्यक्त कर दी; किन्तु लाहिना ने उन तीनों गट्ठरों को अपने शिर पर उठा कर गुरु के घर पहुँचा दिया। नानक की पत्नी ने इस बात के लिए अपने पति की भर्त्सना की कि उन्होंने एक आगन्तुक पर कीचड़ लगे गट्ठरों को लाद दिया जिससे उसके वस्त्रों में भी कीचड़ लग गया। गुरु ने कहा- "यह कीचड़ नहीं, भगवान् के दरबार से प्राप्त केसरिया रंग है जिसे स्वर्ग के लिए चयनित लोगों को दिया जाता है।" उधर नानक के मुँह से ये शब्द निकले और इधर लाहिना के वस्त्रों पर लगे कीचड़ का रंग केसरिया हो गया। आस्थावान् सिक्ख इन तीन गट्ठरों को आध्यात्मिकता, सांसारिकता तथा गुरु-गौरव का प्रतीक मानते हैं।

लाहिना अत्यन्त निष्ठावान् तथा निष्कपट थे। गुरु नानक के प्रति उनमें गहन भक्ति-भाव था। उन्होंने गुरु के प्रति अपनी निष्ठा तथा भक्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत किया था। गुरु नानक ने उनको १५३७ ई. में अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। लाहिना गद्दी पर बैठ गये। गुरु नानक ने उनके समक्ष पाँच पैसे तथा एक नारियल रखा और उनके

सम्मुख अवनत शिर हो कर चार बार उनकी परिक्रमा की। इसके बाद उन्होंने घोषित कर दिया कि अब इसी क्षण से उनकी आत्मा लाहिना के शरीर में प्रविष्ट हो गयी है और अब उन दोनों में किसी को भेद दर्शन नहीं करना चाहिए। उसी अवसर पर लाहिना का नाम अंगी खुद अर्थात अंगद (मेरा अपना शरीर) हो गया। इस प्रकार सिक्खों में यह विश्वास बद्धमूल हो गया कि नानक का आध्यात्मिक प्रकाश प्रत्येक उत्तराधिकारी गुरु को उत्तराधिकार में प्राप्त होता आया है।

गुरु अंगद नानक के सर्वाधिक निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने अपने गुरु के अनुदेशों का शब्दशः पालन किया। वह अपने महान् गुरु के सिद्धान्तों के प्रति सर्वदा निष्ठावान् रहे। वह रुक्ष मूंज की रस्सी बट कर अपना जीविकोपार्जन करते थे। वह सर्वदा ध्यानस्थ रहते थे। वह प्रत्येक मत के लोगों को भोजन देते थे। उन्होंने अपनी भक्ति-साधना तथा ध्यान के अनुभवों को लिपिबद्ध कर लिया था जिन्हें बाद में 'आदि ग्रन्थ' में सम्मिलित कर लिया गया। उनको जो कार्य-भार सौंपा गया था, उसका निष्पादन उन्होंने पूर्ण मनोयोगपूर्वक किया। वह एक अत्यन्त प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति नहीं थे; किन्तु अपने गुरु तथा गुरु-मित्र बाला से जो-कुछ भी सुनते थे, उसे लिपिबद्ध करते जाते थे। अंगद गुरु-गद्दी पर लगभग तेरह वर्षों तक रहे। १५५३ ई. में खदूर में उनका देहान्त हुआ।

सम्राट् हुमायूँ को शेरशाह ने हिन्दुस्तान से पलायन करने के लिए विवश कर दिया था। हुमायूँ लाहौर में उस सिद्ध पुरुष या सिद्ध सन्त की खोज में आया जो शत्रु द्वारा विजित उसके राज्य की पुनःसम्प्राप्ति में उसे अपना सहयोग प्रदान कर सके। उसने अंगद के विषय में सुना था। अतः वह उनके दर्शन के लिए खदूर पहुँच गया। वह उनके लिए प्रचुर भेंट ले कर इस आशा से गया था कि मुझे गुरु का अनुग्रह प्राप्त हो जायेगा। उस समय अंगद गहन ध्यान में लीन थे। अतः हुमायूँ को कुछ देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ी जिससे रुष्ट हो कर उसने अपनी तलवार की मॅठ पर हाथ रखा। वह अंगद का शिर काटना चाहता था; किन्तु उसकी तलवार म्यान से बाहर ही नहीं निकल पायी। अंगद ने कहा- "जब तुमको शेरशाह के विरुद्ध तलवार उठानी चाहिए थी, तब तुमने तलवार नहीं उठायी लेकिन आज जब तुम एक सन्त के समक्ष खडे हो, तब तुम उसे प्रणाम न कर उस पर तलवार उठा रहे हो।"

इस पर हमायूँ शान्त हो गया और उनसे क्षमा याचना की। अंगद ने कहा- "यदि तुमने अपना हाथ अपनी तलवार की मूठ पर नहीं रखा होता तो तुम्हे तुम्हारा राज्य मिल गया होता: लेकिन अब तुम्हे फारस जाना होगा। वहाँ से लौटने पर तुम्हारा राज्य तुम्हें पुनः प्राप्त हो जायेगा।"

यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। हुमायूँ को भारत से बाहर निकाल दिया गया। शेरशाह की मृत्यु के पश्चात् भारत लौट कर उसने अपने राज्य पर पुनः अधिकार प्राप्त कर लिया।

माना नामक एक सिक्ख अंगद का रसोइया था। विलासिता के कारण वह बहुत स्थूलकाय तथा दम्भी हो गया था। वह अन्य सेवकों से सदा झगड़ता रहता था। वह अकर्मण्य तथा आलसी हो गया था। एक दिन उससे रुष्ट हो कर गुरु ने कहा- "माना, वन में जा कर तुम स्वयं को अग्नि में भस्म कर दो।" माना ने वन में जा कर लकड़ियाँ एकत्र कीं और उसमें आग लगा दी। उसकी ज्वाला जैसे-जैसे ऊपर उठती गयी, वैसे-वैसे माना का अग्नि में कूद कर भस्म हो जाने का विचार क्षीणतर होता गया। उस समय एक चोर ने वहाँ आ कर माना से पूछा कि वह यहाँ क्या कर रहा है। माना ने उस चोर को अपने विषय में सब-कुछ बता दिया। उसने उस चोर के समक्ष अपने गुरु की भूरि-भूरि प्रशंसा की जिन्हें वह श्रद्धेय समझता रहा था। चोर माना के इस कथन से अत्यन्त प्रभावित हुआ। उसने चुराये गये स्वर्णाभूषणों की गठरी उसे दे दी। माना ने उसको आश्वासन दिया कि इस अग्नि में भस्म हो जाने के पश्चात् उसे मुक्ति प्राप्त हो जायेगी। माना की इस बात पर विश्वास कर चोर अग्नि में कूद गया। जब उसका शरीर जल कर भस्म हो गया, तब माना ने बाजार में जा कर उन आभूषणों को बेचने का प्रयास किया। वहाँ सन्देह पर उसे गिरफ्तार कर लिया गया और आभूषणों के स्वामी को वे आभूषण लौटा दिये गये। माना को मृत्यु-दण्ड दे दिया गया। माना के

दुःखद अन्त को सुन कर गुरु ने कहा- वस्तुतः एक विकृत-बुद्धि व्यक्ति अपने दोनों लोक गँवा बैठता है। यदि उसके हृदय से मूर्खता का निराकरण नहीं होता, तो गुरु का सामीप्य भी उसे मुक्ति प्रदान नहीं कर सकता।"

एक दिन गोविन्द नामक एक व्यक्ति ने अंगद के पास आ कर कहा, "आदरणीय गुरुदेव, मैंने प्रतिज्ञा की थी कि यदि मैं यह मुकदमा जीत लेता हूँ, तो आपके सम्मान में आपके नाम पर मैं एक नगर का निर्माण करूँगा। मैंने वह मुकदमा जीत लिया है और इसके साथ ही मैंने सम्राट् से नगर-निर्माण के लिए व्यास नदी के तट पर भूमि भी प्राप्त कर ली है। मैंने इसके निर्माण कार्य का प्रारम्भ भी कर दिया है। चिनाई का कार्य व्यवस्थित विधि से चल रहा है; किन्तु अनिष्टकर दुष्टात्माएँ दिन में बनी दिवालों को रात में गिरा देती हैं। कृपया इन दुष्टात्माओं को यहाँ से दूर कर इस निर्माणाधीन नगर को अपने नाम का गौरव प्रदान कीजिए।"

अंगद ने कहा- "सांसारिक समस्याओं से चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य के लिए 'सतनाम' से प्रियतर कोई पदार्थ नहीं है।" उन्होंने अपने शिष्य अमरदास को अपनी छड़ी दे दी। उन्होंने गुरु की छड़ी से उन दुष्टात्माओं को वहाँ से निष्कासित कर नगर की सीमा को रेखांकित कर दिया। अमरदास ने निर्माता के नाम पर इस नगर का नाम गोविन्दवाल रख दिया। आज भी यह नगर गोविन्दवाल के नाम से जाना जाता है।

खदूर का एक तपस्वी अंगद से ईर्ष्या करने लगा। उस साल अकाल पड़ा था। गाँव वालों ने तपस्वी के पास जा कर सहायता की याचना की। तपस्वी ने कहा कि यह अकाल उन लोगों को दण्ड देने के लिए पडा है। ईश्वर उन लोगों से इसलिए रुष्ट है कि वे उस-जैसे संन्यासी के स्थान पर अंगद-जैसे विवाहित गुरु का आदर-सत्कार करते हैं। उसने कहा- "यदि तुम लोग उसे नगर से निष्कासित कर दोगे, तो चौबीस घण्टों के भीतर ही यहाँ वर्षा होने लगेगी।"

गाँव वाले तपस्वी के इस वचन से उत्तेजित हो उठे। उन लोगों ने अंगद के पास जा कर कहा- या तो तुम यहाँ पानी बरसाओ या नगर का त्याग करो।"

अंगद ने पानी बरसाना अस्वीकार कर दिया। इस पर गाँव वालों ने उन्हें खदा से निष्कासित कर दिया। तपस्वी उनके निष्कासन से हर्ष-विह्वल हो उठा। अब गाँव वालों ने तपस्वी से पानी बरसाने के लिए कहा। वह कुछ देर तक टाल-मटोल करता रहा। अन्ततः गाँव वालों का धैर्य जाता रहा और उन्होंने उसे मारा-पीटा। इसके पश्चात् उन्होंने उसे वहाँ से निष्कासित कर दिया। उसके इस निष्कासन में अमरदास का भी कुछ हाथ था। इसके पश्चात् गाँव वाले अंगद को खदूर लौटा ले आये। अंगद ने अमरदास की भर्त्सना करते हुए कहा- "तुमको अपने अन्तर्गत क्षमाशीलता विकसित कर और किसी के कृत्य पर ध्यान न दे कर उसका हित-साधन करना चाहिए। तुम्हें विनम्र होना चाहिए; क्योंकि विनम्र सदा उत्कर्ष को प्राप्त होता है। मोती छोटा होता है; किन्तु यह कितना बहुमूल्य होता है! तुम पीपल के छोटे से फल को तो देखो। लघुतम आकार का होते हुए भी वह कितना बृहद् हो जाता है और सम्पूर्ण वन को किस प्रकार आच्छादित कर लेता है!"

जिस प्रकार गुरु नानक ने अपने उत्तराधिकारी के चयन में अपने पुत्रों की अपेक्षा अपने शिष्य को वरीयता प्रदान की थी, उसी प्रकार अंगद ने अपने पुत्र के स्थान पर अमृतसर के निकटस्थ बसरका (Basarka) के एक खत्री अमरदास को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया। जब अंगद के जीवन का अन्त होने वाला था, तब उन्होंने अमरदास को स्नान करा कर उन्हें गद्दी पर बैठा दिया। उन्होंने अमरदास के सम्मुख ताँबे के पाँच सिक्के तथा एक नारियल रखा और उनके एक अन्य शिष्य भाई बुद्धा ने अमरदास के ललाट पर गुरुत्व का तिलक लगा दिया।

अंगद ने गुरु नानक के विचारों पर चित्त स्थिर कर १५५२ ई. में इस नश्वर संसार का परित्याग कर दिया। मृत्यु के समय उनके ओठों पर 'वाहे गुरु शब्द थे। उनके शरीर का दाह-संस्कार चन्दन की चिता पर हुआ।

गुरु अमरदास

गुरु अमरदास भल्ला कुल के खत्री थे। उनका जन्म अमृतसर के फगनाथ में बसरका नामक स्थान पर १४७९ ई. में हआ था।

अमरदास अति साधारण-कुलोत्पन्न व्यक्ति थे। उन्होंने किराये पर एक टट्टू ले लिया था जिस पर सामान लाद कर वह इधर से उधर ले जाया करते थे। यही उनके जीविकोपार्जन का साधन था। वह एक सत्संग-प्रिय व्यक्ति थे। उनको एक महान् आध्यात्मिक गुरु की खोज थी। वह वैष्णव थे। एक दिन उन्होंने गुरु नानक की कुछ वाणियों का पाठ सुना जिससे वह अत्यन्त प्रभावित हुए। बासठ वर्ष की आयु में खदूर पहुँच कर उन्होंने गुरु अंगद को गुरु-रूप में स्वीकार कर लिया। उन्होंने अनन्य भाव से गुरु की सेवा की और उनकी सुख-सुविधा के लिए अपनी सुख-सुविधा की बलि दे दी।

वह प्रत्येक अर्धरात्रि को अपने गुरु के प्रातः-स्नान के लिए खदूर से चार मील दूर बहने वाली व्यास नदी से शुद्ध-स्वच्छ जल लाया करते थे। ऋतु कैसी भी क्यों न हो, आँधी-पानी का प्रकोप कितना भी क्यों न हो, वह नियमित रूप से इस कार्य का निष्पादन किया करते थे। वह पाकशाला के लिए लकड़ी लाने वन में जाया करते थे। वह ईश्वर के नाम के मानसिक जप में सदैव संलग्न रहते थे। अपने दैनिक कार्यों के समय भी उनका यह जप चलता रहता था।

गुरु के भण्डार-गृह से उन्होंने कभी भी अन्न ग्रहण नहीं किया। गुरु के प्रति उनकी श्रद्धा इतनी उत्कट थी कि उन्होंने अपने शरीर के पृष्ठभाग को गुरु तथा गुरु-गृह के सम्मुख कभी नहीं होने दिया। भले ही उनको आगे जाना हो या पीछे लौटना हो, उनका मुख सर्वदा गुरु-गृह के सम्मुख ही रहता था। नदी की अपनी अर्धरात्रि की यात्रा में भी वह अपने गन्तव्य की ओर पीठ करके ही चलते थे जिससे गुरु-गृह सदा उनके सम्मुख रहे। उन्होंने अपनी सेवाओं का कभी कहीं न्यूनतम उल्लेख भी नहीं किया।

एक दिन अमरदास नदी से जल ले कर लौट रहे थे। रात अँधेरी थी और उसमें घन गर्जन, तडित्-पात तथा वर्षा का उत्पात चल रहा था। संयोगवश अमरदास एक जुलाहे के घर के अत्यन्त समीप एक खुटी से ठोकर खा कर उसके करघे के गर्त में जा गिरे। किन्तु वह पानी से भरा हुआ घड़ा ले कर उस गर्त से बाहर निकल आये। शोर सुन कर जुलाहे ने अपनी पत्नी से पूछा- "यह कौन आदमी है जो आधी रात को इधर-उधर घूम रहा है?" पत्नी ने उत्तर दिया- "यह वही अभागा तथा गृह-विहीन अमरदास होगा जो रोटी के एक टुकड़े के लिए गुरु की सेवा किया करता है।"

यह समाचार गुरु अंगद तक पहुँच गया। उन्होंने कहा- "अमरु गृह-विहीन न हो कर गृह-विहीनों के लिए गृह, असुरक्षितों के लिए दुर्ग तथा निराश्रितों के लिए शरण-स्थल है। वह निराधारों का आधार, मित्र-हीनों का मित्र और समस्त संसार तथा इसकी आस्था का अवलम्बन है। जो उसका अनुसरण करेगा, वह ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करेगा।"

अमरदास को गुरु अंगद का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया गया। अवनत-शिर गुरु अंगद ने अमरदास को पाँच पैसे तथा एक नारियल की भेंट दे कर चार बार उनकी परिक्रमा की। गुरु अंगद को अपना उत्तराधिकारी बनाते समय गुरु नानक ने भी ऐसा ही किया था।

अंगद के देहान्त के पश्चात् उनके पुत्र दातू ने उनके स्थान का बलपूर्वक अधिग्रहण कर लेना चाहा। उसने घोषित किया- "अमरे वृद्ध हो गया है। वह मेरा सेवक है। गुरु के वंश-क्रम के अनुसार मैं राजकुमार हूँ और गुरु-गद्दी मेरी है।"

सिक्खों ने दात को मान्यता प्रदान नहीं की। गुरु अमरदास की प्रसिद्धि के कारण उसके मन में ईर्ष्याग्नि प्रज्वलित हो उठी। उसने उन पर पदाघात कर उन्हें गोविन्दवाल की गद्दी से बाहर निकाल दिया। उसने उनसे कहा- "अभी कल तक तुम मेरे घर में पानी भरा करते थे और आज यहाँ तुम एक गुरु की तरह विराजमान हो।"

गुरु ने विनम्रतापूर्वक कहा- महाराज, आप महान् हैं। मुझे क्षमा कीजिए। आपके चरणों को निश्चय की कष्ट हुआ होगा।" इतना कह कर वह विन्दवाल को छोड कर अपने जन्म-स्थान बसरका (Basarka) चले गये।

सिक्खों के हृदय में दातू के प्रति आदर की भावना नहीं थी। वे उसे किसी प्रकार की भेंट भी नहीं देते थे। दातू अमरदास की सारी सम्पत्ति ऊँट पर लाद का खदूर (Khadur) की ओर चल पड़ा; किन्तु मार्ग में डाकुओं ने उस पर आक्रमण कर ऊँट पर लदी सारी सम्पत्ति लूट ली। जब उसने प्रतिरोध किया, तब डाकुओं ने उसके उसी पैर पर लाठी मारी जिससे उसने गुरु अमरदास पर आघात किया था। उसका वह पैर सूज गया और उसे असहनीय पीड़ा भोगनी पड़ी।

अब अमरदास गोविन्दवाल पहुँच कर गुरु-गद्दी पर आसीन हो गये। एक उपदेशक तथा शिक्षक के रूप में उन्होंने विपुल ख्याति अर्जित की। उन्होंने अनेक लोगों को सिक्ख-मत में दीक्षित किया। उनके प्रवचन को अकबर भी ध्यानपूर्वक सुना करता था। अमरदास न्याय-प्रिय, ज्ञानी, विनम्र तथा धैर्यवान् थे। उन्होंने गुरु नानक के मत का प्रचार-प्रसार दूर-दूर तक किया। उन्होंने अनेक सुन्दर कविताओं (वाणियों) की रचना की जो सरल-सहज राब्द-योजना तथा विचारों की विशुद्धता के कारण लोगों में अत्यन्त प्रशंसित हुई। उन्होंने नानक के धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अपने बाईस योग्यतम शिष्यों को देश के विभिन्न भागों में भेजा।

अमरदास ने नानक के पुत्र श्रीचन्द द्वारा स्थापित उदासी-सम्प्रदाय के अकर्मण्य लोगों को सक्रिय तथा प्रगतिशील सिक्खों से पृथक् कर दिया। उन्हनि एक बृहद सार्वजनिक पाकशाला की व्यवस्था की जिसके द्वार सभी पतों तथा जातियों के लिए मुक्त रहते थे। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी वर्गों के लोग बिना किसी भेद-भाव के एक ही पंक्ति में बैठ कर साथ-साथ भोजन करते थे। भेंट में प्राप्त समग्र आय का उपयोग एकमात्र पाकशाला के ही लिए होता था। वहाँ यह पूछने का अधिकार किसी को न था कि भोजन पकाने वाला कोई ब्राह्मण है या निम्नकुलोत्पन्न सिख। अमरदास के आदेशानुसार किसी दर्शनार्थी को उनके दर्शन की अनुमति तभी दी जाती थी, जब वह लंगर में जा कर भोजन कर ले। काँगड़ा-स्थित हरिपुर के तत्कालीन राजा को भी लंगर में अन्न-ग्रहण कर लेने के पश्चात् ही गुरु के दर्शन की अनुमति प्राप्त हो सकी थी।

सम्राट् अकबर ने भी लंगर में भोजन किया था। उसने पाकशाला के विधिवत् परिचालन के लिए गुरु के सम्मुख जागीर में बारह गाँव देने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया; किन्तु गुरु ने इसे अस्वीकार करते हुए कहा- "ईश्वर स्वयं पाकशाला की व्यवस्था कर रहा है; अतः इसके लिए किसी बाह्य सहायता की आवश्यकता नहीं है।" तब अकबर ने बारह गाँवों की यह भेंट गुरु की पुत्री बीबी भेनी को भेंट कर दी।

अमरदास सती प्रथा के समर्थक नहीं थे। उन्होंने इसका प्रचलन समाप्त कर दिया। उन्होंने विवाह तथा मृत्यु के अनुष्ठानों को एक नया रूप प्रदान किया।

अमरदास ने गोविन्दवाल में एक बावली, चौरासी सीढ़ियों वाला एक आयाताकार बृहद् तालाब तथा यात्रियों के लिए विश्राम-कक्षों का निर्माण किया। 'जपुजी' का पाठ करते हुए इस तालाब में स्नान करना पुण्य-प्रदायक माना जाता है। गुरु अमरदास की स्मृति में यहाँ प्रतिवर्ष दो मेलों का आयोजन किया जाता है जिनमें बहुसंख्यक सिक्ख सम्मिलित होते हैं।

एक बार सिक्खों ने गुरु से पूछा- "हे श्रद्धेय गुरु, सच्चे सिक्ख के क्या लक्षण हैं?" गुरु अमरदास ने कहा- "जिस प्रकार कोई मोती वर्षा की एक बूँद से सन्तुष्ट हो कर एक नये मोती की उत्पत्ति के लिए अधोभाग में चला जाता है, उसी प्रकार एक सिक्ख को भी गुरु-मन्त्र की प्राप्ति के पश्चात् सन्तुष्ट हो जाना चाहिए। उसे ईश्वर के नाम का जप सदैव करते रहना चाहिए। उसे यह समझ लेना चाहिए कि यह संसार तथा इसकी समस्त सम्पदा ईश्वर ही है। परिस्थिति अनुकूल हो या प्रतिकूल, मनुष्य को अपने मन को सर्वदा सन्तुलित रखना चाहिए। उसे एक ही ईश्वर की उपासना करनी चाहिए जो सब-कुछ करने में समर्थ है। उसे अनन्य भाव से एकमात्र उसी पर निर्भर रहना चाहिए। उसे किसी समाधि-स्थल या श्मशान का पूजन नहीं करना चाहिए।"

एक अन्य अवसर पर गोविन्दवाल के एक स्वर्णकार तथा उसकी पत्नी ने गुरु-चरणों पर गिर कर उनसे एक सन्तान की याचना की। गुरु ने उनसे विनोदपूर्वक पूछा- "क्या मैं लोगों को देने के लिए अपने पास सर्वदा सन्तान लिये रहता हूँ?" स्वर्णकार ने कहा- "सन्तान-दान के लिए गुरु की वाणी ही पर्याप्त है।" स्वर्णकार के इन शब्दों से प्रसन्न हो कर गुरु अमरदास ने कहा- "तुम लोगों के दो बच्चे होंगे।" समय आने पर स्वर्णकार की पत्नी दो पुत्रों की माँ बनी।

अमरदास के मोहन तथा मोहरी (Mohri) दो पुत्र तथा दानी और बीबी भेनी दो पुत्रियाँ थीं। भेनी का विवाह रामदास से हुआ था जिसे लोग जेठा कहा करते थे। दानी का विवाह राम से हुआ जो गुरु नानक के परिवार का था।

अमरदास ने जेठा को दो तालाबों की खुदाई का आदेश दिया। जेठा ने उनके आदेश का पालन किया। एक तालाब को सन्तोकसर के नाम से, दूसरे को अमृतसर के नाम से अभिहित किया गया और इस प्रकार सुप्रसिद्ध नगर अमृतसर की स्थापना हुई।

एक बार अमरदास ने अपने दोनों दामादों के परीक्षण का निश्चय किया। उन्होंने उनको एक-एक चबूतरा बनाने का आदेश दिया जिनमें से एक पर प्रातःकाल तथा दसरे पर शाम को बैठ सकें। राम ने चबूतरे का निर्माण पहले कर दिया; किन्तु गुरु ने उस पर आपत्ति प्रकट करते हुए उसे दूसरे चबूतरे का निर्माण का आदेश दिया। राम ने उस चबूतरे को गिरा कर दूसरे चबूतरे का निर्माण किया; किन्तु गुरु इससे भी सन्तुष्ट न हो सके। उन्होंने इसे गिरा कर दूसरे चबूतरे के निर्माण का आदेश दिया। राम ने उनके इस आदेश का भी पालन किया; किन्तु जब गुरु ने तीसरी बार आपत्ति प्रकट की, तब राम ने चबूतरे को गिरा तो दिया; परन्तु उसके स्थान पर दूसरा चबूतरा बनाना अस्वीकार कर दिया। उसने कहा- "वृद्ध होने के कारण गुरु की विवेक-शक्ति कुण्ठित हो गयी है।"

इसके पश्चात् गुरु ने जेठा को भी इसी प्रकार के आदेश दिये। जेठा ने चबूतरे को सात बार गिराया तथा सात बार बनाया और इस बीच उसने कोई आपत्ति भी नहीं प्रकट की। गुरु ने उसे अपनी बाँहों में भर कर कहा- "तुमने मेरे आदेश का सात बार पालन करते हुए यह चबूतरा बनाया है; अतः इस गुरु-गद्दी पर तुम्हारी सात पीढ़ियाँ आसीन होती रहेंगी।

गुरु अमरदास ने अपनी पुत्री भेनी को यह आश्वासन दिया कि यह उत्तराधिकार उसकी सन्तति को ही प्राप्त होता रहेगा।

१५७४ ई. में गुरु ने जेठा को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। इसके दो दिनों के पश्चात् ९५ वर्ष की आयु में गोविन्दवाल में उनका देहान्त हो गया। बासठ वर्ष की आयु में उन्होंने गुरु अंगद की सेवा प्रारम्भ की थी। उन्होंने बारह वर्षों तक अपने गुरु की सेवा की और बाईस वर्षों तक गुरु का उत्तराधिकार वहन किया।

गुरु रामदास

गुरु रामदास सोढ़ी खत्री थे। उनका जन्म १५३४ ई. में लाहौर नगर की चुनी मण्डी में हुआ था। जब उनकी आयु मात्र सात वर्ष थी, तब उनके पिता का देहान्त हो गया और वह गोविन्दवाल चले गये। वहाँ जा कर वह उबली हुई दालें तथा अन्य खाद्य पदार्थ बेच कर अपना जीविकोपार्जन करने लगे। एक दिन गुरु अमरदास अपनी पुत्री बीबी भेनी के लिए एक उपयुक्त वर की खोज में किसी ब्राह्मण को भेजने जा रहे थे। उस समय रामदास पूर्ववत दालें बेचते हुए सड़क पर चले जा रहे थे। अमरदास की पत्नी ने उस ब्राह्मण से कहा- "मैं चाहती हैं कि मेरा दामाद रामदास-जैसा हो।"

गुरु अमरदास ने कहा- ऐसे ही आदर्श युवक को हमारा दामाद होना बाहिए। इसके पश्चात् उन्होंने किसी को भेज कर रामदास को बुलवाया और उनसे अपनी पुत्री भेनी का विवाह कर दिया। गोविन्दवाल में नव-दम्पति के रहने के लिए एक पृथक् घर की व्यवस्था कर दी गयी। पिरथीचन्द, महादेव तथा अर्जुन रामदास के तीन पुत्र थे। अमरदास ने रामदास को इस उच्चासन के लिए उपयुक्त समझ कर उनको गद्दी पर बैठा दिया।

गुरु रामदास प्रत्येक दृष्टि से एक सुयोग्य व्यक्ति थे। उनकी प्रकृति शान्त एवं वाग्मिता तथा ऊर्जस्विता विस्मयजनक थी। उनकी रुचि साहित्य में भी थी। वह कविताएँ लिखते थे और सुन्दर तथा आकर्षक भजनों के माध्यम से अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में निष्णात थे। उनके कुछ भजनों को 'आदि ग्रन्थ' में भी समाविष्ट किया गया है। उनको सर्वाधिक सम्माननीय गुरु समझा जाता है।

गुरु नानक के जेष्ठ पुत्र श्रीचन्द ने एक नये सम्प्रदाय की स्थापना कर ली थी। इसे उदासी-सम्प्रदाय कहते हैं। जो लोग संसार के प्रति विरक्त होते हैं, उन्हें उदासी कहा जाता है। एक बार श्रीचन्द ने गुरु रामदास के पास जा कर उनसे कहा- "कितनी लम्बी दाढ़ी बढ़ा ली है आपने!" रामदास ने कहा- "मैंने यह दाढ़ी इसलिए बढ़ा ली है कि मैं इससे आपका चरण-प्रक्षालन कर सकूँ। इतना कहते ही रामदास ने सचमुच ही अपनी दाढ़ी से उनके चरण प्रक्षालित कर दिये। उनकी इस आत्यन्तिक विनम्रता के कारण श्रीचन्द लज्जित हो उठे और उनको यह स्वीकार करना पड़ा कि रामदास सिक्ख-समुदाय के शीर्षस्थ पद के वास्तविक अधिकारी हैं।

रामदास ने सिक्खों को विवाह तथा सन्तानोत्पत्ति के लिए प्रोत्साहित किया। वह तप के पक्षपाती नहीं थे।

एक बार लाहौर में रामदास सम्राट अकबर से मिले। अकबर को यह ज्ञात हो गया कि रामदास निर्धनों तथा पीडितों की सेवा करते हैं। उसने उनके नाम एक भूखण्ड लिख दिया। रामदास ने वहाँ एक पुराने तालाब का परिष्कार कर उसका नाम अमृत-सागर रख दिया। उन्होंने तालाब के बीच में एक मन्दिर का निर्माण किया जिसके चतुर्दिक अन्य छोटे-छोटे मन्दिरों का भी निर्माण किया गया। गुरु के अनुयायियों ने वहाँ अनेक कटीर भी बनवा दिये। इस नव-निर्मित नगर को 'गुरु का चक' नाम दिया गया। तत्पश्चात् इसे अमृतसर कहा जाने लगा और यही नाम आज भी प्रचलित है।

रामदास के हृदय में निर्धनों के प्रति अपार सहानुभूति थी। वह कृषकों की अधिकाधिक सहायता करते थे। अतः लोग उन्हें 'सच्चा बादशाह' कहते थे।

गुरु रामदास ने सिक्खों के हृदय को बन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत किया। उन्होंने गुरु नानक के मत की समुन्नति के लिए अत्यधिक प्रयास किये। उन्होंने अमृतसर नगर की स्थापना के माध्यम से एक राष्ट्र के रूप में सिक्खों की भावी महानता का शिलान्यास किया। अमृतसर का स्वर्ण-मन्दिर उपासना का एक सार्वजनिक स्थान बन गया।

सिक्खों ने एकताबद्ध हो कर बन्धुत्व-प्रेम से अनुप्राणित होने की शिक्षा ग्रहण की जिससे देश-भक्ति के सिद्धान्तों पर आधारित एक राष्ट्र-कुल के निर्माण के लिए मार्ग प्रशस्त हो सका।

पिरथी सांसारिकता में लिप्त, कुटिल-हृदय तथा एक स्वार्थी व्यक्ति था; अतः रामदास ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में अर्जुन सिंह को नामांकित कर दिया। १५८१ ई. में गोविन्दवाल में सैंतालिस वर्ष की आयु में रामदास का देहान्त हो गया। वह गुरु की गद्दी पर लगभग सात वर्षों तक आसीन रहे। रामदास ने अर्जुन को अमृतसर में दो तालाबों के निर्माण का स्पष्ट आदेश दिया।

गुरु अर्जुन सिंह

सिक्खों के पंचम गुरु अर्जुनदेव का जन्म १५६३ ई. में हुआ था। वह गुरु-गद्दी पर १५८१ ई. से १६०६ ई. तक आसीन रहे। वह चतुर्थ गुरु रामदास के कनिष्ठतम पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र पिरथीचन्द अवज्ञाकारी तथा मिथ्याभाषी था; अतः उसके पिता ने उसे बहिष्कृत कर सिक्खों को उससे सम्बन्ध विच्छेद का आदेश दे दिया। दितीय पुत्र महादेव सदैव गहन ध्यान में लीन रहता था। उसने समाज का परित्याग कर दिया था। कनिष्ठतम पुत्र अर्जुन प्रत्येक दृष्टि से योग्य घे; अतः १५८१ ई. में उनको अमृतसर में गुरु-गद्दी पर आसीन कर दिया गया। गुरु अमरदास ने भविष्यवाणी की थी- "मेरा पौत्र अर्जुन लोगों को संसार-सागर से पार उतारने के लिए एक नौका सिद्ध होगा।"

अर्जुन द्वारा तालाब तथा स्वर्ण-मन्दिर का निर्माण

गुरु रामदास ने अमृतसर का तालाब खुदवा कर नगर का शिलान्यास किया और गुरु अर्जुन ने तालाब तथा नगर के निर्माण कार्य को पूर्ण किया।

उन्होंने पवित्र हर-मन्दिर का भी निर्माण किया जो दरबार साहब या स्वर्ण-मन्दिर के नाम से अधिक विख्यात है। उनके अनुयायियों ने उनसे कहा कि मन्दिर आस-पास की सारी इमारतों की अपेक्षा अधिक ऊँचा होना चाहिए। गुरु अर्जुन ने उनसे कहा- "ऐसा नहीं होना चाहिए। जो विनम्र है, उसी की प्रशंसा होनी चाहिए। वृक्ष जैसे-जैसे फलों से बोझिल होने लगता है, वैसे-वैसे उसकी शाखाएँ पृथ्वी की ओर अधोमुखी होने लगती हैं। तुम लोग किसी भी मार्ग से मन्दिर में पहँचो, तुम्हें वहाँ से नीचे उतरने में केवल आठ-दश पग ही लगने चाहिए। अतः हर-मन्दिर की ऊँचाई इसकी निकटस्थ इमारतों से निम्नतर होनी चाहिए।"

गुरु अर्जुन ने १५८९ ई. में स्वर्ण-मन्दिर की नींव में पहली ईंट रखी। संयोगवश एक राजमिस्त्री से वह ईंट स्थानान्तरित हो गयी। उसी समय अर्जुन ने भविष्यवाणी कर दी कि कभी-न-कभी इस नींव का पुनर्निर्माण करना होगा। उनकी यह भविष्यवाणी उस समय सत्य सिद्ध हो गयी, जब अफगानिस्तान के शाह अहमदशाह अब्दाली ने मन्दिर को ध्वस्त तथा तालाब की पवित्रता को कलुषित कर दिया। दो वर्षों के बाद सिक्खों ने मन्दिर के ध्वंसावशेष के स्थान पर पुनः मन्दिर की नींव रखी और उस पर मन्दिर का पुनर्निर्माण किया। वह नव निर्मित मन्दिर और अधिक भव्य है।

सिक्ख गुरुओं के मत के प्रचार-प्रसार तथा शक्ति-संवर्धन में गुरु अर्जुन का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह माला तथा सन्त के बाने का परित्याग कर बहुमूल्य वस्त्र धारण करते थे। उनके यहाँ अनेक परिकर तथा हाथी-घोड़े थे। उन्होंने सिक्खों को एक समुदाय में संगठित कर दिया। उनके यहाँ एक व्यवस्थित प्रशासन-तन्त्र था। लोगों को अपनी आय का दशांश देना पड़ता था। इसकी वसूली के लिए समाहर्ताओं को नियुक्त किया गया था। व्यापार तथा

अपने मत के प्रसारण के लिए उन्होंने अपने शिष्यों को तुर्किस्तान-जैसे देशों में भी भेजा था। सिक्ख-मत का प्रसार काबुल, कन्धार, सिन्ध तया मालवा तक हुआ था।

हर-मन्दिर के परिरूप के सम्बन्ध में गुरु अर्जुन ने एक नये उपक्रम का प्रारम्भ किया जो सामान्य मन्दिरों के परिरूप के अनुरूप नहीं था। हिन्दू-मन्दिरों के द्वार तीन ओर से बन्द रह कर केवल पूर्वाभिमुख अर्थात् सूर्योदय की दिशा की ओर होते हैं; किन्तु महान् सिक्ख-मन्दिर के द्वार चारों दिशाओं में मुक्त हैं। इसका यही अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति सिक्ख-मत-प्रतिपादित उपासना का अधिकारी है और सूर्योपासना से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

अर्जुन द्वारा 'आदि ग्रन्थ' का संकलन

गुरु-अर्जुन ने 'आदि ग्रन्थ' या 'ग्रन्थ साहिब' का संकलन किया। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती गुरुओं की वाणियों को एक ही ग्रन्थ में संग्रहित किया। उन्होंने सोचा कि यह पवित्र ग्रन्थ सिक्खों के लिए सार्वकालिक पथ-प्रदर्शक सिद्ध होगा। उन्होंने इस 'आदि ग्रन्थ' में स्वयं अपनी रचनाओं के अतिरिक्त तत्कालीन अन्य धर्मावलम्बी सुधारकों की रचनाओं को भी सम्मिलित कर लिया और प्रख्यात सिक्ख कवि भाई गुरुदास से 'ग्रन्थ साहिब' के श्रुत-लेखन का कार्य सम्पन्न करवाया। 'ग्रन्थ साहिब' को अमृतसर के पवित्र मन्दिर के मध्य में रखा जाता है और एकत्र जन-समूह के सम्मुख प्रतिदिन इसका नियमित पाठ होता है।

पिरथी के दुष्कृत्य

गुरु रामदास ने गुरु-गद्दी के लिए अपने ज्येष्ठ पुत्र पिरथीचन्द को नामांकित नहीं किया था; अतः वह गुरु को सर्वदा अपना शत्रु समझता रहा। उसने अर्जुन को गुरु-गद्दी से वंचित करने के लिए अथक प्रयास किये। उनके विरुद्ध उसने न्यायालय में कई मुकदमे दायर किये; किन्तु इस अभियान में वह सर्वदा असफल होता रहा। गुरु अर्जुन की उदारता के कारण तथा मकानों के किराये से अर्जित धन-राशि का कुछ अंश उसको भी मिल जाता था। इसके अतिरिक्त वह सीमा-शुल्क से प्राप्त कुछ धन अपने अग्रज महादेव को भी दिया करते थे। स्वयं उनका काम उनके निष्ठावान् अनुयायियों द्वारा स्वेच्छापूर्वक अर्पित भेंट से ही चलता था।

गुरु अर्जुन के प्रति पिरथी की ईर्ष्याग्नि को उसकी पत्नी करमो और अधिक प्रज्वलित कर दिया करती थी। पिरथी को आशा थी कि गुरु अर्जुन के निःसन्तान होने के कारण उसका पुत्र मेहरबान सिंह गुरु-गद्दी का उत्तराधिकारी होगा।

कुछ वर्षों के पश्चात् गुरु अर्जुन की पत्नी गंगा ने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम हरगोविन्द रखा गया। इस समाचार से पिरथी तथा करमो की क्रोधाग्नि और अधिक प्रज्वलित हो उठी। अपने भाई के प्रति पिरथी की अरुचि अब दर्दम्य घृणा में रूपान्तरित हो गयी। उसने हरगोविन्द को विष देने के अनेक प्रयत्न किये। एक बार उसने एक परिचारिका को हरगोविन्दको दुग्ध-पान कराने के लिए भेजा। उस परिचारिका ने उसके आदेशानुसार अपने स्तनों पर विष का लेपन कर लिया था; किन्तु इसके पूर्व कि वह अपने स्तनों को शिश की ओर ले जाती. मूच्छित हो कर गिर पडी। मूर्च्छा-भंग के पश्चात् उसने वहाँ अपने आगमन के दष्प्रयोजन को स्पष्ट रूप से व्यक्त का दिया। दूसरी बार पिरथी ने एक सँपेरे को इस बात के लिए प्रचुर धन दिया कि वह सर्पदंश के माध्यम से हरगोविन्द की हत्या करवा दे; किन्तु उसका यह षड्यन्त्र भी विफल रहा। इसके बाद पिरथी ने एक ब्राह्मण को प्रचर धन का प्रलोभन दे कर शिशु के दूध में विष मिलाने के लिए भेजा; किन्तु गुरु को सन्देह हो गया और उन्होंने वह दूध एक कुत्ते को पिला दिया जिससे उसकी मृत्यु हो गयी।

पिरथी ने लाहौर सूबे के एक मुसलमान अधिकारी को नगर से कर-उद्ग्रहण के बहाने अमृतसर को लूटने के लिए प्रेरित किया। अकबर के पास जा कर उसने गुरु अर्जुन पर मिथ्या दोषारोपण किया; किन्तु महान् सम्राद ने उसकी एक न सुनी। उसने पिरथी के आवेदन-पत्र को मिथ्या मान का अस्वीकृत कर दिया। उसने गुरु से भेंट कर उनके तथा 'आदि ग्रन्थ' के प्रति अपना सम्मान व्यक्त करते हुए उनको वस्त्रादि तथा स्वर्ण-मुद्राएँ अर्पित की। वह गुरु द्वारा निर्मित मन्दिर को देख कर अत्यन्त हर्षित हुआ। उसने स्वयं को गुरु का दास बताते हुए उनसे निर्देश प्राप्ति की प्रार्थना की। गुरु के आतिथ्य-सत्कार तथा उनकी विद्वत्ता पर मुग्ध हो कर उसने पंजाब के उस वर्ष के राजस्व को भेंट के रूप में उनको अर्पित कर दिया।

गुरु अर्जुन ने अपने अनुयायियों को एक राजनैतिक समुदाय के रूप में संगठित कर बहुसंख्यक लोगों को सिक्ख-मत में दीक्षित कर लिया जिनमें पर्वतीय भू-खण्ड कुल्लु, चम्बा, मण्डी, हरिपुर तथा चुकेत के अधिपति भी सम्मिलित थे। उन्होंने सिक्ख मत का प्रचार-प्रसार कश्मीर तक में किया।

चन्दू शाह का षड्यन्त्र

पिरथीचन्द के अतिरिक्त चन्द्र शाह नामक एक व्यक्ति भी गुरु का शत्रु था। वह सम्राट् अकबर का दीवान तथा वित्तमन्त्री था। अर्जुन सिंह ने उसकी पत्री सदा कौर को अपने पुत्र हरगोविन्द की वाग्दता बनाना अस्वीकार कर दिया। चन्द्र शाह की गणना समृद्धतम लोगों में की जाती थी। उसने गुरु के प्रति कुछ अपमानजनक शब्द कहे और उनसे अपनी तुलना करते हुए उनको किसी भवन के नीचे की गन्दी नाली बताते हुए स्वयं को भवन का शिरोभाग बताया। इसका यह तात्पर्य था कि वह अपनी पुत्री का हाथ उस व्यक्ति को देने जा रहा था जिसकी सामाजिक स्थिति उसकी तुलना में सर्वथा नगण्य है। चन्दू शाह ने पुरोहित से कहा- "तुम भवन के अलंकृत शीर्षस्थ खण्ड को एक दूषित नाली में डालना चाहते हो।" सिक्खों ने उसकी इस तिरस्कार-युक्त गर्वोक्ति की सूचना गुरु को देते हुए उनसे प्रार्थना की कि वह वाग्दान को अस्वीकार कर दें। फलतः इसे अस्वीकार कर वाग्दान में प्राप्त उपहार लौटा दिये गये।

इससे चन्दू शाह क्रोधोन्मत्त हो उठा। इस स्थिति को शान्त करने के लिए उसने गुरु को एक पत्र द्वारा सूचित कर दिया कि वह अपने अपशब्दों को वापस ले रहा है; किन्तु इसके साथ-ही-साथ उसने यह धमकी भी दे डाली कि यदि कोई समझौता नहीं हुआ, तो वह अपना सहयोग पिरथी को प्रदान करेगा। गुरु अर्जुन ने उसके इस पत्र का उत्तर नहीं दिया जिसके फल-स्वरूप चन्दू शाह गुरु अर्जुन का घोरतम शत्रु हो गया।

चन्दू शाह ने अकबर को सूचित किया कि 'आदि ग्रन्थ' में इस्लाम तथा इसकी भविष्यवाणी को तिरस्कृत तथा अवमानित किया गया है। अकबर ने 'आदि ग्रन्थ' मँगवा कर उसमें संग्रहित अर्जन सिंह तथा अन्य गुरुओं की वाणियों का परीक्षण करवाया। इस परीक्षण के पश्चात् वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ये वाणियाँ सर्वथा निर्दोष तथा निष्कलुष हैं। उसने गुरु को अनेक बहुमूल्य उपहार दे कर विदा किया।

इसके कुछ ही दिनों के पश्चात् महान् अकबर का देहान्त हो गया और उसका पुत्र जहाँगीर सिंहासनारूढ़ हुआ। जहाँगीर के पुत्र खुसरो ने विद्रोह कर दिया; किन्तु पराजित हो कर वह अफगानिस्तान की ओर चल पड़ा। मार्ग में वह गुरु के निवास स्थान तरनतारन में रुका जहाँ उसे काबुल तक पहुँचने के लिए पाथेय के रूप में पाँच सहस्र रुपये प्राप्त हुए।

उधर चन्दू, पिरथी तथा पिरथी के पुत्र मेहरबान गुरु के प्रति सम्राट जहाँगीर के मन में क्रोधाग्नि प्रज्वलित करने के लिए संघबद्ध हो गये। उन्होंने सम्राट् को यह सूचना दे दी की गुरु ने खुसरो की केवल सहायता ही नहीं की। अपितु उसे आशीर्वाद देते हुए यह भविष्यवाणी भी कर दी कि एक दिन सिंहासन पर उसी का अधिकार होगा।

सम्राट् ने गुरु को बुला कर कहा- "तुम धनी-निर्धन, सबको सम दृष्टि से देखते हो। मेरे शत्रु खुसरो को आर्थिक सहायता देना तुम्हारे लिए उचित नहीं था।"

गुरु अर्जुन ने कहा- "कोई हिन्दू हो या मुस्लिम, धनी हो या निर्धन, मित्र हो या शत्रु, मैं इन सभी का निरासक्त भाव से आदर करता हूँ और ऐसा करते हुए मुझमें उनके प्रति न प्रेम की भावना होती है न घृणा की। यही कारण है कि मैंने तुम्हारे पुत्र को उसके यात्रा-व्यय के लिए कुछ रुपये दे दिये। मैंने उसे तुम्हारा शत्रु समझ कर रुपये नहीं दिये। यदि मैंने उसकी विपन्नावस्था में उसकी कुछ सहायता न की होती और इस सहायता के माध्यम से तुम्हारे दयालु पिता के प्रति सम्मान प्रकट नहीं किया होता, तो लोग मेरी इस हृदयहीनता तथा कृतघ्नता के लिए मुझसे घृणा करने लगते और कहते कि मैं तुमसे भयभीत हो गया था। गुरु नानक के किसी शिष्य के लिए यह स्थिति अशोभन तथा लज्जास्पद होती। मेरा अभिप्राय सम्राट् के शत्रु की सहायता करना नहीं था।"

सम्राट ने उनको दो लाख रुपयों का अर्थ-दण्ड दिया और इसके साथ ही उनको यह आदेश भी दिया कि 'ग्रन्थ साहिब' से उन सभी वाणियों हो हटा दिया जाये जिससे हिन्दुओं तथा मुसलमानों की भावनाएँ आहत होती हों।

गुरु अर्जुन ने कहा- "मैं एक सन्त हैं। मेरे पास जो कुछ भी है, वह भेंट से ही प्राप्त हुआ है। यह सार्वजनिक सम्पत्ति है जिसका उपयोग निर्धनों तथा साधुओं की सेवा के लिए होता है। यदि तुम्हें किसी प्रकार की आर्थिक सहायता की आवश्यकता है. तो मैं उस सहायता के लिए उद्यत हैं; किन्तु यदि तुम अर्थ-दण्ड के रूप में इसका अधिग्रहण करना चाहते हो, तो मैं तुम्हें एक कौडी भी नहीं दूँगा। अर्थ-दण्ड पुरोहितो तथा सन्तों पर न लगा कर गृहस्थों पर ही लगाया जाता है। जहाँ तक 'ग्रन्थ साहिब' से कुछ वाणियों को हटाने का प्रश्न है, मैं उन वाणियों को न तो हटाऊँगा, न उनमें कुछ परिवर्तन ही करूँगा। मैं एक अविनाशी ईश्वर की भक्ति करता हूँ जो सर्वोच्च आत्मा है। उस ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई सम्राट् नहीं है। उसकी कृपा से गुरुओं में जिन अपौरुषेय भावों का स्फुरण हुआ, उन्हें 'ग्रन्थ साहिब' की वाणियों के रूप में लिपिबद्ध कर लिया गया। इन वाणियों में किसी हिन्दू अवतार या मुस्लिम पैगम्बर के प्रति अनादर के दर्शन नहीं होते। मेरा मुख्य उद्देश्य सत्य का प्रचार तथा मिथ्या प्रहाण है। यदि इस लक्ष्य की पूर्ति में मेरा शरीरान्त भी हो जाता है, तो मैं स्वयं को कृतकृत्य ही समझेंगा।"

जब लाहौर के सिक्खों ने अर्थ-दण्ड की बात सुनी, तब उन्होंने सार्वजनिक अंशदान द्वारा इसकी अदायगी का विचार किया; किन्तु गुरु अर्जुन ने इसकी अनुमति नहीं दी।

गुरु को चन्दू शाह के हाथों सौंप दिया गया। वह उन्हें अपने घर ले आया। वहाँ उसने गुरु से उस वाग्दान को स्वीकार करने का अनुरोध किया जिसे पहले ही अस्वीकार किया जा चुका था। उसने उन्हें दहेज में प्रचुर धन-राशि देने का भी प्रलोभन दिया; किन्तु गुरु ने उससे स्पष्ट शब्दों में कहा कि उनके शब्द पत्थर पर अंकित रेखाएँ हैं जिनको मिटा पाना असम्भव है। उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि यदि उन्हें दहेज में सारा संसार भी दे दिया जाये, तो भी वह चन्द्र शाह की पुत्री से अपने पुत्र का विवाह नहीं करेंगे।

चन्दू शाह द्वारा अर्जुन को यन्त्रणा

इसके पश्चात् चन्द्र शाह ने उनके प्रति कठोरतम व्यवहार की धमकी दी। गुरु ने कहा कि नियति का निवारण असम्भव है। उन्होंने इसके फल-स्वरूप होने वाले कष्टों को सहन करने की अपनी इच्छा भी व्यक्त कर दी। उनके प्रति निर्मम व्यवहार किये गये। उनके समस्त शरीर पर हिंसात्मक आघात के चिह्न दृष्टिगत होने लगे। उनको कारागार में डाल दिया गया जहाँ ब्राह्मणों तथा काजियों ने उनको विभिन्न प्रकार की अमानुषिक यन्त्रणाएँ दीं। पाँच दिनों तक गुरु प्रतिशोधी चन्दू शाह के हाथों अकथनीय यन्त्रणा भोगते रहे। उनके अभिकर्ताओं ने उन पर तप्त

बालुका-राशि डाली, उन्हें उत्तप्त कड़ाहे में रखा और इसके पश्चात् उबलते हुए पानी में फेंक दिया; किन्तु गुरु के मुँह से उनकी पीड़ा को अभिव्यक्त करने वाला एक शब्द भी नहीं निकला।

गुरु ने कहा- "अन्धविश्वास अनावृत तथा मन ज्योतिर्मय हो गया है। गुरु ने चरणों को आबद्ध करने वाले बन्धनों को विच्छिन्न कर दिया है और अब बन्दी मुक्त है। मेरे देहान्तरण की अवधि समाप्त हो चुकी है, मेरे कर्माशय का प्रहाण हो चुका है और मैं इससे सर्वथा मुक्त हूँ। अब मैं सिन्धु के तट पर आ पहुँचा हूँ। गुरु ने मुझ पर अनुग्रह किया है। सत्य मेरा निवास-स्थान है, सत्य मेरी पीठिका है और सत्य ही मेरा विशिष्ट प्राप्तव्य है। सत्य मेरी पूँजी है और सत्य ही मेरे व्यापार में अर्जित मेरा धन है जिसे नानक ने अपने घर में संचित कर रखा है।"

चन्दू शाह ने कहा कि यदि गुरु अपने पुत्र हरगोविन्द का विवाह उसकी पुत्री सदा कौर से कर देंगे, तो उनको यन्त्रणा नहीं दी जायेगी: किन्तु उन्होंने उसके इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

मियाँ मीर नामक एक प्रसिद्ध सन्त ने चन्द्र शाह को इस विवेकहीन कृत्य के विरुद्ध चेतावनी दी और गुरु से कहा कि वह यह सब-कुछ सम्राट् को बतायेंगे और उनके उत्पीडक को नष्ट कर देंगे। गुरु ने कहा- "सहनशीलता सन्त का कर्तव्य है। हिंसा. हृदयहीनता तथा असम्मान के वातावरण में ही सन्त की आन्तरिकता का अनावरण होता है। सर्वशक्तिमान ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता। सुख-दुःख शरीर के लिए पूर्व-निर्धारित होते हैं। आत्मा इससे पृथक् है। अयस इसे काट नहीं सकता, अग्नि इसे जला नहीं सकती और जल इसे विघटित नहीं कर सकता। मेरा सिद्धान्त है : 'हे भगवन्, यदि तुम मुझे सुख दोगे, तो मैं तुम्हारे नाम का जप करता रहूँगा और यदि तुम मुझे दुःख दोगे, तो भी मैं तुम्हारा ही आह्वान करता रहूँगा।"

गुरु अर्जुन का अन्त

चन्दू शाह ने उनके सामने एक कच्चा गो-चर्म रखते हुए कहा कि कल प्रातःकाल उन्हें इसी गो-चर्म में परिवेष्ठित किया जायेगा। जब यह गो-चर्म गुरु के समक्ष लाया गया, तब उन्होंने रावी नदी में स्नान करने की अनुमति माँगी। गुरु ने सदा की भाँति स्नान किया और आत्यन्तिक श्रद्धा के साथ 'जपुजी' का पाठ करते हुए अन्तर्धान हो गये।

गुरु अर्जुन ने अपने निकट बैठे सिक्खों से कहा- "हरगोविन्द को मेरा उत्तराधिकारी बनाना। उससे कहना कि वह कायरों की तरह विलाप न कर भगवान का स्तुति-गान करे। वह गुरु-गद्दी पर पूर्णतः सशस्त्र हो कर बैठे और उसकी सेना अधिकाधिक शक्तिशाली हो।"

१६०६ ई. में गुरु अर्जुन का देहान्त हो गया। उन्होंने अमृतसर के परिष्कार का समापन, स्वर्ण-मन्दिर का निर्माण तथा 'ग्रन्थ साहिब' का संकलन किया। उन्होंने अपने शिष्यों के समक्ष सेवा. आस्था तथा साहस का अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत किया। वह १५८१ ई. से १६०६ ई. तक अर्थात् चौबीस वर्षों तक गुरु-गद्दी पर आसीन रहे।

सिक्ख मत अब भक्ति की सीमाओं का अतिक्रमण कर एक सैन्य संगठन में रूपान्तरित हो गया। गुरु अर्जुन की मृत्यु ने सिक्ख-समुदाय को एक नयी दिशा प्रदान की। इसने सिक्खों के हृदय में धार्मिक भावावेश की अग्नि प्रज्वलित कर दी। निर्मम उत्पीडकों द्वारा किये गये उत्पीडन के अनुरूप ही प्रतिशोध के अभियान का प्रारम्भ किया गया।

गुरु अर्जुन को समर्पित एक गुरुद्वारा लाहौर के किले के सम्मुख आज भी स्थित है।

गुरु हरगोविन्द

गुरु अर्जुन के पुत्र गुरु हरगोविन्द का जन्म १५७५ ई. में जनपद अमृतसर-स्थित बडाली में हुआ था। ग्यारह वर्ष की अल्पायु में ही उनको गुरु-गद्दी पर पदासीन कर दिया गया। योद्धा तथा सन्त- उनमें इन दोनों की विशेषताएँ विद्यमान थीं। वह सेनाध्यक्ष के साथ-साथ आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक भी हो गये। वह ऐसे प्रथम गुरु थे जिन्होंने सैन्य-तन्त्र का संघटन कर अपने अनुयायियों को युद्ध-क्षेत्र में शौर्य-प्रदर्शन के लिए शस्त्र-सज्जित किया। उन्होंने शूरवीरों की सेवाएँ प्राप्त कर उनको सैन्य-विज्ञान में प्रशिक्षित किया और उन लोगों ने अल्प काल में ही परिपक्व सैनिक हो कर योद्धाओं के एक दल का संघटन कर लिया। गुरु हरगोविन्द उन हिन्दुओं की सुरक्षा के आश्वस्ति-केन्द्र बन गये जो किसी विवशता से ग्रस्त हो कर इस्लाम धर्म को ग्रहण करने की बात सोच रहे थे।

अपनी शारीरिक तथा मानसिक संरचना के कारण सिक्खों के नव-पदासीन आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक अपने पिता की इच्छा-पूर्ति तथा सैन्य-संचालन, दोनों अभियानों के लिए सर्वथा उपयुक्त थे। वह अपने पूर्ववती गुरुओं की भाँति रज्जु तथा पगडी नहीं धारण करते थे। इनके स्थान पर वह शस्त्र तथा कवच धारण कर सूर्य की भाँति तेजोमय प्रतीत होते थे। उन्होंने अपने योद्धाओं को अश्व तथा शस्त्र प्रदान किये थे।

के गुरु ने भेंट तथा धर्म-शुल्क संग्रहित करने वाले मसन्दों (Masands) को एक विज्ञप्ति के माध्यम से यह सुचित कर दिया कि यदि वे लोग धन के स्थान पर शस्त्रों तथा अश्वों की भेंट का संग्रह करेंगे, तो उनको अधिक प्रसन्नता होगी। धर्म-शुल्क-समाहर्ताओं ने पूर्व-प्रथानुसार उनके समक्ष एक मंजी (बारपाई), एक सेली (फकीरों द्वारा धारण किया जाने वाला एक ऊनी धागा), एक टोपी, एक पुस्तक तथा एक माला की भेंट प्रस्तुत की। गुरु ने इस भेंट को अस्वीकार करते हुए कहा- "मैं माला के सिद्धान्त को तलवार सिद्धान्त में रूपान्तरित करने जा रहा हूँ। ईश्वरानुमोदित मत का परिरक्षण ही मेरा लक्ष्य है जो शस्त्राभाव में असम्भव है। मैं फकीर के संकेत-चिह्न सेली तथा टोपी का सर्वदा के लिए परित्याग कर अपने दोनों हाथों में एक-एक तलवार धारण करूँगा। मेरी एक तलवार फकीरी की परिचायिका होगी जो आध्यात्मिकता का प्रतीक है और दूसरी तलवार राजकीय वैभव की परिचायिका होगी जो क्षणिक प्रभुत्व की प्रतीक है।"

चन्दू शाह अपने घोरतम शत्रु के पुत्र की अधिकाधिक बढ़ती हुई शक्ति को देख कर सतर्क हो गया। उसने हरगोविन्द से समझौते का अन्तिम प्रयास करते हुए उन्हें अपनी अभी तक अविवाहित पुत्री से विवाह करने के लिए प्रलोभित किया। इसके साथ ही उसने उन्हें यह धमकी भी दी कि यदि उन्होंने इस विवाह के प्रति अपनी सहमति नहीं प्रदान की, तो उनके प्रति भी वह वही व्यवहार करेगा जो उसने उनके पिता के प्रति किया था। हरगोविन्द ने चन्द्र शाह के प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए उसे पत्र द्वारा यह धमकी दी कि उनके पिता को जो यन्त्रणाएँ दी गयी थीं. उनके लिए वह उससे भयंकर प्रतिशोध लेंगे। उन्होंने लिखा- तुम पर निम्न जाति के लोग पदत्राण का प्रहार कर तुम्हें अपमानित करेंगे और तुम्हें धूल-धूसरित तथा पददलित हो कर शरीर त्याग करना होगा।"

हरगोविन्द ने अमृतसर के सिक्ख-मन्दिर के सम्मुख अकाल बंगा का निर्माण किया। उन्होंने अपने अनुयायियों से कहा कि जब वह हर मन्दिर में रहें, तब उन्हें सन्त और जब अकाल बंगा में रहें, तब राजा समझना चाहिए। वह बहुमूल्य तथा राजोचित वस्त्र धारण करते थे। उन्होंने एक आदेश-पत्र द्वारा सिक्खों को निर्देश दिया कि उनकी सामान्य तीर्थयात्राओं के अवसर पर उन्हें शस्त्रास्त्र की ही भेंट अर्पित की जाये।

हरगोविन्द ने सम्राट् का विश्वास प्राप्त कर लिया। उनके यहाँ आठ सौ अश्वारोही तथा बहुसंख्यक शस्त्र-सज्जित अनुयायी रहते थे। वह कश्मीर-यात्रा के अवसर पर सम्राट् की राजकीय सेना का अनुसरण करते थे। सम्राट् ने उन्हें नलगढ़ के राजा ताराचन्द को पराजित करने के लिए नियुक्त किया जो अभी तक अपराजेय था। गुरु ने उसे

पराजित कर सम्राट् के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया जिसके पुरस्कार-स्वरूप उन्हें नयी-नयी उपाधियों से सम्मानित कर एक सहस्र अश्वारोहियों तथा सैनिकों का नायक बना दिया गया। उन्हें न्यायिक अधिकार भी प्रदान किये गये। एक आध्यात्मिक गुरु तथा अस्थायी न्यायाधीश के रूप में उनकी जनप्रियता के कारण उनकी शक्ति तथा ख्याति में अधिकाधिक वृद्धि होती गयी। लोग उन्हें 'सच्चा बादशाह' तथा 'सोढ़ी सुलतान' कहने लगे। वह उनके वास्तविक राजा थे। एक बार आखेट के समय उन्होंने सम्राट् की प्राण-रक्षा की। सम्राट् ने सुना था कि वह मृगया में दक्ष थे; अतः जब वह आखेट पर निकला, तब उसने उन्हें अपने साथ ले लिया। एक आहत शेर ने उस पर आक्रमण कर दिया; किन्तु गुरु ने तलवार से उस शेर को मार डाला।

हरगोविन्द का हृदय उदारता तथा दानशीलता से ओत-प्रोत था। उनके यहाँ एक बृहद् लंगर अर्थात् पाकशाला की व्यवस्था थी जिसमें सहस्रों हिन्दू-मुसलमान भोजन किया करते थे।

हरगोविन्द ने अनेक सार्वजनिक संस्थाओं की स्थापना तथा उद्यानों का निर्माण किया। १६७७ ई. में उन्होंने हरगोविन्दपुर की स्थापना की। उन्होंने गुरु नानक के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए देश-भर का पर्यटन किया।

पिरथीचन्द का पुत्र तथा हरगोविन्द का चाचा मेहरबान गुरु की समृद्धि को देख कर उनसे ईर्ष्या करने लगा और चन्द्र शाह से जा मिला। उन दोनों ने सम्राट जहाँगीर के यहाँ जा कर गुरु पर अभियोग लगाया कि उन्होंने अपने पर्वजों की परम्परा का परित्याग कर एक नियमित सेना का संघटन कर लिया है और इसके अतिरिक्त वह मुकदमे भी देखने लगे हैं। चन्दू शाह ने सम्राट् को दो लाख रुपयों के अर्थ-दण्ड की भी याद दिलायी जिसे गुरु के स्वर्गीय पिता अर्जुन सिंह को दिया गया था। उसने सम्राट् को उस अर्थ-दण्ड वसूली का भी परामर्श दिया। उसने सम्राट् को यह सुझाव दिया कि जब तक उस अर्थ-दण्ड की वसूली नहीं हो जाती, तब तक उन्हें एक राजकीय बन्दी के रूप में लाहौर के किले में बन्द कर दिया जाये। सम्राट् ने इस सुझाव के प्रति अपनी सहमति प्रकट कर दी और गुरु हरगोविन्द को कारागार में डाल दिया गया।

हरगोविन्द को कारागार में बारह वर्ष व्यतीत करने पड़े। वहाँ गुरु ने अनेक हतभाग्य राजाओं तथा सामन्तों को दण्ड भोगते देखा। उनका एकमात्र अपराध यह था कि वे लोग उस राज्य क्षेत्र के अधिपति थे जिस पर सम्राट् की लोलुप दृष्टि पड़ चुकी थी। हरगोविन्द अपने सहबन्दियों के लिए अत्यन्त उपयोगी थे। वह उनकी मुक्ति की योजना पर विचार करने लगे।

उधर चन्दू शाह सोच रहा था कि वह कारागार में हरगोविन्द की हत्या सरलतापूर्वक कर सकता है। उसने किले के किलेदार हरिदास को हरगोविन्द की हत्या के लिए घूस देने का प्रयत्न किया। उसने गुरु के धारण करने के लिए उनके पास एक विषरंजित वस्त्र भेजा; किन्तु हरिदास गुरु का परम भक्त था। प्रख्यात फकीर मियाँ मीर ने चन्दू शाह के सारे दुष्कृत्यों से सम्राट् को अवगत करा कर हरगोविन्द की मुक्ति के लिए उनकी आज्ञा प्राप्त कर ली।

गुरु सम्राट को धन्यवाद देने दिल्ली गये। सम्राट ने गुरु के गले में पीन काष्ठ-निर्मित मनकों की एक सुन्दर माला देखी। उसने उस माला को अपने उपयोग के लिए लेना चाहा; किन्तु गुरु ने कहा- "मेरे पिता इस माला से भी सुन्दर माला पहना करते थे। उनकी उस माला के मनके मोती के थे: मेरी इच्छा है कि आप उसी माला को धारण करें। सम्राट ने पूछा- "वह माला कहाँ है?" गुरु ने बताया- "वह माला चन्द्र शाह के पास है। उसने उसे उनके गले से चोरी से उतार लिया था।" सम्राट् ने चन्दू शाह को वह माला लाने का आदेश दिया। चन्दू शाह अपने घर गया; किन्तु वहाँ से वह खाली हाथ लौटा। उसने बहाना बनाया कि वह माला कहीं गुम हो गयी है। गुरु हरगोविन्द ने चन्दू शाह के हाथों अपने पिता को दी गयी यन्त्रणाओं से सम्राट् को अवगत कराया जिसके फल-स्वरूप चन्दू शाह के विषय में सम्राट् का मत-परिवर्तन हो गया। उसके प्रति उनके मन में कटुता के भाव उत्पन्न हो गये। जब चन्दू शाह सम्राट् के सम्मुख बिना माला के पहुँचा, तब उसने हरगोविन्द से उसे अपने साथ ले जा कर उनके पिता के भयावह तथा

दुःखद अन्त के लिए प्रतिशोध लेने को कहा। हरगोविन्द ने इसे अस्वीकार करते हुए कहा - "सच्चा गुरु उदार तथा संवेदनशील होता है। उसकी करुणा क्षणिक नहीं होती। वह सर्वभूतों के कल्याण की कामना करता है।"

चन्दू शाह के घर की तलाशी लेने पर मोतियों की वह माला मिल गयी।

गुरु हरगोविन्द के अनुयायी चन्दू शाह को अमृतसर ले गये। वहाँ उन्होंने गुरु अर्जुन के प्रति किये गये उसके निर्मम व्यवहार के लिए उसे प्रायश्चित करने को विवश किया। उस पर कीचड़ तथा गन्दी वस्तुएँ डाली गयीं और उसे नीचकुलोत्पन्न व्यक्तियों के द्वारा चप्पलों से पिटवाया गया। उसे प्रतिदिन इधर-उधर भिक्षाटन के लिए विवश किया गया। एक भड़भूजे ने अपनी लोहे की कलछी से उसके कपाल पर सांघातिक प्रहार किया और भंगियों ने उसके शरीर को रावी नदी में फेंक दिया।

पिरथी के पुत्र मेहरबान तथा चन्दू शाह के पुत्र करमचन्द ने गुरु के विरुद्ध शाहजहाँ के कान भरे, गुरु गुमतला गाँव के निकट शिकार खेल रहे थे। उसी समय शाहजहाँ भी कहला के निकट शिकार खेल रहा था। उसका एक श्वेत बाज गुरु के बाजों में जा मिला। सम्राट के अनुचरों ने उस बाज को अपना बताया; किन्तु गुरु ने उसे लौटाना अस्वीकार कर दिया।

इसके फल-स्वरूप शाहजहाँ अत्यन्त रुष्ट हो गया। उसने गुरु को पकड़ने तथा उनके अनुयायियों को तितर-वितर करने के लिए सशक्त सेना भेज दी। अमृतसर के निकट घनघोर युद्ध हुआ जिसमें शाहजहाँ की सेना को पराजित होना पड़ा। गुरु ने राजकीय सेना के विरुद्ध तीन लड़ाइयाँ जीतीं।

दामोदरी, नानकी तथा मारवाही गुरु की ये तीन पत्नियाँ थीं। गुरुदित्ता दामोदरी के; अनीराय, तेजबहादुर तथा अटल राय नानकी के और सूरजमल मारवाही के पुत्र थे।

गुरु हरगोविन्द अब पहाड़ियों के निकट करतारपुर में रहने लगे जहाँ १६४५ ई. में उनका देहान्त हो गया। इसके पूर्व उन्होंने अपने पौत्र हर राय को अपने उत्तराधिकारी के रूप में नामांकित कर दिया था। गुरु हरगोविन्द सैंतीस वर्षों तक गुरु-गद्दी पर पदासीन रहे। उनका देहान्त अड़तालीस वर्ष की आयु में हुआ।

गुरु हरगोविन्द एक महान् पुरुष, एक महान् जन-नायक तथा एक महान् पथ-प्रदर्शक थे।

सिक्खों के हृदय में गुरु हरगोविन्द के प्रति आत्यन्तिक प्रेम तथा आदर के भाव थे। उनकी मृत्यु को एक राष्ट्रीय आपदा समझा गया। उनके अनेक अनुयायियों ने उनकी चिता पर जल कर स्वेच्छापूर्वक प्राण त्यागना चाहा। उनमें से एक जाट तथा एक राजपूत ने उनके चरणों पर अपने प्राण त्याग दिये।

हिन्दू तथा मुसलमान गुरु हरगोविन्द का समान भाव से आदर करते थे। उन्होंने हरगोविन्दपुर तथा अमृतसर के बीच मुसलमान यात्रियों के लिए सुविधाजनक स्थानों पर मस्जिदों तथा डेरो (Dehras) का निर्माण किया था।

उनको वहाँ गुरु की ओर से भोजन दिया जाता था।

गुरु हर राय

गुरु हर राय का जन्म १६३० ई. में हआ। गुरु हरगोविन्द के पुत्र गुरुदित्ता उनके पिता थे और उनकी माता का नाम निहाल कौर था। वह एक शान्त-सन्तुष्ट व्यक्ति थे। युद्ध में उनकी रुचि नहीं थी। वह शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहते थे।

गुरु हरगोविन्द के पुत्र गुरुदित्ता की अकाल मृत्यु हुई थी। मृत्यु के समय उसकी आयु चौबीस वर्ष थी। शिकार खेलते समय उसके एक सिक्ख सहचर ने हिरण समझ कर एक गाय की हत्या कर दी। चरवाहों ने उस हत्यारे को पकड़ लिया और कहा कि जब तक गुरुदित्ता इस गाय को जीवित नहीं कर देता, तब तक वे उसे नहीं छोड़ेंगे। गुरुदित्ता में जीवन-दान की शक्ति तो थी; किन्तु वह इसका प्रयोग नहीं करना चाहता था, क्योंकि उसके पिता हरगोविन्द चमत्कार-प्रदर्शन के विरोधी थे। वस्तुतः वह धर्म-संकट में पड़ गया। किन्तु अपने सहचर को मुक्त करवाने के लिए अपना डण्डा उस मृत गाय के शिर पर रख कर उसने कहा- "उठो और घास खाओ।" इन शब्दों को सुनते ही गाय खड़ी हो कर अपने झुण्ड में मिल गयी। इस चमत्कार की बात सुन कर गुरु हरगोविन्द बहुत रुष्ट हुए। उन्होंने कहा- "यह बात मेरे लिए हर्षवर्धक नहीं है कि तुम स्वयं को ईश्वर के समकक्ष समझ कर मृतकों को जीवन-दान देते रहो।" उनके ये शब्द गुरुदित्ता के लिए मर्मभेदी सिद्ध हुए। वह अपने पिता से विनयपूर्वक विदा ले कर बुद्धन शाह की कब्र की ओर चल पड़ा। उस कब्र के पास उसने घास-फूस बिछायी, अपना डण्डा धरती पर फेंका और उस घास-फूस पर लेट कर प्राण त्याग कर दिया। गुरु को उसकी मृत्यु से कोई दुःख नहीं हुआ।

सिंहासन पर अधिकार के लिए संघर्ष में गुरु हर राय ने दाराशिकोह की सहायता की।

राजकुमार औरंगजेब ने अपने अग्रज दाराशिकोह की हत्या के लिए उसके भोजन में शेर की मूँछ के बाल मिला दिये। इसके फल-स्वरूप दाराशिकोह रोग-ग्रस्त हो गया और धीरे-धीरे उसकी दशा शोचनीय होती गयी। उसके रोग के निदान के पश्चात् सर्वश्रेष्ठ हकीम इस निष्कर्ष पर पहुँचे के बीस औंस की हरीतकी तथा एक माशा के लौंग से ही इस रोग का निराकरण सम्भव है; किन्तु इतनी भारी हरीतकी तथा लौंग का मिलना असम्भव था। इस स्थिति में शाहजहाँ को परामर्श दिया गया कि वह इसके लिए गुरु हर राय से सहायता की याचना करे। पहले तो इसके लिए शाहजहाँ तैयार नहीं हुआ; किन्तु बाद में उसने गुरु के पास एक पत्र भेज कर उनसे सहायता की याचना की। गुरु अपने भण्डार गृह से अपेक्षित भार की हरीतकी तथा लौंग निकाल कर लाये। उनमें उन्होंने मुक्ता तथा कुछ और औषधियाँ मिला कर सम्राट् के दूत द्वारा दिल्ली भिजवा दिया। इसके सेवन से दारा के पेट से शेर की मूँछ के बाल बाहर निकल गये और वह स्वस्थ हो गया।

तत्पश्चात् औरंगजेब ने उसे गिरफ्तार कर उसकी हत्या करवा दी।

हर राय ने औरंगजेब से शान्तिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयास किये। औरंगजेब ने हर राय को शाही दरबार में उपस्थित होने का आदेश दिया; किन्तु मुगल सम्राट् के विश्वासघात के भय से उन्होंने अपने स्थान पर अपने वरिष्ठ पुत्र राम राय को दिल्ली भेज दिया। औरंगजेब ने राम राय को अपने दरबार में बहुत दिनों तक रखा और उसके प्रति सम्मानजनक व्यवहार किया। राम राय के पिता ने उसे कठोर आदेश दिया था कि वह अपने मत के प्रति निष्ठावान रहे और किसी भी परिस्थिति में उससे विचलित न हो।

औरंगजेब सिक्ख-धर्म के विषय में राम राय से पर्याप्त जानकारी प्राप्त किया करता था। 'पवित्र ग्रन्थ' के प्रति उसके हृदय में आदर की भावना जाग्रत हो उठी थी। उसके विचारानुसार सिक्खों के सिद्धान्त इस्लाम धर्म के सर्वथा अनुरूप थे। उसने एक दिन 'राग असा' नामक सिक्खों की एक धार्मिक पुस्तक में उल्लिखित एक विवरण का अर्थ समझना चाहा। उस विवरण में मृत्यु के उपरान्त किसी मुसलमान के दःख भोग का उल्लेख था जिसके अनुसार मुसलमान को कुम्भकार के लोष्ठ में डाल दिया जाता है जिसमे मृत्तिका पात्रों तथा ईंटों के ढाँचों का निर्माण होता है और लोष्ठ में जलते समय वह उच्च स्वर में क्रन्दन करता है। राम राय ने सोचा कि अपनी कट्टरता के कारण इसके

यथार्थ वर्णन से सम्राट् की भावनाएँ आहत हो सकती हैं; अतः उसने उसकी सन्तुष्टि के लिए 'मुसलमान' शब्द के स्थान पर 'बेईमान' शब्द रख दिया।

यह समाचार हर राय के कानों तक पहुँचा। उन्होंने कहा कि कोई भी नश्वर व्यक्ति गुरु नानक की वाणियों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता और यदि किसी ने ऐसा करने का दुस्साहस कर दिया है, तो वह उसे देखना तक नहीं चाहते। उन्होंने एक आदेश-पत्र के माध्यम से सिक्खों को सूचित कर दिया कि किसी भी सिक्ख को राम राय तथा उसकी सन्तान से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। इसके साथ ही उन्होंने यह भी कह दिया कि उनके इस आदेश का उल्लंघन करने वाले को बहिष्कृत कर दिया जायेगा।

गुरु ने कहा- "गुरुत्व की तुलना शेरनी के दूध से की जा सकती है जिसे स्वर्ण-पात्र में ही भरा जा सकता है। प्राणोत्सर्ग के लिए उद्यत व्यक्ति ही इसके उपभोग का अधिकारी है। राम राय को मेरे सम्मुख मत आने दो। उसे औरंगजेब के दरबार में रह कर प्रचुर धन-राशि अर्जित करने दो।"

राम राय ने गुरु से क्षमा-याचना की। वह कीरतपुर में उनकी प्रतीक्षा करता रहा; किन्तु उसे क्षमा नहीं मिल सकी। वह उनसे भेंट करना चाहता थी; किन्तु गुरु ने उसको इसकी अनुमति भी नहीं दी। उसे आदेश दिया गया कि वह शीघ्रातिशीघ्र कीरतपुर छोड़ दे।

अपना अन्त निकट जान कर उन्होंने हरकिशन को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने का अविलम्ब निश्चय कर लिया। प्रभावशाली व्यक्तियों की उपस्थिति में हर राय ने हरकिशन को उसकी बाल्यावस्था में ही गुरु-गद्दी पर पदासीन कर दिया। उन्होंने उसके समक्ष एक नारियल तथा पाँच पैसे रख कर उसकी चार बार परिक्रमा की। इसके पश्चात् उन्होंने उसके ललाट पर तिलक किया। लोगों ने खडे हो कर उसके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की।

१६६१ ई. में कीरतपुर में हर राय का बत्तीस वर्ष की आयु में देहान्त हो गया। वह गुरु-गद्दी पर सतरह वर्षों तक पदासीन रहे।

गुरु हरकिशन

गुरु हरकिशन का जन्म १६५६ ई. में हुआ। गुरु-गद्दी पर पदासीन होने के समय उनकी आयु मात्र पाँच वर्ष थी। १६६१ ई. में उन्होंने गुरु का पद-भार ग्रहण किया था। वह गुरु हर राय के द्वितीय पुत्र थे और उनकी माता का नाम किशन कौर था। राम राय की एक भूल के कारण ही उसके पिता ने उनके अनुज हरकिशन को अपना उत्तराधिकारी बनाया था; किन्तु राम राय ने स्वयं को ही गुरु घोषित कर दिया। उसके शिष्यों ने चारों ओर घूम-घूम कर प्रचुर मात्रा में धन एकत्र करने के प्रयत्न किये। किन्तु उनके इन शिष्यों ने प्राप्त धन-राशि का अधिकांश स्वयं रख कर राम राय को अल्पांश ही दिया।

गुरु हरकिशन की बुद्धि कुशाग्र थी और उन्हें उच्चतर सिद्धियाँ भी प्राप्त थीं। वह सिक्खों को समुचित शिक्षण दे कर उनकी शंकाओं का समाधान किया करते थे।

राम राय ने अपना पक्ष औरंगजेब के सम्मुख प्रस्तुत किया। औरंगजेब को उत्तराधिकार के लिए भाइयों के इस पारस्परिक संघर्ष के कुशलतापूर्वक उपयोग में सिक्ख-शक्ति के विनाश के माध्यम दृष्टिगत हुए। उसने गुरु को दिल्ली बुलाया। हरकिशन ने दिल्ली जा कर अपनी बुद्धि तथा अपने ज्ञान से औरंगजेब तथा उसके परामर्शदाता

अम्बर के राजा राम सिंह को पूर्णतः सन्तुष्ट कर दिया। औरंगजेब ने ससम्मान उसका स्वागत सत्कार किया और उनके प्रति अपना आदर व्यक्त करने के लिए अपने पुत्र मुअज्जम को उनके पास भेज दिया।

औरंगजेब ने बालक गुरु की आध्यात्मिक शक्ति का परीक्षण करना चाहा। उसने उन्हें रानियों के अन्तःपुर में भेज दिया जहाँ उसकी पटरानी नौकरानी का मलिन वस्त्र पहने पीछे बैठी थी; किन्तु अन्य रानियाँ तथा शाही महल की महिलाएँ राजसी वस्त्राभूषण धारण किये हुए आगे विराजमान थी। बालक गुरु ने अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से पटरानी को शीघ्र ही पहचान लिया।

गुरु हरकिशन पर पहले ज्वर का प्रकोप हुआ और इसके पश्चात् उसके शरीर पर चेचक के दाने निकल आये। अपना अन्त निकट जान कर उन्होंने गुरु हरगोविन्द के पुत्र तथा अपने महान् चाचा तेगबहादुर (बाबा बकाला) को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया। उन दिनों तेगबहादुर व्यास नदी के तट पर बकाला गाँव में एकान्तवास कर रहे थे।

१६६४ ई. में गुरु हरकिशन का देहान्त हो गया। वह गुरु-गद्दी पर तीर वर्ष तक ही पदासीन रहे।

गुरु तेगबहादुर

गुरु तेगबहादुर हरगोविन्द के कनिष्ठतम पुत्र थे। उनका जन्म १६२१ में अमृतसर में हुआ। उनकी माता का नाम नानकी था। उनके पिता ने उनके सम्बन्ध में भविष्यवाणी करते हुए कहा था कि वह एक महान् जन-नायक होंगे। उन्होंने उनका नाम तेगबहादर रखा और कहा कि तेगबहादर का पुन मुगलों के अत्याचार का अन्त कर देगा। हरगोविन्द कहा करते थे कि उनका पुत्र तलवार के आघात-सहन में समर्थ एक शक्ति-सम्पन्न योद्धा होगा। यही कारण है कि उनको तेगबहादर के नाम से अभिहित किया गया। जब गुरु हरगोविन्द ने अपने उत्तराधिकार के लिए अपने पौत्र हर राय को नामांकित किया, तब उन्होंने अपनी पत्नी नानकी को इस भविष्यवाणी से सान्त्वना प्रदान की कि एक दिन उसका पुत्र निश्चित रूप से गुरु-गद्दी पर पदासीन होगा और इसलिए उन दोनों को धैर्य धारण करना चाहिए। उन्होंने अपने शस्त्रास्त्र अपनी पत्नी को सौंप कर उनको अनुदेशित किया कि वह तेगबहादुर के वयस्क तथा विवेकशील हो जाने पर उन्हें उसे दे दें।

गुरु हरकिशन ने अपने उत्तराधिकारी के नाम की घोषणा नहीं की थी। जब उनके जीवन के अन्तिम क्षणों में उनके मुँह से 'बाबा बकाला' शब्द निकले, तब बकाला के बाईस सिक्खों ने अनुचित रूप से अपने को आध्यात्मिक गुरु-गद्दी का अधिकारी घोषित कर दिया। प्रत्येक तीर्थयात्री या सिक्ख-मत के प्रति आस्थावान् भक्त को उन सभी बाईस गुरुओं को भेंट देनी पड़ती थी। उन बाईस गुरुओं के व्यवहार से विरक्त हो कर तेगबहादुर अपने घर में ही रहने लगे। संयोगवश एक घटना से उत्तराधिकार के इस विवाद का सर्वदा के लिए अन्त हो गया। मक्खन शाह नामक एक व्यक्ति का माल से लदा जहाज समुद्र में डूबने वाला था। उसने कहा कि यदि उसे इस महा विपत्ति से मुक्ति मिल जायेगी, तो वह गुरु को पाँच सौ स्वर्ण-मोहरें भेंट करेगा। जहाज डूबने से बच गया। वह गुरु को अपनी भेंट देने आया; किन्तु उसने देखा कि वहाँ एक गुरु के स्थान पर बाईस गुरु विद्यमान हैं। अतः उसने प्रत्येक गुरु को दो-दो स्वर्ण-मोहरें देने का निश्चय किया। उसको इस बात का विश्वास था कि जो वास्तविक गुरु होगा, वह सारी स्वर्ण-मोहरों की माँग करेगा; किन्तु उसकी इस कसौटी पर कोई भी खरा नहीं उतरा। तब उसने लोगों से पूछा कि इन बाईस व्यक्तियों के अतिरिक्त और कौन है जिसने गुरु-गद्दी के लिए अपना दावा प्रस्तुत किया था। उत्तर में लोगों ने गुरु-परिवार के अयोग्य सदस्य तेगबहादुर के नाम का उल्लेख कर दिया। मक्खन शाह ने उन्हें अपने घर में एक एकान्तवासी का जीवन व्यतीत करते हुए पाया। उसने उन्हें दो स्वर्ण-मोहरें भेंट कीं; किन्तु तेगबहादुर ने कहा- "क्या तुम इन दो स्वर्ण-मोहरों से मेरी परीक्षा लेने आये हो ? अपने वचन का पालन करते हुए तुम मुझे पाँच सौ मोहरें दो।

मैं ये मोहरें अपनी समझते हुए भी तुम्हें लौटा दूंगा। मैं अर्थाभाव से ग्रस्त नहीं हूँ।" इसके पश्चात् गुरु ने उसे यह विस्तारपूर्वक बताया कि उस जहाज की रक्षा कैसे हो सकी। यह सुन कर मक्खन शाह स्तब्ध रह गया और उसे सच्चे गुरु के दर्शन भी हो गये। शीघ्र ही उसने यह घोषित कर दिया कि उसे सच्चे गुरु मिल गये हैं।

वहाँ समाहर्ता या अन्य लोग तत्काल एकत्र हो गये। गुरु हरकिशन की मृत्यु के पश्चात् भाई गुरुदित्ता के यहाँ नारियल तथा पाँच पैसे सुरक्षित रूप से रख दिये गये थे। उन्हें तेगबहादुर के समक्ष प्रस्तुत कर १६६४ ई. में उन्हें गुरु-गद्दी पर पदासीन कर दिया गया।

गुरु-गद्दी पर तेगबहादुर के आधिपत्य के कारण ढेरमल (Dhermal) के हृदय में ईर्ष्याग्नि प्रज्वलित हो उठी। उसने अपने एक अनुयायी को बारह नौकरों के साथ उनकी हत्या करने के लिए भेजा जिन्होंने गुरु को गोलियों से आहत कर दिया; किन्तु चोट सांघातिक नहीं थी।

तेगबहादुर सन्तोष तथा शान्ति की प्रतिमूर्ति थे। उन्होंने करतारपुर में एक दुर्ग का निर्माण किया जहाँ उन्होंने एक न्यायालय की भी व्यवस्था की। उन्होंने प्रयाग, काशी, पटना तथा गया के अतिरिक्त भारत के सभी क्षेत्रों में पर्यटन किया। सिक्खों की शिक्षा के लिए उन्होंने पटना में एक महाविद्यालय की स्थापना की।

हर राय के असन्तुष्ट पुत्र राम राय ने सम्राट् औरंगजेब को सूचित किया कि गुरु की योजनाएँ राज्य के लिए भयावह हैं। उसने उसे सुझाव दिया कि गुरु को नियन्त्रित करने के लिए शीघ्रातिशीघ्र कोई कार्यवाही होनी चाहिए। के यहाँ रुके। रामसिंह ने गुरु का पक्ष-समर्थन करते हुए औरंगजेब को तेगबहादर को दिल्ली लाया गया। वह अम्बर के राजपूत सरदार राजा राम सिंह आश्वस्त कर दिया कि गुरु एक शान्ति-प्रिय व्यक्ति हैं और उनमें राजनैतिक शक्ति की प्राप्ति की आकांक्षा नहीं है।

तेगबहादुर राजा राम सिंह के साथ कामरूप तथा असम गये। राजा राम सिंह ने उनसे कामरूप-विजय के लिए सहायता की याचना की। गुरु ने इस अभियान में उनको सहयोग प्रदान किया।

जब गुरु पटना में निवास कर रहे थे, तब उनकी पत्नी गुजरी ने एक पुत्र को जन्म दिया जो बाद में गोविन्द सिंह के नाम से प्रख्यात हुआ। शिशु के जन्म के अवसर पर एक फकीर तथा उसके शागिर्दों को आकाश में एक ज्योति का दर्शन हुआ। फकीर इस सत्य से परिचित हो गया कि एक ऐसे व्यक्ति का जन्म हुआ है जो सन्त के साथ-साथ योद्धा भी होगा। तत्पश्चात् उसने उस ज्योति का अनुगमन किया जो उसे नवजात शिशु के पटना-स्थित निवास-स्थान तक ले गयी।

गोविन्द राय (गुरु गोविन्द सिंह) में बाल्यावस्था से ही सामरिक ऊर्जा के लक्षण परिलक्षित होने लगे थे।

पटना के दीर्घकालीन प्रवास के पश्चात् तेगबहादुर पंजाब लौट आये। वहाँ आ कर वह सतलज के तट पर स्थित आनन्दपुर में स्थायी रूप से रहने लगे।

सम्राट् औरंगजेब ने कश्मीर के हिन्दुओं के धर्मान्तरण का आदेश दे दिया। कश्मीरियों ने गुरु तेगबहादुर के पास अपना एक प्रतिनिधि-मण्डल भेजा। उस प्रतिनिधि-मण्डल द्वारा व्यक्त कश्मीरियों की व्यथा-कथा से उनको बहुत दुःख हुआ। वह औरंगजेब के इस कुत्सित अभियान को विफल करने की युक्ति पर विचार करने लगे। उनके अल्पायु पुत्र गोविन्द राय ने उनकी विषण्णता का कारण पूछा। गुरु ने कहा- "संसार अत्याचार तथा उत्पीडन से दुःखी है। जो प्राणोत्सर्ग के लिए उद्यत है, वही इस धरती को अत्याचारों तथा उत्पीडको के भार से मुक्त कर सकता है।बालक ने कहा कि एकमात्र उसके पिता ही यह काम कर सकते हैं। गुरु अपने पुत्र के इन शब्दों से अत्यधिक

अनुप्राणित हुए। उन्होंने कश्मीरियों से कहा कि वे सम्राट् से कह दें कि वे गुरु के धर्मान्तरण के बाद ही इस्लाम धर्म ग्रहण करेंगे। सम्राट ने गुरु को दिल्ली आने का आदेश दिया।

तेगबहादुर सम्राट् का आदेश मान कर आगरा पहुँचे जहाँ से कोतवाल उनको दिल्ली ले गया। उन्होंने इस्लाम-धर्म ग्रहण को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया। फलतः उन्हें कारागृह में डाल दिया गया। एक बार वह कारागृह की सबसे ऊपर वाली मंजिल पर चले गये। लोगों को ऐसा प्रतीत हुआ कि वह वहाँ से रानियों के व्यक्तिगत कक्ष की ओर देख रहे हैं। सम्राट् ने यह सुन कर उन पर आपत्तिजनक कृत्य का अभियोग लगाया। गुरु ने कहा कि वह कारागृह के शीर्ष भाग पर जा कर किसी के व्यक्तिगत कक्ष पर दृष्टिपात नहीं कर रहे थे। वह तो यूरोप के उन लोगों को देख रहे थे जो मुगल साम्राज्य के विनाश के लिए भारत-भूमि पर चले आ रहे थे।

इस बीच गुरु के साथ कारागृह में लाये गये सिक्खों में से तीन सिक्ख फरार हो गये। जेलर ने गुरु को लोहे के कठघरे में बन्द कर दिया जहाँ उन्हें निर्ममतापूर्वक शारीरिक यन्त्रणा दी गयी। जब गुरु का प्राणान्त होने को था, तब उन्होंने अपने पुत्र गोविन्द राय को लिखा- "मेरी शक्ति समाप्त हो चुकी है। मैं बेड़ियों में आबद्ध हूँ और मेरे लिए मुक्ति का कोई मार्ग नहीं है। नानक ने कहा था- 'ईश्वर ही मेरा शरण-स्थल है'।" गुरु ने अपने पुत्र के पास गुरु-गद्दी पर उसके उत्तराधिकार के प्रतीक स्वरूप एक नारियल तथा पाँच पैसे भेज दिये।

गुरु अपने निश्चय पर अडिग थे। कठोरतम यन्त्रणा भी उनको विचलित नहीं कर सकी। सम्राट् ने उन्हें धमकी देते हुए कहा कि या तो वह इस्लाम-धर्म ग्रहण कर लें या अपनी साधुता की सिद्धि के लिए किसी चमत्कार का प्रदर्शन करें। यदि वह ऐसा नहीं करेंगे, तो उन्हें मृत्य-दण्ड दिया जायेगा। गुरु ने उसके इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। फलतः सम्राट ने उनको मृत्यु दण्ड का आदेश दे दिया और एक सार्वजनिक स्थान पर उनकी हत्या कर दी गयी। उनका शिर उनके एक निष्ठावान शिष्य के अंक में जा गिरा। तभी धूल-भरा झंझावात आया और अन्धकार छा गया। उसी अन्धकार में उनका वह सिक्ख उनके शिर को ले कर तीव्र गति से आनन्दपुर की ओर दौड़ पड़ा जहाँ उनके शिर का दाह-संस्कार हुआ। पाँच सिक्ख उनके मृत शरीर को गाड़ी पर लाद कर अपने घर ले गये और उसे वहीं जला दिया गया। उस घर में आग लग गयी और उन सिक्खों का यह काम लोगों के लिए अविदित ही रह गया। उन्होंने अस्थियों को एकत्र कर धरती में गाड़ दिया। तत्पश्चात् गोविन्द राय को विधिवत् दसवाँ गुरु घोषित कर दिया। वह अन्तिम गुरु थे। उन्होंने अपने पिता की प्रशंसा में निम्नांकित पंक्तियाँ लिखीं :

"दिल्ली के सम्राट् के शिर पर अपना मृत्तिका पात्र तोड़ कर
उन्होंने स्वर्ग के लिए प्रस्थान किया।
तेगबहादुर ने जो किया
वह संसार में जन्म-ग्रहण करने वाले
किसी भी व्यक्ति के लिए असम्भव रहा।
सारा संसार शोकाकुल था उनकी मृत्यु से
किन्तु स्वर्ग में आनन्द का महोत्सव मनाया जा रहा था।"

गुरु तेगबहादुर ने महान् गुरु गोविन्द सिंह के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया था। सिक्खों में वह सच्चे बादशाह के रूप में पूजित हुए। उन्होंने आत्मा की आत्यन्तिक मुक्ति के लिए उनका पथ-प्रदर्शन किया। तेगबहादुर का हिंसात्मक अन्त गोविन्द सिंह के मन पर अमिट प्रभाव अंकित कर गया। उन्होंने मुसलमानों से प्रतिशोध लेने तथा अपने सिक्ख-समुदाय को एक धार्मिक तथा सैन्य संघटन में रूपान्तरित करने का दृढ़ निश्चय कर लिया और अपने इसे उद्देश्य की पूर्ति में वह सफल भी रहे।

तेगबहादुर गुरु-गद्दी पर ग्यारह वर्षों तक पदासीन रहे। उनकी हत्या चौवन वर्ष की आयु में की गयी।

गुरु गोविन्द सिंह

भूमिका

गुरु नानक ने सिक्ख-मत का संस्थापन किया। गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुन देव, गुरु हरगोविन्द, गुरु हर राय, गुरु हरकिशन, गुरु तेगबहादुर तथा गुरु गोविन्द सिंह उनके उत्तराधिकारी थे।

गुरु अंगद ने सिक्खों को एक पन्थ या सम्प्रदाय के रूप में संघटित किया। उन्होंने एक बृहद् पैमाने पर एक सार्वजनिक भोजनालय या लंगर की व्यवस्था की जिसके द्वार सभी मतों तथा वर्गों के लिए उन्मुक्त रहते थे। उन्होंने यह नियम बना दिया था कि जो भी उनके दर्शन के लिए आयेगा, उसको उनके लंगर में निःशुल्क भोजन करना अनिवार्य होगा। उनका यह नियम जाति-भेद के प्रति उनकी अवज्ञा का ही द्योतक था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये सभी बिना किसी भेद-भाव के वहाँ एक पंगत या पंक्ति में बैठ कर भोजन करते थे।

चौथे गुरु रामदास ने सोचा कि एक ऐसे स्थान का होना नितान्त आवश्यक है जहाँ सिक्ख समय-समय पर एकत्र हो कर विचार-विनिमय कर सकें। उन्होंने रामदासपुर में एक पुराने तालाब का जीर्णोद्धार कर उसको अमृतसर के नाम से अभिहित कर दिया। अमृतसर का अर्थ होता है अमृत या अमरत्व का कुण्ड। इसके मध्य में उन्होंने एक भव्य मन्दिर का निर्माण किया। उन्होंने रामदासपुर का नाम बदल कर उस तालाब के नाम पर अमृतसर कर दिया और अब वह स्वर्ण-मन्दिर सिक्खों का मुख्यालय हो गया है। इस प्रकार सिक्खों का एक पृथक् समुदाय संघटित हो गया।

रामदास के पुत्र पंचम गुरु अर्जुन ने सिक्खों के पवित्र ग्रन्थ 'ग्रन्थ साहिब' का संकलन किया और अमृतसर के स्वर्ण-मन्दिर में आदरपूर्वक विराजमान कर दिया। यह ग्रन्थ सिक्खों के लिए 'बाइबिल' तथा 'गीता' है। सिक्ख-मत के प्रचार-प्रसार में उनका योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहा। उन्होंने सिक्खों को एक समुदाय में संघटित किया।

कई कारणों से गुरु अर्जुन तथा जहाँगीर एक-दूसरे के शत्रु हो गये। १६०६ ई. में गुरु अर्जुन पर राजद्रोह का अभियोग लगा कर उनको घोर यन्त्रणा देने के पश्चात् उनकी हत्या कर दी गयी।

गुरु अर्जुन ने अपने पुत्र हरगोविन्द को गुरु-गद्दी पर पदासीन कर दिया। वह सिक्खों के छठे गुरु थे। उन्हें जहाँगीर ने बारह वर्षों तक कारागृह में रखा। हर राय सप्तम गुरु थे। अष्टम गुरु हरकिशन का युवावस्था में ही देहान्त हो गया।

गुरु गोविन्द का जन्म

गुरु हर राय के पुत्र तेगबहादुर नौवें गुरु थे। उन्होंने आनन्दपुर नामक एक नया नगर बसाया। गुरु गोविन्द सिंह उनके एकलौते पुत्र थे। उनका जन्म १६६६ ई. में पटना में हुआ था।

अल्पायु में ही वह समवयस्क बालकों का सैन्य दल बना कर उसके सेना-नायक हो जाया करते थे। कृत्रिम धनुष-बाण तथा अन्य शस्त्रास्त्र उनके खिलौने थे। लड़ाइयों का स्वाँग तथा सैनिक व्यायाम उनके प्रिय खेल थे। उन्होंने बालकों के एक नियमित सैन्य दल का संघटन कर लिया था। बालकों का यह दल उनको अपना नायक मानता था। उन्होंने इन बालकों की शक्ति, सहनशीलता तथा उनके सैन्य कौशल के परीक्षण के लिए उनकी दो टोलियों का संघटन किया था जो एक-दूसरे की प्रतिद्वन्द्वी होती थीं।

गुरु गोविन्द की विशेषताएँ

गुरु गोविन्द सिंह एक योद्धा सन्त थे। उनका हृदय शौर्य तथा धैर्य से ओत-प्रोत था। उन्होंने समस्त पंजाब तथा सिक्ख-समुदाय को वीरोचित मनोवेग तथा सैनिक भावना से अनुप्राणित कर दिया। उनके शब्दों में तोपों की गर्जना तथा लौह उपकरणों की आपसी टकराहट की गूंज होती थी जो लोगों के हृदय में सामरिक ऊर्जा की सृष्टि कर देती थी। पंजाब के इस महान जन-नायक की उपस्थिति में कायर भी शुरवीर बन जाता था। गुरु गोविन्द एक चमत्कारिक सन्त सेनानायक थे। उनके शब्दों से शक्ति की देवी अर्थात माता शक्ति की साँसों की सुरभि निःसृत होती थी। उन्होंने खालसा बन्धुत्व का सुसंहत शिलान्यास किया और लोगों को जन-सेवा के लिए होठों पर मुस्कान लिये आत्मोत्सर्ग की शिक्षा दी।

गुरु गोविन्द सिंह प्रचण्ड व्यक्तित्व के स्वामी थे। वह एक अतिमानव थे। वह भूलुण्ठित को भी शीर्षस्थ कर दिया करते थे। उनकी ओजमयी उपस्थिति में दुर्बलता भी अपराजेय शक्ति में रूपान्तरित हो जाती थी। उनकी दीप्तिमयी तलवार अन्यायी-अनाचारी लोगों को आतंकित कर देती थी। मृत्यु के प्रति उनके मन में प्रगाढ़ प्रेम था। वह इस सत्य से परिचित थे कि आत्मा अमर्त्य है।

गुरु गोविन्द सिंह के शिष्य सन्त थे जो युद्ध-क्षेत्र में भी ईश्वर से विलग नहीं होते थे। उनको ईश्वर के ध्यान के लिए पद्मासन या सिद्धासन-जैसे आसनों की आवश्यकता नहीं होती थी। जब वे उत्पीड़ितों तथा असहायों के रक्षार्थ युद्धरत होते थे, तब वे समाधिस्थ हो कर अर्थात् एकाग्र भाव से शत्रु के विरुद्ध संघर्ष करते थे।

गुरु गोविन्द सिंह देश-भक्त मात्र न हो कर कवि, दार्शनिक तथा पैगम्बर भी थे।

बाल्यावस्था में ही उनमें उदात्त भावों तथा महान् उद्देश्यों के चिह्न परिलक्षित होने लगे थे। नौ वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने अपने पिता के समक्ष सत्य तथा धर्म-निष्ठा की बलिवेदी पर अपना शीश अर्पित करने का प्रस्ताव प्रस्तुत कर दिया। एक बार कश्मीर के पण्डित परामर्श तथा सहयोग के लिए तेगबहादुर के पास आये। उन्होंने उनसे कहा कि किसी भी मूल्य पर उनके धर्म की रक्षा होनी चाहिए।

औरंगजेब के प्रतिनिधि ने उन पण्डितों से कहा कि उनको इस्लाम तथा मृत्यु में से किसी एक को चुनना है। तेगबहादुर ने सोचा कि यदि कोई विशुद्ध तथा पवित्र व्यक्ति अपने प्राणों की बलि दे दे, तो हिन्दुत्व की रक्षा हो सकती है। इससे धर्मान्ध सम्राट् की आँखें भी खुल सकती हैं। उन्होंने सोचा कि वहाँ उनसे भी पवित्र लोग हैं। वह दुःखी और चिन्ताग्रस्त हो गये। उनके अल्प-वयस्क पुत्र ने उनके दुःख तथा उनकी चिन्ता के कारण का पता लगा कर उनसे कहा- "मेरे पूज्य पिता, इस धरती पर आपसे अधिक महान् तथा पवित्र कौन है ?" पूत्र के इन शब्दों ने पिता की समस्या का समाधान प्रस्तुत कर दिया। अपने पुत्र के इस उपशामक तथा निर्भान्त उत्तर से तेगबहादर के निश्चय में और अधिक दृढ़ता आ गयी।

जब गोविन्द राय को गुरु-गद्दी पर पदासीन किया गया, तब उनकी आयु केवल नौ वर्ष थी। जब उनके यज्ञोपवीत की बात चली, तब उन्होंने कहा कि उनका लक्ष्य अत्याचारियों को दण्डित एवं उन्मूलित करना है और उनके इस अभियान में इस पवित्र सूत्र की भाँति तलवार ही उनको सहायता प्रदान करेगी।

गुरु गोविन्द सिंह गुरुमुखी, संस्कृत तथा फारसी के महान् विद्वान् थे। वह कवियों तथा सुसंस्कृत व्यक्तियों को संरक्षण प्रदान करते थे। उन्होंने भगवान् राम, भगवान् कृष्ण तथा अर्जुन की प्रेरणादायी कहानियों को हिन्दी में पद्य-

बद्ध करने के लिए अनेक कवियों को नियुक्त कर लिया था। उन्होंने स्वयं भी हिन्दी में कविताएँ लिखीं जो आज भी अप्रतिम समझी जाती हैं।

गुरु गोविन्द सिंह ने शेर से लड़ते हुए अपनी तलवार से उसे मार डाला था।

गुरु गोविन्द का विवाह

जीतो, सुन्दरी तथा साहित देवी (Sahit Devi) गुरु की ये तीन पत्नियाँ थीं। उनके चार पुत्र थे। वरिष्ठतम पुत्र अजित सिंह सुन्दरी का पुत्र था। जीतो ने तीन पुत्रों को जन्म दिया जिनके नाम जोरावर सिंह, जुझार सिंह तथा फतह सिंह थे। जब साहित देवी ने सन्तान प्राप्ति की इच्छा प्रकट की, तब गुरु गोविन्द सिंह ने कहा कि समग्र खालसा राष्ट्र उसको माता समझेगा। अतः उनको खालसा की माता कहा जाने लगा।

गुरु की भेंट

काबुल के दुनीचन्द नामक एक सिक्ख ने गुरु को भेंट में एक राजसी शिविर दिया था। इस शिविर पर मनोहर दृश्यों की सुनहली-रूपहली कढ़ाई की गयी थी। तीर्थाटन पर निकला आसाम का राजा रतन सिंह गुरु के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए आनन्दपुर आया। उसने गुरु को भेंट स्वरूप पाँच घोड़े, एक पंचकला और एक विलक्षण हाथी दिया। पंचकला में गदा, भाला, तलवार, छुरा तथा पिस्तौल समवेत रूप में समाविष्ट थे और हाथी में उसके ललाट से ले कर पूँछ तक एक श्वेत धारी थी। वह गुरु के ऊपर पंखा झलता, उनके पद-प्रक्षालन के समय अपनी सूंड से जल-पात्र पकड़े रहता, तौलिये से उनके पैर पोंछता, उनके जूतों को ठीक करता तथा उनके धनुष से निकल चुके बाणों को वापस ले आता। राजा राम राय ने उन्हें एक बहुमूल्य सिंहासन भी भेंट किया जिसकी एक कमानी को दबाते ही कठपुतलियाँ बाहर आ कर खेल दिखाने लगती थीं।

भीमचन्द से लड़ाई

गुरु गोविन्द सिंह ने अपने सैनिकों की संख्या में वृद्धि की। उन्होंने यमुना-तट पर पौंटा नामक एक दुर्ग का निर्माण किया।

गुरु की महिमा में अधिकाधिक वृद्धि होती गयी। उन्होंने अपने अनुयायियों को सन्त सैनिक बनाया। उन्होंने अपनी सेना में सैनिक कवायद की एक नयी विधि तथा युद्ध के एक नये नगाड़े का प्रवर्तन किया। उनकी सेना में प्रतिदिन नये-नये अभ्यर्थियों का नामांकन होने लगा। भेंट के रूप में गुरु को बहुसंख्यक घोड़े तथा शस्त्रास्त्र प्राप्त हुए। किसी भी रूप में सम्राट् द्वारा उत्पीडित वीर तथा साहसी योद्धा गुरु गोविन्द सिंह के यहाँ एकत्र रोने लगे और उन्हें सैन्य-विज्ञान में प्रशिक्षित तथा अनुशासित किया जाने लगा।

पर्वतीय राज्यों के अधिपति उनकी समृद्धि तथा समुन्नति को सतर्क दृष्टि से देख रहे थे। बिलासपुर का राजा भीमचन्द, जिसके राज्य-क्षेत्र के अन्तर्गत उस समय गुरु का निवास था, उनसे ईर्ष्या करने लगा। उसने परसादी नामक हाथी को पाने के लिए अनेक कुत्सित प्रयत्न किये; किन्तु उसके सारे प्रयत्न निष्फल होते गये।

तत्पश्चात् राजा ने एक सन्देश के माध्यम से गुरु से कहा कि वह उसके पास हाथी भेज दें और यदि उन्होंने हाथी नहीं भेजा, तो उन्हें उसके राज्य से निष्कासित कर दिया जायेगा। राजा ने उनके नगाड़े के स्वर के प्रति भी अपनी आपत्ति व्यक्त की। उसने इसे अपनी प्रभु-सत्ता के विरुद्ध एक चुनौती मान लिया। गुरु ने राजा से कहा- "एक अनश्वर स्रष्टा के अतिरिक्त मुझे अन्य कोई आदेश नहीं दे सकता। मैं तुम्हारे राज्य की सीमा के अन्तर्गत नहीं रहता।

मैं उस नगर में रहता हूँ जिसे मेरे पिता ने स्वर्ण दे कर खरीदा था। मैं परसादी को तुम्हारे हवाले नहीं कर सकता। मैं तुमसे युद्ध के लिए सर्वदा उद्यत हूँ। मुझे तुम्हारी धमकियों का कोई भय नहीं है।" उनके इन शब्दों से राजा अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा और १६८२ ई. में उसने उन पर आक्रमण कर दिया। इस लड़ाई में भीमचन्द पराजित हुआ और उसके बहुत से सैनिक मारे गये।

भंगानी की लड़ाई

एक अन्य अवसर पर पर्वतीय राजाओं ने गुरु की सेना पर आक्रमण कर दिया। भीमचन्द उनका नेता था। भंगानी में घोर युद्ध हुआ। दोनों ओर के बहुसंख्यक सैनिक मारे गये। गुरु की सेना को विजय प्राप्त हुई और विपक्षियों को पलायन करना पड़ा।

चाम कौर की लड़ाई

औरंगजेब ने सरहिन्द के सूबेदार वजीर खाँ को आनन्दपुर को अपने अधिकार में लेने तथा गुरु को दरबार में ले आने का आदेश दिया। इस अवसर पर अनेक सिक्खों ने गुरु का साथ छोड दिया; किन्तु गुरु ने अपने शेष निष्ठावान सैनिकों को साथ ले कर शाही सेना के विरुद्ध युद्ध किया।

चाम कौर में भीषण युद्ध हुआ। गुरु के दो वरिष्ठतम पुत्र साहब अजित सिंह और साहब जोरावर सिंह ने वीरतापूर्वक लड़ते हुए युद्ध-भूमि में अपने प्राणों का विसर्जन कर दिया। उनके कनिष्ठतम दो पुत्र अपनी पितामही के साथ बच कर निकल गये।

सरसा नदी के पास हुई विनाश-लीला के पश्चात् गुरु का वृद्ध ब्राह्मण रसोइया गंगाराम उनके दो पुत्रों, जुझार सिंह तथा फतह सिंह और गुरु की माता को ले कर अपने घर चला गया। उस समय जुझार सिंह तथा फतह सिंह की आयु क्रमशः आठ वर्ष तथा छह वर्ष थी। इन लोगों के पास रुपये तथा जेवरात थे जिन्हें अवसर का लाभ उठा कर गंगाराम ने चुरा लिया। गुरु-माता ने उसके इस दुर्व्यवहार के लिए उसकी भर्त्सना की जिससे क्रुद्ध हो कर उसने उन लोगों को अपने घर से निकाल दिया। उस विश्वासघाती ने उनकी गिरफ्तारी के लिए उनके आगमन की सूचना पुलिस को पहले ही दे दी थी। उन्हें सरहिन्द के सूबेदार वजीर खाँ के पास ले जाया गया जिसने उन्हें इस्लाम-धर्म ग्रहण करने को कहा। गुरु के पुत्रों ने उसके इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया जिसके परिणाम-स्वरूप उनको जीवितावस्था में ही सरहिन्द में पत्थर की दीवारों के बीच दफना दिया गया।

इस शोक-समाचार से गुरु विचलित नहीं हो सके। उन्होंने कहा- "विनाश मेरे पुत्रों का नहीं, सरहिन्द का होगा।”

मुक्तसर की लड़ाई

मुक्तसर में गुरु तथा सम्राट् की सेनाओं के बीच घोर युद्ध हुआ। उनका परित्याग कर जो लोग चले गये थे. उनको अपने कुकृत्य पर पश्चात्ताप हुआ और वे लोग पुनः उनके साथ हो गये। गुरु विजयी हुए। औरंगजेब ने उन्हें आश्वासन देते हुए उनसे व्यक्तिगत रूप से मिलने की इच्छा प्रकट की। गुरु ने उसके पास एक जफरनामा अर्थात् पद्य-बद्ध पत्र लिखा जिसमें उन्होंने उस पर विश्वासघात तथा दरगी चाल का दोषारोपण करते हुए कहा कि उनको उसके उस व्यवसाय पर विश्वास नहीं है जिसे वह धर्म के नाम पर चला रहा है। यह पत्र सम्राट् के लिए मर्मस्पर्शी सिद्ध हुआ। इसके पश्चात् १७०७ ई. में शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गयी।

खालसा का जन्म

गुरु गोविन्द सिंह ने सिक्खों की एक बैठक में कहा- "मैं पाँच सिक्खों के शिर चाहता हूँ।" इसे सुन कर वहाँ एकत्र सभी लोग स्तब्ध रह गये। लाहौर के एक खत्री सिक्ख ने आगे बढ़ कर कहा- "हे गुरु, हे सच्चे बादशाह, मैं आपको अपना शिर अर्पित करता हूँ।" गुरु उसे एक बड़े शामियाने के भीतर ले गये। बाहर बैठे लोगों को तलवार के प्रहार का स्वर सुनायी पड़ा। इसके साथ ही उन लोगों ने शामियाने से निकलती हुई रक्त की धारा भी देखी। इसके पश्चात गुरु हाथ में रक्त-रंजित तलवार लिये बाहर आये और अपने स्थान पर बैठ गये। अब उन्होंने बलि के लिए दूसरे व्यक्ति की माँग की। धन्ना नामक के जाट ने आगे बढ़ कर स्वयं को उनके समक्ष प्रस्तुत कर दिया। गुरु उसे भी शामियाने में ले गये जहाँ उसके साथ भी वही व्यवहार हुआ जो दयाराम केसाथ किया जा चुका था। इसके पश्चात् हिमना (Himnah) कहार, साहब राम गई तथा मोहकम चन्द रंगरेज ने अपने शिर अर्पित किये।

कुछ क्षणों के पश्चात् गुरु उन पाँचों व्यक्तियों के साथ बाहर आये। वे पाँचर्चा पूर्ववत् स्वस्थ-सकुशल थे। शामियाने में पाँच बकरियों को मारा गया था। गुरु गोविन्द सिंह ने उन पाँचों चयनित व्यक्तियों के समक्ष जीवन के यथार्थ सिद्धान्तों की व्याख्या की। उनको कच्छा आदि श्वेत वस्त्र पहना कर उनके हाथों में कृपाण दे दिये गये। वे 'वाहे गुरु' का जप करते हुए गुरु के सामने खड़े हो गये। गुरु ने एक लौह-पात्र में नदी का शुद्ध जल भर कर उसमे कुछ बताशे डाले और उन्हें दो धार वाले कृपाण से हिला-डुला कर उस जल में भली-भाँति मिला दिया। इसके पश्चात् उन्होंने घोषित किया कि उन्होंने अमृत तैयार कर लिया है। उन्होंने उसे उन पाँचों व्यक्तियों के ऊपर छिडक कर उमे पिला दिया। उन्होंने उन्हें आदेश दिया कि वे अपने नाम के आगे 'सिंह' शब्द लगाया करें। वे पाँचों उनके प्रथम दीक्षित शिष्य हुए।

इन चुने गये उत्कृष्ट शिष्यों को 'पंच प्यारे' कहा गया। खालसा पन्थ में इनको विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इन लोगों ने गुरु के पट्ट-शिष्यों के रूप में धर्म के प्रचार-प्रसार में गुरु को महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

खालसा का अमृत या उसका दीक्षा-संस्कार

कोई व्यक्ति लम्बे-लम्बे बालों से ही खालसा नहीं बन जाता। उसे स्वयं में नैतिक तथा आध्यात्मिक शक्ति स्फुरित करने के लिए 'अमृत-पान' कर दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

नव-दीक्षित व्यक्ति अपने हाथ में कृपाण धारण करता है। वह पवित्र ग्रन्थ के सम्मुख खड़ा हो कर 'वाहे गुरु' का निरन्तर जप करता रहता है। उसके पास केश, कच्छा, कंघा, कड़ा तथा कृपाण का होना अत्यावश्यक है।

नदी से विशुद्ध जल लाया जाता है। इसके पश्चात् उसे एक स्वच्छ लौह पात्र में डाल कर उसमें बताशे डालते हैं और बताशों को दो धार वाले कृपाण से हिला-डुला कर पानी में भली विधि मिला देते हैं। ऐसा करते समय 'वाहे गुरु' का जप करना चाहिए। इस अवसर पर 'जपुजी' का पाठ भी अनिवार्य है। 'अमृत' तैयार करने वालों को निष्ठावान् 'सिंह' तथा निष्कलुष-चरित्र होना चाहिए। इन लोगों की संख्या पाँच होती है।
अंजली में उस 'अमृत' को भर कर नव-दीक्षित व्यक्ति की आँखों तथा सके मुख-मण्डल पर पाँच बार छिडका जाता है। इसके बाद इसका छिड़काव पाँच बार उनके शिर के केशों पर भी होता है। दीक्षा समारोह की समाप्ति के पश्चात् उसे इस सत्य से परिचित करा दिया जाता है कि उसका पुनर्जन्म हुआ है और माता शिव कौर तथा गुरु गोविन्द सिंह ही क्रमशः उनके माता-पिता हैं।

नव-दीक्षित व्यक्ति अब एक नये जीवन में प्रवेश करता है और उसे कड़ा प्रसाद दिया जाता है।

गुरु गोविन्द सिंह के अन्तिम दिन

गुरु गोविन्द सिंह तलवण्डी साहब में नौ महीनों तक रहे और इसे एक विद्यापीठ का रूप प्रदान कर इसको गुरु-काशी नाम से अभिहित कर दिया। यहाँ मौखिक रूप से 'आदि ग्रन्थ साहिब' की प्रतिलिपि तैयार की गयी और उसमें गुरु तेगबहादुर की कविताओं को समाविष्ट कर लिया गया।

गुरु गोविन्द सिंह ने दक्षिण की यात्रा की। उधर निजाम के राज्य में वह स्थायी रूप से नान्देड़ में रहने लगे। उन्होंने नान्देड़ को एक दूसरे आनन्दपुर में रूपान्तरित कर दिया।

नान्देड़ में जब एक दिन वह अपने शिविर में अकेले सो रहे थे, तब एक पठान ने उन्हें छुरा मार दिया। गुरु तत्काल उठ गये और अपने कृपाण से उन्होंने उसे मार डाला। कुछ दिनों के पश्चात् १७०८ ई. में उनका देहान्त हो गया। उस समय उनकी आयु बयालीस वर्ष थी।

गुरु के अन्तिम शब्द थे- “मैं अपने खालसा को अनश्वर ईश्वर के हाथों में सौंप रहा है। पवित्र 'ग्रन्थ साहिब' से ही अब तुम लोगों को मार्ग-दर्शन प्राप्त होगा। अमर्त्य सत्ता अर्थात परमात्मा के आदेशानुसार ही खालसा पन्थ का प्रारम्भ हुआ था। मैं सारे सिक्खों को 'ग्रन्थ साहिब' को अपने गुरु के रूप में स्वीकार तथा सम्मानित करने का आदेश देता हैं।”

आधुनिक युग के सन्त

राघवेन्द्र स्वामी

भारत में बहुसंख्य महान् महात्माओं का आविर्भाव हुआ है। अनेक लेखकों द्वारा इनके जीवन-चरित्र के लेखन तथा पुनर्लेखन का कार्य प्रायः चलता ही रहता है। किन्तु इसका उपयोग क्या है? इन महापुरुषों के जीवन-चरित्र तथा उपदेशों को समाचार पत्रों के रिक्त स्थानों की पूर्ति का माध्यम मात्र न मान कर हमें इन्हें इनके आदर्शों को सार्वकालिकता प्रदान करने के लिए सम्मोहक आग्रह के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। उनके शारीरिक कष्ट तथा उनकी अद्‌भुत उपलब्धियाँ धर्म-पथ के अनुसरण के लिए मानव-मन को चमत्कारिक रूप से प्रभावित करती हैं।

सत्रहवीं शताब्दी में राघवेन्द्र तीर्थ स्वामी नामक ऐसे ही एक महात्मा थे जिनकी वर्षी प्रतिवर्ष श्रावण मास के कृष्ण पक्ष की द्वितीया को मनायी जाती है।

गुरु की खोज

वेंकट भट्ट, जो बाद में राघवेन्द्र तीर्थ के नाम से प्रख्यात हुए, दक्षिण भारत-स्थित भुवनगिरि गाँव के निवासी तिम्मन्न भट्ट के कनिष्ठतम पुत्र थे। वह अपने अग्रज की देख-रेख में रहते थे। उनका उपनयन-संस्कार सात वर्ष की आयु में हुआ और तत्पश्चात् उन्हें संस्कृत की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए मदौ भेज दिया गया। वह अपनी असाधारण मेधा के कारण अल्पावधि में ही किसी विषय में दक्षता प्राप्त कर लेते थे। कुछ भाषाओं पर उनका असाधारण अधिकार था; किन्तु अभी तक उनके जीवन में कुछ ऐसा घटित नहीं हुआ था जिसे असाधारण या उल्लेखनीय कहा जा सके।

वेदान्त के उच्चतर अध्ययन के लिए वेंकट भट्ट किसी प्रबुद्ध गुरु की खोज में कुम्भकोणम के प्रख्यात सन्त सुधीन्द्र तीर्थ के पास गये। उन दिनों अपनी वर्धमान ख्याति के कारण वह सभी लोगों के आकर्षण के केन्द्र बने हुए थे। वेंकट भट्ट ने स्वयं को अपने गुरु के चरणों पर समर्पित कर दिया और गुरु ने भी उनका सहर्ष स्वागत किया। आदर्श गुरु प्रायः अपने इस शिष्य की असाधारण विशेषताओं तथा क्षमता का ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया करते थे। इस बात के लिए वह ईश्वर की स्तुति किया करते थे कि उसने उनके हाथों में एक ऐसे दर्लभ शिष्य को सौंपने की कृपा की है जो उनके विचारानुसार किसी दिन एक महान् आचार्य होगा।

एक बार वेंकट भट्ट के कुछ सहपाठियों ने अपने गुरु के पास जा कर उनके पट्ट-शिष्य पर समय के अपव्यय, अध्ययन के प्रति अरुचि तथा कुछ अन्य अनियमितताओं के दोषारोपण किये। इसके सत्यापन के निर्णय के लिए गुरु ने एक दिन अर्धरात्रि में विद्यार्थियों के शयन कक्ष का निरीक्षण किया। वहाँ उन्होंने देखा कि उनके शिष्य भिन्न-भिन्न प्रकार की राजसी शय्याओं पर सुखपूर्वक प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न हैं। वहाँ दीपक, पुस्तक और अध्ययन का ऐसा अन्य कोई उपकरण नहीं था जिससे यह समझा जा सके कि वे रात में अध्ययन कर रहे थे। उन्हें यह देख कर आश्चर्य हुआ कि वहाँ वेंकट भट्ट नहीं थे। वह शीघ्र ही वहाँ से उत्सुकतापूर्वक अपने प्रिय शिष्य की खोज में निकल पड़े। उस महान् वृद्ध स्वामी ने जब देखा कि उनका शिष्य एक कोने में सो रहा है, तब उनका हृदय दयार्ट हो उठा। धरती माता वेंकट भट्ट की शय्या तथा उनका हाथ तकिया बना हुआ था। तुहिन-शीतल वायु से रक्षा के लिए उनके शरीर पर कोई चादर तक नहीं थी। उनके निकट शुष्क पत्रों का पंज था जिसे जला-जला कर उन्होंने रात में अध्ययन किया था। इसके अतिरिक्त वहाँ 'न्याय-सुधा' की एक प्रति तथा कुछ ताड़-पत्र भी थे। इन ताड-पत्रों को वह अपनी लेखन-सामग्री के रूप में प्रयुक्त किया करते थे।

'न्याय-सुधा' पर उनका भाष्य

कोमल हृदय गुरु इस हृदय विदारक दृश्य को और अधिक सहन नहीं कर सके। अपने मेधावी युवा शिष्य के इस विनम्र दैन्य से वह अत्यधिक विचलित हो उठे। शीत का प्रकोप देख कर उन्होंने सुप्त विद्यार्थी के शरीर पर अपना उत्तरीय डाल दिया। इसके पश्चात् वह उन ताड-पत्रों को ले कर अपने निवास स्थान की ओर चल पड़े। वह यह जानने को उत्सुक थे कि उन ताड़-पत्रों पर क्या लिखा था। जब उन्होंने उन्हें देखा तो वह यह देख कर स्तब्ध रह गये कि वह 'न्याय-सुधा' पर एक विद्वत्तापूर्ण भाष्य था। आनन्द तथा भावावेश के कारण उनके नेत्रों से अश्रु-प्रवाह होने लगा जिसे रोक पाने में वह असमर्थ थे।

'न्याय-सुधा' चौदहवीं शताब्दी के प्रख्यात सन्त जयतीर्थ स्वामी द्वारा द्वैत वेदान्त पर लिखित एक उच्चकोटि की विद्वत्तापूर्ण कृति है। प्रचण्ड मेधा के स्वामी कृतविद्यों के लिए भी इसका निहितार्थ ग्रहण दुष्कर है। युवा विद्यार्थी के लिए तो इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। अभी तो वह गुरु की देख-रेख में उस पुस्तक का अध्ययन कर रहे थे। अतः इस कथन में अतिशयोक्ति के दर्शन नहीं होने चाहिए कि जब उन्होंने 'न्याय-सुधा' पर अपने शिष्य का स्वतन्त्र भाष्य देखा, तब उनके आनन्द की सीमा नहीं रही। उन्होंने अपने शिष्य की महत्ता के प्रति अपनी स्वीकृति की अभिव्यक्ति के लिए एक सभा का आयोजन किया जिसमें उन्होंने वहाँ एकत्र लोगों से उस युवा भाष्यकार का परिचय कराया और उसकी उस अद्भुत कृति को 'सुधा-परिमल' के नाम से अभिहित किया।

संन्यास का आह्वान

वेंकट भट्ट को उनके गुरु सुधीन्द्र से संन्यास का आह्वान प्राप्त हुआ। पहले तो उन्होंने इस आह्वान को अस्वीकार कर दिया; किन्तु कहा जाता है कि जब सरस्वती ने उनके स्वप्न में प्रकट हो कर उनमें वैराग्य भाव को स्फुरित कर दिया, तब उन्होंने गुरु के आह्वान के प्रति अपनी स्वीकृति व्यक्त कर दी। उन्होंने गुरु से दीक्षा ग्रहण की जिन्होंने उनको राघवेन्द्र तीर्थ के नाम से अभिहित किया। इस प्रकार १६२३ ई. में वेंकट भट्ट ने तंजावर में उच्चतम बर्थ आश्रम में प्रवेश कर लिया। अपने उद्देश्य के आदर्शों से पूर्णतः परिचित होकर उन्होंने अपना जीवन भगवदभक्ति तथा मानवता के हित-चिन्तन में व्यतीत किया। विशुद्ध शक्ति के महत्त्व से लोगों को अपने उपदेशों के माध्यम से अवगत कराना उनके जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य था। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपनी दैहिक सुख-सुविधा को भी भुला दिया। उन्होंने देश का चतुर्दिक पर्यटन किया और इस पर्यटन की कालावधि में अनेक चमत्कारों का प्रदर्शन भी किया।

एक अकाल का निवारण

एक बार तंजावूर राज्य में अकाल का संकट उत्पन्न हो गया और राज्य का अन्न-भण्डार रिक्तप्राय हो गया। राजा ने अपनी प्रजा के उद्धार के लिए अथक प्रयास किये; किन्तु वह इसमें असफल ही रहा। वह राघवेन्द्र की ख्याति से परिचित हो चुका था। उन्हें अन्तिम अवलम्ब समझ कर वह शीघ्रातिशीघ्र उनके पास पहुँचा और उनके चरणों पर जा गिरा। उसने उनसे अकाल के निवारण की प्रार्थना की। उसकी प्रार्थना पर वह राजधानी चले गये। वहाँ उन्होंने राज्य के अन्न भण्डार की दीवाल पर अपने हाथ से संस्कृत में 'श्री' बीजाक्षर लिख दिया। राज्य में कुछ दिनों तक रह कर वह इसे प्रतिदिन लिखते रहे और साथ ही जप भी करते रहे। कुछ ही दिनों में वहाँ मूसलाधार वर्षा हुई जिससे अकाल के संकट का निवारण हो गया और अन्नोत्पादन भी प्रचुर मात्रा में हुआ।

उनकी महान् कृतियाँ

सामान्यतः भारतीय दर्शन तथा विशेषतः द्वैत वेदान्त के प्रति राघवेन्द्र का पाण्डित्यपूर्ण योगदान सार्वजनीन अनुमोदन के अधिकारी के रूप में आज भी प्रशंसित है। वह छियालिस ग्रन्थों के प्रणेता थे। भाषा की प्रांजलता के कारण वे असाधारण रूप से इतने प्रभावोत्पादक तथा ज्ञानप्रद है कि उनसे अनेक लोगों की शंकाओं तथा भ्रान्तियों की निवृत्ति हो जाती है। उपनिषदों पर उन्होंने सुन्दर खण्डार्थों की रचना की है। विभिन्न ग्रन्थों पर उनकी टिप्पणियाँ भी अत्यधिक प्रख्यात हैं।

भक्ति तथा ज्ञान का समुच्चय राघवेन्द्र के उपदेशों का केन्द्रीय विषय था। उनके समकालीन एक महान् व्यक्ति ने अपने 'राघवेन्द्र स्तोत्र' में राघवेन्द्र स्वामी का उल्लेख 'सर्व तन्त्र स्वतन्त्र' के रूप में किया है।

भगवान् में विलय

धर्माध्यक्ष के सिंहासन पर सैंतालिस वर्षों तक पदासीन रहने के पश्चात् राघवेन्द्र बेल्लारि जनपद में चले गये। उन्होंने अपने शिष्यों को तुंगभद्रा नदी के तट पर एक वृन्दावन अर्थात् समाधि-गुहा के निर्माण का आदेश दिया। १६७१ ई. में एक दिन यह महान् सन्त भगवान् कृष्ण का स्तुति-गान करते हुए वृन्दावन अर्थात् समाधि-गुहा में सशरीर प्रविष्ट हो गये। यह देख कर वहाँ एकत्र सहस्रों नर-नारियों के नेत्र अश्रु-बोझिल तथा हृदय शोकाकुल हो गये। वृन्दावन चेन्नई-मुम्बई रेल-मार्ग के स्टेशन तुंगभद्रा से नौ मील दूर स्थित मन्त्रालय में है। वृन्दावन में प्रवेश के पूर्व उन्होंने लोगों से कहा था कि वह वृन्दावन में सात सौ वर्षों तक रह कर अपने आशीर्वाद के इच्छुक लोगों को सुख-शान्ति प्रदान करते रहेंगे।

अमरत्व का प्रमाण

राघवेन्द्र स्वामी के भक्त आज भी अपने कुल-देवता के रूप में उनकी पूजा करते हैं। भिन्न-भिन्न विचारों के लोग पवित्र मन्त्रालय में प्रतिदिन आ कर स्वामी जी के वृन्दावन को अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करते हैं और तत्पश्चात् वहाँ से शान्ति तथा आनन्द का प्रसाद ग्रहण कर अपने घर लौट जाते हैं। क्या रह इस तथ्य की सिद्धि के लिए पर्याप्त नहीं है कि राघवेन्द्र स्वामी आज भी जीवित हैं।

इसके बाद भी यदि कोई आधुनिक आलोचक इस आस्था को व्यंगात्मक दृष्टि से देखता है, तो उसे चेन्नई जनपद गजेटियर (जिल्द १, अध्याय १५, बेल्लारि जनपद, आदोनी तालुक, पृष्ठ २१३, पुनर्प्रकाशित १९१६) की एक विज्ञप्ति पढ़ लेनी चाहिए। विज्ञप्ति में कहा गया है कि राघवेन्द्र ने समाधि-गुहा से निकल कर एक विदेशी से बात की थी। वह विदेशी और कोई नहीं, उस क्षेत्र का तत्कालीन चीफ कलेक्टर सर थामस मुनरो था। उस समय वह वृन्दावन को दिये जाने वाले धर्मादा के सम्बन्ध में वृन्दावन के निकटवर्ती इलाके का व्यक्तिगत रूप से निरीक्षण कर रहा था। उसे वहाँ जो अनुभव प्राप्त हुए थे, उनके फल-स्वरूप उसने वहाँ के लिए धर्मादा को समाप्त करने के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया।

रामलिंग स्वामी

रामलिंग स्वामी का जन्म ५ अक्तूबर १८२३ ई. को (मीन लग्न, चित्रा नक्षत्र, तुला राशि) दक्षिण भारत-स्थित चिदम्बरम् के निकट मरुदूर में हुआ। वह चौवन वर्षों तक जीवित रहे। उनके माता-पिता के नाम क्रमशः चिन्नम्मै तथा रामय्य पिल्लै थे। रामय्य पिल्लै एक ग्राम-राजस्व अधिकारी तथा एक शिक्षक थे। वह भगवान् शिव के परम भक्त, सदाचारी तथा धर्मनिष्ठ थे। चिन्नम्मै एक पवित्र-हृदय तथा धर्मनिष्ठ महिला थीं।

एक दिन शिवयोगी नामक एक महान् महात्मा ने चिन्नम्मै के द्वार पर आ कर कहा- "हे देवी, मैं बहुत भूखा है। मुझे भोजन दो।" चिन्नम्मै ने सोचा कि उसके द्वार पर स्वयं भगवान् उस रूप में खड़े हैं। उन्होंने सन्त को श्रद्धापूर्वक भोजन कराया। वह अत्यन्त प्रसन्न हए। उन्होंने कहा - "देवी, तुम एक दिव्य पुत्र की माता बनोगी जो मेरे ही समान होगा।" वह उन्हें कुछ पवित्र भस्म दे कर चले गये। चिन्नम्मै उस भस्म को श्रद्धापूर्वक निगल गयी जिसके प्रताप से उन्होंने दिव्य शिशु रामलिंगम् को जन्म दिया।

जब रामलिंगम केवल छह मास के थे. तभी रामय्य पिल्लै का देहान्त हो गया। उनका दाह-संस्कार उनके ज्येष्ठ पुत्र सभापति ने किया। सभापति अपने पूर्व-स्थान का परित्याग कर सपरिवार चेन्नई चले गये। वहाँ वह शिक्षक हो गये। उन्हें अपने अनुज रामलिंगम् के हिताहित का बहुत ध्यान रहता था। वह स्वयं ही उनको तमिल पढ़ाया करते थे। रामलिंगम् पाँच वर्ष की अल्पायु में ही बिना किसी प्रशिक्षण के अनेक कविताओं की आवृत्ति कर दिया करते थे। वह जन्मजात मेधावी थे और उनकी स्मरण शक्ति अद्‌भुत थी। वस्तुतः वह एक चमत्कारिक पुरुष थे। शैव-सिद्धान्तों तथा वेदान्त का उनको गहन ज्ञान था।

रामलिंगम् बहुत दयालु, दानशील, आडम्बरहीन, विनम्र, सत्यवादी तथा मधुर-भाषी थे। उनका स्वभाव भद्रता तथा विनयशीलता से ओत-प्रोत था। वह लघ्वाशी तथा आत्म-संयमी थे। वह किसी से व्यर्थ बात नहीं करते थे। उनका हृदय भक्ति-भाव से पूर्ण था और वह श्रद्धापूर्वक भगवान् सुब्रह्मण्यम् की उपासना किया करते थे। नौ वर्ष की आयु में ही उन्होंने सुब्रह्मण्यम् की स्तुति में तमिल में कुछ कविताएँ लिखी थीं जिनमें से एक निम्नांकित है:

"हे दया-सिन्धु,
षड्-शिर भगवान्,
हे भेलधारी महाराज, ज्योतियों की ज्योति,
और आनन्द के महासागर,
हे अधिपतियों के अधिपति,
तुमने मुझे शिष्य के रूप में स्वीकार कर मेरी रक्षा की।
हे द्वादश-नेत्र-कमल भगवान्,
ज्ञान-सिन्धु,
मेरी जननी,
मेरी नेत्र-ज्योति,
तुम अपने मयूर पर आरूढ़ हो कर
अपने भक्तों को दर्शन देते हो,
तुमने मेरी रक्षा की है।"

सोलह वर्ष की आयु से ही वह चेन्नई के निकटस्थ तिरुवोट्टियूर के मन्दिर भगवान् त्यागराज की उपासना किया करते थे। उन्होंने उनका दर्शन भी किया था। भगवान् त्यागराज ने उनको आत्मज्ञान के रहस्यों से परिचित कराया था। एक दिन उन्होंने क्षुधा-पीड़ित रामलिंगम् को मन्दिर के पुजारी का व्य-ग्रहण कर स्वयं अपने हाथों से भोजन कराया था। भगवान् के प्रति उनके इदय में पिता-पुत्र का भाव था।

रामलिंगम् विवाह करना नहीं चाहते थे; किन्तु अपने अग्रज सभापति द्वारा विवश किये जाने पर उन्हें विवाह करना ही पड़ा। उनके मन में पत्नी के प्रति आसक्ति नहीं थी। इस प्रकार वह वास्तविक वैवाहिक जीवन व्यतीत नहीं कर रहे थे। वह सदैव ध्यानस्थ रहते थे।

रामलिंगम् से आध्यात्मिक अनुदेश की प्राप्ति के लिए उनके पास अनेक भक्त आया करते थे। वह उन्हें अनुदेशित करते, आध्यात्मिक मार्ग के अनुसरण के लिए उत्प्रेरित करते और उनके समक्ष वेदान्त तथा अन्य सद्धान्तों का रहस्योद्‌घाटन करते।

एक बार रामलिंगम को उनके एक समृद्ध शिष्य ने अपनी पुत्री के विवाहोत्सव में आमन्त्रित किया। रामलिंगम ने उसे यह विनोदपूर्ण उत्तर दिया- "हे मन, न तो तुम्हारे पास जूते हैं न बहुमूल्य कोट, न तो तुम्हारे पास गुप्र वस्त्र हैं न धन और न तुम्हारे पास सम्मोहक व्यक्तित्व है, न रहने के लिए ३। तब तुम किसी समृद्ध व्यक्ति के घर विवाहोत्सव में सम्मिलित होने कैसे बा रहे हो?"

अपनी माता के देहान्त के पश्चात् रामलिंगम ने ही उनका दाह-संस्कार किया। अपने भाई परशुराम के रुग्ण होने पर वह उसे भगवान् नटराज के दर्शन के लिए चिदम्बरम् ले गये। इसके पश्चात् वह सीरगालि, तिरुवारूर, तिरुपुगलूर, तिरिचेंगाट्टनगुडि तथा अन्य स्थानों की यात्रा पर चल पड़े।

तिरुपापुलियूर, पाण्डिचेरी से तेरह मील दूर एक पवित्र तीर्थस्थान है। वहाँ रामलिंगम की भेंट ब्रह्म समाज के एक आचार्य से हो गयी। वहाँ उनसे उपासना के विषय में उनका तीव्र वाद-विवाद हुआ। आचार्य ने कहा - "ब्रह्म निराकार है। उसकी उपासना मानसिक रूप से ही होनी चाहिए। मूर्ति-पूजा का कोई उपयोग नहीं है।" रामलिंगम् ने कहा- "जब वेदों में ब्रह्म के विराट् रूप का वर्णन किया जाता है, तब वह साकार हो जाता है। नव-दीक्षितों के लिए मानसिक उपासना दुष्कर है। विग्रह-स्थित सगुण ईश्वर की उपासना से ईश्वर-साक्षात्कार सम्भव हो जाता है। भक्त ईश्वर तथा उसके गुणों को विग्रह में आरोपित कर देता है। विग्रह तो विग्रह ही रहता है; किन्तु उसकी भक्ति ईश्वर के चरणों तक पहुँच जाती है। सर्वव्यापी ब्रह्म विग्रह में भी विद्यमान है। विग्रह का अधिष्ठान ब्रह्म ही है। नव दीक्षित व्यक्ति निराकार ब्रह्म पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकता। मन को आश्रय के लिए किसी आलम्बन की आवश्यकता होती है। नव दीक्षितों के मन की एकाग्रता के लिए मूर्ति अत्यावश्यक है। जो वेद नव-दीक्षितों के लिए मूर्ति-पूजा का समर्थन करते हैं, वही अहंग्रह-साधना अर्थात् आत्मोपासना या 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों की अर्थवत्ता के प्रति भी अपनी सहमति व्यक्त करते हैं।" रामलिंगम् के इन शब्दों से आचार्य को मौन हो जाना पड़ा।

इसके पश्चात् रामलिंगम् चिदम्बरम् होते हुए मरुदूर के निकटस्थ अपने जन्म-स्थान करुनकुलि पहुँचे जहाँ उनके रुग्ण भाई का देहान्त हो गया। रामलिंगम् ने उसका दाह-संस्कार किया। वहाँ उन्होंने पानी से दीप जला कर एक चमत्कार का प्रदर्शन किया।

तत्पश्चात् रामलिंगम् कडलूर तथा मंजकुप्पम् गये और इसके बाद करुनकुलि में स्थायी रूप से बस गये। अनेक विद्वान् संन्यासी तथा तमिल पण्डित उनके पास वाद-विवाद तथा अपनी शंकाओं के समाधान के लिए भाते थे और सन्तुष्ट हो कर चले जाते थे।

एक दिन रामलिंगम् मेट्टकुप्पम् में अपनी कुटिया में ध्यानस्थ थे। उन्हें दिव्य ज्योति के दिव्य दर्शन हए। वह अपने इस अन्तःप्रज्ञात्मक अनुभव का विवरण इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं: "हे ज्योतियों की ज्योति, हे स्वयं-प्रकाश, हे अज्ञान-तिमिर के उच्छेदक, मैं अब पूर्णतः ज्योतिर्मय हैं। मेरी शंकाओं तथा भ्रान्तियों का आत्यन्तिक उच्छेद हो चुका है। दिव्य सत्ता से मैंने तादात्म्य स्थापन कर लिया है। मैं निरपेक्ष सत्, निरपेक्ष चित् तथा निरपेक्ष आनन्द हूँ। मैं सर्वोच्च आनन्द का उपभोग कर रहा हूँ। मैं सर्वत्र केवल एक सर्वव्यापी आत्मा का ही दर्शन कर रहा हूँ। द्वैत तथा भेद का प्रहाण हो चुका है। मेरा आनन्द असीम है। जो इन्द्रियों तथा बुद्धि के लिए अगम्य है, वह मुझे उपलब्ध हो चुका है। मैं अज, अमर्त्य, अक्षय तथा अविकारी हूँ। मैं देश-कालातीत तथा कारण-कार्य-सम्बन्ध के परे हूँ।"

रामलिंगम् ने इन शब्दों में भगवान् से प्रार्थना की- "हे नटराज, तुम मेरे माता-पिता तथा आचार्य हो। तुम मेरे सर्वस्व हो। मैंने तुम्हारे चरण-कमलों में शरण ग्रहण की है। मैं तुम्हें स्वयं को सर्वतोभावेन समर्पित करता हूँ। मेरी रक्षा करें। मुझे धन तथा सांसारिक सुखों की आवश्यकता नहीं है। मेरी भौतिक इच्छाएँ नष्ट हो चुकी हैं। मेरी आँखें केवल तुम्हारी कृपा तथा तुम्हारे दर्शन के लिए लालायित हैं। तुम्हारे दर्शन के लिए मेरा हृदय द्रवीभूत हो रहा है। तुमने मुझे आध्यात्मिक दीप्ति के शिखर पर उपस्थित कर दिया है। मुझे तुम अपने-आपमें सर्वदा के लिए निवास करने दो। मैं तुम्हारा पुत्र और तुम मेरे कृपालु पिता हो। मुझे अंगीकृत कर लो। मुझे अपने आशीर्वाद से कृतकृत्य कर दो। अपनी दिव्य क्रीडा में मुझे भी सम्मिलित कर लो। तुम मेरे साथ नृत्य करो। लिया है। मैंने तुम्हारे चरणों को पाश-बद्ध कर मुझसे तुम्हारा परित्याग असम्भव है। मुझे आशीर्वाद दो।" मुझे अमरत्व का अमृत-पान करने दो।

रामलिंगम दिन-रात रोते रहते, उनके नेत्रों से अविरत जल-प्रवाह होता रहता और प्रेमाश्रुओं से उनकी शय्या तक जल-स्नात हो जाया करती।

रामलिगम ने दिव्य आह्वान को इन शब्दों में व्यक्त किया- "जब मैं भगवान के दर्शन के लिए लालायित था, जब मैं दिव्य आनन्द के शिखर पर आरूढ़ था और जब मेरा हृदय भगवान् के गहन प्रेम में विगलित हुआ जा रहा था, तब भगवान् ने मेरे पास आ कर मुझसे कहा: 'मेरे पुत्र, तुम मुझे प्रिय हो। मैंने स्वयं को तुम्हारे हृदय में आसीन कर तुम्हें दिव्य दीप्ति तथा विशिष्ट सिद्धियाँ प्रदान की हैं। तुम प्रेम में निहित दिव्य सत्य का सर्वत्र प्रचार करते हुए मानवता की सेवा करो, दिव्य जीवन यापन के लिए लोगों को अभिप्रेरित करो और उनको सुख प्रदान करो'।"

रामलिंगम् ने लोगों से कहा- "तुम लोग सत्य-पथ का अनुसरण करते हुए विशुद्ध जीवन व्यतीत करो। संसार तथा इन्द्रियों पर विश्वास मत करो। निर्भीक तथा प्रफुल्ल-चित्त हो कर अध्यात्म मार्ग पर अपनी यात्रा का प्रारम्भकर दो। शाश्वत आनन्द का उपभोग करो। भगवान् नटराज के साथ क्रीड़ा तथा नृत्य करो, ज्ञान-लीला का रसोपभोग करो तथा अमरत्व के प्रदायक दिव्य जीवन को प्राप्त करो।

"घृणित वैषयिक जीवन का परित्याग करो। वस्तुतः यह जीवन न हो कर मृत्यु है। हरि-नाम का विस्मरण कर जो लोग वैषयिक सुखों के उपभोग में समय का अपव्यय करते हैं, वे मात्र कृमि-कीट हैं। कुछ लोग जागतिक विषयों की नश्वरता से परिचित हो कर भी उनके प्रति आसक्त रहते हैं। ऐसे लोगों को महामूर्ख ही समझना चाहिए। विषयी लोग विवेक-बुद्धि-शून्य हो कर निर्लज्जतापूर्वक अपकीर्तिकर विषय-भोग की निरन्तर आवृत्ति किये जाते हैं। कितने अधम होते हैं ये लोग !

"सच्चिदानन्द के ज्योतिर्मय लोक में प्रवेश करो। प्रकाश तुम्हारे अन्तर्गत है। उस भगवान् का ध्यान करो जो प्रकाश, शान्ति, आनन्द तथा ज्ञान की प्रतिमूर्ति है। निष्प्रयोजन वार्तालाप, पिशुनता, परोक्ष निन्दा तथा आसामान्य भार-निदा में समय का अपव्यय मत करो। जीवन एक उच्चतर प्रयोजन की लेदि का माध्यम है। तुम लोग आगे बढ़ कर अमरत्व का वरण करो।"

अरुल्पा (Arulpa) एक बृहदाकार पुस्तक है जिसमें रामलिंगम् स्वामी के गीत संग्रहित हैं। इसमें वेदों तथा उपनिषदों के सार-तत्त्व निहित है। यह एक सार्वजनीन बाइबिल तथा गीता है। ये सत्य के ईश्वरादिष्ट उद्घाटन के गीत हैं। गमलिंगम् जब दिव्य आनन्द के शिखर पर अवस्थित थे, तब उनके अन्तर्मन प्रेयेनिःसृत हुए थे। ये गीत अमृतमय हैं जो आध्यात्मिक ज्योति के द्रष्टा की अपरोक्षानुभूति को अभिव्यक्त करते हैं। रामलिंगम् के सभी अपौरुषेय गीत स्पुर, संगीतमय, मर्मस्पर्शी तथा उद्बोधक हैं। इनमें विचारों की गहनता तथा कूष्य की स्पष्टता परिलक्षित होती है। ये श्रोताओं तथा पाठकों के हृदय में प्रक्ति-भाव को बद्धमूल कर देते हैं और मन को सुख तथा आश्वस्ति प्रदान काते हैं।

रामलिंगम् ने जीवन के शारीरिक पक्ष की कभी उपेक्षा नहीं की। उन्होंने अपनी एक पुस्तक में स्वास्थ्य-रक्षा तथा दीर्घायु-प्राप्ति की विधियों का वर्णन किया है। उसमें आहार-निद्रा तथा कुछ अन्य विषयों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त इसमें कुछ उपशामक जड़ी-बूटियों तथा औषधियों के भी नाम दिये गये हैं।

रामलिंगम् स्वामी ने करुनकुलि के निकटस्थ वडलूर में कुछ रचनात्मक कार्य भी किये। उन्होंने आध्यात्मिक ज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए एक 'समरस वेद सन्मार्ग संघ' की स्थापना की। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक 'सत्य धर्मशाला' का भी निर्माण किया जिसमें बिना किसी जातिगत भेद-भाव के निर्धन तथा साधु-सन्त भोजन किया करते थे। एक बार वहाँ दश सहस्र व्यक्तियों को निरन्तर तीन दिनों तक भोजन मिलता रहा। उन्होंने वहाँ अरुल्पा के अध्ययन-अध्यापन के लिए 'समरस वेद पाठशाला' की भी स्थापना की।

रामलिंगम ने अपने शिष्यों को स्वास्थ्य विज्ञान का भी प्रशिक्षण दिया। उन्होंने उनको शरीर को सशक्त, स्वस्थ तथा नित्य युवा रखने की विधियों से अवगत कराया। उन्होंने सिद्धान्त, वेदान्त तथा योगादि के प्रशिक्षण के लिए 'सत्य ज्ञान सभा' की स्थापना की। एक भव्य मन्दिर का भी निर्माण किया गया जिसके द्वार सबके लिए मुक्त थे और जहाँ कोई भी व्यक्ति उपासना कर सकता था।

रामलिंगम् स्वामी ज्ञान सभा के विशाल कक्ष में नियमित रूप से प्रवचन तथा भाषणों का आयोजन किया करते थे। वह मानवता के आध्यात्मिक उत्थान के लिए दिन-रात प्रयत्नशील रहा करते थे। मद्यपान तथा मांसाहार के विरुद्ध उनके उपदेश ओजपूर्ण होते थे। दिव्य ज्योति के दर्शन के लिए उन्होंने अपने शिष्यों को निर्भान्त आध्यात्मिक साधना तथा गहन ध्यान का अनुदेश दिया।

रामलिंगम् स्वामी अतिमानवीय शक्तियों के स्वामी थे। उनको अनेक सिद्धियाँ प्राप्त थीं। उनके शब्द श्रोताओं के मन-प्राण में वैद्युतिक स्फुरण की सृष्टि कर देते थे। उनका व्यक्तित्व चुम्बकीय था। लोगों को प्रभावित करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। उनका अवतरण संसार को ईश्वरीय चेतना के प्रति जागरूक करने के लिए हुआ था। वह लोगों के लिए शान्ति, प्रेम, शाश्वत जीवन तथा स्वतन्त्रता का सन्देश ले कर आये थे। उन्होंने अपनी आध्यात्मिक शक्ति से सहस्र-सहस्र लोगों के हृदय को रूपान्तरित किया था।

संसार से अन्तिम विदा लेने के समय उन्होंने अपने प्रशंसकों से कहा- "मेरे प्रिय बच्चो, अब मैं तुम लोगों से विलग होना चाहता हूँ। तुम लोगों को मेरा शरीर न दफनाने के लिए मिलेगा, न जलाने के लिए। मैं सदानन्द निर्विकल्प समाधि में प्रवेश करना चाहता हूँ। मेरा शरीर अदृश्य हो जायेगा और तुम लोग मुझे देखने में स्वयं को असमर्थ पाओगे; किन्तु मैं एक सिद्ध की भाँति इतस्ततः विचरण किया करूँगा। अब तुम लोग दरवाजों और खिडकियों को बन्द कर दो और ताला लगा दो। यदि कोई व्यक्ति इसे खोलेगा भी, तो उसे यहाँ शून्य के ही दर्शन होंगे।"

सभी दरवाजों पर ताले पड़ गये और सब लोग दिन-रात उसी घर की रखवाली करने लगे। कुछ लोगों ने जिज्ञासावश दरवाजा खोल दिया; किन्तु उहाँ उन्हें कुछ न मिला। रामलिंग स्वामी रहस्यात्मक विधि से अदृश्य हो गये थे। योगी या सिद्ध सब-कुछ करने में समर्थ हैं।

इस प्रकार मरुदूर का सन्त, द्रष्टा तथा कवि, वडलूर का योगी, सिद्ध तथा मसीहा एवं चिदम्बरम् के भगवान् नटराज का प्रिय शिशु अन्तर्धान हो गाया। किन्तु रामलिंग स्वामी अदृश्य हो कर भी आज हमारे हृदय में विराजमान हैं। उनके उपदेश आज भी हमें अभिप्रेरित करते हैं। उनका जीवन हमें मुक्ति-पथ पर निर्देशित करने के लिए प्रकाश-स्तम्भ का उत्तरदायित्व वहन करता है।

रामलिंगम् के महत्त्वपूर्ण उपदेशों में से कुछ उपदेश निम्नांकित हैं :

१. क्रूर दृष्टि से किसी को मत देखो। सुस्वादु भोजन की लालसा मत करो। मधुरभाषी बनो। मिथ्या-भाषण मत करो। लोगों को हत्या से विरत करो। महात्माओं का सत्संग करो। मिताहारी बनो। स्वास्थ्य पर ध्यान दो। ब्रह्मचर्य का पालन करो। सर्वदा कौपीन धारण करो।

२. ईश्वर पर ध्यान केन्द्रित करो। त्रिकुटी पर मन को स्थिर करो। राग-द्वेष का परित्याग करो। वैषयिक विचारों से मन को विलग करो। इन्द्रिय-निग्रह करो। उनको अनुचित तथा वर्जित दिशा में गमन की अनुमति मत दो। आत्म-प्रशंसा से दूर रहो। अहं-भाव का प्रहाण करो। अपने विषय में अधिक मत सोचो। लोगों से आदर तथा सम्मान की आशा मत करो।

३. सबको समदृष्टि से देखो। प्रत्येक व्यक्ति का आदर करो। स्त्री-पुरुष तथा उच्च-नीच जैसे भेद-भाव के विचारों का परित्याग करो। मैत्री-भाव तथा सार्वत्रिक बन्धुत्व की भावना को विकसित करो।

४. इस बात का सदैव अनुभव करो कि तुम्हारा 'आत्मा' सर्वभूतों में अनुस्यूत है और सभी प्राणियों से तुम्हारा तादात्म्य-सम्बन्ध है।

५. सार्वजनीन प्रेम को विकसित करो। ईश्वर में निवास करो। सबके प्रति दयालुता का व्यवहार करो। ईश्वर की शरण ग्रहण करो। ध्यान तथा ईश्वर-साक्षात्कार करो। दिव्य ज्योति को अवतरित होने दो।

स्वामी दयानन्द सरस्वती

संन्यास-ग्रहण के पूर्व स्वामी दयानन्द का नाम मूलशंकर था। उनका जन्म १८२४ ई. में गुजरात के एक छोटे राज्य की राजधानी मोवीं में हुआ। उनके पिता अम्बाशंकर गहन धार्मिक प्रवृत्ति के एक समृद्ध ब्राह्मण भूमिपति तथा बैंकर थे।

पाँच वर्ष की आयु में मूलशंकर को देवनागरी लिपि की शिक्षा दी गयी। पवित्र ग्रन्थों के अनेक श्लोकों को उन्होंने कण्ठस्थ कर लिया था। आठ वर्ष की आयु में उनका उपनयन संस्कार हुआ। उनके मन में आध्यात्मिक जागरूकता का श्रीगणेश शिवरात्रि की रात्रि में हुआ था। उस समय उनकी आयु चौदह वर्ष थी।

मूलशंकर के चाचा तथा उनकी बहन की मृत्यु ने उनके हृदय को आलोड़ित कर दिया। इस कारुणिक घटना ने उनके समक्ष जीवन की अल्पकालिकता एवं मानवीय आकांक्षाओं की अर्थहीनता को अनावृत कर दिया। मूलशंकर को इस तथ्य की स्पष्ट अनुभूति हो गयी कि जागतिक जीवन एक क्षणिक प्रदर्शन मात्र है।

मूलशंकर वाराणसी जा कर संस्कृत-साहित्य तथा संस्कृत के पवित्र ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहते थे; किन्तु उनके पिता ने उनके इस प्रस्ताव को स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार करते हुए उन्हें अध्ययन के लिए निकटस्थ गाँव की पाठशाला में भेज दिया।
जब मूलशंकर के पिता ने अपने पुत्र के विवाह का आयोजन किया, तब मूलशकर अपने घर का परित्याग कर अन्यत्र चले गये। वह विवाह करना नहीं चाहते थे। वह विवाह को एक बन्धन समझते थे।

मूलशंकर सयाला (Sayala) नामक एक गाँव में गये। वहाँ किसी धार्मिक सम्प्रदाय के एक शीर्षस्थ ब्रह्मचारी रहते थे। वहाँ उन्होंने उनसे स्वयं को नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के वर्ग में सम्मिलित कर लेने की प्रार्थना की। उनकी पार्थना स्वीकृत हई और उन्हें गैरिक वस्त्र प्रदान कर शुद्ध चैतन्य के नाम से अभिहित कर दिया गया।

उधर सिद्धपुर में प्रत्येक वर्ष एक धार्मिक मेले का आयोजन होता था। अपने परिभ्रमण-काल में एक बार मूलशंकर भी उस मेले में जा पहुँचे। वहाँ उनकी भेंट एक वैरागी से हो गयी जो उनके पिता का परिचित था। उसने उनको एक पत्र लिख कर मूलशंकर का पता बता दिया। अम्बाशंकर तत्काल सिद्धपुर जा पहुँचे जहाँ एक मन्दिर में मूलशंकर से उनकी भेंट हुई। पुत्र को गैरिक परिधान में देख कर उन्हें अत्यधिक क्रोध हुआ। उन्होंने उस गैरिक परिधान को चीर-फाड़ कर उनके भिक्षा पात्र को तोड़ दिया। इसके पश्चात् मूलशंकर को नये वस्त्र दिये गये और उनकी रखवाली के लिए नौकरों को नियुक्त कर दिया गया। रात में नौकरों के प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न हो जाने पर मूलशंकर एक पीपल के पेड़ पर चढ़ गये जहाँ उन्होंने रात-भर अपने-आपको छिपाये रखा। दूसरे दिन उनके पिता तथा उनके नौकरों ने उनकी बहुत खोज की; किन्तु मूलशंकर का पता नहीं चला। उनके पिता नौकरों के साथ घर लौट गये।

मूलशंकर ने अहमदाबाद तथा बड़ौदा की यात्रा की। इसके पश्चात् वह पवित्र नर्मदा-तट पर स्थित एक स्थान पर गये। वहाँ परमहंस परमानन्द नामक एक संन्यासी के मार्गदर्शन में उन्होंने वेदान्त के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया। उनको वैयक्तिक आत्मा तथा विश्वात्मा या सर्वोच्च आत्मा के तादात्म्य के प्रति दृढ़ आस्था थी।

मूलशंकर को स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती ने संन्यास आश्रम में दीक्षित किया और अब उनका नाम दयानन्द सरस्वती हो गया।

स्वामी दयानन्द ने अपने जीवन के आगामी बीस वर्ष पर्यटन, तीर्थ-यात्रा, तप तथा योगाभ्यास में व्यतीत किये। उन्होंने उत्तर भारत के समस्त पवित्र स्थानों की यात्रा की। उनके सतत परिभ्रमण के फल-स्वरूप उनमें तितिक्षा की शक्ति जाग्रत हो गयी थी। उनको प्रायः निराहार रह कर वन में भूमि-शयन करना पड़ता था।

छत्तीस वर्ष की आयु में दयानन्द ने मथुरा के लिए प्रस्थान किया। वहाँ उन्होंने प्रख्यात संन्यासी तथा संस्कृत के बहुश्रुत विद्वान् स्वामी विरजानन्द से भेंट की। स्वामी जी जन्मतः अन्धे थे जो चेचक के प्रकोप से नेत्रहीन हो चुके थे। वह अत्यन्त रूक्ष तथा कठोर स्वभाव के सन्त थे। वह अपने समय का अधिकांश ध्यान में व्यतीत करते थे।

स्वामी दयानन्द तथा स्वामी विरजानन्द के पारस्परिक सम्बन्ध ने दयानन्द के जीवन के दिशा-निर्धारण में अपूर्व योगदान दिया। स्वामी दयानन्द के महान् कार्य स्वामी विरजानन्द के प्रेरणाप्रद व्यक्तित्व से ही सम्भव हो सके। स्वामी दयानन्द को स्वामी विरजानन्द के दण्ड प्रहार से कई बार आहत होना पड़ा था।

स्वामी दयानन्द सरस्वती गुरु-सेवा में अत्यधिक परिश्रम करते थे। वह उनके लिए बहुत दूर से पानी लाते, उनके कमरे में झाड़ू देते और उनका वस्त्र-प्रक्षालन करते। वह अपने गुरु के सान्निध्य में ढाई वर्षों तक रहे।

अन्ततः विदा का दिन आ ही गया। हाथ में कुछ लौंग ले कर दयानन्द गुरु के पास पहुँचे। उन्होंने उनसे कहा- "गुरुदेव, मैं एक निर्धन व्यक्ति हूँ। मेरे पास आपको देने के लिए इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।" स्वामी विरजानन्द ने कहा- "तुम्हारे पास जो कुछ भी है, उसे तुम स्वयं से विलग कर लो। मैं इसकी उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहा हैं।" स्वामी दयानन्द ने कहा- पूज्यवर गुरुदेव, जो कुछ भी मेरा है, वह आपका ही है। मैंने अपना जीवन आपकी सेवा में समर्पित कर दिया है।" विरजानन्द ने कहा- "जो शिक्षा तुमने प्राप्त की है, उसका समुचित उपयोग

करो। सर्वत्र अपने ज्ञान का प्रचार-प्रसार करो। अन्धकार का उच्छेदन करो। हिन्द अपने यथार्थ धर्म को विस्मृत कर चुके हैं. उनको यथार्थ वैदिक धर्म की शिक्षा दो।"

दयानन्द ने अवनत शिर हो कर अपने गुरु को प्रणाम किया और वैदिक धार्म के पुनरुत्थान के लिए अपने जीवन को समर्पित कर देने की शपथ ग्रहण की। अपने गुरु से विदा ले कर वह तत्काल अपने कार्य में संलग्न हो गये।

स्वामी दयानन्द आगरा गये। वहाँ उन्होंने कुछ प्रवचन दिये। इसके पश्चात् वह ग्वालियर और जयपुर गये। जयपुर के महाराजा ने उनका श्रद्धा तथा उत्साहपूर्वक स्वागत किया।

दयानन्द ने हरिद्वार, वाराणसी तथा कलकत्ता में प्रवचन दिये। वह देवेन्द्रनाथ टैगोर और बाबू केशवचन्द सेन से मिले। उन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी में प्रवचन दिये। मूर्ति-पूजा के विरोध में प्रवचन देने के कारण उन्हें रूढ़िवादी हिन्दुओं के प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा।

स्वामी दयानन्द ने इलाहाबाद और मुम्बई में भी प्रवचन दिये। मुम्बई में उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की। इसके पश्चात् वह पुणे गये जहाँ हिन्दू क्लब के भवन में उन्होंने एक प्रवचन-माला का प्रारम्भ किया। पण्डितों ने उनकी तथा उनके प्रवचन की कटु निन्दा की। उन पर आक्रमण भी किया गया; किन्तु पुलिस की सामयिक सहायता के कारण उनके जीवन की रक्षा हो गयी।

इसके पश्चात् वह पंजाब गये। लाहौर में उनको महान् सफलता प्राप्त हई। उन्होंने पंजाब के लगभग प्रत्येक महत्त्वपूर्ण नगर में आर्य समाज की स्थापना की। तत्पश्चात् वह उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान गये जहाँ उन्होंने आर्य समाज के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार किया। जोधपुर के महाराजा यशवन्त सिंह इन दिनों एक वेश्या के प्रेम-पाश में आबद्ध हो गये थे। स्वामी दयानन्द ने महाराजा से उसके परित्याग का अनुरोध किया। इसके फल-स्वरूप वह वेश्या उनसे रुष्ट हो गयी और उसने उनके भोजन में विष मिला दिया जिसके परिणाम स्वरूप ३० अक्तूबर १८८३ ई. में दीपावली की रात्रि में अजमेर में स्वामी दयानन्द का देहान्त हो गया।

तर्कशास्त्र में स्वामी दयानन्द का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था और वाद-विवाद में वह अद्वितीय थे। उनकी तर्क-शक्ति चमत्कारपूर्ण थी और वह एक महान् वक्ता थे।

स्वामी दयानन्द का 'सत्यार्थ प्रकाश' एक सुप्रसिद्ध पुस्तक है। इसमें स्वामी दयानन्द के उपदेश संग्रहित हैं।

आर्य समाज ने भारत में जो सामाजिक सेवा की है, वह महान् है। इसके प्रयत्न से कई केन्द्रों पर अनेक विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा अनाथालयों की स्थापना हुई। गुरुकुल काँगड़ी तथा देहरादून का डी. ए. वी. कालेज आदर्श संस्थाएँ हैं। गुरुकुल काँगड़ी के विकास में स्वामी दयानन्द के शिष्य स्वामी श्रद्धानन्द का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने शुद्धि-आन्दोलन का सूत्रपात किया था। इसमें ईसाई तथा इस्लाम धर्म ग्रहण कर चुके हिन्दुओं को पुनः हिन्दू-समाज में सम्मिलित कर लिया जाता था।

स्वामी श्रद्धानन्द एक स्वतन्त्र विचार के पुरुष थे। उनमें अदम्य साहस था। जो कोई भी बात उन्हें असंगत लगती थी, उसका वह स्पष्ट रूप से खण्डन कर देते थे। वह एक ऊर्ध्वसित व्यक्तित्व के स्वामी थे। अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासा तथा सत्य के लिए अपनी आत्यन्तिक तृष्णा के कारण उन्होंने सांसारिकता का परित्याग कर स्वयं को वेदाध्ययन एवं नियमित नैतिक तथा आध्यात्मिक आत्मानुशासन के अभियान में संलग्न कर लिया।

स्वामी श्रद्धानन्द ने ऋग्वेद पर विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखा। वह बहुत दिनों तक आर्य समाज के नेता रहे। उनके सन्त स्वभाव, गत्यात्मक व्यक्तित्व, विशाल हृदय, समाज और राष्ट्र के प्रति उत्कट प्रेम तथा उनकी संगठन-शक्ति के कारण आर्य समाज की गतिविधि के प्रसार को महान् योगदान प्राप्त हुआ। श्रद्धानन्द का देहान्त १९२६ ई. में हुआ। उस समय उनकी आयु इकहत्तर वर्ष थी। उन्होंने एक शहीद की भाँति प्राण त्याग किया।

स्वामी दयानन्द के उपदेश

१. सर्वोच्च या निरपेक्ष सत्ता ही समस्त यथार्थ ज्ञान का स्रोत है।

२. ईश्वर पूर्ण सत् तथा पूर्ण सौन्दर्य है। वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ है। वह निराकार, न्यायी, परोपकारी, अज, अनन्त, असीम, अविकारी, अनादि, सर्वभूतों का अधिष्ठान, अव्यय, अक्षर, निर्भय, शाश्वत एवं समग्र सृष्टि का अभिकल्पक तथा नियन्ता है। एकमात्र वही उपास्य है।

३. वेद यथार्थ ज्ञान का ग्रन्थ है। इसका अध्ययन, इसका अध्यापन, इसके मन्त्रों का श्रवण तथा इसका प्रशिक्षण- ये सभी प्रत्येक आर्य के सर्वोपरि कर्तव्य हैं।

४. सत्य को स्वीकार तथा मिथ्या का परिहार करो।

५. सत्य-असत्य के सम्यक् अनुसन्धान के पश्चात् धर्मानुकूल आचरण करो।

६. आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य संसार का हित-चिन्तन तथा प्रत्येक व्यक्ति के शारीरिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक उत्थान को सुनिश्चित करना है।

७. संसार के प्रति तुम्हारा आचरण प्रेम, धर्मनिष्ठा तथा न्याय से नियन्त्रित होना चाहिए।

८. अज्ञान को नष्ट कर अपने दैहिक तथा आध्यात्मिक विकास की सम्भावनाओं को परिपुष्ट करो।

९. सबके हित में अपने हित का दर्शन करो।

१०. सबके कल्याण-पथ को प्रशस्त करने वाले सुविचारित सामाजिक नियमों का पालन करो।

सुन्दरेश स्वामी

धर्म की स्थापना, इसकी रक्षा, भयंकर आपदाओं की निवृत्ति, संसार-कलिल से लोगों के उत्थापन एवं हरि-नाम, भक्ति, आत्मज्ञान तथा योग के सिद्धान्तों की महिमा के प्रचार-प्रसार के लिए कुछ लोग समय-समय पर प्रकाश-पुंज के रूप में इस संसार में अवतरित हुआ करते हैं। ये लोग प्रचण्ड शक्ति तथा अपौरुषेय मेधा के स्वामी होते हैं। इन लोगों को ईश्वर की अव्यवहित किरणें अर्थात् उसका अंशावतार ही समझना उपयुक्त है। सुन्दरेश स्वामी की गणना ऐसे ही लोगों से की जाती है।

सुन्दरेश स्वामिगल का जन्म अप्पय्य दीक्षितार के प्रख्यात परिवार में दक्षिण भारत के तिरुनेलवेली जनपद में स्थित गंगैकोन्डान में १८३१ ई. में हुआ था। उनके माता-पिता के नाम क्रमशः कामाक्षी तथा यग्रेश्वर शिवन थे। उन्होंने पत्तमडै में शास्त्रों, षड्दर्शनों तथा प्रस्थानत्रयी का अध्ययन किया। बाल्यावस्था में ही उनमें विलक्षण प्रतिभा के

दर्शन होने लगे थे। वह भगवान् शिव के परम भक्त थे। कुछ दिनों तक वैवाहिक जीवन व्यतीत करने के पश्चात् जब उनमें आत्यन्तिक वैराग्य का उदय हुआ, तब उन्होंने तेईस वर्ष की आयु में विद्वत्-संन्यास ग्रहण कर लिया। तिरुनेलवेली जनपद के अडैचानि ग्राम के विश्वेश्वर स्वामी उनके गुरु थे जिन्होंने उनको कैवल्य के रहस्यों से अवगत कराया। सुन्दरेश को ध्यान के कठोर अभ्यास के माध्यम द्वारा निर्विकल्प समाधि की सम्प्राप्ति हुई।

इसके पश्चात् सुन्दरेश स्वामिगल ने मदुरै, जम्बुकेश्वरम्, तिरुवैयारु, मयूरम्, सीरगालि, चिदम्बरम्, विरुदाचलम्, कालहस्ति, काशी, रामेश्वरम् तथा अन्य पवित्र स्थानों की तीर्थ-यात्रा की। इस तीर्थ-यात्रा में वह जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ उन्होंने आध्यात्मिक ज्ञान का प्रचार-प्रसार किया।

सुन्दरेश स्वामिगल ब्रह्मश्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ थे। वह परमहंस संन्यासी तथा अतिवर्णाश्रमी थे। उनका हृदय विशाल था। ब्रह्मज्ञान या कैवल्य के रहस्यों में वह शूद्रों तथा महिलाओं तक को दीक्षित कर लिया करते थे। वह संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् तथा अपरोक्षानुभूति-प्राप्त सन्त थे। उनको अनेक सिद्धियाँ प्राप्त थीं। उन्होंने दूर-दूर तक भक्ति तथा ज्ञान का प्रचार-प्रसार किया। वह जहाँ भी जाते थे, सूत-संहिता पर प्रवचन का आयोजन करते थे। उन्होंने बाईस मन्दिरों का कुम्भाभिषेक किया। उन्होंने कथा, भाषण तथा आनाकाक्षियों के प्रशिक्षण के माध्यम से संसार के कल्याण तथा इसकी ससहतता के लिए अथक परिश्रम किया।

सुन्दरेश स्वामिगल में एक सिद्ध सन्त तथा जीवन्मुक्त के सभी गुण विद्यमान थे। संसार में रहते हुए भी वह संसार के नहीं थे। वह मानसिक सन्तुलन तथा समदर्शिता के मूर्त रूप थे। वह आसक्ति तथा अहं-वृत्ति से असम्पृक्त हो कर निर्भीक तथा सोल्लास परिभ्रमण किया करते थे। कुलीन-अकुलीन, निन्दा-स्तुति तथा यश-अपयश में उनको भेद-दर्शन नहीं होता था। वह उच्चतम ज्ञान, पूर्णत्व तथा निरतिशय आनन्द से कृतकृत्य हो चुके थे।

इन महान् उपलब्धियों को एक चमत्कार ही कहा जा सकता है। यह सब निश्चित रूप से उनके पूर्व-जन्म के पुण्य-कर्मों का सुफल था। उन्होंने अपने सत्संकल्प द्वारा अनेक चमत्कार किये। वह धरती पर देव-स्वरूप थे। कितने शान्त, किन्तु साथ ही कितने गत्यात्मक थे वह ! हम उनके प्रति अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करते हैं। वह जहाँ भी गये, वहाँ के लोग उनसे अत्यधिक प्रभावित हुए। वह एक शक्तिशाली चुम्बक तथा आध्यात्मिक जन-नायक थे। मानवों में वह सर्वश्रेष्ठ थे। शगेरी मठ के शंकराचार्य भी उनका आदर करते थे। उन्होंने उनको अपना आसन दे कर उन्हें महासन्निधान कहा था।

सुन्दरेश स्वामिगल आध्यात्मिक ऊर्जा के शक्ति-केन्द्र थे। उनकी उपस्थिति रोमांचक तथा प्रभावप्रद सिद्ध होती थी। एक बार उनके चुम्बकीय स्पर्श से एक मृत बालक पुनर्जीवित और एक कन्या समाधिस्थ हो गयी। जब वह गहन झाडियों में निर्विकल्प समाधि का अभ्यास कर रहे थे, तब भगवान् शिव ने कई बार स्वयं उनको भोजन दिया था।

सुन्दरेश स्वामिगल ने ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति में असंख्य ज्ञानाकांक्षियों का मार्ग-दर्शन किया। उन्होंने तमिल में वेदान्त पर बहुमूल्य तथा अद्भुत पुस्तकें लिखीं। इन पुस्तकों में व्यावहारिक आध्यात्मिक अनुदेशन तथा अनुभूतियों का पर्याप्त उल्लेख है। 'स्वानुभूतिर्शयन', 'अनुभव रस मंजरी' तथा 'निजानन्द विलास' इनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं। सुन्दरेश स्वामिगल ने 'ब्रह्म गीता' का तमिल अनुवाद किया।

सुन्दरेश स्वामिगल १८८१ ई. में पुदुक्कोट्टै के निकट अरिमलम् में महासमाधि में प्रविष्ट हुए।

यह एक जीवन्मुक्त उदारचित्त सन्त के जीवन का आडम्बरशून्य रेखांकन है जिसने विशद्धि, यज्ञ, प्रेम तथा साधुता का जीवन व्यतीत किया। उन सुन्दरेश स्वामिगल की महिमा में वृद्धि हो जो भारत के लिए प्रकाश-स्तम्भथे ! उनका

आशीर्वाद हम सबको प्राप्त होता रहे! महान् सन्त, पारंगत कृतविद्य तथा दार्शनिक, प्रतिभा सम्पन्न वक्ता तथा विश्वस्त आध्यात्मिक आचार्य सुन्दरेश स्वामिगल अपने जीवन में असंख्य लोगों के लिए प्रेरणा-स्रोत रहे। आज भी स्वर्ग से उनकी आत्मा हम पर प्रकाश, हर्ष, आनन्द तथा शान्ति का वर्षण कर रही है। उनके भव्य तथा आदर्शमय जीवन एवं उनके गत्यात्मक व्यक्तित्व का स्मरण हमारे लिए निश्चित रूप से प्रेरणाप्रद सिद्ध हो। उनके मन-मस्तिष्क के उत्कृष्ट गुण तथा बहुमूल्य उपदेश हमारे लक्ष्य की ओर हमारी मौन यात्रा में प्रकाश स्तम्भ सिद्ध हों और वह अपने निरतिशय आनन्द के निवास स्थान से हम पर अपने अन्तहीन तथा मंगलदायी आशीर्वाद का वर्षण करते रहें !

नारायण गुरु

प्रख्यात सन्त, समाज-सुधारक तथा केरल के आध्यात्मिक आचार्य श्री नारायण गुरु का जन्म १८५४ ई. में मलबार में हुआ। वह सस्कृत, मलयालम तथा तमिल के प्रकाण्ड विद्वान थे। जीवन की समस्याओं के समाधान की आध्यात्मिक खोज में उन्होंने दूरस्थ प्रदेशों तक की यात्रा की। उनके प्रारम्भिक जीवन के विषय में लोग बहुत कम जानते हैं।

जब दक्षिण टावनकोर के नैयाद्रन्करा ग्राम में तीस वर्षों के बाद एक पर्यटक संन्यासी के वेश में उनका आगमन हुआ, तब उनकी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हो गया और ग्रामीण जन श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक उनकी सेवा करने लगे।

अपनी बाल्यावस्था में नारायण गुरु देखा करते थे कि हिन्दू-मन्दिरों में दलितों (थिया) का प्रवेश वर्जित है। इससे उनके प्रति उनके मन में गहन सहानुभूति जाग्रत हो गयी। उन्होंने दलितों के लिए मन्दिर के द्वार मुक्त कर दिये। यह उनका प्रथम सार्वजनिक कार्य था। उन्होंने अपनी इच्छा-शक्ति तथा अपने ज्ञान से अपने मार्ग के सभी अवरोधों को नष्ट कर दिया। उनके सिद्धान्तों को मूर्त रूप प्रदान करने वाली शत-शत संस्थाएँ समस्त केरल में स्थापित हो गयीं। उनके नाम पर निर्मित विद्यालय, औषधालय तथा आश्रम आज भी लोगों के लिए उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। उनमें से प्रत्येक में एकता के सन्देश की गूंज सुनायी पड़ती है।

श्री नारायण गुरु ने अनुपयोगी प्रथाओं, भ्रष्टाचार के पंक तथा अज्ञान के आवरण को विनष्ट कर स्वतन्त्रता के अमृत-प्रवाह को मुक्त कर दिया।

श्री नारायण गुरु शान्त प्रकृति के व्यक्ति थे। उनका स्वभाव दयालुता तथा विनोदप्रियता से ओत-प्रोत था। उनकी बुद्धि कुशाग्र तथा संकल्प-शक्ति दुर्दमनीय थी। वह वेदान्त के सार-तत्त्व के मूर्त रूप थे। उन्होंने अपने समर्पणात्मक कार्यों से केरल के अपने सहस्रों जाति-बहिष्कृत अनुयायियों के हृदय जीत लिये थे।

श्री नारायण गुरु ने विद्यार्थियों तथा मध्यवर्गीय लोगों को संस्कृत तथा पाश्चात्य विज्ञान के अध्ययन के लिए प्रोत्साहित किया। उनका प्रयोजन स्वैच्छिक जन-सेवा द्वारा एक ऐसे सहयोगी बन्धुत्व को विकसित करना था जो सर्वजन-इच्छित एकता को सम्यक् रूप से प्रतिबिम्बित करने में समर्थ हो।

अपने जीवन के परवर्ती काल में वह समग्र भारत में प्रख्यात हो गये। अनेक सुप्रसिद्ध लोग उनके केरल-स्थित उनकी गति-विधियों के मुख्य केन्द्र को श्रद्धांजलि अर्पित करने आने लगे। श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा महात्मा गान्धी भी उनके आश्रम में गये थे। श्री नारायण गुरु प्रतिवर्ष दक्षिण भारत तथा श्रीलंका की यात्रा करते थे।

श्री नारायण गुरु की जयन्ती सितम्बर के प्रारम्भ में समस्त भारत तथा श्रीलंका में मनायी जाती है। इस जयन्ती समारोह में जुलूसों तथा सभाओं का भव्य आयोजन किया जाता है जिनमें अनेक श्रद्धालु जन सम्मिलित होते हैं।

श्री नारायण गुरु का जीवन तथा उनके विचार सार्वजनीन थे। उनका महिमान्वित दृष्टान्त तथा उनके उपदेश समग्र मानव जाति की थाती हैं।

श्री नारायण गुरु रहस्यवादी तथा व्यावहारिक योगी थे। उन्होंने भारत के पवित्र ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया था। यह गत्यात्मकता की प्रतिमूर्ति थे। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि वेदान्त के सिद्धान्तों को अपने दैनिक जीवन में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। यह कैसे सम्भव है, यह उनकी कर्तृत्व-शक्ति के सम्यक् अध्ययन से पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है।

अद्वैत के मूर्त रूप श्री नारायण गुरु के प्रति केरल, भारत तथा समस्त संसार कृतज्ञता के अपरिमित ऋण के लिए आभारी है जिसका भुगतान उनके सिद्धान्तों, उपदेशों तथा उनके अद्‌भुत दृष्टान्तों के अनुसरण से ही सम्भव है।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के समक्ष एक भयावह आपात स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। इस देश पर अँगरेजों के आधिपत्य के साथ-साथ इस पर पाश्चात्य सभ्यता का भी आक्रमण होने लगा था। विजेता राष्ट की भौतिक शक्ति से विस्मित भारतीय उस प्रत्येक वस्तु को अभिनन्दनीय मान कर उसका स्वागत करने लगे थे. जो पाश्चात्य थी। ईसाई धर्म भारत पर पूर्ण सांस्कृतिक विजय के लिए गुप-चुप रूप से प्रयत्नशील था। कहना न होगा, ईसाई-धर्म-प्रचारक लोगों के धर्मान्तरण में सर्वाधिक कुशल होते हैं।

इन्हीं मनोवैज्ञानिक क्षणों में भारतीय संस्कृति तथा धर्म की अन्तरात्मा के मूर्त रूप श्री रामकृष्ण का आविर्भाव हुआ। उन्होंने हिन्दुत्व के सौन्दर्य, वैभव तथा उसकी शक्ति के प्रति भारतीयों को उस समय जागरूक किया, जब उसके प्रति उनकी आस्था विचलित होने लगी थी।

रामकृष्ण का जन्म बंगाल के हुगली जनपद में स्थित कामारपुकुर ग्राम के एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण-परिवार में १८ फरवरी १८३६ ई. को हुआ था। उनके माता-पिता ने उनका नाम गदाधर रखा। अपने जन्म-काल से ही बालक गदाधर अपनी गति-विधि से न केवल अपने माता-पिता को, अपितु अपने पड़ोसियों को भी चमत्कृत करने लगा। पाँच वर्ष की अल्पायु में ही उनमें आश्चर्यजनक बुद्धि तथा तीव्र स्मरण-शक्ति के दर्शन होने लगे। उस अकाल-प्रौढ़ बालक ने अपने पूर्वजों के नामों, विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुतियों तथा महान् राष्ट्रीय महाकाव्यों में वर्णित कथाओं को कण्ठस्थ कर लिया था। उसके पिता ने उसे ग्राम की पाठशाला में भेजा जहाँ उसने सन्तोषजनक प्रगति की। उसने वहाँ अपना ध्यान आध्यात्मिक जन-नायकों के जीवन तथा उनके चरित्र के अध्ययन पर केन्द्रित कर दिया। इन विषयों के अनवरत अध्ययन के फल-स्वरूप प्रायः वह इस प्रकार भावाविष्ट हो जाया करता था कि संसार का उसे भान नहीं रह जाता था और वह पूर्णतः ध्यानस्थ हो जाया करता था। आयु में कुछ और वृद्धि हो जाने पर जब उसमें धार्मिक भाव जाग्रत होते थे, तब वह समाधिस्थ हो जाता था। कुछ पारिवारिक कारणों से किशोर रामकृष्ण कलकत्ता चला गया। उस समय वहाँ रानी रासमणि नामक एक समृद्ध धर्म-परायण महिला रहती थी। उसने दक्षिणेश्वर में एक काली-मन्दिर का निर्माण किया। वहाँ का वातावरण रामकृष्ण के लिए अधिक सुविधाजनक था। वहाँ उसे अपने आध्यात्मिक अभ्यास के लिए अपेक्षित अवसर प्राप्त हुआ। उसका विवाह शारदा देवी नामक एक कन्या से हुआ जिसे बाद में रामकृष्ण के शिष्य 'पवित्र माता' कहने लगे। बीस वर्ष की आयु में रामकृष्ण ने काली मन्दिर के पुजारी का कार्य-भार ग्रहण कर लिया।

रामकृष्ण के विचार प्रारम्भ से ही विश्वजनीन तथा सहिष्णु थे। उन्होंने ईश्वर के विभिन्न रूपों में कभी भेद दर्शन नहीं किया। एक रूप का साक्षात्कार उन्हें दूसरे रूप के साक्षात्कार के लिए अभिप्रेरित करता था और वह इसकी सम्प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प के साथ तब तक प्रयत्नशील रहते थे, जब तक उन्हें इस रूप का भी साक्षात्कार नहीं हो जाता था। अपने जीवन की इस कालावधि का उल्लेख करते हुए रामकृष्ण बाद में प्रायः कहा करते थे- "साक्षात्कार की एक अवस्था के अतिक्रमण के पश्चात् मैं दूसरी अवस्था की सम्प्राप्ति के प्रयत्न में संलग्न हो जाता था। इस वातावर्त के पूर्व मेरा यज्ञोपवीत उड़ कर मेरे शरीर से विलग हो जाता था और मेरे वस्त्र मेरे शरीर पर कठिनाई से ही टिक पाते थे। जाति-पाँति का विचार भी मेरे लिए अर्थहीन हो जाता था।"

१६ अगस्त १८८६ ई. को रामकृष्ण इस संसार का परित्याग कर महासमाधि में प्रविष्ट हो गये।

श्री रामकृष्ण के कुछ वचनामृत

१. ईश्वर निराकार भी है और साकार भी: किन्तु वह रूप तथा अरूप-इन दोनों का अतिक्रमण भी करता है। वह क्या है, इसे केवल वही जानता है।

२. ईश्वर का परिसीमन एक मूर्खतापूर्ण प्रयास है, वह एक ही समय निर्माण भी है और सगुण भी। वह इन दोनों के परे भी है। तुहिन, जल तथा वाष्प के दृष्टान्त पर ध्यान दो।

३. साकार ईश्वर का दर्शन किया जा सकता है। हम उसका स्पर्श भी उसी प्रकार कर सकते हैं जिस प्रकार कोई अपने अभिन्न मित्र का स्पर्श करता है।

४. जब तक किसी घण्टे की ध्वनि सुनायी पड़ती है, तब तक वह साकार के क्षेत्र में विद्यमान रहती है; किन्तु जब इसका श्रवण नहीं हो पाता, तब यह निराकार हो जाती है। इसी प्रकार ईश्वर निराकार भी है और साकार भी।

५. सूर्य सारी पृथ्वी को प्रकाशित करता है; किन्तु एक क्षुद्र घन-खण्ड भी उसे आवृत कर हमारी आँखों से ओझल कर देता है। इसी प्रकार माया का एक नगण्य आवरण भी हमें सर्वव्यापी तथा सर्व-साक्षी सच्चिदानन्द के दर्शन में अक्षम कर देता है।

६. मुझे मुक्ति कब प्राप्त होगी? इसका एकमात्र यही उत्तर है कि 'मैं' के उन्मूलन के पश्चात् ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। 'मैं' तथा 'मेरा'- यह अज्ञान है; 'तू' तथा 'तेरा' यह ज्ञान है।

७. जब मन में यह धारणा बद्धमूल हो जाती है कि संसार में जो-कुछ भी होता है. ईश्वर की इच्छा से ही होता है, तब वह निमित्त मात्र ही रह जाता है और इस मनःस्थिति की प्राप्ति के पश्चात् वह इस जीवन में ही मुक्त हो जाता है।

८. यदि तुम गम्भीरतापूर्वक निष्कपट तथा विशुद्ध होना चाहते हो, तो ईश्वर तुम्हारे पास एक उपयुक्त गुरु भेज देगा। निष्कपटता अत्यावश्यक है।

९. जिस प्रकार कोई बालक किसी खम्भे को पकड़ कर इसके चतुर्दिक् निर्भीकतापूर्वक तीव्र गति से घूमता रहता है, उसी प्रकार तुम भी ईश्वर का आश्रय ग्रहण कर अपने सांसारिक कर्म करते रहो। तुम संकट-मुक्त हो जाओगे।

१०. समाज में रहने वाला व्यक्ति, विशेषतः कोई गृहस्थ, आत्मरक्षा के लिए अशुभ का प्रतिरोध करता है; किन्तु अशुभ का प्रतिरोध अशुभ से नहीं करना चाहिए।

११. मनुष्य-रूप में जन्म-ग्रहण का दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त करके भी जो इस जीवन में ईश्वर-साक्षात्कार नहीं कर पाता, उसका जन्म-ग्रहण निष्प्रयोजन है।

१२. "दूध में नवनीत है", तीव्र स्वरों में इन शब्दों की आवृत्ति मात्र ने नवनीत नहीं प्राप्त हो सकता। नवनीत की प्राप्ति के लिए तुम्हें दूध को दही बनाना होगा। इस दही को भली विधि मथने के पश्चात् ही तुम्हें नवनीत प्राप्त हो सकेगा। इसी प्रकार यदि तुम ईश्वर का दर्शन करना चाहते हो, तो तुम्हें आध्यात्मिक अभ्यास करना होगा।

१३. विषयासक्त व्यक्ति को सांसारिक वस्तुओं के प्रति तीव्र आसक्ति होती है। यदि उसकी आसक्ति की इस तीव्रता का समावेश ईश्वर के प्रति तुम्हारे प्रेम में हो जाये, तो ईश्वर का दर्शन तुम्हारे लिए सुलभ हो जायेगा।

१४. यदि कमरे में प्रकाश की एक किरण का भी प्रवेश हो जाता है, तो शताब्दियों का अन्धकार दूर हो जाता है। इसी प्रकार ईश्वर के मात्र एक कृपालु दृष्टि-निक्षेप से असंख्य जन्मों से संचित अज्ञान तथा दुष्कर्मों का प्रहाण हो जाता है।

१५. उसकी प्रार्थना करो। तुम्हें अपेक्षित वस्तु प्राप्त होगी। निश्चय ही वह तुम्हारी बात सुनेगा। वह एक चींटी का पदाघात भी सुन लेता है।

श्री अरविन्द घोष

१५ अगस्त १८७१ ई. को प्रातःकाल लगभग पाँच बजे श्री अरविन्द ने कलकत्ता में जन्म-ग्रहण किया। श्रीकृष्णधन उनके पिता तथा स्वर्णलता उनकी माता थीं। उनका परिवार कौन्नगर का प्रतिष्ठित घोष परिवार था। श्रीकृष्णधन इंग्लैण्ड गये और वहाँ से ससम्मान एम. डी. की उपाधि ले कर भारत लौटे।

बंगाली भाषा के सर्वमान्य साहित्यकार, 'माडर्न रिव्यू' के नियमित लेखक तथा भारतीय राष्ट्रीयता के पुरोधा राजनारायण बोस श्री अरविन्द के नाना थे। श्री अरविन्द केवल अपनी आध्यात्मिक प्रकृति के लिए ही नहीं, अपितु अपनी उच्चतर साहित्यिक उपलब्धियों के लिए भी अपनी मातृपक्षीय वंशावली के प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं।

एक महान् कृतविद्य

चार वर्ष की आयु में अरविन्द को दार्जिलिंग के लारेट्टो कान्वेन्ट स्कूल में भेजा गया। इसके पश्चात् बालक अरविन्द की प्रारम्भिक शिक्षा इंग्लैण्ड के एक पब्लिक स्कूल मे हई। उस स्कूल के अवकाश प्राप्त प्रधानाध्यापक की श्री अरविन्द के विषय में यह टिप्पणी थी- "विगत पच्चीस-तीस वर्षों में मेरे सेवा-काल में जितने भी छात्र उत्तीर्ण हए उन सबमें अरविन्द सर्वाधिक मेधावी था। उसकी बौद्धिक क्षमता अप्रतिम थी।"

विद्यालय से अरविन्द कैम्ब्रिज के किंग्स कालेज गये। वहाँ उन्होंने स्वयं को क्लासिकी में एक विशिष्ट छात्र सिद्ध किया। वह इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा में ससम्मान उत्तीर्ण हुए; किन्तु अश्वारोहण की परीक्षा में अपेक्षित अंक प्राप्त न करने के कारण उन्हें भारत सरकार की इस सेवा में प्रवेश की अनुमति प्राप्त नहीं हो सकी। किन्तु उनके भारत लौटने पर तत्कालीन बड़ौदा-नरेश ने उन्हें अपने राजकीय महाविद्यालय में उप-प्राचार्य के पद पर नियुक्त कर दिया। वह उनका अत्यधिक सम्मान करते थे।

अरविन्द की विद्वत्ता के कारण ही सबका ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो गया। बड़ौदा के शिक्षित वर्ग के वह प्रेम-पात्र बन गये। सामान्य लोगों में भी वह अत्यन्त जन-प्रिय थे। उनके शिष्यों में श्री के. एम. मुन्शी भी थे। मुन्शी अरविन्द को अत्यधिक श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। युवा पीढ़ी के लोगों ने उन्हें एक देवता मान लिया और वे लोग उन्हें 'अरुदा' अर्थात् 'बड़े भैया अरविन्द' कहने लगे। अरविन्द का विवाह मृणालिनी देवी से हुआ।

अरविन्द ग्रीक भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। लैटिन भाषा में उनको विशेष योग्यता प्राप्त थी। फ्रेंच भाषा का भी उनको पर्याप्त ज्ञान था और जर्मन तथा इतालवी भाषाओं का उन्हें इतना ज्ञान तो था ही कि वह गेटे तथा दांते की पुस्तकों को उनके मूल रूप में पढ़ सकें। उन्होंने पुरातन वैदिक ग्रन्थों अर्थात् आगमों के अध्ययन का भी प्रारम्भ किया।

श्री अरविन्द इतिहास तथा काव्य के एक मेधावी विद्वान् तथा अँगरेजी और लैटिन के प्रकाण्ड पण्डित थे। वह इंग्लैण्ड में चौदह वर्ष तक रहे। जब वह केवल सात वर्ष के थे, तभी डा. कृष्णधन घोष ने उनको पाश्चात्य शिक्षा की प्राप्ति के लिए इंग्लैण्ड भेज दिया। इस अल्पायु में उन्हें जान-बूझ कर इसलिए भेजा गया कि उनका ग्रहणशील मन अपने जन्मजात संस्कारों को विस्मृत कर पाश्चात्य रीति-रिवाजों के ग्रहण की शिक्षा प्राप्त कर सके।

भारतीय राष्ट्रीयता के प्रचारक

अरविन्द १८९३ ई. में भारत लौटे। बड़ौदा की शिक्षा-सेवा में उनका मासिक वेतन सात सौ पचास रुपये था। १८९३ ई. से १९०६ ई. तक उन्होंने संस्कृत तथा बंगाली साहित्य, दर्शन और राजनीति-विज्ञान का गहन अध्ययन किया। इसके पश्चात् वह त्याग-पत्र दे कर डेढ सौ रुपये मासिक वेतन पर बंगाल नेशनल कालेज में चले गये और क्रान्तिकारी आन्दोलन में प्राणपण से संलग्न हो गये। वह तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन के एक महान् जन-नायक थे।

अरविन्द ने एक अँगरेजी दैनिक 'वन्देमातरम्' का सम्पादन किया। उनके सम्पादकीय निर्भीक तथा मर्मभेदी होते थे। आगामी कुछ महीनों में उन्होंने 'धर्म' नामक एक अँगरेजी साप्ताहिक पत्र के प्रकाशन का भी आरम्भ किया। जनता के नाम अपने सन्देश को उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया-"हमारे स्वराज्य का तात्पर्य पूर्ण स्वायत्तता तथा विदेशी नियन्त्रण से सर्वथा मुक्त पूर्ण स्वराज्य है। उन दिनों वह ब्रिटिश न्यायालय तथा उस प्रत्येक वस्तु के बहिष्कार के पक्षधर थे जो ब्रिटिश थी। वह जनता से सविनय अवज्ञा आन्दोलन के लिए सर्वदा उद्यत रहने का अनुरोध करते थे।

भारतीय राष्ट्रीयता के मसीहा अरविन्द भारत में राष्ट्रीय जागरण के पथ-प्रदर्शकों में थे। वह क्रान्तिकारी आन्दोलन के नेता थे। १९०८ ई. के पश्चात् देश के राष्ट्रीय संघर्ष में उनका महान् योगदान रहा। वह बंग-भंग के विरुद्ध संघर्ष के नेताओं की पहली पंक्ति में रहे।

दिव्य अभियान के प्रति उनकी जागरूकता

बहुचर्चित अलीपुर बम केस श्री अरविन्द के जीवन में एक संक्रान्ति-काल सिद्ध हुआ। वह एक वर्ष तक एक हवालाती बन्दी के रूप में अलीपुर के केन्द्रीय कारागार के एक एकान्त कक्ष में रहे। अलीपुर कारागार के इस प्रदूषित कक्ष में उन्होंने अपने भावी जीवन अर्थात् उस दिव्य अभियान का स्वप्न देखा जिसे ईश्वर ने उनके लिए सुनिश्चित कर दिया था।

अस्वास्थ्यकर भोजन, अपर्याप्त वस्त्र, प्रकाश तथा शुद्ध वायु का अभाव, एकान्त-जनित ऊब से हई मानसिक विक्षुब्ध तथा अन्धकारपूर्ण काराकक्ष का एकान्त-अरविन्द को कारागार की इन सारी कठिनाइयों को सहन करना पड़ा। अपने बन्दी जीवन में इस अवधि का उपयोग उन्होंने भगवद्गीता के गहन अध्ययन में किया। उन्होंने इसके उपदेशों को अपने आचरण में व्यावहारिक रूप भी प्रदान किया। चित्तरंजन दास ने उनके मुकदमे की पैरवी की और वह न्यायालय के एक स्मरणीय परीक्षण के पश्चात् मुक्त कर दिये गये।

उनका योगाभ्यास

श्री अरविन्द ने योगाभ्यास का प्रारम्भ १९०४ ई. में किया। जब तक बड़ौदा में उनकी भेंट महाराष्ट्र के योगी लेले से नहीं हुई, तब तक वह बिना किसी गुरु या सहायक के ही योगाभ्यास करते रहे। लेले से उनकी भेंट अल्पकालिक ही थी। उनके साथ वह केवल तीन दिनों तक ध्यान का अभ्यास कर पाये। मन की शान्ति तथा विचारों के निरन्तर दबाव से मुक्ति के लिए उन्होंने योगी के अनुदेश का पालन किया।

श्री अरविन्द ने अपने योगाभ्यास के विषय में अपने एक पत्र में लिखा- "मैंने १९०४ ई. में बिना किसी गुरु के ही योगाभ्यास प्रारम्भ कर दिया। १९०८ ई. में मुझे एक मराठा योगी से इस दिशा में महत्त्वपूर्ण मार्ग-दर्शन प्राप्त हुआ जिसके फल-स्वरूप मुझे अपनी साधना के मूलाधार का ज्ञान प्राप्त हुआ।" गंगामठ के ब्रह्मानन्द के शिष्य अपने एक मित्र से योगाभ्यास की कुछ विधियों का ज्ञान प्राप्त कर वह योगाभ्यास में प्रवृत्त हो गये थे। सर्वप्रथम वह प्रति दिन छह-सात घण्टे श्रम-साध्य प्राणायाम का अभ्यास करते रहे। उन्होंने गीता तथा उपनिषदों में वर्णित ध्यान का भी अभ्यास किया।

पाण्डिचेरी का आश्रम

४ अप्रैल १९१० ई. में श्री अरविन्द कलकत्ता से चन्द्रनगर होते हुए पाण्डिचेरी पहुँचे। वहाँ वह अपने एक मित्र के यहाँ रुके। उस समय उनके साथ चार सहचर भी थे। धीरे-धीरे इनकी संख्या में वृद्धि होती गयी। इन लोगों ने एक आश्रम की स्थापना कर ली। आजकल उस आश्रम में स्थित सौ से अधिक घरों में सैकडों आश्रमवासी रहते हैं। ये लोग दुग्धशाला, शाक-वाटिका, वस्त्र-प्रक्षालन केन्द्र तथा पाकशाला आदि आश्रम की अनेक गति-विधियों में कार्यरत रहते थे। अधिकांश युवतियाँ आश्रम के अपने प्रेस में काम करती हैं। आश्रम-वासियों के लिए उनके यह सारे कार्य उनकी साधना के ही अंग हैं। उनके लिए यहाँ का जीवन विभिन्न अवरोधक घटकों में विभाजित न हो कर एक अविभाजित साकल्य है।

आश्रम का अपना एक विद्यालय है। इसमें स्वास्थ्य-संवर्धन के लिए शरीर-विज्ञान के अध्ययन-अध्यापन पर अधिक बल दिया जाता है। चौदह वर्ष से ले कर अट्ठारह वर्ष तक के छात्रों को यहाँ व्यावसायिक शिक्षा प्रदान की जाती है।

१९२० ई. में पाल रिचर्ड की फ्रान्सिसी पत्नी मीरा अरविन्द आश्रम में आयीं। आश्रम के आदर्शों तथा सिद्धान्तों के प्रति वह पूर्णतः समर्पित थीं। उन्हें आश्रम की अध्यक्ष बना दिया गया और आश्रम-वासी उन्हें माँ कहने लगे। प्रत्येक दिन प्रातःकाल वह अपने कक्ष से सम्बद्ध बारजे से इच्छुक भक्तों को दर्शन दिया करती थीं। वह आश्रम के नगण्य प्रतीत होने वाले कार्य-व्यापार का भी सूक्ष्म निरीक्षण करती थीं।

अरविन्द आश्रम में रहने वाले लोग संन्यासी नहीं हैं। अरविन्द भी संन्यासी न हो कर ऋषि थे।

यह आश्रम एक सर्वदेशीय आश्रम है। यहाँ ईसाई, पारसी, मुसलमान तथा अन्य मतों के प्रति आस्थावान् लोग भी रहते हैं।

अरविन्द अपने भक्तों को प्रतिवर्ष चार बार दर्शन दिया करते थे।

आश्रम के सभी कार्य साधकों द्वारा ही सम्पन्न किये जाते हैं।

आश्रम ने माँ तथा पाल रिचर्ड के प्रबन्धन में 'आर्य' नामक एक अँगरेजी साप्ताहिक के प्रकाशन का प्रारम्भ किया। अरविन्द की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ इस पत्र में क्रमिक रूप से प्रकाशित होती रहीं; किन्तु साढ़े छह वर्षों के पश्चात् इसका प्रकाशन बन्द हो गया।

श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर एक बार अरविन्द आश्रम में गये। उन्होंने अरविन्द से कहा- "आपके पास शब्द हैं। आपसे इसकी स्वीकृति प्राप्त करने के लिए हम प्रतीक्षारत हैं। भारत आपकी वाणी के माध्यम से ही संसार को अपना सन्देश देगा।"

श्री अरविन्द का दर्शन

एक प्रकार से श्री अरविन्द का दर्शन व्यावहारिक है। यह तथ्यों, अनुभव, वैयक्तिक बोध तथा किसी द्रष्टा या ऋषि की दिव्य दृष्टि की सम्प्राप्ति पर आधारित है। अरविन्द की आध्यात्मिकता तथा तर्क में अवियोज्य सम्बन्ध है।

श्री अरविन्द का उद्देश्य किसी व्यक्ति विशेष को पाश-बद्ध करने वाली शक्तियों से उसकी मुक्ति मात्र नहीं है। संसार के आध्यात्मिक रूपान्तरण तथा मानसिक, प्राणिक और दैहिक प्रकृति एवं मानवता के जीवन में दिव्य स्वभाव के अवतरण के लिए वह कर्म के माध्यम से ईश्वरीय संकल्प को मूर्त रूप प्रदान करने के पक्षधर थे।

श्री अरविन्द कहते हैं- "अस्तित्व के निम्नतर स्तर से उठने वाले सुस्थिर तथा अडिग आकांक्षा के स्वर तथा इसके प्रत्युत्तर में ऊर्ध्वलोक से अवतरित ईश्वरीय अनुग्रह, इन दो शक्तियों के संयोजन से यह सम्भव हो सकता है। यदि रूपान्तरण समग्र रूप से होना है, तो उसे उन सारी शक्तियों को अस्वीकृत करना होगा जो उसके मार्ग में अवरोध उपस्थित करती हैं।"

श्री अरविन्द का कहना है- "दैवी आदेश के अनुसार हमें ईश्वर की प्रतिकृति में विकसित होना एवं उसमें तथा उसके सान्निध्य में रह कर उसके प्रकाश तथा उसकी शक्ति का माध्यम तथा उसके सष्टि-व्यापार का एक उपकरण होना है। जो कुछ भी अशुभ है, उससे विलग तथा पवित्र हो कर हमें संसार में मानव जाति को रोमांचित तथा अनुप्राणित करने वाले एक विद्युत्-प्रक्षेपण यन्त्र की भाँति काम करना है। इसके परिणाम-स्वरूप हम अपने समीपस्थ शत-शत व्यक्तियों को ईश्वरीय प्रकाश, शक्ति तथा आनन्द से पूर्ण कर उन्हें ईश्वरमय बना देंगे। गिर्जाघर, धर्मशास्त्र तथा दर्शन मनुष्य की सुरक्षा में असमर्थ सिद्ध हुए हैं; क्योंकि ये बौद्धिक सिद्धान्तों तथा संस्थाओं को ही मानव-जाति के त्राण में समर्थ मान कर इन्हीं में उलझे रहे हैं। उन्होंने आत्मा की शक्ति तथा विशुद्धता, जो अत्यावश्यक हैं, को उपेक्षणीय समझ लिया है।"

अरविन्द की 'लाइफ डिवाइन' समस्त संसार के लोगों के चिन्तन को सम्यक् दिशा प्रदान करने वाली एक सशक्त कृति है। इसकी ओजस्विता तथा उपयोगिता सार्वकालिक है। 'एसेज आन गीता', 'आइडियल एण्ड प्रोग्रेस', 'ईशोपनिषद्', 'द सुपर मैन', 'एवोल्युशन', 'हेराक्लिटस', 'द आइडियल आफ कर्मयोगी', 'द ब्रेन आफ इण्डिया', 'द रिनेसेन्स आफ इण्डिया', 'बेसेज आफ योग', 'कालिदास', 'विक्रमोर्वशी' या 'द हीरो एण्ड द निम्फ', 'पोएम्स' तथा 'द रिडिल आफ दिस वर्ल्ड' आदि उनकी अन्य कृतियाँ हैं।

सन्त की महासमाधि

पाण्डिचेरी में ५ दिसम्बर १९५० को रात्रि के डेढ़ बजे श्री अरविन्द का देहान्त हो गया। उस समय उनकी आयु ७८ वर्ष थी। वह पन्दरह दिनों तक गुर्दे के रोग से पीडित रहे। उनका उपचार डा. प्रभाकर सेन कर रहे थे।

इस प्रकार भारत माता की एक और यशस्वी सन्तान अपनी माता के अंक में चिर निद्रा में विलीन हो गयी। जिस प्रकार कर्पूर अग्नि में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार समस्त संसार में अपने दिव्य प्रकाश की किरणों को विकीर्ण करने वाला एक और दीप अपनी ही ज्योति में समा गया।

श्री अरविन्द कवि, राजनीतिज्ञ और दार्शनिक थे। उनकी दार्शनिक तथा काव्यात्मक कृतियों का बाह्य अलंकरण भले ही पाश्चात्य प्रतीत हो, उनके मूल स्वर भारतीय हैं। वह इस युग के सर्वश्रेष्ठ मेधावी चिन्तक तथा आत्मिक जीवन को गति प्रदान करने वाली एक प्रमुख शक्ति थे। राजनीति तथा दर्शन के प्रति उनकी सेवाओं को भारत कभी विस्मृत नहीं करेगा। दर्शन तथा धर्म के क्षेत्र में उनके बहुमूल्य योगदान का स्मरण संसार कृतज्ञतापूर्वक करता रहेगा।

श्री अरविन्द की गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों में की जाती है। वह भारतीय राष्ट्रवादियों के प्रेरणा-स्रोत थे। जब तक संसार का अस्तित्व है, तब तक उनकी धर्म-सम्बन्धी कृतियों की जीवन्तता अक्षुण्ण रहेगी।

श्री अरविन्द भारतीय नव-जागरण के शिरोमणि, सर्वोत्कृष्ट देश-भक्त, बुद्धिवादियों में सर्वाधिक कुशाग्र बुद्धि और द्रष्टाओं में सर्वाधिक सूक्ष्म-द्रष्टा थे। वह संसार को इस सत्य से परिचित कराने के अपने उदात्त प्रयोजन में सफल रहे कि भारत अपने-आपको अक्षुण्ण रखते हुए समस्त अन्यदेशीय संस्कृतियों को स्वयं में अन्तर्लीन कर सकता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि जो समुचित संश्लेषणों में कुशल है, वह प्राच्य तथा पाश्चात्य संस्कृतियों के बीच परस्पर विरोध का दर्शन न कर उनमें तादात्म्य-स्थापन कर सकता है। श्री अरविन्द का जीवन दिव्य था। उन्होंने संसार को भी दिव्य जीवन व्यतीत करने का आदेश दिया। उनकी कृति 'लाइफ डिवाइन' में उल्लिखित उनके उपदेश मनुष्य जाति को अनन्त काल तक अनुप्राणित करते रहेंगे। भावी पीढ़ियाँ उन्हें वैदिक द्रष्टाओं के एक समुदाय के सदस्य के रूप में उनका सादर स्मरण करती रहेंगी। उनका प्रकाश सार्वकालिक सिद्ध हो !

स्वामी स्वयंप्रकाश ब्रह्मेन्द्र जी

स्वामी स्वयंप्रकाश ब्रह्मेन्द्र जी का पूर्व-नाम कृष्णमूर्ति था। इनका जन्म तमिलनाडु के आर्काट जनपद के कलपट्ट ग्राम में २८ नवम्बर १८७१ ई. में हुआ था। इनके माता-पिता के नाम क्रमशः जानकी तथा रामास्वामी शास्त्रिगल थे। रामास्वामी एक धर्मनिष्ठ वैदिक विद्वान थे जो निर्धन होते हुए भी एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण थे।

स्वामी ब्रह्मेन्द्र जी की शिक्षा-दीक्षा तिरुविडैमरुदर, कुम्भकोणम् तथा तिरुवनन्तपुरम् में हई। मैट्रिक की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् वह पूर्ण मनोयोग से संस्कृत के अध्ययन में संलग्न हो गये। उनकी धारणा-शक्ति अद्‌भुत थी। वह समुचित सन्दर्भों तथा समीक्षा के साथ बृहदाकार लेखांशों के उद्धरण प्रस्तुत कर दिया करते थे।

कृष्णमूर्ति कुछ दिनों तक निकटवर्ती ग्राम के एक विद्यालय में अध्यापक रहे। इसके पश्चात् वह पचास रुपये मासिक वेतन पर भूमि-व्यवस्था विभाग में लिपिक हो गये।

कृष्णमूर्ति के अग्रज ने उनसे अनुरोध किया कि वह विवाह कर लें; किन्तु उन्होंने उनके इस अनुरोध को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया। वह पद-त्याग कर गुरु की खोज में उत्तर दिशा में चल पड़े। काशी में उनकी भेंट स्वामी दक्षिणामूर्ति से हुई जिनके पास वह उनके शिष्य के रूप में तीन वर्ष तक रहे। उनके प्रशिक्षण में उन्होंने वेदान्त का सांगोपांग अध्ययन किया। उन्होंने वहाँ छह माह तक एक मौनी बाबा की भी सेवा की।

इसके पश्चात् कृष्णमूर्ति तिरुनेलवेली जनपद-स्थित पापनाशम् के निकटस्थ बाणतीर्थ के ऊपर एक गुफा में चले गये। वहाँ उन्हें दीप्तिमान संन्यासी अवधूत ब्रह्मेन्द्र स्वामी के दर्शन हुए। सर्वसाधारण में वह जज स्वामी के नाम से प्रसिद्ध थे।
कृष्णमूर्ति की परीक्षा के लिए अवधूत स्वामी उन पर पत्थर फेंकने लगे; किन्तु कृष्णमूर्ति इसे धैर्यपूर्वक सहन करते रहे। इतना ही नहीं, वह स्वामी जी तक स्वयं पत्थर पहुँचाने लगे। अब स्वामी जी को विश्वास हो गया कि कृष्णमूर्ति दीक्षा ग्रहण के लिए पूर्णतः परिपक्व हो चुके हैं।

स्वामी जी के निर्देशानुसार कृष्णमूर्ति जून १८९१ ई. में पूर्णिमा के दिन अपने घर कानाप्पेट्टाई चले गये। वह वहाँ अपनी माता के पास केवल तीन घण्टे तक रहे। उनके वस्त्र उनके शरीर से अपने-आप विलग हो गये। उन्होंने तत्काल अवधूताश्रम ग्रहण कर लिया।

स्वामी स्वयंप्रकाश ब्रह्मेन्द्र सरस्वती इतस्ततः पर्यटन करते रहे। लोगों से जो-कुछ मिल जाता, वह उसी से क्षुधा शान्त कर लेते और मार्ग में जहाँ श्रान्त-क्लान्त होते, वहीं विश्राम कर लेते। वह तिरुचिरापल्ली जनपद-स्थित नेरूर गये जहाँ सदाशिवब्रह्म का समाधि स्थल है। उन्होंने तंजावूर जनपद के अनेक गाँवों की यात्रा की। वह कुछ महीनों तक तिरुवन्नामलै की एक गुफा में रहे। उन्होंने समस्त भारत का परिभ्रमण किया। वह बदरीनाथ भी गये।

स्वामी ब्रह्मानन्द नग्नावस्था में रहते थे। अतः एक दिन पुलिस ने उन्हें हवालात में बन्द कर दिया। किन्तु लब्ध-प्रतिष्ठ वकील कृष्ण स्वामी के प्रयत्न से वह मुक्त हो गये।

स्वामी ब्रह्मानन्द को विष दिया गया। उनके शिर तथा उनकी दाढ़ी के बाल जला दिये गये। उनको दुष्ट-प्रकृति लोगों द्वारा लायी गयी कुख्यात महिलाओं द्वारा प्रलोभित किया गया। उनके वक्षस्थल को पाशबद्ध कर चिलचिलाती धूप में सड़क पर घसीटा गया। अन्ततः वह सलेम जनपद-स्थित सेन्दमंगलम् ग्राम में चले गये। उधर वह कोल्ली की पहाड़ियों में घूमते रहे। वहाँ उन्होंने एक उपगिरि-पाद पर तप करने के लिए अपना निवास-स्थान बना लिया। उच्च न्यायालय के अवकाश-प्राप्त न्यायाधीश श्री के. सुन्दरम् चेट्टियार ने श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक उनकी सेवा की।

स्वामी ब्रह्मेन्द्र आध्यात्मिक उत्कर्ष के जीवन्त उदाहरण थे। वह अवधूताश्रम के लिए विहित कठोर संयम का पालन करते थे। उन्होंने सांसारिक बुद्धि-सम्पन्न युवकों के उपहास तथा तिरस्कार को असाधारण धैर्य के साथ सहन किया। अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में ही उन्होंने सांसारिक सुख-सुविधा का परित्याग कर दिया था। वह मन में आत्म-साक्षात्कार की उत्कट आकांक्षा लिये छरे की धार की भाँति दुस्तर मार्ग पर चल पड़े। उनके सद्गुरु की कृपा से उनके मन में असीम ऊर्जा थी जो इस मार्ग पर उनके लिए सम्बल सिद्ध हई। उन्होंने अपने अनेक शिष्यों का मार्ग-दर्शन किया। नर, नारी तथा बालक उनका आशीर्वाद सबको मिला करता था।

स्वामी जी के जीवन-काल में ही उनके निष्ठावान् शिष्य स्वामी शंकरानन्द ने गुरु के प्रति अपनी आत्यन्तिक श्रद्धा से अभिभूत हो कर दत्तात्रेय के विग्रह तथा स्वामी जी की संगमरमर की एक मूर्ति के प्रतिष्ठापन के लिए आश्रम में एक उपगिरि पर एक मन्दिर का निर्माण कर दिया। उनका यह कार्य अत्यधिक श्रम-साध्य था। उस दोमंजिले मन्दिर में स्वामी जी की संगमरमर की मूर्ति तथा भगवान् दत्तात्रेय के विग्रह के दर्शन से मूर्तिकार की चमत्कारपूर्ण तक्षण-कला की दक्षता स्पष्टतः परिलक्षित हो जाती है। अपने शान्त तथा प्रेरणाप्रद परिवेश में उपगिरि पर निर्मित यह

आकर्षक मन्दिर अपने अस्तित्व तथा वर्तमान सम्मोहक रूप-विधान के लिए स्वामी शंकरानन्द के श्रम-साध्य तथा अथक प्रयास एवं असाधारण धैर्य तथा कौशल का आभारी है।

ब्रह्मेन्द्र स्वामी दिसम्बर १९४८ ई. में महासमाधि में प्रविष्ट हुए। दत्तात्रेय-मन्दिर तथा गुहालय- ये दोनों सर्व साधारण को पूतात्मा सन्त स्वामी की महिमा तथा महत्ता का स्मरण दिलाते हुए एक स्थायी कीर्ति स्तम्भ के रूप में अपने आध्यात्मिक वैभव को उत्तरोत्तर समृद्ध करते रहेंगे।

स्वामी रामतीर्थ

स्वामी रामतीर्थ का सम्बन्ध रामचरितमानस के अमर प्रणेता गोसाई तुलसीदास की वंशावली से था। उनका जन्म पंजाब के गुजारावाला जनपद के मुरलीवाला ग्राम में १८७३ ई. में हुआ।

वे एक आसाधारण बुद्धि-सम्पन्न छात्र तथा प्रचण्ड मेधा के स्वामी थे। उनका स्वभाव मननशील था। गणित में उनकी विशेष रुचि थी। वे एकान्त-प्रिय थे। बी. ए. की परीक्षा में उन्होंने सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। एम. ए. में उनका विषय गणित था जिसमें उनकी असाधारण गति थी।

रामतीर्थ दो वर्षों तक लाहौर फोरमैन क्रिश्चियन कालेज में प्राध्यापक रहे। कुछ दिनों तक उन्होंने लाहौर ओरियन्टल कालेज में भी अध्यापन किया।

१९०० ई. में वह वन में चले गये और इसके पश्चात् वह शीघ्र ही संन्यासी हो गये। अमेरिका तथा जापान जा कर उन्होंने वहाँ के निवासियों को अपने प्रेरणादायक तथा आत्मोत्थानकारी भाषणों से अभिभूत किया। मिश्र में उनका हार्दिक स्वागत किया गया। वहाँ उन्होंने एक मसजिद में फारसी में भाषण दिया। रामतीर्थ सर्वदा प्रफुल्लित-चित्त रहते थे और उनके नेत्र दिव्य ज्योति तथा आनन्द से दीप्तिमय रहा करते थे। फारसी, अँगरेजी, हिन्दी, उर्दू तथा संस्कृत भाषाओं पर उनका पर्याप्त अधिकार था।

रामतीर्थ एक महान् तपस्वी तथा प्रबुद्ध रहस्यवादी थे। वे रावी-तट पर योगाभ्यास किया करते थे। इसके पश्चात् वे गंगा-तट पर स्थित ब्रह्मपुरी के वन में रहने लगे। वहीं उन्हें आत्म-साक्षात्कार हुआ। यह स्थान ऋषिकेश से पाँच मील दूर है।

आज रामतीर्थ हमारे बीच सशरीर विद्यमान नहीं हैं; किन्तु यथार्थतः वह चिर-जीवित, शाश्वत तथा अक्षय हैं। वह संसार के आध्यात्मिक गगन के एक ज्योतिर्मय नक्षत्र थे। सर्वग्राही तथा निरतिशय आनन्द के रूप में 'सच्चिदानन्द' का उनको पूर्ण बोध था। प्राचीन ऋषियों तथा आधुनिक सन्तों ने चरम सत्ता के अनिर्वचनीय स्वभाव की सिद्धि प्रत्यक्षीकरण तथा बुद्धि के युक्तियुक्त प्रमाणों सेन कर अपरोक्षानुभूति से की है जो वाचक शब्दों के अभाव में अप्रेषणीय है।

स्वामी रामतीर्थ के शिष्य श्री आर. एस. नारायण स्वामी के निर्देशन में लखनऊ में रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग की स्थापना हई। स्वामी रामतीर्थ के प्रेरणाप्रद अनुदेशो का प्रत्येक प्रेमी तथा प्रशंसक इस बात के लिए नारायण स्वामी तथा लीग का आभारी है जिन्होंने अपरिमित कष्ट उठा कर रामतीर्थ की कृतियों को संसार के लिए सुलभ बनाया।

रामतीर्थ की गणना भारतीय मेधा के सर्वाधिक द्युतिमान रत्नों में की जाती है। वे इन अपौरुषेय द्रष्टाओं के मसीहाई वर्ग के प्रतिनिधि हैं जिन्होंने भारतीय पुनर्जागरण का परदा उठा कर एक रचनात्मक, शौर्यपूर्ण तथा सर्वजेता

आध्यात्मिकता के युग का श्रीगणेश किया। आधुनिक काल के लोगों के लिए भारतभूमि पर उनके अवतरण में एक महान् अर्थवत्ता निहित थी।

स्वामी रामतीर्थ से उत्तराधिकार के रूप में भारत को वेदान्तोक्त निर्भीकता तथा आध्यात्मिक देश-भक्ति - इन दो रत्नों की सम्प्राप्ति हुई। राम की आध्यात्मिक देश-भक्ति भव्य तथा अद्वितीय है। भारत माता के प्रत्येक सपूत को इसे आत्मसात् कर लेना चाहिए। स्वामी राम ने सुस्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि यदि तुम्हें स्वयं में उत्कट तथा यथार्थ देश-प्रेम की भावना जाग्रत करनी है, तो तुम्हारे लिए अपनी मातृभूमि में देवत्वारोपण करना तथा भारतभूमि को एक जीवन्त देवी के रूप में देखना अत्यावश्यक है। "यदि तुम ईश्वर तथा स्वयं में एकात्मकता के बोध के इच्छुक हो, तो तुम्हारे लिए समग्र राष्ट्र से तादात्म्य-स्थापन अनिवार्य है। भारतभूमि के प्रत्येक प्राणी के प्रति अपनी इस उत्कट एकत्व-भावना को अपने अंग-प्रत्यंग में स्फुरित होने दो।" राम का कहना है "यह देखते हुए कि भारत की समग्रता का समावेशन प्रत्येक भारतीय में परिलक्षित होता है, भारतीयों को अपनी निष्ठा इस समग्र के प्रति अर्पित करनी होगी। जब निर्झरों, पत्थरों तथा वृक्षों तक का मानवीकरण कर दिया गया है, तब उस महान् भारत माता में देवत्वारोपण क्यों न किया जाये जो तुम्हारा पालन-पोषण करती है। तुम प्राण-प्रतिष्ठा द्वारा एक प्रस्तर-प्रतिमा या मृत्तिका-पिण्ड को सप्राण कर देते हो, तब देवी अर्थात भारत माता में अन्तर्निष्ठ वैभव, ऊर्जा तथा प्राण-शक्ति का आरोपण कितना सार्थक होगा।" इस प्रकार राम के लिए मातृभूमि के प्रति प्रेम का राष्ट्रीय धर्म विराट् प्रेम का आध्यात्मिक धर्म था। प्रत्येक भारतीय को इस पैतृकता को अपने हृदय में सँजो लेना चाहिए। अपने इस कर्तव्य-बोध के माध्यम से तुम्हें इस महान् द्रष्टा के प्रति अपना सम्मान तथा अपनी कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए। इसी स्थिति में तुम उनके जीवन तथा उपदेशों को महिमान्वित कर सकते हो।

राम के अनुसार अपनी मातृभूमि के साथ पूर्ण तादात्म्य-स्थापन में ही उत्कट देश-भक्ति की अर्थवत्ता निहित है। उनके इन शब्दों पर ध्यान दीजिए- "देश तथा जनता के साथ तुम्हारी प्रेममयी समस्वरता अत्यावश्यक है।" आध्यात्मिक सैनिक बनो। अपने क्षुद्र अहं-प्रत्यय का परित्याग कर अपनी मातृभूमि के लिए अपना जीवन अर्पित कर दो। उसके प्रति तुम्हारे प्रेम के माध्यम से तुम दोनों के बीच भावनात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जायेगा। अग्रगमन करो। देश तुम्हारा अनुगमन करेगा। वस्तुतः यही व्यावहारिक वेदान्त है।

रामतीर्थ ने जन-मानस को एक नये उल्लास तथा इस विश्वास से भर दिया कि इस हतभाग्य धरती पर हमारा जीवन-यापन और समुद्र में एक दीर्घकालीन संघर्ष के पश्चात् एक जल-शून्य मरु प्रदेश, जहाँ हमारे दुःखों की आवृत्ति होती रहेगी, में न पहुँच पाना निष्प्रयोजन नहीं है। उनका जीवन व्यावहारिक दर्शन का मूर्त रूप था। इसके माध्यम से उन्होंने संसार के समक्ष इस तथ्य को अनावृत कर दिया कि आत्मानन्द की उपलब्धि इस जीवन में भी सम्भव है और यदि कोई इसकी सम्प्राप्ति के लिए निष्कपट भाव से प्रयत्नशील है. तो यह उसके लिए सर्वथा सुलभ है।

वेदान्तोक्त जीवन के क्षेत्र में स्वामी राम एक अनुकरणीय पुरुष थे। वह एक निर्भीक तथा व्यावहारिक वेदान्ती थे। वह आत्मानुमोदित गत्यात्मक जीवन व्यतीत करते थे। उनके आदर्श उच्चतर, उनका दृष्टिकोण उदात्त तथा उनका प्रेम नित्य तथा नैसर्गिक था।

वह मूर्तिमान देवत्व तथा प्रेमावतार थे। वह प्रत्येक सत्यान्वेषी के हृदय में आध्यात्मिक दीप्ति की गंगा बहाते हुए हमारे बीच एक गत्यात्मक शक्ति के रूप में आज भी विद्यमान हैं। उनके उपदेश उत्प्रेरक, उत्थापक तथा प्रबोधक हैं। वे अन्तःप्रज्ञात्मक अनुभूति के स्रोत हैं।

रामतीर्थ के अनुदेश असाधारण रूप से अव्यवहित ओजपूर्ण तथा अप्रतिम हैं। उन्होंने न तो किसी विशिष्ट योग या साधना का उपदेश दिया, न ही किसी अमूर्त दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होंने वेदान्त, योग तथा साधना के अनुरूप जीवन-यापन की शिक्षा दी। उनके उपदेशों में उनके वैयक्तिक दृष्टान्त का पुट रहता था। वह

ज्योतिर्मय जीवन के मूर्त रूप थे। उन्होंने अपने मौन व्यक्तित्व से भी श्रोताओं को उतना ही प्रभावित किया जितना प्रभावित उन्होंने टोकियो तथा टोरेन्टों के बीच अपने प्रवचनों तथा भाषणों से अपने असंख्य श्रोताओं को किया था।

स्वामी राम ने पाश्चात्य देशों में स्वयं को पूर्व के केवल एक ज्ञानी के रूप मैं न प्रस्तुत कर पूर्व के ज्ञान के मूर्त रूप में प्रस्तुत किया। वे आध्यात्मिक चेतना के हर्षातिरेक में मग्न एक आनन्दमय प्राणी थे और उनका आनन्द संक्रामक था। उनके दृष्टिपात में विद्युत्-शक्ति निहित थी और उनकी मुस्कान से आत्मा की ज्योति की किरणें विकीर्ण होती थीं। उनकी उत्प्रेरक वाणी या यों समझ लीजिए कि उनके समग्र जीवन से वेदान्त की गंगा प्रवाहित होती थी। उनका प्रत्येक कर्म, प्रत्येक संकेत तथा उनकी प्रत्येक गतिविधि वेदान्त की चेतना के रोमांच से अनुप्राणित थी।

रामतीर्थ ने इस तथ्य की सिद्धि कर दी कि वेदान्त के सिद्धान्तों के अनुरूप जीवन-यापन सर्वथा सम्भव है। उनका जीवन व्यापक आध्यात्मिक दृष्टि तथा आनन्दमय जीवन-यापन की सर्वतोत्कृष्ट कला की अभिव्यक्ति था। श्री रामतीर्थ के लिए वेदान्त ज्ञान तथा बोध से अधिक वेदान्त के अनुरूप जीवन-यापन है। उनकी यह एक विलक्षण विशिष्टता थी कि वेदान्त की सर्वोच्चता के प्रति आस्थावान् रहते हुए भी उन्होंने इसका प्रतिपादन जीवन-यापन की एक सहज-सरल कला के रूप में किया। वे सामान्य जन को वेदान्त के निकट न ले जा कर वेदान्त को ही सामान्य जन के निकट ले आये। वे वेदान्त को शान्त घरों से ले कर व्यस्त कार्यालयों, जन-संकुल सड़कों तथा पाश्चात्य जगत् के कोलाहलमय हाट-बाट तक ले गये।

प्राच्य तथा पाश्चात्य-दोनों ने स्वामी राम के जीवन को एक अनुग्रह तथा वरदान के रूप में ग्रहण किया है। भारत के लिए उन्होंने वेदान्त को स्वयं अपने प्रेरणाप्रद जीवन की प्राणद शक्ति तथा प्रोज्ज्वल दृष्टान्त से ऊर्ध्वसित किया। उन्होंने भारत को भ्रान्ति तथा अन्धविश्वास से मुक्त किया। इसके साथ ही उन्होंने अमेरिका को आत्मिक जीवन की व्यावहारिकता के तात्त्विक मूल्यों के प्रति जाग्रत किया। उन्होंने इस तथ्य को अनावृत कर दिया कि प्रत्येक उदात्त कर्म का केन्द्रीय रहस्य एकत्व, सामंजस्य तथा आनन्द के दिव्य विधान से समस्वरता में अनुस्यूत है।

अहं-प्रत्यय से ऊपर उठ कर निर्वैयक्तिक कर्म करना ही दिव्य जीवन की कुंजी है। उन्होंने अपने देशवासियों का आह्वान करते हुए कहा था- "तुम लोगों में जीवन, प्रकाश तथा प्रेम (सत्-चित्-आनन्द) के प्रति एकत्व-बोध जाग्रत हो। इसके फल-स्वरूप तुम्हारे अन्तर से सुखद शौर्यपूर्ण कर्म एवं ज्ञान तथा सद्गुण की धाराएँ प्रवाहित होने लगेंगी। इसी को कहते हैं दिव्य जीवन और यही है तुम्हारा जन्म-सिद्ध अधिकार।"

राम ने विशुद्ध नैतिकता तथा आत्यन्तिक संयम की प्राप्ति के लिए, अमेरिकनों का पथ-प्रदर्शन किया। शरीर द्वारा सक्रिय संघर्ष तथा मन में शान्ति तथा संयम पाप-जन्य दुःख से मुक्ति के माध्यम हैं। यह मुक्ति यहीं और इसी जीवन में प्राप्त हो सकती है। सबके प्रति एकत्व-बोध हमें संयम का एक सन्तुलित जीवन प्रदान करता है। डालर की भूमि के लिए राम के सन्देश का यही सार-तत्त्व है।

संक्षेप में स्वामी राम का रोमांचक जीवन दुर्लभ प्रेम तथा दिव्य जीवन की सहजता का ज्वलन्त उदाहरण है। तुमको सर्वभूतात्मा, प्रकाश तथा आनन्द के स्रोत के रूप में ज्योतिर्मय होना है। तुमसे ऊर्जा तथा कर्तत्व-शक्ति का स्वाभाविक रूप से निस्सरण होने लगेगा। जब फूल खिलता है, तब उससे सुगन्ध अपने-आप निकलने लगती है। जाग्रत हो जाओ, भारत। राम के इस आह्वान का उत्तर दो। अपने यथार्थ स्वरूप आनन्द को पहचानो। आत्मा में निवास करो। राम को इसी क्षण अपने हृदय में प्रविष्ट होने दो और अपने कर्म को गतिशीलता प्रदान कर अपने जीवन को उद्‌बुद्ध करो। उनकी दिव्यात्मा भारत को अनुप्राणित कर उसे उसकी पुरातन महिमा तथा वेदान्तिक वैभव के शिखर पर आसीन करे ! ॐ में निवास करो !

श्री रमण महर्षि

श्री रमण महर्षि का जन्म एक धर्मनिष्ठ मध्यवर्गीय ब्राह्मण परिवार में ३० दिसम्बर १८७९ को हुआ। उनका पूर्व-नाम वेंकटरमण था। एक मिशन फूल के छात्र के रूप में उन्होंने अँगरेजी का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त किया जो अत्यल्प था।

गृह-त्याग

२९ अगस्त १८९६ ई. को मदरै जनपद में स्थित अपने गृह का परित्याग श्र वह अपने स्रष्टा भगवान् अरुणाचल की खोज में चल पड़े। वह अपने गन्तव्य पर १ सितम्बर १८९६ ई. को पहुँचे। वहाँ उनके कण्ठ से भगवान् अरुणाचल की अभ्यर्थना में निम्नांकित शब्द निःसृत हुए :

**"भगवन्, मैं तुम्हारे आह्वान पर
अपने सर्वस्व का परित्याग कर
तुम्हारी सेवा में उपस्थित हूँ।
मैं किसी वरदान का अभिलाषी नहीं हूँ।
अपनी हानि का भी शोक नहीं है मुझे।
मुझे तुम अपनी शरण में ले कर अपना बना लो।"**

उस दिन से अपनी जागतिक यात्रा के अन्त तक अरुणाचल को अपना स्थायी निवास-स्थान बना कर वह समस्त भूमण्डल में अपनी अहंकार-शून्य मनःस्थिति की स्वर्णिम भाषा मौन के माध्यम से शाश्वत सत्य का सन्देश सम्प्रेषित करते रहे।

गृह-त्याग के समय वेंकटरमण अपने अभिशंसक अग्रज के नाम यह पत्र छोड़ गये थे- "मैं आज अपने स्रष्टा के आदेशानुसार उसकी खोज में यहाँ से प्रस्थान कर रहा हूँ। वस्तुतः मैं एक धार्मिक अभियान पर निकल रहा हूँ। अतः इसके लिए न तो किसी को दुःखी होना चाहिए, न ही मेरी खोज में धन व्यय करना चाहिए।"

महान् अभिबोध

एक दिन जब भक्तों ने रमण महर्षि से उनके आन्तरिक रूपान्तरण का कारण पूछा, तब उन्होंने कहा- "१८९६ ई. के मध्य में जिस दिन मैंने मौ का सर्वदा के लिए परित्याग किया, उसके छह सप्ताह पूर्व मेरे जीवन में एक महान् परिवर्तन हो गया था। यह परिवर्तन आकस्मिक रूप से हुआ। एक दिन मैं अपने चाचा के घर के पहले तल पर एकाकी बैठा हुआ था। उन दिनों मेरा स्वास्थ्य सामान्यतः सन्तोषप्रद ही था; किन्तु मैं मृत्यु के आकस्मिक और सुस्पष्ट भय से ग्रस्त हो गया। मैं सोचने लगा कि इस स्थिति में मेरे लिए क्या करणीय है। इस विषय पर मैंने किसी डाक्टर, अग्रज या मित्र के परामर्श को अनावश्यक समझा। मुझे ऐसा प्रतीत हआ कि मुझे इस समस्या का अविलम्ब समाधान स्वयं करना होगा। मृत्यु के भय से मुझे आत्म-विश्लेषी तथा अन्तर्मुखी बना दिया। मैंने अपने-आपसे मन-ही-मन कहा- 'मृत्यु के इस आगमन का अर्थ क्या है ? जो मृत्यु को प्राप्त होता है, वह कौन है? वस्तुतः इस शरीर की ही मृत्यु होती है।' मैंने उस स्थिति को तत्काल एक नाटकीय रूप प्रदान करते हुए अपने शरीर को सर्वांगतः विस्तृत कर दिया जिससे वह जड़प्रायः हो कर पूर्णतः स्थिर हो गया। इस प्रकार उसमें शव की अकड़न आ गयी। मैं अपने अनुसन्धान को और अधिक व्यापक बनाने के लिए स्वयं को शव समझने लगा। मैंने अपना मुँह बन्द कर होंठ भींच लिये जिससे कोई स्वर बाहर न निकल सके। तब मैंने अपने-आपसे कहा- 'यह मृत शरीर है। अब इसे लोग श्मशान में ले जायेंगे जहाँ जला कर इसे भस्म कर दिया जायेगा। किन्तु क्या इस देहान्त के पश्चात् मेरा भी

अन्त हो जायेगा? क्या मैं यह शरीर हूँ? यह शरीर तो मूक तथा जड़ है। किन्तु मुझे अपने अस्तित्व की समस्त ऊर्जा का ज्ञान है। इसके अतिरिक्त मैं इस शरीर से असम्पृक्त उस नाद से भी परिचित हूँ जो मेरी यथार्थ आत्मा का स्वर है। भौतिक शरीर मरणधर्मा है; किन्तु मृत्यु शरीर का अतिक्रमण करने वाली इस आत्मा का स्पर्श तक नहीं कर सकती। अतः मैं अमर्त्य आत्मा हूँ।' यह सब किसी बौद्धिक व्यायाम का आवेग नहीं था। यह मेरे समक्ष एक जीवन्त तथा दिव्य दीप्ति के रूप में प्रकट हुआ जिसे मैंने तत्क्षण देख लिया और जिसकी अस्वीकृति के लिए मेरे पास कोई युक्ति नहीं थी। उस स्थिति में मैं ही एकमात्र 'यथार्थ सत्ता' था और मेरे शरीर से सम्बद्ध सारे चेतन व्यापार उसी पर केन्द्रित थे। मेरा यथार्थ आत्म-तत्त्व अपनी शक्ति तथा सम्मोहकता के कारण सबके ध्यान का केन्द्र-बिन्दु बना हुआ था। तत्काल ही में मृत्यु के भय से सर्वदा के लिए मुक्त हो गया। आत्मा के अन्तर्लयन की वह प्रक्रिया उसी समय से आज तक चली आ रही है।”

महर्षि का तपस्

पटल-लिंग के निकटस्थ सहस्र स्तम्भ मण्डप, सुब्रह्मण्य-मन्दिर, आम्र-वाटिका, सद्गुरु स्वामी गुफा तथा कोरा उपगिरि-ये स्थान रमण की तपोभूमि थे। १९०९ ई. से १९१६ ई. तक वह विरूपाक्षी गुफा में रहे।

रमण के तप की कालावधि में दुष्ट प्रकृति के बालक उन पर पत्थर तथा खपरैल फेंका करते थे; किन्तु वह अपने ध्यान तथा तप की शक्ति से सर्वदा शान्त-संयत रहते थे।

तिरुवन्नामलै में रमण महर्षि को लोग ब्रह्म स्वामी कहा करते थे। संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् काव्य कान्त गणपति शास्त्री १९०८ ई. में रमण-आश्रम में गये। उन्होंने 'रमण गीता' लिखी।

महर्षि का जीवन, ध्यान का सातत्य तथा आनन्दानुभव ये तीनों समानार्थक थे। उनको आन्तरिक शान्ति उपलब्ध हो चुकी थी। वह अन्तस्थ ईश्वर के प्रकाश में निवास करते थे और अन्य लोगों को भी ऐसा ही करने के लिए उत्साहित किया करते थे। उनके लिए समस्त संसार एक था। महर्षि बहुत कम बोलते थे। वह उसी समय बोलते थे, जब बोलना अत्यावश्यक हो जाता था।

उनका दिव्य सन्देश

रमण उपनिषदों के आदेश उपदेश के जीवन्त उदाहरण थे। उनका जीवन उनके उपदेशों के दर्शन तथा सन्देश का प्रतीक था। उनकी भाषा मर्मस्पर्शी थी।

महान् महर्षि ने स्वयं को अपनी अन्तरात्मा में ही उपलब्ध किया और इसके पश्चात् अपने महान् जीवन का उदात्त किन्तु सरल-सहज सन्देश- "अपने को जानो", संसार को दिया।

"अपने को जानो। शेष सभी कुछ अपने-आपको स्वयं तुम्हारे समक्ष अनावृत कर देगा। आत्मानात्म-विवेक के लिए अमर्त्य, अविकारी, सर्वव्यापी तथा अपरिच्छिन्न आत्मा एव पल-पल परिवर्तनशील नामरूपात्मक अनित्य जगत् तथा शरीर में पार्थक्य-दर्शन करो। 'मैं कौन हैं? इसका उत्तर परिप्रश्न से प्राप्त करो। मन को शान्त रखो। आत्मा को अपने विचार का विषय बना कर अन्य सभी विचारों से स्वयं को मुक्त कर लो। अपने हृदय-कक्ष की गहनता में प्रविष्ट हो जाओ। यथार्थ अपरिच्छिन्न आत्मा का दर्शन करो और उसमें सर्वदा के लिए शान्त भाव से अवस्थित हो कर उच्चतम आत्मा से तादात्म्य-स्थापन करो।" श्री रमण महर्षि के दर्शन तथा उपदेशों का सारांश यही है।

श्री रमण कहते हैं- "यथार्थ आत्मा के प्रति अनभिज्ञता ही संसार के दुःख का कारण है। आनन्द मनुष्य का यथार्थ तथा अन्तर्जात स्वरूप है। यह इसके अन्तर्गत बद्धमूल है। सुख की खोज मनुष्य की यथार्थ आत्मा की खोज का अचेतन प्रयास है। यथार्थ आत्मा अक्षर है। अतः मनुष्य जब इसे उपलब्ध कर लेता है, तब उसे अन्तहीन आनन्द की सम्प्राप्ति हो जाती है।"

"मैं, मैं के आत्म-चेतन निस्सरण के साथ वह सर्वोच्च आत्मा हृदय की गहनतम गुफा में अपनी चिर प्रदीप्ति के साथ अवस्थित है। अन्तर्वेशन तथा प्राणायाम के माध्यम से उसके बोध के लिए तुम एकाग्र-चित्त अपने हृदय-कक्ष में प्रविष्ट हो कर उस आत्मा की आत्मा अर्थात् यथार्थ आत्मा के साथ स्वयं को एकीकृत कर लो।"

श्री रमण का "मैं कौन हूँ”, उपदेश-सारम् तथा उल्लतु नारपतु (Ullathu Narpathu) सूत्रात्मक तथा संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत अपरोक्ष ज्ञान की मुक्तावलि हैं।

अखिल भारतीय साईं समाज के भूतपूर्व अध्यक्ष बी. वी. नरसिंह स्वामी द्वारा 'आत्म-साक्षात्कार' नामक एक रोमांचक पुस्तक का प्रकाशन हुआ है, जिसमें रमण महर्षि के जीवन की घटनाओं को रेखांकित किया गया है। योगी शुद्धानन्द भारती ने भी तमिल में उनकी जीवनी लिखी है।

भगवान् रमण महर्षि ने भौतिकवादियों के इस अर्थहीन कथन को भ्रान्त सिद्ध कर दिया कि आत्म-साक्षात्कार तथा समाधि सुदूर अतीत की बातें हैं और वर्तमान युग में मनुष्य के लिए इनकी सिद्धि असम्भव है। उन्होंने अपनी आजीवन समाधि से यह सिद्ध कर दिया कि आत्म-साक्षात्कार तथा ईश्वर का सान्निध्य आज भी सम्भव है।

प्रिय मुमुक्षु, सोत्साह कटिबद्ध हो कर तुम स्वयं को प्राणपण से योग-साधना में प्रवृत्त कर दो। विदेह कैवल्य प्राप्त कर तुम एक ज्योतिर्मय तथा प्रबुद्ध सन्त के रूप में शीघ्र ही सर्वदा के लिए प्रख्यात हो जाओगे।

पूर्वापेक्षा प्रकाश में अधिक तीव्रता है

श्री रमण के बायें हाथ की कुहनी के ऊपर सांघातिक गाँठ पड़ गयी थी।

लेफ्टिनेन्ट कर्नल पी. वी. करमचन्दानी, आई. एम. एस. डी. एम. ओ. ने उनकी परिचर्या की। महर्षि का चार बार शल्योपचार किया गया।

१४ अप्रैल १९५० ई. को रात के आठ बज कर सैंतालिस मिनट पर जब श्री रमण महर्षि अपनी नश्वर काया का परित्याग कर महासमाधि में प्रविष्ट हो गये, तब आकाश से उल्कापात हो गया था।

महर्षि रमण में अन्तर्निहित प्रकाश की प्रतिकृति के माध्यम से जो सर्वव्यापी प्रकाश अपनी किरणों को संसार में विकीर्ण कर रहा था, वह एक बार पुनः अपने आदि स्रोत में विलीन हो गया। जिन्हें हम महर्षि रमण कहते हैं, वह उपनिषदों के जीवन्त प्रमाण थे। वह प्रमाण सर्वदा अक्षुण्ण रह कर चरम सत्ता के प्रति हमारे विश्वास को शक्ति प्रदान करता रहेगा।

आज वे सन्त हमारे समक्ष सशरीर विद्यमान नहीं हैं; किन्तु उनकी आत्मा के प्रकाश का विलयन प्रत्येक ग्रहणशील व्यक्ति की आत्मा में हो चुका है। महर्षि रमण हमारे हृदय में अवस्थित हो चुके हैं। उनके महाप्रयाण से दुःखी होने की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि उन्हें अपने जीवन का लक्ष्य प्राप्त हो चुका था और उनके चरम पुरुषार्थ आत्म-साक्षात्कार की सिद्धि हो चुकी थी। अतः इससे दःखी होना अर्थहीन है। जो लोग अपनी लक्ष्य-सिद्धि और

कर्तव्य पालन में असफल सिद्ध होते हैं, उन्हीं लोगों की मृत्यु से दुःखी होना चाहिए। महर्षि की आत्मा का प्रकाश पूर्वापेक्षा अधिक प्रोज्ज्वल प्रतीत हो रहा है।

महर्षि रमण मार्गदर्शन, उत्साह तथा प्रेरणा प्रदान करते हुए मानवता के हृदय में सदैव विराजमान रहेंगे जिससे उस सत्य का साक्षात्कार लक्ष-लक्ष लोगों के लिए सम्भव हो सकेगा जिसका बोध उन्हें हो चुका था।

महर्षि रमण वेदान्त-दर्शन की विधिवत् व्याख्या पुस्तकीय ज्ञान के माध्यम से न कर व्यावहारिक अनुभव से करते थे। सर्वात्मसात् करने वाले मौन के माध्यम से प्रदत्त उनके अनुदेश में उच्चतम आदर्श तथा दिव्य बोध की उपलब्धि की आधारभूत विधियाँ सन्निहित हैं। मनुष्य के अन्तर के प्रच्छन्न देवत्व को उद्‌बुद्ध करना, नित्य आत्मा में निवास के लिए प्रयत्नशील रहना तथा जीवन के अनित्य पक्ष का निर्लिप्त साक्षी बने रहना- यह उनके आह्वान का शंख-नाद था। मतान्धता तथा धार्मिक पूर्वाग्रह की उन्हें चिन्ता नहीं रहती थी; क्योंकि वह इस प्रकार के ऐहिक परिसीमन से बहुत ऊपर उठ चुके थे। उनके साथ ब्राह्मण पुरोहित-पुजारी, मुसलमान, ईसाई और तथाकथित भारतीय अस्पृश्य भी रहते थे। वह इन सबको सम दृष्टि से देखते थे।

लोकोत्तर सत्य के सर्वोत्तम शिल्पी रमण महर्षि ने अपने गूढ़ मौन के माध्यम से अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख श्रान्त-क्लान्त पथिकों का मार्ग-दर्शन किया। परोक्ष रूप से वह आज भी ऐसा कर रहे हैं।

साधु-स्वभाव महर्षि रमण के प्रति हमारी उपयुक्त श्रद्धांजलि यही होगी कि हम उनकी शिक्षाओं का अनुसरण तथा उनके आदर्शों के अनुरूप स्वयं को संवर्धित करें।

सबको शान्ति प्राप्त हो !

सन्त गुदड़ी बाबा

सन्त गुदड़ी बाबा की गणना आधुनिक काल के महानतम भारतीय सिद्धों में की जाती है। उन्होंने अनेक युवकों को नास्तिक होने से बचाया और स्वयं अपने ही आश्चर्यप्रद चमत्कारों से आध्यात्मिक महिमा का प्रदर्शन किया। जो लोग शास्त्रों की अवज्ञा करते हुए, इन्हें भारत के प्राचीन लोगों द्वारा लिखा हुआ अर्थहीन साहित्य समझते हैं, उनके समक्ष उन्होंने अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा शास्त्रों की विश्वसनीयता तथा उनमें अन्तर्निहित सत्य को सिद्ध कर दिया। उन्होंने अनेक युवकों को भौतिकता के पाश से मुक्त किया। वे एक सिद्ध महात्मा थे। सहस्रों मील दूर की वस्तुओं को भी वे तत्क्षण हस्तगत कर लेते थे। उनको जड़ी-बूटियों तथा औषधियों का भी पर्याप्त ज्ञान था। अभी वह कुछ ही दिनों पूर्व तक हमारे बीच विद्यमान थे। उन्होंने ६ मार्च १९५१ को अपने नश्वर शरीर का परित्याग किया।

सर्वप्रथम वह पिलखुआ में तीस वर्ष पूर्व आये। उनके पास मात्र एक गुदड़ी थी जिसमें अत्यल्प रूई भरी थी। गुदड़ी विभिन्न रंगों के वस्त्रों के आपस में सिले अनेक टुकड़ों से बनायी गयी थी। उनके पास एक पात्र तथा बाँस का एक खोल था। वह उस खोल का उपयोग जल-पान या दुग्ध-पान के लिए किया करते थे। दिव्य चेतना में अवस्थित हो कर भजन गाते समय वह उस वेणु-पात्र का उपयोग वाद्य-यन्त्र के रूप में भी करते थे। उनके पास अन्य कोई पूँजी नहीं थी। वह कबीर, नानक, तुलसीदास, दादू और अन्य सन्तों के गीत गाने में निपुण थे। अपने भजनों के मधुर संगीत से वह श्रोताओं को आत्म-विस्मृत कर देते थे।

उन दिनों पिलखुआ आर्यसमाजियों तथा काँग्रेसियों का गढ़ था। वहाँ प्रति सप्ताह उनकी बैठकें होती रहती थीं जिनमें मूर्तिपूजा तथा सनातन धर्म की निन्दा की जाती थी। वे लोग श्राद्ध-तर्पणादि तथा ब्राह्मणों की भी निन्दा किया

करते थे। उस समय बाबा जी मौन-व्रत का पालन कर रहे थे। अतः उनके लिए किसी से बात करना सम्भव नहीं था। किन्तु कभी-कभी वह अट्टहास करने लगते और आनन्द-विह्वल हो कर किसी गीत की आवृत्ति करने लगते। किन्तु उनका शेष समय मौन में ही व्यतीत होता। कभी-कभी वह कृष्ण-भक्ति तथा केवलाद्वैत पर भी कुछ बोल दिया करते थे। वह प्रायः कहा करते थे- "यहाँ कोई अन्य नहीं है। यहाँ एकमात्र मैं ही हूँ। कौन किससे बोले ! ना हम, ना तुम, दरबार गुम।"

एक बार बाबा ने संकेत से कुछ राजपूत बालकों को अपने पास बुलाया। उस समय वह एक शिव-मन्दिर में ठहरे हुए थे। बालक दौड़े-दौड़े उनके पास आ गये। बाबा जी ने अपनी गुदड़ी से कुछ धागे निकाले और उन्हें एक-एक धागा दिया। इसके पश्चात् उन्होंने उनसे मुट्ठियाँ बन्द करने को कहा। उन्होंने अपनी मुट्ठियाँ बन्द कर लीं। इसके बाद उन्होंने उनसे मुट्ठियाँ खोलने को कहा। बालकों ने मुट्ठियाँ खोल कर आश्चर्यचकित हो कर देखा कि अब उनके हाथों में बादाम, किशमिश और मिश्री थी।

उनके नाम, उनकी आयु, उनकी जाति तथा उनके आश्रम से कोई भी व्यक्ति परिचित नहीं था। अपने पास सर्वदा एक गुदड़ी रखने के कारण उनको लोगों ने गुदड़ी बाबा के नाम से अभिहित कर दिया। उनके मुख-मण्डल पर एक चमक थी जिससे वे तीसवर्षीय युवक प्रतीत होते थे; किन्तु जब पिलखुआ में उनका सर्वप्रथम आगमन हुआ था, तब भी उनकी देह-यष्टि ऐसी ही थी। अनेक लोगों ने उनमें अनेक बातों का आरोपण किया। कुछ लोग उनकी आयु सौ वर्ष बताते थे। उनके सम्बन्ध में इसी प्रकार के अनुमान किये जाते थे। वे जब कभी भी शहर में जाते थे, लोग उनके दर्शन के लिए उनके चतुर्दिक् एकत्र हो जाते थे। कुछ दिनों के पश्चात् नास्तिक लोग भी उनके पास आने लगे। वह स्वयं को शहंशाह कहा करते थे। वह आप्तकाम थे। उनको किसी बात की चिन्ता नहीं रहती थी। उन्होंने कभी किसी से कुछ नहीं चाहा। वस्त्र के नाम पर उनके पास बस एक लँगोटी तथा लुंगी थी। वह बिना नमक का भोजन करते थे। ईश्वर उनमें तथा वह ईश्वर में निवास करते थे। ऐसे सन्त के समक्ष इन्द्र भी नगण्य है।

अपने आध्यात्मिक भावों से उत्प्रेरित गुदड़ी बाबा प्रायः गाया करते थे- **"नानक दुखिया सब संसारा, सुखी वही जो नाम अधारा।"** इसका अर्थ है कि संसार में प्रत्येक व्यक्ति दुःखी है; किन्तु जो ईश्वर के नाम का गुण-गान करता है, वह सुखी है। प्रायः वह अपने हाथों को ऊपर उठा देते थे जिनमें अंगूर के गुच्छे आ जाते थे जिन्हें वहाँ एकत्र लोगों में वितरित कर दिया जाता था।

कुछ नास्तिक उनको जादूगर बताते हुए कहते थे- "यह एक दुष्ट व्यक्ति है जो अपने जादू से भक्तों को ठग रहा है।" एक बार बाबा जी के पास बहुत लोग एकत्र थे। एक भक्त ने उनके वेणु-पात्र को दूध से भर दिया; किन्तु लोगों ने आश्चर्य चकित हो कर देखा कि उसमें दूध के स्थान पर अंगूर के गुच्छे थे। जो भक्त उनके लिए दूध लाया था, उसको उन्होंने कुछ अंगूर दिये। इस आश्चर्यप्रद घटना से उनके सभी विरोधी हतप्रभ हो गये।

एक दिन उनके पास एकत्र जन-समूह में कई एक नास्तिक भी थे। उन्होंने ईश्वर तथा उससे सम्बद्ध सारी बातों को अस्वीकार कर दिया। बाबा जी ने उनमें से एक से एक गिलास दूध मँगाया जिसे वे अपने वेणु-पात्र में भर कर पी गये। इसके पश्चात् उन्होंने उसे वह रिक्त गिलास दे कर उसे हिलाने को कहा। वह व्यक्ति नास्तिक था; किन्तु उसने उनके आदेश का पालन करते हुए उस गिलास को तीन-चार बार हिलाया। ऐसा करते समय उसे रुपये की खनक सुनायी पड़ी। बाबा ने उसे पुनः गिलास को हिलाने को कहा। हिलाने पर रुपये की खनक पुनः सुनायी पड़ी। गिलास को पाँच बार हिलाया गया और उसमें पाँच रुपये बाहर आये। बाबा ने वे पाँचों रुपये उसे देते हुए कहा-"इन रुपयों से दूध का मूल्य चुका देना।" इसे देख कर जन-समूह विस्मित हो उठा।

एक बार गुदड़ी बाबा महात्मा आत्माराम जी महाराज की कुटिया में रुके। यह सुन कर वहाँ अपार जन-समूह उमड़ पड़ा। श्री शोभराज जी, बी.ए., बी. टी. भी एक अन्य शिक्षक के साथ बाबा के दर्शनार्थ आ गये। शिक्षक महोदय

नास्तिक थे। उन लोगों ने बाबा से चमत्कार-प्रदर्शन की प्रार्थना की। बाबा जी ने उन लोगों से विनम्र भाव से कहा कि लोग उनके विषय में जो प्रचार किया करते हैं, उसके विषय में वे कुछ नहीं जानते। किन्तु वे लोग अपने हठ पर अड़े रहे। विवश हो कर बाबा ने उनसे पूछा कि वे लोग क्या चाहते हैं? उन लोगों ने उनसे कहा कि यदि सम्भव हो, तो वह उनके लिए कन्धार का अनार मँगा दें। उस मौसम में अनार कहीं नहीं मिल सकता था; किन्तु कुछ ही क्षणों में बाबा के हाथ में रुमाल में लिपटा एक अनार आ गया जिसे देख कर सभी लोग विस्मित हो उठे। बाबा जी के उस प्रसाद को सभी लोगों ने ग्रहण किया। वह सर्वोत्तम कोटि का अनार था जो केवल कन्धार में ही मिल सकता था।

एक अन्य अवसर पर कुछ बच्चों ने उनके पास आ कर बादाम की माँग की। बाबा ने तत्क्षण अपने हाथ ऊपर कर दिये जिनमें बादाम आ गये। बाबा ने उन्हें उन बच्चों में वितरित कर दिया। उनमें से एक बच्चे ने रोते हुए कहा- "मुझे बादाम नहीं, पेड़े चाहिए।" बाबा ने पुनः हाथ उठाये जिनमें पेड़े आ गये।

एक बार लाला जगन्नाथ कचहरी के काम से गाजियाबाद जा रहे थे। बाबा जी ने उनसे स्नान के लिए तेल-साबुन की माँग की। लाला जी ने कहा कि वह एक अत्यावश्यक कार्य के लिए जा रहे हैं और इस स्थिति में उनके लिए वहाँ एक क्षण भी रुकना असम्भव था। तब बाबा जी ने एक निकटस्थ कुएँ में अपना हाथ डाला जिसमें साबुन और तेल-दोनों आ गये। इससे वहाँ एकत्र सभी लोगों को आश्चर्य चकित रह जाना पड़ा। उस दिन उन्होंने विधिवत् स्नान किया।

एक बार बाबा जी खुर्जा गये। वहाँ उनसे किसी का भी परिचय नहीं था। वह एक श्मशान में रुक गये। उन्होंने अपने सारे शरीर को भस्माच्छादित कर लिया। कालेज के कुछ विद्यार्थी उधर से ही कहीं जाते हुए दिखायी पड़े। उसी समय उन्होंने अपने हाथ ऊपर किये जिनमें अनार तथा बादाम आदि फल आ गये। उन्होंने उन फलों को विद्यार्थियों में वितरित कर दिया। इस चमत्कार से अवगत हो कर कुछ ही क्षणों में शहर के विशिष्ट जन उनके प्रति आकर्षित हो गये।

गुदड़ी बाबा को औषधियों का पर्याप्त ज्ञान था। वे कई औषधियों से परिचित थे जिनसे उन्होंने कई रोगियों को रोग मुक्त किया। वे गन्धक से तेल निकाल लिया करते थे। एक बार कुछ ग्रामीणों ने भी गन्धक से तेल निकालना चाहा; किन्तु अपने प्रयत्न में वे विफल रहे। बाबा जी की सहायता से ही वे गन्धक से तेल निकाल पाये। पूछने पर उन्होंने बताया कि मन्त्र, तन्त्र तथा सर्वोत्तम औषधियों के मिश्रण से ही यह हो सकता है।

बाबा जी ने अत्यन्त कठिन औषधियों के निर्माण में अनेक वैद्यों का मार्ग-दर्शन किया। वह पारे को घनीभूत करने की विधि से परिचित थे। वह उसे आकाश में इतस्ततः गतिशील करने में भी समर्थ थे।

एक बार एक भक्त ने पुत्र प्राप्ति के लिए उनके आशीर्वाद की याचना की। बाबा जी ने उसे स्वर्ण-भस्म दी जिसके प्रयोग से उसे पुत्र-रत्न की प्राप्ति हो गयी। कुछ रोगियों को असाध्य रोगों से मुक्त करने की उनकी क्षमता से डाक्टर भी विस्मित रह जाते थे।

पिलखुआ में अपने तीस वर्षों के प्रवास में गुदड़ी बाबा ने कभी किसी भक्त के साथ भोजन नहीं किया। उनके व्रत अत्यन्त कठोर होते थे।

बाबा जी फरवरी १९५१ ई. में पिलखुआ आये। उन्होंने कहा- "अब मेरा शरीर वृद्ध हो गया है और परिवर्तन चाहता है। मैं इस शरीर में वर्षों तक रहा। अब मैं इसका परित्याग करना चाहूँगा। यह नश्वर है। इससे अधिक दिनों तक सेवा नहीं हो सकती।" इसके पश्चात बाबाजी अत्यधिक रुग्ण हो गए । उनकी परिचर्या के लिए लोग उन्हे मेरठ ले जाने लगे । उन्होंने सभी लोगों से कह दिया कि वह शहग्र ही शरीर-त्याग करने वाले हैं । कुछ निष्ठावान शिष्यों को

उन्होंने अपने शरीर-त्याग की निश्चित तिथि तथा समय भी बता दिया जो निर्भ्रान्त िसद्ध हुआ। जब उनको कार से मेरठ ले जाया जा रहा था, तब मार्ग में ही उनका देहान्त हो गया। बाबाजी के शरीर को मढ़मुक्तेश्वर में गंगा में प्रवाहित कर दिया गया।

बीस महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक नियम

परम श्रद्धेय श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज

१. ब्राह्ममुहूर्त-जागरण - नित्यप्रति प्रातः चार बजे उठिए। यह ब्राह्ममुहूर्त ईश्वर के ध्यान के लिए बहुत अनुकूल है।

२. आसन-पद्मासन, सिद्धासन अथवा सुखासन पर जप तथा ध्यान के लिए आधे घण्टे के लिए पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर मुख करके बैठ जाइए। ध्यान के समय को शनैः शनैः तीन घण्टे तक बढ़ाइए। ब्रह्मचर्य तथा स्वास्थ्य के लिए शीर्षासन अथवा सर्वांगासन कीजिए। हलके शारीरिक व्यायाम (जैसे टहलना आदि) नियमित रूप से कीजिए। बीस बार प्राणायाम कीजिए।

३. जप-अपनी रुचि या प्रकृति के अनुसार किसी भी मन्त्र (जैसे 'ॐ', 'ॐ नमो नारायणाय', 'ॐ नमः शिवाय', 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय', 'ॐ श्री शरवणभवाय नमः', 'सीताराम', 'श्री राम', 'हरि ॐ' या गायत्री) का १०८ से २१,६०० बार प्रतिदिन जप कीजिए (मालाओं की संख्या १ और २०० के बीच)।

४. आहार-संयम-शुद्ध सात्त्विक आहार लीजिए। मिर्च, इमली, लहसुन, प्याज, खट्टे पदार्थ, तेल, सरसों तथा हींग का त्याग कीजिए। मिताहार कीजिए। आवश्यकता से अधिक खा कर पेट पर बोझ न डालिए। वर्ष में एक या दो बार एक पखवाड़े के लिए उस वस्तु का परित्याग कीजिए जिसे मन सबसे अधिक पसन्द करता है। सादा भोजन कीजिए। दूध तथा फल एकाग्रता में सहायक होते हैं। भोजन को जीवन निर्वाह के लिए औषधि के समान लीजिए। भोग के लिए भोजन करना पाप है। एक माह के लिए नमक तथा चीनी का परित्याग कीजिए। बिना चटनी तथा अचार के केवल चावल, रोटी तथा दाल पर ही निर्वाह करने की क्षमता आपमें होनी चाहिए। दाल के लिए और अधिक नमक तथा चाय, काफी और दूध के लिए और अधिक चीनी न माँगिए।

५. ध्यान कक्ष - ध्यान कक्ष अलग होना चाहिए। उसे तालेकजी से बन्द रखिए।

६. दान- प्रतिमाह अथवा प्रतिदिन यथाशक्ति नियमित रूप से दान दीजिए अथवा एक रुपये में दस पैसे के हिसाब से दान दीजिए।

७. स्वाध्याय-गीता, रामायण, भागवत, विष्णुसहस्रनाम, आदित्यहृदय, उपनिषद, योगवासिष्ठ, बाइबिल, जेन्दअवस्ता, कुरान आदि का आधा घण्टे तक नित्य स्वाध्याय कीजिए तथा शुद्ध विचार रखिए।

८. ब्रह्मचर्य बहुत ही सावधानीपूर्वक वीर्य की रक्षा कीजिए। वीर्य विभूति है। वीर्य ही सम्पूर्ण शक्ति है। वीर्य ही सम्पत्ति है। वीर्य जीवन, विचार तथा बुद्धि का सार है।

९. स्तोत्र-पाठ - प्रार्थना के कुछ श्लोकों अथवा स्तोत्रों को याद कर लीजिए। जप अथवा ध्यान आरम्भ करने से पहले उनका पाठ कीजिए। इससे मन शीघ्र ही समुन्नत हो जायेगा।

१०. सत्संग- निरन्तर सत्संग कीजिए। कुसंगति, धूम्रपान, मांस, शराब आदि का पूर्णतः त्याग कीजिए। बुरी आदतों में न फैसिए।

११. व्रत-एकादशी को उपवास कीजिए या केवल दूध तथा फल पर निर्वाह कीजिए।

१२. जप-माला जप-माला को अपने गले में पहनिए अथवा जेब में रखिए। रात्रि में इसे तकिये के नीचे रखिए।

१३. मौन-व्रत - नित्यप्रति कुछ घण्टों के लिए मौन-व्रत कीजिए।

१४. वाणी-संयम-प्रत्येक परिस्थिति में सत्य बोलिए। थोड़ा बोलिए। मधुर बोलिए।

१५. अपरिग्रह- अपनी आवश्यकताओं को कम कीजिए। यदि आपके पास चार कमीजें हैं, तो इनकी संख्या तीन या दो कर दीजिए। सुखी तथा सन्तुष्ट जीवन बिताइए। अनावश्यक चिन्ताएँ त्यागिए। सादा जीवन व्यतीत कीजिए तथा उच्च विचार रखिए।

१६. हिंसा-परिहार कभी भी किसी को चोट न पहुँचाइए (अहिंसा परमो धर्मः)। क्रोध को प्रेम, क्षमा तथा दया से नियन्त्रित कीजिए।

१७. आत्म निर्भरता सेवकों पर निर्भर न रहिए। आत्म निर्भरता सर्वोत्तम गुण है।

१८. आध्यात्मिक डायरी-सोने से पहले दिन भर की अपनी गलतियों पर विचार कीजिए। आत्म-विश्लेषण कीजिए। दैनिक आध्यात्मिक डायरी तथा आत्म-सुधार रजिस्टर रखिए। भूतकाल की गलतियों का चिन्तन न कीजिए।

१९. कर्तव्य-पालन- याद रखिए, मृत्यु हर क्षण आपकी प्रतीक्षा कर रही है। अपने कर्तव्यों का पालन करने में न चूकिए। सदाचारी बनिए।

२०. ईश-चिन्तन-प्रातः उठते ही तथा सोने से पहले ईश्वर का चिन्तन कीजिए। ईश्वर को पूर्ण आत्मार्पण कीजिए।

ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः !

यह समस्त आध्यात्मिक साधनों का सार है। इससे आप मोक्ष प्राप्त करेंगे।
इन नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिए।
अपने मन को ढील न दीजिए।